महानगर प्रकाशन

गांधी: जयपुर सत्याग्रह

जयपुर अद्‌भुत जगह है। कलकत्ते के म्यूजियम से अल्बर्ट म्यूजियम की इमारत बहुत ज्यादा अच्छी है और उसका कला विभाग स्वत: अध्ययन की चीज है। ऐसा मालूम होता है कि जयपुर की चित्रकला अपने योग्य बंगाली अधीक्षक के अधीन खूब फल-फूल रही है।

–मोहनदास करमचंद गांधी

मोहनदास करमचंद गांधी के जयपुर को संदेश

रचनात्मक कार्य अहिंसा का ही सौम्य रूप है,
लेकिन अहिंसा की सच्ची कसौटी इस बात में है
कि हम अपने स्वीकृत ध्येय की सेवा करते हुए निस्संकोच भाव से
मृत्यु का वरण करने की क्षमता अर्जित करें; ऐसी मृत्यु
जो सर्वथा निर्दोष हो। अब प्रश्न यह है कि इस शक्ति को कैसे प्राप्त किया जाए।
मैं चाहूंगा कि आप (जयपुर प्रजामंडल) इस पर विचार करें।

(30 अप्रेल, 1938)

जयपुर की जनता को मानसिक और नैतिक भूख से मरने के
लिए छोड़ा नहीं जा सकता। विशेष रूप से उस समय,
जब उसे एक मूलभूत अधिकार से वंचित रखा जा रहा है
और ब्रिटिश साम्राज्य इस नीति का समर्थन कर रहा है।
यदि प्रधानमंत्री अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जाकर निर्णय ले रहे हैं,
तो उनको वापस भेजने का समय आ गया है।

(11 फरवरी, 1939)

सुनता हूं कि जयपुर निवासियों ने
सत्याग्रह में शांति का पालन किया है।
सब लोग याद रखें कि
जो व्यक्ति या समुदाय अपने कार्य के लिए
सत्य और अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन
करते हैं, उनकी सदा विजय होती है।

(14-15 मार्च की मध्य रात्रि, 1939)

जयपुर में एक ऐसे दीवान को नियुक्त करने के लिए आंदोलन चल रहा है,
जो प्रजामत की कदर कर सके। सार्वभौम सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है
कि जब वह राजाओं के लिए किसी दीवान की नियुक्ति करे तो यह अवश्य देख ले
कि वह रैयत की जरूरतों की तरफ सहानुभूति रखने वाला है या नहीं। जब कोई
दीवान जिस राजा की नौकरी करता है उससे भी बढ़कर स्वेच्छाचारी बन जाए
तो यह इस बात का सूचक है कि वह हटा दिया जाए।

(13 अक्टूबर, 1940)

गांधी

जयपुर सत्याग्रह

गोपाल शर्मा

महानगर प्रकाशन

महानगर प्रकाशन

कॉपीराइट © गोपाल शर्मा, 2020

सर्वाधिकार सुरक्षित: लेखक

ISBN: 978-81-944771-0-5

इस पुस्तक में व्यक्त विचार लेखक के अपने हैं और किसी भी रूप में प्रकाशक की नीति को प्रकट नहीं करते।

टाइपसेट : महानगर मल्टीमीडिया प्रा.लि., जी–848, फेज–3, रीको सीतापुरा, जयपुर–22

मुद्रक : जयपुर प्रिंटर्स, जयपुर

प्रथम संस्करण : 2020

महानगर प्रकाशन द्वारा प्रकाशित
महानगर टाइम्स भवन, 2–सहकार मार्ग, जयपुर–15
फोन: 0141–2741076, 2741077

यह पुस्तक इस शर्त पर विक्रय की जा रही है कि प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इसे व्यावसायिक अथवा अन्य किसी भी रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता। इसे पुन: प्रकाशित कर बेचा या किराए पर नहीं दिया जा सकता तथा जिल्दबंद या खुले किसी भी अन्य रूप में पाठकों के मध्य इसका परिचालन नहीं किया जा सकता। ये सभी शर्तें पुस्तक के खरीदार पर भी लागू होंगी। इस संदर्भ में सभी प्रकाशनाधिकार सुरक्षित हैं। इस पुस्तक का आंशिक रूप में पुन: प्रकाशन या पुन: प्रकाशनार्थ अपने रिकॉर्ड में सुरक्षित रखने, इसे पुन: प्रस्तुत करने की प्रति अपनाने, इसका अनुदित रूप तैयार करने अथवा इलेक्ट्रॉनिक, मैकेनिकल, फोटोकॉपी और रिकॉर्डिंग आदि किसी भी पद्धति से इसका उपयोग करने हेतु समस्त प्रकाशनाधिकार रखने वाले अधिकारी तथा पुस्तक के प्रकाशक की पूर्वानुमति लेना अनिवार्य है।

श्रद्धेय श्री जमनालाल बजाज
को सादर समर्पित, जिनके कारण
जयपुर पहली बार राष्ट्रीय परिदृश्य पर उभरा,
जिन्होंने लोक जागरण के लिए
जीवन दांव पर लगा दिया और
अंत में राष्ट्र निर्माण के लिए आहुति दे दी;
उनके आत्मीय संपर्कों के कारण ही
पूज्य महात्मा गांधी ने जयपुर आंदोलन
को आशीर्वाद दिया,
ब्रिटिश अफसरों से लोहा लिया
और शासन में सुधार का जिम्मा निभाया।

गांधी स्मृति, नई दिल्ली.. 30 जनवरी, 1948 को आखिरी बार चरण चिह्न
चल पड़े जिधर दो डग, मग में; चल पड़े कोटि पग उसी ओर

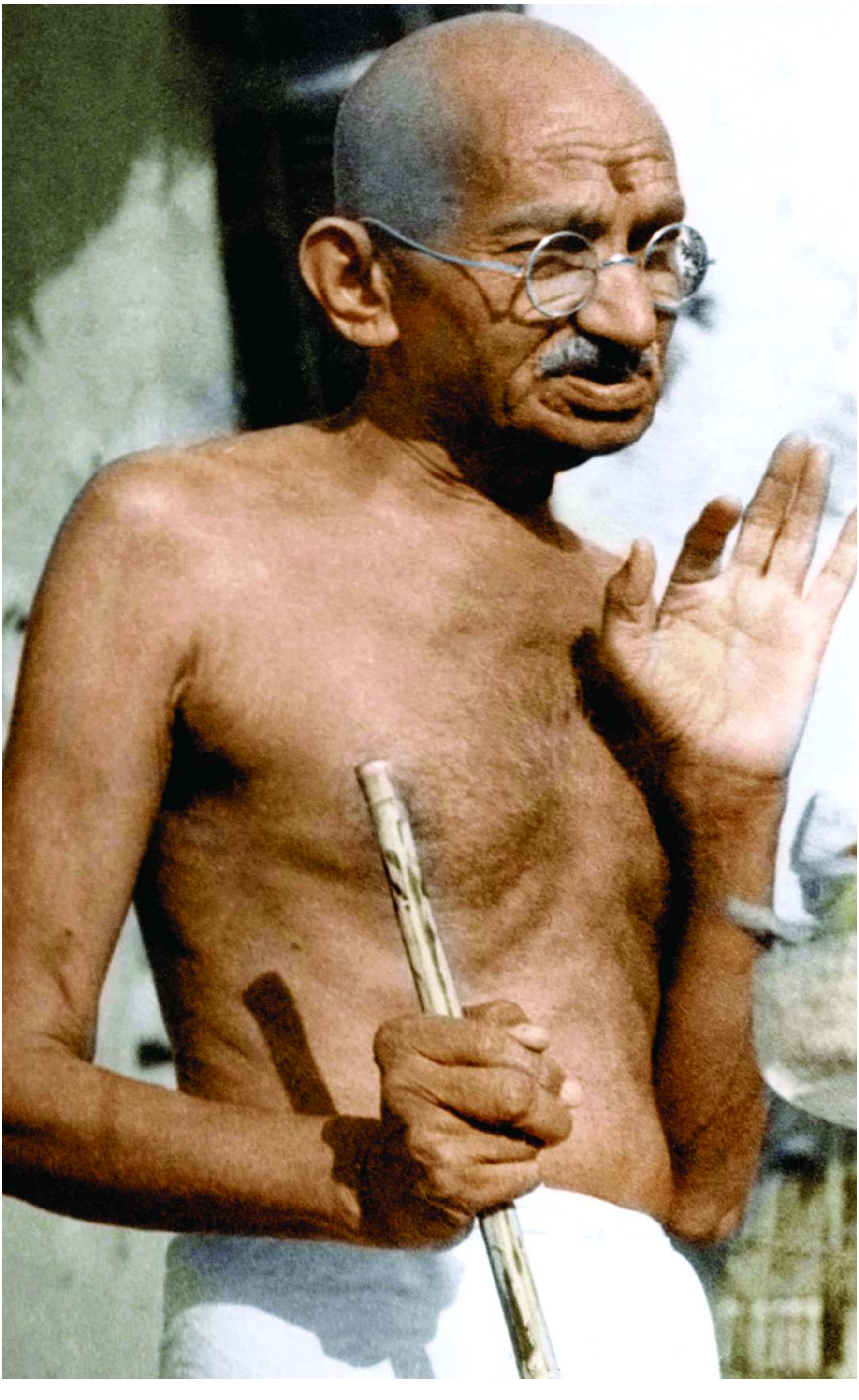

मोहनदास करमचंद गांधी: 2 अक्टूबर, 1869–30 जनवरी, 1948

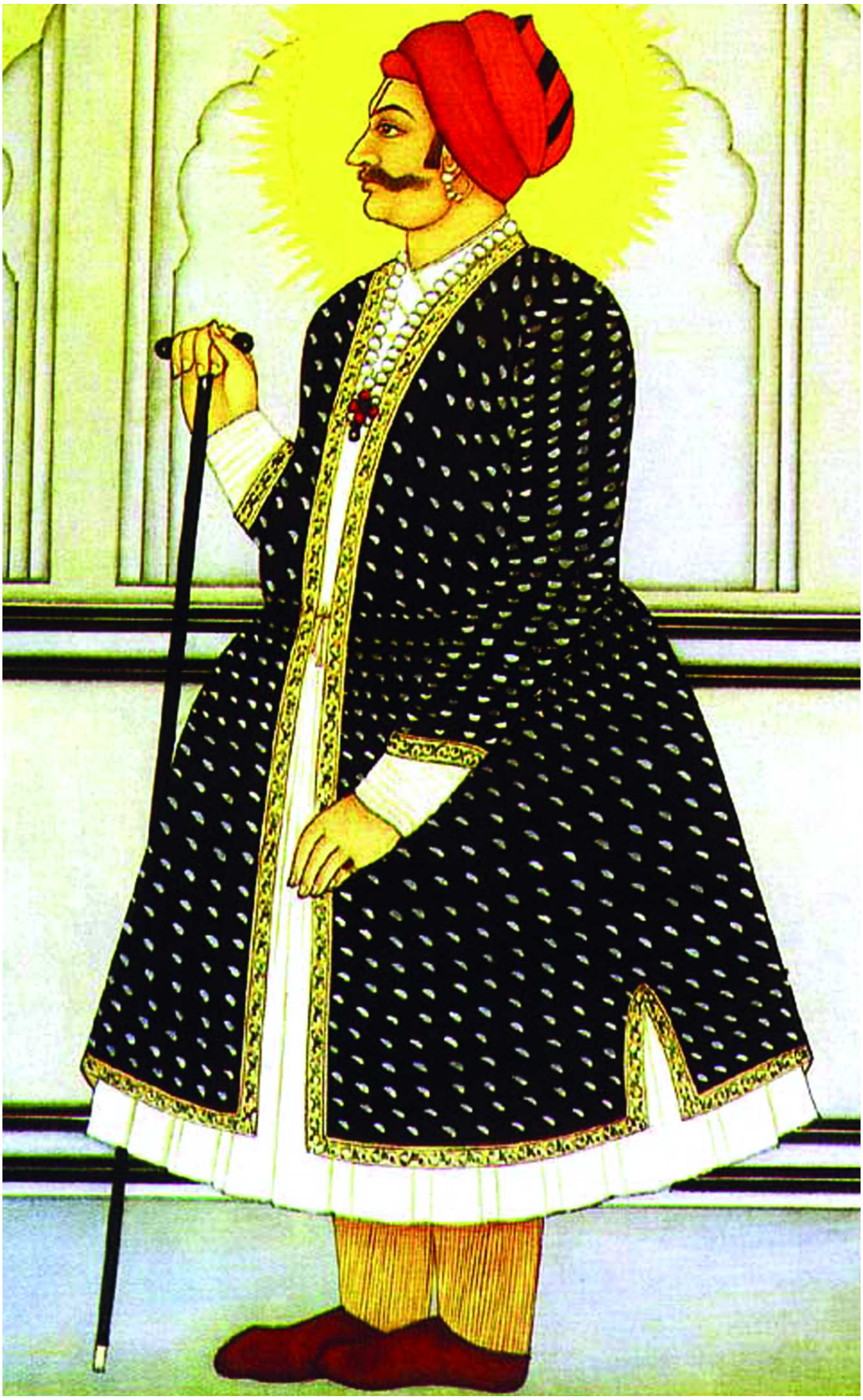

जयपुर के संस्थापक सवाई जय सिंह द्वितीय: 3 नवम्बर, 1688–21 सितम्बर, 1743

गांधी से जुड़ा जयपुर वृत्तांत

24 फरवरी, 1902
जयपुर आगमन।

4 मार्च, 1902
जयपुर के बारे में गोपालकृष्ण गोखले को पत्र।

19 अप्रेल, 1938
जमनालाल बजाज से जयपुर प्रजामंडल के विषय में सवा घंटे तक वार्ता।

23 अप्रेल, 1938
जयपुर सत्याग्रह को आशीर्वाद और प्रजामंडल के लिए संदेश।

30 अप्रेल, 1938
जयपुर प्रजामंडल के अधिवेशन के विषय में जमनालाल बजाज से ट्रेन में बातचीत।

3 मई, 1938
वल्लभभाई पटेल के जयपुर प्रजामंडल अधिवेशन में शामिल नहीं हो सकने की सूचना।

12 मई, 1938
जमनालाल बजाज को जरूरत रहने तक जयपुर में रुकने के निर्देश।

4 जून, 1938
हरिजन में जयपुर प्रजामंडल के लिए संदेश।

24 सितम्बर, 1938
जयपुर के पुलिस महानिरीक्षक एफ.एस. यंग से दिल्ली बिड़ला हाउस में लंबी मुलाकात और जयपुर प्रजामंडल पर दबाव नहीं डालने की सलाह।

26 दिसम्बर, 1938
जमनालाल बजाज पर जयपुर प्रवेश पर प्रतिबंध लगने के बाद सेगांव में मार्गदर्शन।

4 जनवरी, 1939
जयपुर प्रजामंडल के नेताओं के साथ बारडोली में बैठक।

7 जनवरी, 1939
जमनालाल बजाज द्वारा स्टेट कौंसिल को भेजे जाने वाले पत्र और समाचार पत्रों के वक्तव्य का मसविदा तैयार किया।

14 जनवरी, 1939
जमनालाल बजाज पर लगे प्रतिबंध के बारे में *हरिजन* में लिखा और महाराजा को अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली बताया। जनता से अन्याय का मुकाबला करने का आह्वान।

15 जनवरी, 1939
जयपुर के प्रधानमंत्री डब्ल्यू. ब्यूचैम्प सेंट जॉन की अहिंसक आंदोलन के खिलाफ मशीनगन के इस्तेमाल की धमकी की जानकारी।

18 जनवरी, 1939
ब्यूचैम्प को पत्र लिखकर मशीनगन की धमकी पर स्पष्टीकरण मांगा।

21 जनवरी, 1939
जयपुर शीर्षक से *हरिजन* में लेख लिखकर ब्रिटिश अफसरों की नीति का बहिष्कार।

22 जनवरी, 1939
ब्यूचैम्प से संतोषजनक जवाब नहीं मिलने पर दूसरा पत्र।

26 जनवरी, 1939
वायसराय लिनलिथगो को जमनालाल बजाज की गिरफ्तारी पर पत्र।

27 जनवरी, 1939
ब्यूचैम्प का वक्तव्य प्रकाशित करने की अंतिम चेतावनी।

28 जनवरी, 1939
जमनालाल बजाज को वक्तव्य का मसविदा देकर निषेधाज्ञा भंग करने के लिए बारडोली से जयपुर रवाना किया।

3 फरवरी, 1939
जमनालाल बजाज को सत्याग्रह की योजना पर डटे रहने का आशीर्वाद।
घनश्यामदास बिड़ला को संदेश भेजा कि बजाज को जयपुर जाने से नहीं रोकें।

4 फरवरी, 1939
महादेव देसाई को जमनालाल बजाज से मशविरा करने के लिए कहा।

4 फरवरी, 1939
हरिजन में जयपुर के बारे में लिखकर वायसराय से कार्रवाई करने की मांग।

9 फरवरी, 1939
घनश्यामदास बिड़ला को तार भेजा कि जयपुर स्टेट कौंसिल को नोटिस नहीं दिया जाए और बजाज को उनकी इच्छानुसार काम करने दिया जाए।

11 फरवरी, 1939
जयपुर पुलिस के बर्बरतापूर्ण व्यवहार पर *हरिजन* में प्रहार।
ब्यूचैम्प के साथ हुआ पत्र व्यवहार प्रकाशित करके पद से हटाने की मांग।

25 फरवरी, 1939
गिरफ्तार जमनालाल बजाज को दी जा रही सुविधाओं के बारे में *हरिजन* में लेख लिखकर जयपुर प्रशासन के समक्ष उठाए सवाल।

14 मार्च, 1939
जयपुर सत्याग्रह के बारे में हरिभाऊ उपाध्याय वगैरह से सोजत स्टेशन पर सलाह-मशविरा।

14-15 मार्च, 1939
आधी रात को जयपुर स्टेशन पर सत्याग्रहियों की प्रशंसा और जयपुर की जनता को संदेश।

16 मार्च, 1939
जमनालाल बजाज को पत्र लिखकर मांगों में वृद्धि नहीं करने की सलाह।

19 मार्च, 1939
जयपुर सत्याग्रह परिषद को पत्र लिखकर सत्याग्रह स्थगित करने का सुझाव।

20 मार्च, 1939
जयपुर के सत्याग्रहियों से दिल्ली में मुलाकात। उन्हें सच्चे सत्याग्रह का अर्थ-महत्व समझाया।

1 अप्रेल, 1939
हरिजन में लेख लिखकर जयपुरवासियों को सीधा संदेश। सत्याग्रह स्थगित होने से निराश नहीं होने की हिम्मत बंधाई।

6 मई, 1939
जमनालाल बजाज सहित जयपुर के अन्य राजनीतिक कैदियों को जेल में हो रही असुविधा पर *हरिजन* में लेख।

9 मई, 1939
जमनालाल बजाज को रिहा करने और प्रजामंडल की मांगों को पूरा करने के लिए वायसराय को पत्र।

10 जून, 1939
प्रजामंडल की मांगों और जमनालाल बजाज की रिहाई में हो रही देरी पर *हरिजन* में लेख।

22 जून, 1939
जयपुर के मामले को जल्दी सुलझाने के लिए वायसराय को पत्र।

15 जुलाई, 1939
जयपुर प्रशासन के रवैए और सत्याग्रह के बारे में *हरिजन* में लेख।

12 अगस्त, 1939
जमनालाल बजाज को बाघों से घिरे स्थान पर रखने की निंदा करते हुए उनके बिगड़ते स्वास्थ्य के बारे में *हरिजन* में लेख।

20 अगस्त, 1939
जमनालाल बजाज की रिहाई के बाद वर्धा में प्रजामंडल पर चर्चा। दोहरी सदस्यता के विषय में जयपुर प्रशासन की शर्त नहीं मानने की सलाह।

23 सितम्बर, 1939
जयपुर प्रजामंडल और महाराजा के बीच समझौता हो जाने पर *हरिजन* में बधाई का संदेश।

20 अप्रेल, 1940
जयपुर प्रजामंडल को बाहरी लोगों को सदस्य बनाने और आंदोलन करने का अधिकार मिलने पर *हरिजन* के जरिए बधाई।

1 जून, 1940
जयपुर प्रजामंडल को संयम से काम लेने और राजनीतिक आलोचनाओं से बचने की सलाह।

13 अक्टूबर, 1940
समझौते के बावजूद गतिरोध उत्पन्न कर रहे दीवान ज्ञाननाथ को हटाने की मांग करते हुए *हरिजन* में लेख।

अनुक्रम

निवेदन: गौरव की अनुभूति XV

भाग एक: राष्ट्र का संक्रमण काल

1. गांधी से पहले भारत 3
2. मोहन से महात्मा 45
3. जयपुर में मोहनदास 85

भाग दो: एक नया राजवंश

4. कछवाहा और मुगल 99
5. ब्रिटिश अधीनता का दौर 129

भाग तीन: क्रांति से राजनीति

6. सशस्त्र आंदोलन से शंखनाद 163
7. जनजागरण का दौर 185
8. रियासतों पर ऐतिहासिक रार 201

भाग चार: गांधी–जयपुर संबंध

9. प्रजामंडल और जमनालाल 229
10. गांधी की गिरफ्तारी की तैयारी 239
11. मशीनगन से मुकाबला 271

परिशिष्ट 319

व्यक्तियों-शहरों के नाम पर टिप्पणी

लंबे कालखंड में विभिन्न व्यक्तियों के अलग विवरणों के कारण कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों और स्थानों के नामों में मामूली फेरबदल आता गया है। जगह-जगह पर इस अंतर को स्पष्ट करने की कोशिश की गई है। इसके बावजूद मूल साक्ष्यों में नामों का जिस तरह उल्लेख हुआ है, उसमें छेड़छाड़ नहीं की गई है। अबुल फजल, चंद बरदाई, श्यामलदास जैसे विद्वानों के विवरणों, ख्यातों या वंशावली में एक ही व्यक्ति के अलग-अलग नाम मिलते हैं; इसी तरह, स्थानों के नाम भी बदलते गए हैं। जैसे अम्बावती, आम्बेर, मोमिनाबाद, आमेर के नामों में तत्कालीन नाम का ही उपयोग किया गया है। जयपुर राजवंश के अधिकांश ऐतिहासिक उद्धरणों में बिशन सिंह और किशन सिंह का उल्लेख मिलता है; लेकिन जय सिंह द्वितीय द्वारा तैयार करवाए गए *जयसिंह कल्पद्रुम* में विष्णु सिंह और कृष्ण सिंह नाम मिलते हैं। इसलिए तत्कालीन विवरण को महत्व दिया गया है। जयपुर के लिए भी ऐसा ही है। जयनगर, सवाई जयपुर, जैपुर, जयपुर के अलग-अलग समय भिन्न नाम हैं लेकिन इनके बीच स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं होने के कारण जयपुर ही उपयोग में लाया गया है। जयपुर के ब्रिटिश प्रधानमंत्री हेनरी ब्यूचैम्प सेंट जॉन से पत्र व्यवहार में गांधी ने डब्ल्यू. ब्यूचैम्प सेंट जॉन का उपयोग किया है; गांधी से संबंधित दस्तावेजों में भी ब्यूचैम्प के साथ डब्ल्यू. ही लिखा गया है। इसलिए पुस्तक में हेनरी की बजाय डब्ल्यू. लिखना उपयुक्त समझा गया। जयपुर प्रजामंडल के प्रथम अध्यक्ष चिरंजीवलाल मिश्र थे; उन्हें तत्कालीन रिकॉर्ड में सभी जगह चिरंजीलाल लिखा गया है। इसे सुधारकर चिरंजीवलाल करना उचित समझा। पाठकगण कृपा बनाए रखते हुए इसी संदर्भ में पुस्तक का अवलोकन करने का कष्ट करेंगे।

निवेदन

गौरव की अनुभूति

पूज्य बापू की 150वीं वर्षगांठ 'सार्ध शती' समारोह के अवसर पर *गांधी: जयपुर सत्याग्रह* सादर समर्पित। ऐसे महामानव, जो सारी दुनिया के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं; उनके सत्य और अहिंसा के प्रयोग युगों-युगों से चली आ रही भारतीय संस्कृति को परिपुष्ट करते हैं, जिसका मूल मंत्र विश्व शांति है। उनका स्वराज-रामराज्य किसी भी देश के लिए आदर्श व्यवस्था हो सकती है और गांधी मानवता के प्रतीक पुरुष।

जयपुर के समकालीन इतिहास को समेटे हुए यह ऐसा सफरनामा है, जिसमें मोहनदास करमचंद गांधी एक बार फिर राष्ट्रनायक के रूप में सामने आते हैं। इस घटनाक्रम के दौरान गांधी का ऐसा रूप सामने आता है जैसा उनके राजनीतिक-सामाजिक जीवन में पहले और बाद में कभी नहीं देखा गया। जयपुर के रियासती शासन में सुधार की मांग और जमनालाल बजाज के जयपुर प्रवेश पर प्रतिबंध के दौरान जयपुर राज के प्रधानमंत्री डब्ल्यू. ब्यूचैम्प सेंट जॉन ने धमकी दी कि अहिंसा चाहे कितनी मर्यादित हो.. जयपुर के अहिंसक आंदोलन का जवाब मशीनगन से दिया जाएगा। ब्यूचैम्प का कहना था कि भारत के लोग अंग्रेजों की नस्ल में मौजूद मानवता का लाभ उठा रहे हैं, जापान या हिटलर जैसी शक्ति होती तो यह अहिंसक आंदोलन सफल नहीं होता। इसका जवाब देते हुए गांधी ने चेतावनी दी कि जयपुर राज के ऐसे ब्रिटिश प्रधानमंत्री के जाने का समय आ गया है। जयपुर की जनता को मानसिक और नैतिक भूख से मरने के लिए नहीं छोड़ा जा सकता। विशेष रूप से उस समय, जब उसे एक मूलभूत अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और ब्रिटिश साम्राज्य इस नीति का समर्थन कर रहा है। गांधी ने अन्याय का मुकाबला पूरी ताकत से करने के लिए जनता का आह्वान किया, 'महाराजा तो अपने उन मंत्रियों के हाथों की कठपुतली मात्र हैं, जो सब बाहरी हैं, बल्कि उनमें से कुछ तो अंग्रेज हैं। वहां की प्रजा या वहां के प्रदेश के बारे में कुछ नहीं जानते। वे तो एक तरह से उन पर जबर्दस्ती लदे हुए हैं।' यह जयपुर के लोकतांत्रिक आंदोलन के महत्व को दर्शाता है कि जब बारडोली में सुभाषचंद्र बोस के कांग्रेस अध्यक्ष बने रहने या नए अध्यक्ष चुनने की सरगर्मियां परवान पर थीं, तो भी गांधी जयपुर आंदोलन के समर्थन में पत्र और लेख लिख रहे थे। वे ब्रिटिश प्रधानमंत्री को हटाकर ही चुप नहीं हुए बल्कि जनता को कुचलने की मानसिकता बने रहने और जनता की मांगें पूरी होने तक अहिंसक संघर्ष जारी रखा।

जयपुर रियासत ने प्रजामंडल के समक्ष दोहरी सदस्यता का सवाल उठाया। प्रजामंडल के सदस्यों के कांग्रेस के सदस्य होने पर आपत्ति की गई। यह विषय गांधी तक गया। गांधी का सुझाव था कि प्रजामंडल के नाम में तो थोड़ा परिवर्तन संभव है लेकिन प्रजामंडल के सदस्यों के कांग्रेस से जुड़े होने पर किसी तरह का व्यवधान स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यह जानना रोमांचक है कि गांधी ने जयपुर को लेकर दर्जनों बार हस्तक्षेप किया.. संदेशों, लेखों, बैठकों और जयपुर के ब्रिटिश अधिकारियों से लेकर वायसराय तक से मंत्रणा को माध्यम बनाकर जनता की आवाज को दबने नहीं दिया। जयपुर में उत्तरदायी शासन की मांग और अकाल राहत कार्यों में सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका के प्रश्न पर गांधी केवल एक-दो बार नहीं बोले बल्कि ब्रिटिश-जयपुर शासन के सामने पत्रों और लेखों की झड़ी लगा दी। वे अपने राजनीतिक जीवन में सिर्फ दो रियासतों में सबसे ज्यादा रुचि लेते नजर आते हैं। एक राजकोट, जहां उन्होंने खुद जाकर सत्याग्रह और अनशन किया; दूसरा जयपुर, जहां सत्याग्रह और न्याय दिलाने के लिए उन्होंने संपूर्ण भार अपने ऊपर ले लिया।

यह सोचा जा सकता है कि जब गांधी ने जयपुर सत्याग्रह स्थगित करवा दिया तो इसे सफल कैसे माना जा सकता है.. लेकिन इस संदर्भ में यह ध्यान रखना होगा कि सत्याग्रह स्थगित करवाने के बाद गांधी खुद जयपुर में शासन सुधार के लिए जुट गए। उन्होंने जयपुर की जनता की मांग को अपने आंदोलन का अंग बना लिया; उन्होंने कहा कि सत्याग्रह स्थगित किया गया है, आंदोलन जारी है। गांधी का सोचना था कि घोड़े को दौड़ाते हुए उसकी जान ले लेना अच्छे घुड़सवार की पहचान नहीं है। उन्होंने कहा, 'हमें ऐसे तरीके विकसित करने होंगे जिसमें शांतिप्रिय नागरिकों के दुश्मन बने इन किराए के आतंककारियों का रोजगार खत्म किया जा सके। एक योग्य सेनापति हमेशा युद्ध को अपने अनुसार चलाता है, अपने अनुकूल समय पर और अपनी पसंद के मैदान में। वह कभी भी यह अवसर अपने शत्रु के हाथ में नहीं जाने देता।'

जयपुर से गांधी का जुड़ाव 24 फरवरी, 1902 से शुरू होता है, जब वे संक्षिप्त रूप से भारत को देखने के लिए तीसरे दर्जे के रेल डिब्बे से धोती-कुर्ता-लोटा लेकर निकलते हैं। जयपुर को देखते ही उनके मुंह से निकल उठा..अद्‌भुत! इस पुस्तक के माध्यम से गांधी और जयपुर संबंधों का रहस्योद्‌घाटन किया गया है। रियासतों के प्रति कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं की सोच भी भारत के इतिहास का अनूठा अध्याय है। इसके कारण आजादी मिलने तक राजे-महाराजाओं को अपने भविष्य का पता चल चुका था। वे विलय के लिए मानसिक रूप से तैयार किए जा चुके थे। 1937-40 के दौरान जयपुर में चले विशेष घटनाक्रम का समय भारत और विश्व के लिहाज से काफी महत्वपूर्ण था। कांग्रेस में बार-बार नेतृत्व और विचार परिवर्तन की स्थितियां बन रही थीं; देश की राजनीति पर अंतर्राष्ट्रीय विचारों का प्रभाव पड़ रहा था। गांधी अपनी नीतियों पर अडिग थे। कांग्रेस के प्रति अपना प्रेम बरकरार रखते हुए भी कांग्रेस की प्राथमिक सदस्यता से इस्तीफा दे चुके थे। द्वितीय विश्व महायुद्ध की हिंसा से इतने दु:खी और असहाय थे कि कभी जीने को उद्देश्यहीन मान लेते तो कभी हिटलर को पत्र लिखते। गांधी के उन मनोभावों को उनकी भावनाओं और शब्दों से उकेरने की कोशिश की गई है।

जयपुर आंदोलन के नायक जमनालाल बजाज थे। मूलत: बजाज कुटुंब सीकर जिले के काशी का बास का रहने वाला है। गांधी के जयपुर आंदोलन से जुड़ाव के पीछे बजाज का सत्याग्रह से जुड़े होना ही मुख्य कारण बना। हालांकि तत्कालीन राजनीतिक हालात, जयपुर

की जनता में उत्तरदायी शासन के प्रति ललक और ब्रिटिश अधिकारियों के तानाशाहीपूर्ण रवैए ने भी गांधी को जयपुर के लिए सोचने पर बाध्य किया। बजाज खुद को गांधी का पांचवां पुत्र मानते थे और गांधी के मन में भी बजाज के प्रति पिता वाला भाव ही था। बड़े व्यवसायी होने के बावजूद उन्होंने अपने को गांधी और उनसे जुड़े सामाजिक कार्यों के प्रति समर्पित किया हुआ था। उन्हें 1916 के आसपास रायबहादुर का खिताब मिला था, जिसे उन्होंने असहयोग आंदोलन के दौरान लौटा दिया। उन्होंने जयपुर आंदोलन के लिए कूद पड़ने का फैसला किया, तब वे कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य होने के साथ राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष भी थे। पदों के प्रति उनके मन में मोह नहीं था, इसलिए कई बार पदों से इस्तीफा दिया। इसके लिए गांधी की आज्ञा भी ले लेते लेकिन कांग्रेस तैयार नहीं होती। बजाज ऐसे नेता थे जो राजनीति की किसी भी गुटबाजी से ऊपर होते हुए गांधी को समर्पित थे। वे सत्याग्रह के लिए जयपुर रवाना होने लगे तो पहले सारा हिसाब-किताब पूरा किया। वे यह तय करके आए थे कि पता नहीं वापस लौटेंगे कि नहीं। गांधी ने बजाज की सत्याग्रह के प्रति मानसिकता की परीक्षा भी ली, लेकिन बजाज अडिग रहे। यह कहना गलत नहीं होगा कि उन्होंने जयपुर प्रवेश निषेध को स्वाभिमान से जोड़ लिया और अदम्य साहस का परिचय देकर रियासतकालीन व्यवस्था में नई परंपरा का निर्माण किया। महत्वपूर्ण यह भी था कि कांग्रेस उस समय बंटी हुई थी; शीर्ष स्तर पर नेतृत्व को लेकर नहीं मिटने वाले मतभेद थे। लेकिन बजाज के पास एक ओर गांधी का आशीर्वाद था तो साथ ही जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल और सुभाषचंद्र बोस का पूरा समर्थन प्राप्त था। उन्होंने जयपुर में उत्तरदायी शासन की मांग करते हुए ब्रिटिश समर्थित जयपुर शासन की आज्ञा ठुकराकर लोकतंत्र की आधारशिला रखने का काम किया। ब्रिटिश शासन और गांधी के अत्यंत नजदीकी प्रमुख लोग चाहते थे कि सत्याग्रह से पहले जयपुर शासन को कुछ और समय देना चाहिए, लेकिन गांधी ने अपना आशीर्वाद बजाज के साथ रखा, जिन्होंने लोकतांत्रिक मांगों के लिए अपना जीवन दांव पर लगा दिया। जयपुर में गिरफ्तारी के दौरान बीमार हुए बजाज फिर कभी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हो पाए। वे एक बार और सत्याग्रह करके जेल गए तथा रिहा होने के कुछ समय बाद ही 52 वर्ष की उम्र में उनका देहावसान हो गया।

प्रजामंडल के आंदोलन और जयपुर सत्याग्रह से जुड़ने वाली एक और अंत:सलिला है, जिसने राजशाही में जयपुर के नागरिकों को जागृत करने में अहम भूमिका निभाई। देशभक्ति की यह भावना निश्चय ही गांधी के सक्रिय दौर से मजबूत हुई, लेकिन जयपुर में उसके तार क्रांतिकारी आंदोलन और उससे भी पहले जनजागरण के प्रतीक बने स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद और श्याम कृष्ण वर्मा के संपर्कों से जुड़े हुए हैं। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में पं. अर्जुनलाल सेठी की भूमिका को जयपुर में राष्ट्रीयता की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जा सकता है। उनका बालगंगाधर तिलक और गांधी तक ने सम्मान किया। सेठी के राष्ट्रीय विद्यालय से प्रतापसिंह बारहठ जैसे क्रांतिकारी निकले, जिनको शचीन्द्रनाथ सान्याल जैसे विप्लव संगठक ने आदर्श युवा के रूप में देखा। जयपुर से निकले छात्र मोतीचंद को फांसी की सजा हुई। यहां के क्रांतिकारी छोटेलाल जैन दिल्ली षडयंत्र केस से छूटकर गांधी

के अनुयायी हो गए। उन्होंने सारा जीवन गांधी के सहयोगी के रूप में समर्पित कर दिया। गांधी की डांडी यात्रा में 80 सहयात्री थे। उनमें भी 25 वर्षीय सुल्तान सिंह, 27 वर्षीय मदन मोहन और 24 वर्षीय नारायण दत्त राजपूताना के रहने वाले थे। ऐसे अन्य बहुत-से व्यक्तित्व होंगे, जिन्होंने अपना जीवन राष्ट्र के लिए लगा दिया; और अभी भी अज्ञात हैं। हमें उन विशिष्ट व्यक्तियों के बारे में जानना ही चाहिए, जिनके कारण तात्या टोपे जैसे 1857 के सेनानायक जयपुर रियासत तक चले आए थे।

गांधी से पहले के भारत और गांधी के विचारों को शामिल करना पुस्तक के संदर्भ को पुष्ट करने के लिए आवश्यक लगा। इसी तरह, कछवाहा वंश की आम्बेर से जयपुर की यात्रा और उनके मुगल-ब्रिटिश संबंधों से रियासत और महाराजाओं की तत्कालीन सोच पर प्रकाश डालना जरूरी था। यह महत्वपूर्ण है कि जो जयपुर रियासत अपनी मुगल-ब्रिटिश अधीनता के लिए सदैव विवादास्पद रही; उसने अपने राजाओं और जनता के रूप में बेजोड़ वीर और साहसी पैदा किए। लोगों को यह जानना ही चाहिए कि राणा प्रताप के विरुद्ध हल्दीघाटी का युद्ध लड़ने वाले राजा मान सिंह से मुगल सम्राट इसलिए नाराज हुए कि उन्होंने राणा प्रताप का पीछा नहीं किया और उनके राज्य को नहीं लूटा। ऐसा ही गुस्सा जय सिंह प्रथम को छत्रपति शिवाजी से मुकाबले के दौरान औरंगजेब से झेलना पड़ा। जय सिंह और उनके पुत्र राम सिंह ने न केवल शिवाजी की हत्या के षडयंत्र को रुकवाया बल्कि आगरा के किले से शिवाजी के भाग जाने के कारण उन्हें सजा भी भोगनी पड़ी। आम्बेर को दबाने के लिए ही इसे मोमिनाबाद में बदला गया, यहां के सभी मंदिर तोड़ डाले गए और मुगलों ने उसे कब्जे में लिया। जयपुर के एक अन्य राजा पृथ्वीराज ने राणा सांगा से मिलकर बाबर से युद्ध किया था और राणा सांगा को बचाने में अहम भूमिका निभाई थी। इनके पूर्वज पज्जून ऐसे वीर के रूप में सामने आते हैं, जिन्होंने पृथ्वीराज चौहान के सेनापति के रूप में एकाधिक बार न केवल शहाबुद्दीन गोरी को परास्त किया बल्कि उसे बांधकर किले में ले गए। जय सिंह द्वितीय तो अद्‌भुत व्यक्तित्व के धनी थे ही; जिन्होंने जयपुर की स्थापना की और भारतीय संस्कृति के मूल्यों को देश भर में प्रतिष्ठापित करने का प्रबल प्रयास किया। स्वाभाविक रूप से यह सब लिखे जाते समय उन काले दिनों का भी उल्लेख है, जो षडयंत्रों और खूनखराबे के नाम दर्ज हैं।

24 फरवरी, 1902 को गांधी के जयपुर आगमन के नतीजे पर पहुंचना चुनौतीपूर्ण रहा। पिछले अनेक दशकों से यह बात आम जुबान पर चढ़ी हुई थी कि गांधी कभी जयपुर आए ही नहीं। रही-सही कसर जयपुर स्टेशन पर गांधी प्रतिमा के साथ लगा शिलालेख पूरी कर देता है, जिस पर 1901 में कभी गांधी के जयपुर से होकर राजकोट जाने की बात है। इसका सूत्र गांधी की 'आत्मकथा अथवा सत्य के प्रयोग' से मिला। उसमें गांधी के कलकत्ता से बनारस, आगरा, जयपुर और पालनपुर होकर राजकोट जाने का उल्लेख मिलता है। बनारस यात्रा के बारे में विस्तार से वर्णन है लेकिन शेष के बारे में किंचित भी सूचना नहीं मिलती। लेकिन इसके बाद 4 मार्च, 1902 को राजकोट से गांधी का गोपालकृष्ण गोखले को लिखा पत्र मिलता है, जिसमें गांधी खुद जयपुर यात्रा और यहां के स्थानों के बारे में रुचिकर जानकारी

देते हैं। इस पत्र से गांधी का जयपुर आगमन तो पुष्ट हुआ लेकिन तब भी तारीख तक बात नहीं पहुंची। संयोग से गुजराती में लिखी हुई गांधी की दैनन्दिनी प्राप्त हुई, जिसमें 24 फरवरी, 1902 को गांधी के जयपुर आने का उल्लेख मिला।

किसी महत्वपूर्ण घटना और कालखंड को प्रामाणिक रूप से सामने लाने के लिए विद्वान लेखकों की कृतियों और समकालीन संस्मरणों की अहम भूमिका होती है। कोशिश यही की गई कि मूल साक्ष्यों की तह में जाया जाए, जिनके आधार पर इतिहास लिखे गए हैं। गांधी के बारे में कुछ भी लिखने से पहले उनके कथन और लेखन को ही प्रमाण माना गया है। संपूर्ण गांधी वांगमय के सौ खंडों के साथ ही गांधी के अनन्य सहयोगी महादेव देसाई और प्यारेलाल के दर्जनों पुस्तकीय विवरणों ने विभिन्न विषयों की आधारभूमि तैयार करने का काम किया है। 'हरिजन' के सभी अंकों का संग्रह काफी काम आया। तत्कालीन घटनाओं को समझने के लिए जमनालाल बजाज की डायरी सीधे तथ्यों के नजदीक लेकर गई; वहीं, उसकी गहराई में जाने के लिए जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, आचार्य नरेन्द्र देव वांगमय के साथ ही तत्कालीन नेतागणों राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना आजाद, जे.बी. कृपलानी, अब्दुल गफ्फार खान के आत्मकथ्य काफी उपयोगी रहे। डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्या के कांग्रेस इतिहास, श्यामलदास के वीर विनोद जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथों का उल्लेख किया जाना जरूरी है, जो निर्देशन का काम करते रहे हैं। कछवाहा-मुगल संबंधों के लिए बाबरनामा, हुमायूंनामा, अकबरनामा, जहांगीरनामा या औरंगजेब के विवरण को आधार बनाया गया; आम्बेर-जयपुर राजघराने के बारे में सत्रहवीं शताब्दी के जयसिंह कल्पद्रुम और जदुनाथ सरकार सहित कुछ ब्रिटिश लेखकों के वर्णन उल्लेखनीय लगे। ज्यादातर संदर्भों के लिए लिखे हुए को मान लेने के अलावा कोई उपाय नहीं होता; लेकिन जहां तक संभव हुआ उसकी अन्य प्रकार से भी जांच करने की कोशिश की गई है।

हालांकि इस पुस्तक में तथ्यों को प्रधानता दी गई है लेकिन वे भी संबंधित व्यक्तियों के लिखने के आधार पर ही हैं। इसलिए हो सकता है कोई विद्वान पाठक इससे सहमत न भी हों लेकिन वे सदाशयता के प्रति भरोसा रखने की कृपा करेंगे। ऐतिहासिक कालखंड से जुड़ा हुआ विषय होने के कारण कुछ तथ्य प्रचलित धारणाओं से अलग नजर आ सकते हैं लेकिन हकीकत से मुंह मोड़ने की कोशिश नहीं की गई है। भिन्न नजरिए के कारण लेखन में विवाद की काफी गुंजाइश रहती है; अनावश्यक रूप से उसमें उलझने की कोशिश नहीं की गई है।

गांधी का सार्ध शती समारोह वर्ष होने से ही यह पुस्तक आकार ले पाई; ऐसा ही गांधी से जुड़ी श्रद्धा का विषय है। उन्होंने शोषित-गरीब-पीड़ित में भगवान देखा। झोपड़ीनुमा आश्रमों से ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दी। जिन मामूली बर्तनों में कस्तूरबा भोजन बनातीं, वे आज भी आश्रम की अलमारियों में देखे जा सकते हैं। साबरमती या सेगांव.. सांप-बिच्छू सीधे चले आते थे। गांधी पहले से दवा का इंतजाम रखते, सांपों के लिए पिंजरा बनवाया; उन्हें मारा नहीं। मोटी खादी की धोती, लोहे की गोल ऐनक और लटकती हुई घड़ी पहने कच्ची-पक्की मूंछों वाले कृशकाय के पीछे सारा देश खड़ा था। गांधी का व्यक्तित्व व्यष्टि को समष्टि, एकान्त को अनंत और भारत को ब्रह्मांड से जोड़ता है। जीव मात्र के प्रति प्रेम सहज

ही उत्पन्न होता है; हिंसा देख-सुनकर दर्द महसूस होता है।

मेरी पत्रकारीय यात्रा के संरक्षक राजस्थान की पत्रकारिता के भीष्म पितामह श्री कर्पूरचंद्र कुलिश और राजस्थान पत्रिका के पूर्व संपादक-आदर्श पत्रकार श्री विजय भंडारी के प्रति आजीवन कृतज्ञ हूं। 90 वर्षीय वरिष्ठ पत्रकार श्री प्रवीणचन्द्र छाबड़ा और उनसे कुछ ही कम वय के वरिष्ठ पत्रकार श्री सीताराम झालानी आजादी के बाद से अब तक की पत्रकारिता और राजस्थान के इतिहास के साक्षी हैं, उन्होंने अपना ज्ञान, अनुभव और बहुमूल्य सामग्री सदैव तत्परता से उपलब्ध करवाने की कृपा की। मेरे आत्मज श्री जिज्ञासु शर्मा-श्री ऐश्वर्य शर्मा इस प्रयत्न में प्रारम्भ से सहभागी हैं, उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक महात्मा गांधी और जयपुर से जुड़े ऐतिहासिक-अनछुए विषय का महानगर प्रकाशन से श्रीगणेश करने का दायित्व संभाला। वरिष्ठ पत्रकार श्री विनोद चतुर्वेदी ने आखिरी तौर पर कोई त्रुटि नहीं रह जाने का भार अपने ऊपर लिया। शोध और संदर्भ से संबंधित महत्वपूर्ण जिम्मेदारी का निर्वाह युवा विश्लेषक श्री आशुतोष तिवारी ने मनोयोग और परिश्रमपूर्वक किया। साज-सज्जा, टंकण, प्रूफ सहित बारीकियों में श्री जितेन्द्र कुमार शर्मा और श्री राधेश्याम शर्मा कर्तव्यनिष्ठा से जुटे रहे। श्री दीपक खुरानिया ने कवर डिजाइन और पुस्तक की रूपरेखा तैयार की। इन सभी का हृदय से आभार। जयपुर के आराध्य प्रभु गोविंददेव जी की कृपा है कि जब जिस विषय की गहराई में जाना चाहा, मार्ग स्वत: प्रशस्त होता गया। त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये..!!

गांधी स्मृति दिवस, 30 जनवरी, 2020 —गोपाल शर्मा

भाग: एक

राष्ट्र का संक्रमण काल

1

गांधी से पहले भारत

हमारा आदर्श स्वराज ऐसा पूर्ण स्वायत्त शासन है, जो विदेशी नियंत्रण से मुक्त हो। हम प्रत्येक राष्ट्र को अपनी ही शक्तियों के द्वारा अपनी प्रकृति और आदर्शों के अनुरूप स्वत: अपना जीवन जीने के अधिकार की मांग करते हैं। लंबी दासता ने हमारी अंतर्निहित क्षमता और शक्ति के ऊपर धब्बे डाल दिए हैं और दोष पैदा कर दिए हैं। हमारे में वह क्षमता और ऊर्जा फिर से जाग्रत हो रही है।

–महर्षि अरविन्द

20 मई, 1498 को वास्को द गामा कप्पडु–कोझीकोड (वर्तमान केरल के कप्पावाडु) तट पर पहुंचा। इसके साथ ही भारतीय समुद्र क्षेत्र में सुदूरवर्ती शक्तियों और डाकुओं का प्रवेश खुल गया। सर्वप्रथम पुर्तगालियों का जहाजी बेड़ा पन्द्रहवीं सदी के अंत में भारतीय समुद्र में प्रविष्ट हुआ और कुछ ही वर्षों में उसने एक ऐसे साम्राज्य का रूप धारण कर लिया, जिसका निकट अतीत में एशिया को कोई अनुभव नहीं था। समुचित और प्रबल प्रतिरोध के अभाव के कारण सामान्य शक्ति के जहाजी बेड़े द्वारा ही समुद्र पर अधिकार करना संभव हो गया।[1]

भारत आने के सुगम रास्ते का पता मालूम हो जाना यूरोपीय देशों के लिए बड़ी उपलब्धि थी लेकिन यूरोप की जातियां भारत के नाम से सदियों पूर्व से परिचित थीं। भारत का माल यूरोप के देशों में बहुत पहले से जाता रहा था। कुस्तुन्तुनिया इस माल की सबसे बड़ी मंडी थी। यूरोप के व्यापारी वहीं से भारतीय माल खरीदकर इटली के जिनोवा और वेनिस नगरों में ले जाते थे। भारतीय माल का व्यापार करने के कारण जिनोवा और वेनिस उस समय यूरोप के सबसे धनी और संपन्न नगर हो गए थे। इन नगरों की संपत्ति और समृद्धि ने यूरोप के अन्य देशों को भारत में व्यापार करने के लिए स्वाभाविक रूप से लालायित किया।[2]

अकबर ने लाल सागर में भेजे जाने वाले पोतों के लिए लाइसेंस लेकर पुर्तगालियों के अधिकारों की मौन रूप से पुष्टि कर दी; साथ ही, मुगलों ने कभी भी समुद्र को स्वतंत्र करने या उस पर अधिकार करने का प्रयत्न नहीं किया। बीजापुर ने कई बार गोवा पर आक्रमण किया और 1571 के आसपास कई मुस्लिम शक्तियों द्वारा सम्मिलित रूप से किया गया आक्रमण यद्यपि पुर्तगाली साम्राज्य के लिए खतरे का सूचक था, लेकिन वह निष्फल रहा। कुछ वर्षों बाद तुर्कों ने भारतीय तट पर अधिकार करने की कोशिश की लेकिन छोटी–छोटी नौकाओं पर आधारित उनका दो पोतों वाला जहाजी बेड़ा नाकामयाब रहा। इसी बीच समुद्री

डाकुओं के सरदार कुन्नाली ने सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में 'भारतीय सागरों के स्वामी' की उपाधि धारण कर ली और नौपरिवहन का लाइसेंस देने लगा। उसके खिलाफ पुर्तगालियों का एक अभियान विफल हो गया तो उसने 'इस्लाम का रक्षक तथा पुर्तगालियों का निष्कासक' की उपाधि धारण कर ली। आखिरकार पुर्तगालियों ने गोवा में उसे मार डाला।[3]

सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध की यूरोपीय राजनीतिक गतिविधियों में स्पेन तथा हॉलैंड की शत्रुता का प्रमुख स्थान है। हॉलैंड को खतरा उस समय उत्पन्न हुआ जब स्पेन का शासक पुर्तगाल के राज्य का उत्तराधिकारी बना। पुर्तगाली गैर सरकारी तौर पर हॉलैंड से व्यापारिक संबंध बनाए हुए थे; दूसरी ओर, डचों ने शत्रु देश से अर्जित किए गए धन को उसी के विरुद्ध काम में लेने की नीति अपनाई।[4]

इसी बीच, अंग्रेज व्यापारी भी पूर्वी व्यापार में हिस्सेदार बनने के इच्छुक हो रहे थे तथा भूमध्यसागरीय व्यापार का विशेष रूप से अध्ययन कर रहे थे क्योंकि स्पेन या पुर्तगाल के दावे के कारण केप ऑफ गुड होप मार्ग उनके लिए निषिद्ध था। 1588 में स्पेनिश आरमेडा की पराजय के बाद अंतरीप होकर यात्रा करने का मार्ग मिल गया, जिससे डचों और अंग्रेजों के लिए अंतरीप होकर यात्रा करने का मार्ग खुल गया। तीन वर्ष बाद जार्ज रेमंड के नेतृत्व में पूर्व के लिए अंग्रेजों ने एक अभियान आरंभ किया, लेकिन वह विफल रहा। इसी दौरान 1600 में लंदन के व्यापारियों ने एक संगठन बनाया और 72,000 पौंड की संचित धनराशि की व्यवस्था की गई। इसका उद्देश्य पूर्व के देश भारत में व्यापार की स्थापना करना और इंग्लैंड में गरम मसाले तथा अन्य वस्तुओं के आयात की व्यवस्था करने के लिए पोत और वाणिज्य सामग्री की व्यवस्था करना था। इस यात्रा के लिए उन्होंने चार बड़े पोत खरीदे।[5]

कंपनी ने जेम्स प्रथम का पत्र लेकर कैप्टन विलियम हॉकिन्स को भारत भेजा। यद्यपि डचों की भांति अंग्रेजों का उद्देश्य भी गुजरात से अपनी पूर्वी मंडियों के लिए सूती कपड़ा प्राप्त करना था, लेकिन साथ ही वे इंग्लैंड और भारत के मध्य प्रत्यक्ष व्यापारिक संबंधों की स्थापना के द्वारा कंपनी की गतिविधियों का क्षेत्र भी विस्तृत करना चाहते थे। इसी क्रम में 24 अगस्त, 1608 को हॉकिन्स सूरत उतरा और 1609 में एक फैक्ट्री की अनुमति लेने के लिए आगरा जाकर सम्राट जहांगीर से मुलाकात की।[6]

हॉकिन्स का अनुकूल स्वागत हुआ लेकिन पुर्तगाली कुचक्र के आगे उसकी नीति प्रभावहीन सिद्ध हुई। हॉकिन्स के प्रयत्नों के परिणाम की प्रतीक्षा करने के दौरान भी ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा सूरत के लिए पोत भेजे जाते रहे। 1609 में इस तट पर एसेंशन का आगमन हुआ, लेकिन इस संपूर्ण पोत समुदाय को नष्ट करवा दिया गया। 1611 में हेनरी मिडिल्टन सूरत पहुंचा लेकिन उस समय भी पुर्तगाली आतंक छाया हुआ था। अगले वर्ष बैस्ट ने आकर पहली सफलता प्राप्त की, जब अंग्रेजों को गुजरात में फैक्ट्री स्थापित करने की अनुमति प्राप्त हुई। सूरत में फैक्ट्री स्थापित करने का श्रेय सामान्यत: बैस्ट को ही दिया जाता है; फोस्टर का मानना है कि समसामयिक दस्तावेजों से यह उपलब्धि थॉमस अल्दवर्थ नामक व्यापारी के प्रयत्नों से प्राप्त हुई। उसी समय मुगलों को लगा कि पुर्तगाली प्रभुत्व को चुनौती देने का समय आ गया है। सूरत में अंग्रेजों के विधिवत व्यापार का प्रारंभ 1613 से ही माना जा सकता है।

अंग्रेज व्यापारी मसुलीपट्टम और पेटापल्ली में 1611 में स्थापित हुए लेकिन वहां पर उनका व्यापार डचों की तरह नहीं फैल सका।[7] इसी दौरान 1612 में जहांगीर द्वारा अपने सिपहसालार मुकर्रब खां को फिरंगियों (पुर्तगालियों) से मुंहमांगी कीमतें देकर दुर्लभ वस्तुएं खरीदने के लिए गोवा भेजने का उल्लेख मिलता है।[8]

गोवा के 'फिरंगियों' से जहांगीर के मधुर संबंध नहीं रहे। हालांकि उनके साथ मुगलों की संधि थी लेकिन 1613 में गोवा के फिरंगियों ने संधि के विरुद्ध चार व्यापारी जलपोतों को लूट लिया, जो सूरत से आया करते थे। उन्होंने बहुत-से मुसलमानों को कैद कर लिया और जलपोतों में रखा उनका सारा सामान छीन लिया। जहांगीर ने फिर मुकर्रब खां को इस घटना का बदला लेने के लिए भेजा, जिसे उस बंदरगाह का प्रमुख बनाया हुआ था।[9]

अंग्रेजों से मुगलों के शुरुआती संबंध बेहतर रहे। 1615 में टॉमस रो जहांगीर के दरबार में पहुंचा। टॉमस रो के कूटनीतिक प्रयास पूर्णत: तो सफल नहीं हो सके लेकिन वहां पर उसके प्रभाव के कारण स्थिति में निश्चित रूप से सुधार हुआ। अंग्रेजों ने वहां क्रय-विक्रय का बंदोबस्त किया और सूरत तथा लंदन के बीच प्रत्यक्ष व्यापार का तीव्र गति से विकास होने लगा।[10]

यहां तक कि सूरत में शरणार्थी के रूप में रह रहे अंग्रेजों का 1614 में स्थानीय स्तर पर युद्ध हुआ, जिसमें उन्होंने प्रतिद्वंद्वी वर्जा को पराजित किया। अजमेर में दीर्घकालीन प्रवास कर रहे जहांगीर को इस घटना का पता चला तो वह इस बात से प्रसन्न हुआ कि अंग्रेजों की अग्निवर्षा से प्रतिद्वंद्वी के अधिकांश जहाज जल गए।[11]

मुगल शासन उस दौर में अंग्रेजों के प्रति उदारवादी था। हिन्दुओं के काशी, मथुरा से आम्बेर, पुष्कर तक के मंदिर तोड़े जाने का उल्लेख खुद किसी-न-किसी रूप में मुगल बादशाहों ने किया। लेकिन ईसाइयों के बारे में आदेश दिए गए कि यदि गिरजाघर गिर गए हों या बरबाद हो गए हों तो उन्हें मरम्मत करवाने या फिर बनवाने की स्वतंत्रता थी। इसी तरह, बाहर से लाए जाने वाले माल पर चुंगी दो तरह से वसूली जा रही थी। मुसलमानों से ढाई प्रतिशत और हिन्दुओं से पांच प्रतिशत। हिन्दुओं की तरह यूरोपियों पर प्रत्येक व्यक्ति की गणना करके जजिया कर लगाने में मुगल शासकों ने कठिनाई अनुभव की तो जजिया के बदले आने वाले माल पर चुंगी की दर को बढ़ाकर साढ़े तीन प्रतिशत कर दिया गया।[12]

औरंगजेब ने इससे भी आगे बढ़कर सूरत के बंदरगाह में एक बार चुंगी चुका देने के बाद भारत के अन्य किसी भाग में बिना कोई कर या चुंगी दिए बेरोक-टोक व्यापार करने की छूट दी।[13]

इसके बावजूद अंग्रेजों और मुगलों में तनातनी शुरू हो गई। इसका एक बड़ा कारण था कि बंगाल के स्थानीय मुगल अधिकारी अंग्रेजों से नियमविरुद्ध बहुत-सा रुपया वसूल करते थे और उनके व्यापार में बाधा डालते थे। इधर, अंग्रेज केवल मुगलों तक सीमित नहीं थे। उन्होंने एक ओर 1640 में मद्रास के सेंट जॉर्ज किले को बनाना शुरू किया तो दूसरी ओर विजयनगर राजघराने से धरती का कुछ भाग लेकर वहां किला बनाना शुरू किया। इस तरह, अंग्रेजों ने अपने स्वतंत्र केंद्र स्थापित करने शुरू किए। बंगाल में अंग्रेजों का व्यापार 1658 में

बहुत अच्छी तरह चल रहा था। कच्चा रेशम और सुंदर रेशमी कपड़े बहुतायत में मिल जाते; अच्छी किस्म का शोरा भी बहुत सस्ता था। बदले में इंग्लैंड से भेजे गए सोने-चांदी को भारतीय बड़ी तत्परता से खरीद रहे थे। 1668 में कंपनी ने बंगाल से 34,000 पौंड का माल खरीदकर यूरोप भेजा; 1675 में भेजे गए माल की कीमत 85,000 पौंड थी जबकि 1680 में 1,50,000 पौंड मूल्य का माल भेजा गया। इसके बावजूद कंपनी अपना दबाव बढ़ाने लगी। उसका कहना था कि इंग्लैंड या चीन से सूरत नहीं होकर सीधे बंगाल जाने वाले दूसरे माल पर चुंगी नहीं देने की छूट होनी चाहिए। वे यह भी चाहते थे कि पहले की तरह (1652) केवल 3000 रुपए देकर सारे माल पर चुंगी देने से छुटकारा मिल जाए।[14]

1686 से कंपनी का मुगलों से सीधा संघर्ष शुरू हो गया। 28 अक्टूबर, 1686 को स्थानीय फौजदार की आज्ञा का उल्लंघन करके तीन अंग्रेज सिपाहियों ने हुगली के मुगल बाजार में घुसने की कोशिश की लेकिन वे गिरफ्तार कर लिए गए। कैप्टन लेस्ली ने उन्हें छुड़ाने की कोशिश की लेकिन कुछ सैनिकों के मारे जाने के कारण उसे वापस लौटना पड़ा। शीघ्र ही अंग्रेजों की छावनी से सैनिक सहायता मिलने पर वह फिर आगे बढ़ा और फौजदार के मकान सहित शहर के एक भाग को लूटकर जला डाला। वहां पड़े हुए एक मुगल जहाज पर भी कब्जा कर लिया। 1687 में फिर मुगलों और अंग्रेजों में लड़ाई छिड़ी। अंग्रेजों ने शाही गोदामों को जला दिया और वर्तमान कलकत्ता से दक्षिण पूर्व के किलों पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेजों के जहाज गंगा में बढ़े और उन्होंने हिजली टापू पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों को हिजली से भगाने के लिए शाइस्ता खां का अफसर अब्दुस्समद खां 12,000 सैनिकों को लेकर मई, 1687 में पहुंचा। 11 जून को अंग्रेज वहां से अपनी तोपें लेकर झंडे उड़ाते और ढोल बजाते चले गए। 16 अगस्त को शाइस्ता खां ने अंग्रेजों को पत्र लिखकर फटकारा लेकिन साथ ही कलकत्ता से 20 मील दक्षिण में उलुबेरिया नामक स्थान पर अपना किला बनाने और हुगली के साथ पुन: व्यापार करने की आज्ञा दे दी।[15]

1688 में कैप्टन हीथ इंग्लैंड से आकर जॉब चारनाक के स्थान पर बंगाल का एजेंट बना। उसने बंगाल में अंग्रेजों की कोठियां बंद करके 29 नवम्बर, 1688 को पुराने बालासोर के मुगल किले पर हमला कर दिया। औरंगजेब को इन घटनाओं का पता चला तो उसने आज्ञा दी कि सारे अंग्रेज तुरंत कैद कर लिए जाएं; उनकी सभी कोठियों पर कब्जा कर लिया जाए और उनसे कोई भी व्यापार तथा किसी भी तरह का संपर्क नहीं रखा जाए। लेकिन समुद्र पर अंग्रेजों का पूरा अधिकार था और वे मक्का जाने वाले जहाज रोक सकते थे। साथ ही, उनके साथ होने वाले व्यापार पर रोक लगने से साम्राज्य की आमदनी बहुत घट गई। आखिरकार, फरवरी, 1690 में पश्चिमी तट के अंग्रेजों और मुगल साम्राज्य के बीच संधि हो गई। 24 अगस्त, 1690 को चारनाक मद्रास से सुतनती पहुंचा। इसके बाद कलकत्ता नगर की स्थापना हुई और तभी से उत्तरी भारत में एक तरह से अंग्रेजों की सत्ता शुरू हो गई।[16]

ऐसा ही सूरत में हुआ। भारत में स्थित सभी अंग्रेजी कोठियों का प्रधान संचालक जॉन चाइल्ड लंदन से प्राप्त आदेशों के अनुसार मुगलों की पहुंच से बाहर होने के लिए सूरत से बम्बई के लिए रवाना हुआ। सूरत के मुगल फौजदार ने अंग्रेजों की कोठी के चारों ओर शाही

सेना बैठा दी। ताकि सूरत कोठी की परिषद के अध्यक्ष बेंजामिन हेरिस और उसका सहायक सेम्युअल एनस्ले वहां से बाहर नहीं निकल सकें। अंग्रेजों ने जहाजी बेड़े से समुद्री तट का चक्कर लगाकर सारे भारतीय जहाजों पर अधिकार कर लिया। इसके जवाब में मुगलों ने सूरत में पकड़े गए सारे अंग्रेज कैदियों के पैरों में बेडियां डाल दीं। उस बुरी हालत में उन अंग्रेजों ने पूरे सोलह महीने (दिसम्बर, 1688 से अप्रेल, 1690) बिताए। साथ ही, मई, 1689 में मुगल जल सेना के नायक जजीरा के सिद्दीकी ने बम्बई पर आक्रमण किया और शाही सेना ने उस टापू पर उतरकर वहां के बाहरी भागों पर अधिकार कर लिया। टापू की सुरक्षा के लिए नियुक्त अंग्रेज सैनिक दल को बम्बई के किले में आश्रय लेना पड़ा, लेकिन मुगलों के सैनिक दल ने उन्हें घेर लिया। विवश होकर चाइल्ड ने 10 दिसम्बर, 1689 को जी. वेल्डन और अब्राहम नेवारी को औरंगजेब की सेवा में भेजा तथा क्षमा की प्रार्थना की। 25 दिसम्बर, 1689 को औरंगजेब ने अंग्रेजों को क्षमा कर दिया। डेढ़ लाख रुपए जुर्माना और भारतीय जहाजों से लूटे गए सारे माल को लौटाने पर अंग्रेजों को पुनः भारत में व्यापार करते रहने की अनुमति मिल गई।[17]

इस तरह, ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने काम की शुरुआत केवल इस बात की कोशिश से की थी कि अपने एजेंटों के लिए फैक्ट्रियां और अपने मालों को रखने के लिए जगहों की स्थापना करे। इनकी हिफाजत के लिए कंपनी ने कई किले बना लिए। भारत में राज्य कायम करने और जमीन की मालगुजारी को अपनी आमदनी का एक जरिया बनाने की बात की कल्पना ईस्ट इंडिया कंपनी ने यद्यपि बहुत पहले 1689 में ही की थी, लेकिन 1744 तक बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के आसपास केवल कुछ महत्वहीन जिले ही वे हासिल कर पाए थे। इसके बाद कर्नाटक में जो युद्ध छिड़ गया था, उसके परिणामस्वरूप विभिन्न लड़ाइयों के बाद, भारत के उस भाग के भी वे लगभग एकछत्र स्वामी बन गए थे।

1757 के प्लासी युद्ध में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला की पराजय हुई। अंग्रेजों ने सिराजुद्दौला को हटा दिया, जो सम्राट के अधीनस्थ लोगों में सबसे महत्वपूर्ण और सबसे ज्यादा ताकतवर था। उसकी जगह मीर जाफर नामक एक नए नवाब की नियुक्ति की गई, जो विदेशी सत्ता का इस कदर गुलाम था कि उसका नाम ही छल-कपट, गद्दारी और राजद्रोह का पर्याय बन गया। प्लासी के युद्ध ने दुष्परिणामों की एक लंबी श्रृंखला की शुरुआत की, जिसने भारत की तस्वीर को पूरी तरह बदल दिया। सदियों से चली आ रही आर्थिक और प्रशासनिक व्यवस्था का पूरी तरह रूपांतरण हो गया।[18]

बंगाल के युद्ध और क्लाइव की जीतों से ईस्ट इंडिया कंपनी को और भी अधिक लाभ हुए। बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर कंपनी का वास्तविक कब्जा हो गया। उस समय तक भारतीय व्यापारियों की तरह ब्रिटिश व्यापारी भी दिल्ली सम्राट, नवाबों तथा उनके अधीनस्थ अन्य प्रशासनिक कर्मचारियों का सम्मान करते थे और उनकी अनुकंपा प्राप्त करने के लिए विनम्रतापूर्वक आदर के साथ इंतजार करते थे। ऐसा करते हुए वे सम्राट तथा सम्राट के प्रशासकों की राजनीतिक श्रेष्ठता के समक्ष पूरी तरह समर्पित भी रहते थे। 1764 में खुद मुगल सम्राट ने ईस्ट इंडिया कंपनी को दीवानी प्रदान की, जिसके जरिए उसे बंगाल, बिहार और

उड़ीसा प्रांतों पर शासन करने का अधिकार मिल गया। इस प्रकार कंपनी मीर जाफर के जरिए शासन करने की बजाय एक बहुत बड़े हिस्से पर प्रत्यक्ष तौर पर शासन करने लगी। आगे चलकर इन्होंने दक्षिण भारत में निजाम तथा मैसूर के सुल्तान को पराजित किया, पश्चिमी भारत में मराठों को और वर्तमान उत्तर प्रदेश तथा पंजाब और सिंध में अनेक सामंतों को पराजित किया। उस समय के बाद से भारत पर वास्तविक शासन कंपनी का हो गया। दीवानी के अंतर्गत अधिकार पाने के बाद कंपनी ने बंगाल तथा अन्य अधिकृत इलाकों में ऐसे सुधारों की शुरुआत की जिनसे ग्रामीण जीवन, उस पर सामंती और जातीय-सामुदायिक शक्तियों का प्रभुत्व, कृषि तथा औद्योगिक ढांचा और न्यायिक प्रणाली सहित सदियों से मौजूद समूची व्यवस्था ध्वस्त हो सकती थी। इसके बाद जब यह प्रशासनिक अधिकार कंपनी से ब्रिटिश सम्राट तक हस्तांतरित हुआ तो इस प्रक्रिया ने और भी योजनाबद्ध रूप ले लिया।[19]

19वीं शताब्दी के दूसरे दशक में कंपनी ने आखिरकार भारत के सीमांत को भी जीत लिया। इससे पहले पूर्व में एशिया के उन भागों तक ब्रिटिश साम्राज्य नहीं पहुंचा था, जो तमाम कालों में भारत की प्रत्येक केंद्रीय सत्ता की राजधानी रहे थे। 1838 से 1849 के काल में सिख और अफगान युद्धों के द्वारा पंजाब और सिंध पर जबरदस्ती कब्जा करके ब्रिटिश शासन ने पूर्वी भारत के महाद्वीप की जातीय, राजनीतिक और सैनिक सरहदों को भी अपने अधीन कर लिया। एक दशक के दौरान ब्रिटेन के भारतीय प्रदेश में 1,67,000 वर्ग मील का रकबा, जिसमें 85,72,630 लोग रहते थे, और जुड़ गया। देश के अंदर की तमाम देसी रियासतें ब्रिटिश संधियों से घिर गईं; किसी न किसी रूप में वे ब्रिटेन की सत्ता के मातहत हो गईं। वे केवल गुजरात और सिंध को छोड़कर समुद्र तट से काट दी गईं। 1849 के बाद से केवल एक एंग्लो इंडियन साम्राज्य का अस्तित्व ही वहां रह गया। इस तरह कंपनी के नाम के नीचे ब्रिटिश सरकार दो शताब्दियों से तब तक लड़ती रही, जब तक कि आखिरकार भारत की प्राकृतिक सरहदें खत्म नहीं हो गईं।[20]

मुगल साम्राज्य के पतन के बाद पैदा हुई राजनीतिक स्थिति को देखते हुए ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने व्यापार केंद्रों को बनाए रखने और उनकी सुरक्षा करने के लिए सुरक्षा बलों का गठन किया। इन सुरक्षा बलों ने व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए किसी-न-किसी सामंती राजा के साथ सहयोग करने की कार्य नीति अपनाई। इन स्थितियों में परिवर्तन अठारहवीं सदी के मध्य में हुआ, जब डच (हालैंड) लोगों ने पूरी तरह पुर्तगालियों को हटा दिया। इंग्लैंड और हालैंड के बीच संघर्ष की समाप्ति इंडोनेशिया से अंग्रेजों के और भारत से डच लोगों के हटने के साथ हो गई थी। इस तरह ब्रिटेन और फ्रांस में भारत के लिए होड़ लगी हुई थी। उस दौरान दोनों देशों के बीच अपने-अपने व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए और भारत के प्रशासनिक ढांचे पर अपनी पकड़ बनाने के लिए भीषण संघर्ष शुरू हो गया। इसी समय फ्रांस में एक क्रांति संपन्न हुई, जिसने वहां की पुरानी समाज व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। फ्रांस में क्रांति से पूर्व शासकों के कुकृत्यों तथा क्रांति के बाद युद्ध द्वारा निर्मित स्थितियों ने यूरोप और भारत दोनों जगह इंग्लैंड के मुकाबले फ्रांस को कमजोर कर दिया। इस प्रकार यूरोप के जो चार देश भारत आए, उनमें से अकेला इंग्लैंड ही अंतिम विजेता के रूप में भारत रह

सका। महज पांडिचेरी और माहे जैसे छोटे-छोटे इलाके फ्रांस के तथा गोवा पुर्तगाल के कब्जे में बना रहा।[21]

ईस्ट इंडिया कंपनी ने भूमि स्वामित्व के मामले में उन्हीं अवधारणाओं और कानूनों की नकल करने की कोशिश की, जो उसके खुद के देश में प्रचलित थे। इसके अनुसार नए शासकों का एक वर्ग इस अवधारणा पर काम करने लगा कि स्वामित्व का अधिकार पूरी तरह राजा या शासक के पास होता है। वहीं, दूसरा वर्ग इस सिद्धांत को मानता था कि शासक तथा जमीन के वास्तविक मालिकों के बीच एक जमींदार होना चाहिए। इस बात के प्रयास किए गए कि शासकों के अलग-अलग वर्गों की अवधारणाओं के अनुरूप भू-स्वामित्व प्रणाली की व्याख्या की जाए। इसके परिणाम स्वरूप भू-स्वामित्व की तीन प्रणालियां जमींदारी, रैयतबाड़ी और महलवाड़ी अस्तित्व में आईं। भिन्नताओं के बावजूद ये सभी प्रणालियां समान रूप से शोषणकारी थीं और इन्होंने जमीनों के मालिकों को कंगाल बना दिया। जमींदारी प्रणाली के अंतर्गत जमींदार को एक निश्चित राशि सरकार के पास भेजनी होती थी लेकिन वह किसानों से मनचाही राशि वसूल सकता था। अन्य दो प्रणालियों के तहत सरकार एक बढ़ी हुई निर्धारित दर पर जमीनों के मालिकों से सीधे टैक्स इकट्ठा कर सकती थी। उदाहरण के तौर पर मद्रास प्रेसीडेंसी में रैयतबाड़ी प्रणाली के अंतर्गत 1810-11 में वसूला गया राजस्व 10,00,000 पौंड था; 1825-26 में यह राशि बढ़कर 40,00,000 पौंड हो गई। बम्बई में 1817 में राजस्व के रूप में 8,00,000 पौंड का राजस्व इकट्ठा किया गया था, जो अगले वर्ष बढ़कर 11,50,000 और 1837-38 में 18,60,000 पौंड हो गया।[22]

ब्रिटिश कंपनी को शासन करने का अधिकार पहली बार बंगाल में मिला। वहां कंपनी ने जमींदारी प्रणाली की शुरुआत की। मुगल सम्राट के एजेंटों ने 1764-65 में 8,18,000 पौंड की वसूली की, जो 1765-66 में बढ़कर 14,70,000 और 1790-91 में 28,60,000 पौंड हो गई। न केवल सरकार द्वारा सीधे तौर पर वसूले गए टैक्स अथवा जमींदारों के माध्यम से लिए गए लगान ने, बल्कि इस उद्देश्य के लिए बनाए गए कानूनों ने भी भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। बम्बई प्रांत के रेवेन्यू सर्वे कमिश्नर कैप्टन विनगेट के अनुसार, 'छोटे-छोटे सूदखोर तेजी से पैदा होने लगे। ये लोग आबादी के सबसे निम्न स्तर के लोगों को काफी ऊंची ब्याज दरों पर थोड़े समय के लिए कर्ज देते थे क्योंकि इस तरह के कर्जदारों की हैसियत ऐसी नहीं थी कि अपेक्षाकृत गांव के सम्मानित बैंकरों से ऋण ले सकें।'[23]

ब्रिटिश कंपनी द्वारा शुरू किए भूमि सुधार के उपायों के परिणामस्वरूप जमींदारों और सूदखोरों के रूप में दो वर्गों का उदय हुआ, जिन्होंने किसानों के एक विशाल बहुमत को तथा ग्रामीण निर्धन लोगों के अन्य वर्गों को मिल-जुलकर लूटने का काम शुरू किया। इसके साथ ही इस लूट के एक बड़े हिस्से को ब्रिटिश कंपनी को देने का भी चलन शुरू हो गया। हस्तशिल्प और इन शिल्पों पर आधारित विदेश व्यापार में भी धीरे-धीरे गिरावट आने लगी। उदाहरण के तौर पर 1795-96 में भारत से सूती कपड़े का निर्यात 21,22,319 रुपए का हुआ था; जो 1829-30 में घटकर 6,95,725 रुपए हो गया। दूसरी तरफ, इंग्लैंड से आयात किए

जाने वाले सामानों के मूल्यों में लगातार वृद्धि होती गई। 1814 में 18,00,000 पौंड का सामान आयात किया गया, जो 1829 में बढ़कर 45,00,000 पौंड हो गया।[24]

इस प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी धीरे-धीरे विशाल भारतीय साम्राज्य में बदल गई। जब कंपनी इस साम्राज्य की शुरुआत कर रही थी, उस समय यह क्षेत्र अपने औद्योगिक निर्यातों, खासकर विभिन्न किस्म के कपड़ों के निर्यात के लिए विख्यात था। ब्रिटिश अर्थशास्त्री एडम स्मिथ का मानना था कि भारत, खासकर बंगाल दुनिया के समृद्धतम क्षेत्रों में था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'एन इनक्वायरी इनटू द नेचर एंड द कॉजेज ऑफ द वेल्थ ऑफ नेशंस' (1776) में भारत की तुलनात्मक समृद्धि की वजहें लिखी हैं। उन्होंने इसका श्रेय फलते-फूलते व्यापार तंत्र को दिया है, जिसमें नदियों का उपयोग किया जाता था। वास्तव में, देश के भीतर और विदेशों तक करीब 2000 वर्ष पुराने सुस्थापित व्यापारिक संबंध फैले हुए थे। एडम स्मिथ ने लिखा कि हालांकि बंगाल 'हिन्दुस्तान का एक सूबा है जो भारी मात्रा में चावल का निर्यात करता है, लेकिन वह हमेशा अनाजों से ज्यादा तरह-तरह के अन्य उत्पादों के निर्यात के लिए जाना जाता रहा है।' ईस्ट इंडिया कंपनी के दूसरे व्यापारिक केंद्र गंगा के किनारे बसे थे, जहां पुर्तगाल, नीदरलैंड, फ्रांस, डेनमार्क, प्रशिया और अन्य यूरोपीय देशों के व्यापारी अन्य वाणिज्यिक चैनलों के साथ-साथ भारतीय सामान का यूरोप तथा दूसरे देशों में निर्यात कर रहे थे। भारतीय निर्यातों की गुणवत्ता और कीमत यूरोप के देसी उत्पादकों, खासकर ब्रिटेन के लिए चिंता की वजह थी। भारत में ब्रिटिश राज स्थापित होने के पहले ब्रिटिश संसद ने कई कानून बनाकर भारतीय कपड़ों को पहनने पर प्रतिबंध लगाया था।[25]

इस क्षेत्र की व्यापार आधारित समृद्धि के रोचक वर्णन दूसरी शताब्दी के अग्रणी भूगोलशास्त्री क्लॉडियस टॉलेमी के लेखन में भी मिलते हैं। टॉलेमी ने भारतीय अर्थव्यवस्था के अवयवों के बारे में कुछ विस्तार से लिखा है और ऐसे कई शहरों की पहचान की है जो देश के भीतर ही नहीं, बल्कि दूसरे देशों के साथ भी अच्छा-खासा व्यापार कर रहे थे। प्लीनी ने भी इस क्षेत्र की खुली तथा फलती-फूलती अर्थव्यवस्था का वर्णन किया है।[26]

तत्कालीन मजदूरी की दरों और कीमतों के बीच तुलना से संकेत मिलता है कि आर्थिक रूप से सक्रिय क्षेत्रों में भारतीय श्रमिक की वास्तविक मजदूरी और बेशक कुशल कारीगरों की मजदूरी यूरोप में समान श्रमिक समूह की मजदूरी से कम नहीं थी, बल्कि कहीं-कहीं तो ज्यादा थी। उदाहरण के लिए, प्रसन्नन पार्थसारथी ने अठारहवीं सदी के मध्य में वास्तविक मजदूरियों की तुलना अनाज के हिसाब से की है, जो बताती है कि बुनकरों की मजदूरी ब्रिटेन में प्रति सप्ताह 40 से लेकर 140 पौंड अनाज के बीच थी। भारत में बंगाल के बुनकरों की मजदूरी प्रति सप्ताह 55 से 135 पौंड अनाज थी और दक्षिण भारत में यह प्रति सप्ताह 65 से 160 पौंड के बीच तक थी। भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान आर्थिक गिरावट के लिए एडम स्मिथ ने 'ईस्ट इंडिया कंपनी के नौकरों द्वारा थोपे गए कुछ अन्यायपूर्ण प्रतिबंधों' को जिम्मेदार ठहराया है। 1770 के बंगाल के अकाल के लिए भी उन्होंने इन्हीं प्रतिबंधों को दोषी बताया है। यह गिरावट पूरी उन्नीसवीं सदी में जारी रही। आर्थिक अवनति का दौर ठीक बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक चलता रहा। ब्रिटिश राज के दौरान भारत में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय

सचमुच गिर गई थी। आर्थिक वृद्धि हुई भी तो इतनी कम कि दूसरे देशों से पिछड़ना कोई बड़ी बात नहीं थी। 'बीसवीं सदी में भारत की राष्ट्रीय आय' पर एस. सिवसुब्रह्मण्यम के विस्तृत अध्ययन के मुताबिक 1900-1901 से लेकर 1946-1947 के बीच भारत की प्रति व्यक्ति आय की वार्षिक वृद्धि दर करीब 0.1 प्रतिशत थी। इस दौरान वृद्धि धनात्मक लेकिन नगण्य थी क्योंकि जीडीपी की 0.9 प्रतिशत की सचमुच निराशाजनक वृद्धि दर को आबादी की भिन्न वृद्धि दर (0.8 प्रतिशत) बेमानी कर देती थी। आबादी की यह वृद्धि दर ऊंची मृत्यु दर को उजागर करती थी जो ब्रिटिश भारत की खासियत थी। यह सब उन सदियों में हो रहा था जब औद्योगिक क्रांति के कारण हो रहे परिवर्तन यूरोप, अमेरिका, एशिया और लैटिन अमेरिका के कुछ भागों में वास्तविक आय में इजाफा कर रहे थे और जीवन स्तर में बदलाव ला रहे थे।[27]

1784 से भारत की वित्तीय व्यवस्था कठिनाई के दलदल में अधिकाधिक गहरी फंसती गई। 5 करोड़ पौंड का राष्ट्रीय कर्जा हो गया, आमदनी के साधन लगातार घटते जा रहे थे, और खर्च उसी गति से बढ़ता जा रहा था। अफीम कर की अनिश्चित आय के द्वारा इस खर्च को संदिग्ध रूप से पूरा करने की कोशिश जारी थी, लेकिन अफीम कर की आमदनी भी खतरे में थी, क्योंकि चीनियों ने स्वयं अफीम की खेती शुरू कर दी। दूसरी तरफ बर्मा के निरर्थक युद्ध में जो खर्च होना था, उससे यह संकट और भी गहरा हो जाने वाला था।[28]

इंग्लैंड की औपनिवेशिक नीतियों पर उस समय के विख्यात अमेरिकी राजनीतिज्ञ जॉन डिकिन्सन की टिप्पणी महत्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा, 'परिस्थिति यह है कि यद्यपि भारत में अपना साम्राज्य खो देने के बाद इंग्लैंड बर्बाद हो जाएगा, लेकिन उसे बचाए रखने की मजबूरी भी उसकी खुद की अर्थव्यवस्था के लिए संकट है।'[29]

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत के साथ ही अंग्रेजों ने भारत के दक्षिणी और पूर्वी दोनों भागों में अपना प्रभुत्व जमा लिया। दक्षिणी भारत में तो उन्हें अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए अपेक्षाकृत व्यापक रुख ले चुके स्वाधीनता संघर्ष का दमन करना पड़ा लेकिन पूर्वी भारत में बिना किसी उल्लेखनीय प्रतिरोध के यह काम हो गया। फिर भी बंगाल और दक्षिणी भारत में अपनी स्थिति मजबूत करने के बावजूद अंग्रेज संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने तय कर लिया था कि भारत के अन्य क्षेत्रों में भी उन्हें शासन का विस्तार करना है। विभिन्न सामंतों, राजाओं और महाराजाओं के साथ उन्होंने जो समझौते किए, उनके प्रावधानों का एकतरफा उल्लंघन करने में उन्हें तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती थी। अंग्रेजों ने उन सामंतों और अनेक राजाओं के शासन वाले क्षेत्रों पर अधिकार जमा लिया, जो वैसे तो नाममात्र के लिए मुगल सम्राट के अधीन थे लेकिन अपने-अपने क्षेत्रों के स्वतंत्र शासक थे। अंतत: अंग्रेजों ने मुगल सम्राट के खिलाफ भी अपनी तलवारें निकाल लीं। अभी तक अंग्रेजों ने मुगल साम्राज्य से रियायतें चाही थीं और सम्राट को नजराने पेश किया करते थे लेकिन अब वे अकड़ दिखाने लगे। मुगल सम्राट को गवर्नर जनरल लॉर्ड एमहर्स्ट ने लिखकर भेजा, 'सम्राट, आप नाममात्र के सम्राट हैं और महज शालीनतावश आपको सम्राट पुकारा जाता है।'[30]

मुगल दरबार में ब्रिटिश रेजिडेंट ने नज्र पेश करते समय सम्राट की मौजूदगी में खड़ा होने

से इनकार कर दिया। ऑकलैंड ने बहादुरशाह से अपने सारे अधिकार और दावे छोड़ देने के लिए कहा। ऑकलैंड ने बहादुर शाह को नज्र पेश करना बंद कर दिया और कहा कि वह लोगों को पदवी देना और दरबार लगाना बंद करे। दीवाने आम और दीवाने खास पर रोक लगा दी गई। बहादुर शाह को मजबूर किया गया कि वह लालकिला खाली कर दे, सम्राट की उपाधि छोड़ दे और अपने उत्तराधिकारी के नाम की घोषणा के विशेषाधिकार को छोड़ दे।[31]

प्रशासनिक जांचों से यह बात 1693 में ही सामने आ गई थी कि सत्तारूढ़ व्यक्तियों को दी जाने वाली 'भेंटों' के मद में होने वाला ईस्ट इंडिया कंपनी का सालाना खर्च, जो क्रांति से पहले शायद ही कभी 1,200 पौंड से अधिक हुआ था, वह 90,000 पौंड प्रति वर्ष तक पहुंच गया था। लीड्स के डयूक पर इस बात के लिए मुकदमा चलाया गया था कि उसने 5,000 पौंड की रिश्वत ली थी और स्वयं राजा को 10,000 पौंड लेने का अपराधी घोषित किया गया था। इन सीधी रिश्वतों के अलावा, विरोधी कंपनियों को हराने के लिए सरकार को सूद की नीची-से-नीची दर पर विशाल रकमों के ऋण देने का लालच दिया जाता था और विरोधी डायरेक्टरों को खरीद लिया जाता था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी सरकार को रिश्वत देकर सत्ता हासिल की थी। उसे कायम रखने के लिए वह फिर रिश्वत देने के लिए मजबूर थी। हर बार जब कंपनी की इजारेदारी खत्म होने लगती थी तब वह सरकार को नए कर्जे और नई भेंटें देकर ही अपनी सनद को फिर से बढ़वा पाती थी। सात वर्षीय युद्ध (1756-1763) ने कंपनी को व्यावसायिक शक्ति से बदल कर एक सैनिक और प्रदेशीय शक्ति बना दिया था।[32]

इसी बीच ईस्ट इंडिया के साथ होने वाले व्यापार में अत्यंत क्रांतिकारी परिवर्तन हो गए थे, जिनसे इंग्लैंड के विभिन्न वर्गों की स्थिति उसके संबंध में एकदम बदल गई। अठारहवीं शताब्दी के दौर में जो विशाल धनराशि भारत से इंग्लैंड लाई गई, उसका बहुत ही छोटा भाग व्यापार के द्वारा प्राप्त हुआ था क्योंकि तब व्यापार अपेक्षाकृत महत्वहीन था। इस राशि का अधिकतर भाग उस देश के प्रत्यक्ष शोषण के द्वारा और उन विशाल व्यक्तिगत संपत्तियों के रूप में हासिल हुआ, जिन्हें जोर जबरदस्ती से इकट्ठा करके इंग्लैंड भेज दिया गया था। 1813 में व्यापार का मार्ग खुल जाने के बाद बहुत ही थोड़े समय के अंदर भारत के साथ होने वाला व्यवसाय तीन गुने से भी अधिक बढ़ गया। लेकिन बात इतनी ही नहीं थी। व्यापार का पूरा चरित्र ही बदल गया था। 1813 तक भारत मुख्यतया निर्यात करने वाला देश था, लेकिन अगले कुछ वर्षों में वह आयात करने वाला देश बन गया था। अनादि काल से सूती कपड़े के उत्पादन के संबंध में संसार की महान उद्योगशाला के रूप में स्थापित भारत को अंग्रेजी सूत और सूती कपड़ों से भर दिया गया। भारत के अपने उत्पादन के इंग्लैंड में प्रवेश पर रोक लगा दी गई या अगर उसे वहां आने भी दिया गया तो बहुत ही कठिन शर्तों पर। इसके बाद, भारत को थोड़ी-सी और नाममात्र की चुंगी लगाकर ब्रिटेन के बने माल से पाट दिया गया। इसके फलस्वरूप भारत के विश्व प्रसिद्ध रह चुके सूती कपड़ों का उत्पादन खत्म हो गया। 1850 में ब्रिटेन और आयरलैंड से भारत को निर्यात किए जाने वाले कुल माल की कीमत

80,24,000 पौंड हो गई थी। इसमें केवल सूती कपड़े की कीमत 52,20,000 पौंड थी। प्रत्येक व्यापारिक संकट के बाद, भारत के साथ होने वाला व्यापार ब्रिटेन के सूती कपड़े के उद्योगपतियों के लिए अधिकाधिक महत्व की वस्तु बनता गया और भारतीय महाद्वीप उनका सबसे अच्छा बाजार बन गया।[33]

जिस रफ्तार से ब्रिटेन के संपूर्ण सामाजिक ढांचे के लिए सूती कपड़े का निर्माण बुनियादी महत्व की चीज बन गया था, उसी रफ्तार से ब्रिटेन के सूती कपड़े के उद्योग के लिए पूर्वी दुनिया में भारत भी बुनियादी महत्व का केंद्र बन गया। लेकिन औद्योगिक स्वार्थ भारत के बाजार पर जितने ही अधिक निर्भर होते गए, वे उतने ही अधिक इस बात की आवश्यकता अनुभव करने लगे कि भारत के राष्ट्रीय उद्योग को तबाह कर देने के बाद उन्हें भारत में नई उत्पादक शक्तियों की स्थापना करनी चाहिए। औद्योगिक मालिकों को लगा कि उनका व्यापार बढ़ने की जगह घट रहा है। 1846 से पहले के चार वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन से जो माल भारत भेजा गया था, उसका मूल्य 26 करोड़ 10 लाख रुपया था; 1850 से पहले के चार वर्षों में केवल 25 करोड़ 30 लाख रुपए का माल वहां भेजा गया था; और भारत से ब्रिटेन में जो माल आया था, उसका मूल्य पहले वाले काल में 27 करोड़ 40 लाख रुपए के बराबर और बाद के काल में 25 करोड़ 40 लाख रुपए के बराबर था। उन्होंने देखा कि भारत में उनके माल की खपत की ताकत निम्नतम स्तर पर पहुंच गई है। भारत में पूंजी लगाने की उनकी कोशिशों के रास्ते में भारतीय अधिकारी रुकावटें पैदा करते थे और छल-कपट से काम लेते थे। इस तरह उद्योगपति, जिन्हें इंग्लैंड में अपनी बढ़ती हुई शक्ति का पूरा अहसास था, यह मांग करने लगे थे कि भारत की इन विरोधी ताकतों का खात्मा कर दिया जाए, भारतीय सरकार अपने प्राचीन अधिकारी तंत्र के ताने-बाने को पूर्णतया नष्ट कर दे और ईस्ट इंडिया कंपनी की अंतिम क्रिया कर दी जाए।[34]

ब्रिटिश साम्राज्य की यह यात्रा अन्य कारणों से भी निरापद नहीं थी। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध असंतोष की भावना अठारहवीं शताब्दी के मध्य यानी प्लासी युद्ध के बाद से ही प्रारंभ हो गई थी। यह क्रम 1760 से प्रारम्भ हुआ। इसके बाद ही इतिहास प्रसिद्ध संन्यासी आंदोलन हुआ। 1764 में अंग्रेजों के विरुद्ध बक्सर की लड़ाई में मीर कासिम को हिम्मत गिरी के नेतृत्व में संचालित संन्यासी योद्धाओं से मदद लेनी पड़ी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में सिख-मराठा सैन्यवाहिनी में संन्यासी योद्धाओं ने युद्ध किया था। ये फकीर उत्तर प्रदेश के मदारी संप्रदाय के थे। इन संन्यासियों में कानपुर जिले के माखनपुर गांव के प्रसिद्ध साधु जिंदा शाह की ख्याति थी। इन्हें बुरहाना या नंगा फकीर कहा जाता था।[35]

इनकी शक्ति के बारे में कटक के कलेक्टर ने एक पत्र में लिखा था, 'संन्यासी बंगाल की तरफ चले जा रहे हैं। इनकी संख्या तीन हजार होगी। इनके साथ तीन तोपें, देसी बंदूकें, भाले और तलवारें हैं।[36]

इन संन्यासियों ने सर्वप्रथम 1763 में ढाका स्थित अंग्रेजों की कोठी पर हमला किया था। अंग्रेज व्यापारी ढाका को मुख्य क्षेत्र बनाकर मसलिन बनाने वाले कारीगरों से नाम मात्र का मूल्य देकर कपड़े खरीद लेते थे और जबरन बिना मूल्य देने के लिए शर्तनामा लिखवा लेते

थे। अगर शर्तनामे के अनुसार काम नहीं हुआ तो सजा देते थे। यहां तक कि उनकी अंगुलियां काट लेते थे।[37]

1764 में बंगाल सेना में व्यापक विद्रोह हुआ। यह विद्रोह कुछ नए फौजी नियमों के विरुद्ध हुआ था। विद्रोहियों की मांग थी कि ये नियम बदले जाएं। बिहार में पदस्थापित मेजर हेक्टर मुनरो को जब इस विद्रोह का पता चला तो वह बांकीपुर से छपरा पहुंच गया और गोरे सैनिकों के साथ विद्रोही सैनिकों पर हमला कर दिया। विद्रोहियों में से जो भी हाथ आए, उनको तोप से उड़ा दिया गया। इसके बाद 1795 में एक अन्य सिपाही विद्रोह हुआ। 3 सितम्बर को बंगाल आर्मी की पन्द्रहवीं बटालियन को यह आदेश दिया गया कि वह तत्काल तमलूक रवाना हो जाए, वहां पर जहाज तैयार थे। उनको डचों के साथ लड़ने के लिए जाना था। बटालियन तमलूक तक तो चली गई लेकिन वहां जाकर जहाज पर चढ़ने से इनकार कर दिया। अंग्रेज अफसर ने आदेश दिया कि बटालियन तोड़ दी जाए, उसका झंडा जला दिया जाए और सभी सैनिकों का कोर्ट मार्शल किया जाए। कोर्ट मार्शल में तय हुआ कि विद्रोहियों के नेता रघुनाथ सिंह, उमराव गिर, युसूफ खां आदि को तोप के मुंह पर बांधकर उड़ा दिया जाए। अन्य सिपाहियों को एक-एक करके बर्खास्त कर दिया गया। इसके बाद से पन्द्रहवीं बटालियन खत्म कर दी गई।[38]

देश को छोटे-छोटे नवाब, जमींदार और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी मिलकर लूट रहे थे। जनता अत्यधिक अप्रसन्न हो गई थी। यही वजह है कि जनता इन विद्रोही संन्यासियों की मदद करने लगी। संन्यासियों का विस्तार उत्तर प्रदेश में घाघरा नदी के किनारे से लेकर असम के ब्रह्मपुत्र तथा उड़ीसा के कुछ भागों में था। संन्यासियों के पास सुदक्ष गुप्तचर थे, जो यह पता लगाया करते थे कि ईस्ट इंडिया कंपनी के पास कहां कितनी सेनाएं हैं। उन्हें जानकारी होती थी कि अंग्रेजों, हिन्दुओं और मुसलमानों के पास कितना धन भंडार है। इसी दौर में संपूर्ण बंगाल अकाल की चपेट में आ गया। लोग भूखों मरने लगे। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने आनंदमठ में यही चित्रण किया है, जो जानकारी उन्हें घटना के प्रत्यक्षदर्शी अपने पितामह से मिली थी। उन्हीं दिनों किसानों और जनसाधारण की सहायता के लिए संन्यासी सामने आए। संन्यासी आंदोलन से पहले जितने विद्रोह भारत में हुए, वे सभी उनके क्षेत्रों तक सीमित रहे।[39]

आनंदमठ में प्लासी के युद्ध का हवाला था और बंगालियों को जगाया गया था। उसके भाव थे कि जब संदूक में रखा रुपया, सिंहासन पर शालिग्राम और घर में बहू-बेटी सुरक्षित नहीं हैं तो फिर जनता को जागना होगा। जिस माता के सात करोड़ कंठ और चौदह करोड़ भुजाएं हों, वह माता (भारत) अबला नहीं हो सकती। आनंदमठ में लिखा वंदेमातरम् से जुड़ा एक-एक वाक्य जनता में हिलोर जगाने लगा। वह भारत की आत्मा को जगाने का एक सशक्त प्रयास था। उसके वाक्य थे, 'हम दूसरी मां को नहीं मानते। जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी। हम कहते हैं कि जन्मभूमि ही जननी है। हमारी मां नहीं हैं, पिता नहीं हैं, भाई-बंधु नहीं हैं, पत्नी नहीं हैं, घर-द्वार नहीं हैं, हमारे लिए बस वही सुजला सुफला मलयजशीतला शस्यश्यामला..।'[40]

इस प्रकार 1770 के बंगाल के अकाल के बाद अकाल से प्रभावित लोगों ने खुद को हिन्दू संन्यासियों और मुस्लिम फकीरों के नेतृत्व में गोलबंद किया। बंगाल के विभिन्न हिस्सों में संन्यासियों के पास इतनी शक्ति थी कि वे अंग्रेजों के राज वाले समूचे क्षेत्र को तबाह कर सकते थे और स्थानीय स्तरों पर उन्होंने ब्रिटिश सैनिकों को पराजित भी किया।[41]

भारत की जनता ने ब्रिटिश शासन के आततायी तौर-तरीकों, लूट और गुलाम बनाने की प्रवृत्ति का जगह-जगह अपने-अपने तरीके से विरोध किया। इसी क्रम में 1800 में दक्षिण भारत में विद्रोह हुआ। इस विरोध के आयोजकों, संगठनकर्ताओं, नेताओं तथा अन्य बहादुर देशभक्तों ने, जो जनता के विभिन्न वर्गों से आते थे, संघर्ष के इतिहास पर अपने व्यक्तित्व की ऐसी छाप छोड़ी, जिससे न केवल दक्षिण भारत में, बल्कि समूचे देश में चल रहे स्वाधीनता संघर्ष पर प्रभाव पड़ा। इनमें तिरुनेलवेल्ली के कट्टाबोम्मन, मालाबार के पजासीराजा का योगदान महत्वपूर्ण था। यह आंदोलन समूचे दक्षिण भारत में फैला हुआ था, जिसके अंतर्गत केरल, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश और कर्नाटक तो थे ही; साथ में महाराष्ट्र भी शामिल था। कहा जा सकता है कि 1800-1801 के प्रतिरोध और विद्रोह का उद्देश्य जनता के विभिन्न वर्गों को आंदोलित करना था और साथ ही विंध्य के दक्षिण में रह रहे अभिजात्य वर्ग को एक ऐसी संगठित शक्ति का रूप देना था, जो विदेशी हमलावरों के खिलाफ संघर्ष करने में समर्थ हो सके। लोगों के अंदर का गुबार पहली बार 1806 में फूटकर बाहर आ गया। वेल्लोर में विद्रोह हुआ, जो काफी छोटे स्तर पर किया गया था लेकिन यह बड़े संघर्ष की पृष्ठभूमि थी। हालांकि सभी विद्रोहों को कुचल दिया गया लेकिन इन संघर्षों के पीछे जो शक्तियां थीं, वे भारतीय सिपाहियों द्वारा सरकारी ड्यूटी से बंधे होने के कारण किए जाने वाले कामों और समाज के यथार्थ के बीच पैदा अंतर्विरोध के फलस्वरूप उपजी थीं। इन सामाजिक व्यक्तियों को भी विदेशी प्रभुत्व के शोषण का शिकार होना पड़ रहा था।[42]

1806 में वेल्लोर की मद्रास आर्मी में देसी सेना ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह ने इतना व्यापक स्वरूप धारण किया कि इसे गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक के अपदस्थ होने का कारण कहा जाता है। बाद में बेंटिक ने सफाई देते हुए कहा कि यह विद्रोह उसके कुशासन के खिलाफ नहीं था, बल्कि वर्षों से मुसलमानों में भड़क रही विद्रोह की आग का परिणाम था। लेकिन यह सही नहीं था। बेंटिक ने 8 जनवरी, 1807 के विवरण में माना कि यह विद्रोह नंदी दुर्ग, संकरी दुर्ग आदि जिन स्थानों में फैल गया, वहां हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न नहीं रहा। सभी धर्म के सैनिक एक होकर ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़े हुए।[43]

दक्षिण भारत के संघर्ष से बिल्कुल भिन्न पूर्वी भारत में जो संघर्ष हुए, वे मुख्य रूप से आदिवासियों के विद्रोह थे। पश्चिमी मेदिनीपुर से दक्षिणी बिहार तक और छोटा नागपुर तथा उड़ीसा तक फैले हुए चुआर आदिवासियों के क्षेत्र, सिंहभूम के आदिवासी, राजमहल क्षेत्र के संथाल, उड़ीसा के गोंड, मलभूम के भूमिजा, छोटा नागपुर के कोल-मुंडा तथा असम की खासी जनजाति के लोग अनेक मौकों पर विद्रोहों में शामिल रहे। उड़ीसा के प्रतिरोध आंदोलन में जनता के साथ आदिवासी जमींदारों और राजाओं ने भी भाग लिया। प्रत्येक घटना को अलग-अलग देखने से पता चलता है कि भारतीय जनता में देशभक्ति की भावना जबर्दस्त थी

और वे विदेशी प्रभुत्व के आगे आत्मसमर्पण के लिए तैयार नहीं थे।[44]

ब्रिटिश हुकूमत ज्यों-ज्यों मजबूत हुई, हिन्दुस्तानी जनता का व्यापक रूप से शोषण शुरू होता गया। उन दिनों भारत से व्यापार में दस्तकारी की वस्तुएं और कीमती सामान तथा कलाकृतियां खरीदी जाती थीं। भारतीय दस्तकारों को आम तौर पर अंतर्राष्ट्रीय बाजार की कीमत मालूम नहीं होने से छली-कपटी व्यापारी उनका माल कौड़ियों के दाम खरीदकर भारी मुनाफा कमाते थे। 18वीं सदी के अंत तक ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रतिवर्ष लाभांश 100 से 250 प्रतिशत था।[45]

उसी दौरान, देसी प्रशासकों ने भी किसानों का दमन और राजस्व का गबन किया। कंपनी के सेवकों ने इस प्रकार के दुरुपयोग की अनदेखी में ही फायदा समझा।[46]

1700 और 1721* में इंग्लैंड में ड्रेस या फर्नीचर में छीट या रंगीन सूती कपड़े को लगाने या जिस रंगीन छीट में जरा-सा भी कपास का अंश हो, उसका उपयोग करने पर पूरा प्रतिबंध लगा दिया गया। भारत, ईरान और चीन के अलंकृत रेशम, छीट के या रंगीन सूती कपड़े पहनना दंडनीय अपराध था। दंड की राशि 200 पौंड तक थी।[47]

यदि भारत स्वतंत्र होता तो उसका प्रतिकार करता या ब्रिटिश माल पर निषेधात्मक शुल्क लगाकर अपने उद्योग की रक्षा करता। आत्मरक्षा के इस अधिकार की उसे अनुमति नहीं थी। वह विदेशी शासकों की कृपा पर निर्भर था। उस पर ब्रिटिश माल बलपूर्वक और बिना कोई शुल्क चुकाए थोपा गया। जिस प्रतिस्पर्धा से बराबरी के मुकाबले में संघर्ष नहीं किया जा सकता था, उसे विदेशी विनिर्माताओं ने राजनीतिक अन्याय के सहारे दबाया और मार डाला।[48]

इंग्लैंड की नई औद्योगिक क्रांति ने भारत के स्वरूप को पूरा बदल दिया। ब्रिटिश उत्पादों के विस्तार ने भारत के अविकसित उद्योग को पराजित और अंततः नष्ट करके इसे कच्चे माल के स्रोत के रूप में बदलकर रख दिया। भारत ब्रिटिश माल का प्रमुख बाजार बन गया। काम-धंधा नहीं मिलने से बेकार हुए कारीगरों और दस्तकारों की हालत दयनीय हो गई। इस ब्रिटिश घुसपैठ ने भारत के वस्त्र उद्योग को नष्ट कर दिया। 1824 में भारत में ब्रिटिश मलमल का आयात मुश्किल से 10,00,000 गज तक था, जबकि 1837 में 64,00,000 गज से अधिक हो गया। मलमल के लिए पूरी दुनिया में मशहूर ढाका की जनसंख्या 1827 से 1837 के बीच 1,50,000 से घटकर 20,000 रह गई।[49]

अविकसित और पारंपरिक तरीके से हो रही खेती में अधिक विकास की गुंजाइश नहीं थी। बेकार हुए कारीगर खेतीबाड़ी का सहारा लेने लगे। मालगुजारी बढ़ा दिए जाने से हालत और खराब हुई। बंगाल में जो मालगुजारी 1764-65 में 8,11,000 पौंड थी, वह दीवानी के पहले वर्ष में बढ़कर 17,40,000 पौंड हो गई।[50]

ब्रिटिश हुकूमत ने कई तरह की अनियमितताओं का ध्यान रखे बिना लगान तय किया। जिसकी जमीन बिना जोते पड़ी हो, उसे भी उतना ही लगान देना था, जितना फसल उगाने

*कैलिको अधिनियमों (1700, 1721) ने इंग्लैंड में अधिकांश सूती वस्त्रों के आयात पर प्रतिबंध लगा दिया। इसके कारण उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड दुनिया के अग्रणी कपड़ा निर्माता के रूप में भारत से आगे निकल गया।

वाले को देना होता था। लगान चुकाने के लिए किसान कर्ज लेने को मजबूर थे। इन कर्जों पर उन्हें भारी ब्याज चुकाना पड़ता था।[51]

गांवों के धंधों की बर्बादी से लोगों को बहुत बड़ा धक्का लगा। कृषि और उद्योग का संतुलन बिगड़ गया, श्रम का परंपरा से चला आया विभाजन टूट गया और अलग-अलग काम वाले आदमियों की इस बहुत बड़ी तादाद को किसी समुदाय के काम में आसानी से नहीं लगाया जा सकता था। जमींदारी प्रथा के जारी रहने से जमीन की मिल्कियत के बारे में नई धारणा बनी और इससे लोगों पर जबर्दस्त चोट हुई।[52]

भारत में ब्रिटिश शासन ने मजदूरों के शोषण का नया अध्याय लिखा। कारखाना श्रम आयुक्त के तत्कालीन आंकड़ों के अनुसार बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों के दौरान कारखानों में काम करने की अवधि औसतन 12 घंटे और 7 मिनट होती थी। कुछ कारखानों में मजदूरों को 14 घंटों तक काम करना पड़ता था। बम्बई के मजदूरों को 12 घंटे से अधिक खटना पड़ता था। बिजली का इस्तेमाल करने वाले कारखानों में काम के घंटे साढ़े 14 से लेकर 15 तक होते थे। भड़ौच में साढ़े 14 घंटे, आगरा में पौने 14 घंटे से सवा 15 घंटे, लखनऊ में पौने 14 घंटे, शोलापुर में साढ़े 12 से साढ़े 13 घंटे, दिल्ली में साढ़े 13 से साढ़े 14 घंटे और अमृतसर तथा लाहौर में 13 से पौने 14 घंटे काम करना पड़ता था। इसके साथ ही उन्हें बहुत कम मजदूरी मिलती थी, जिसके कारण उन पर कर्ज का काफी बोझ रहता था। परिणामस्वरूप ठेकेदारों और बिचौलियों पर उनकी बहुत निर्भरता रहती थी।[53]

दूसरी ओर, ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसर मनोरंजन के नाम पर खूब धन उड़ाते थे। कंपनी के चेयरमैन को हर साल 1,32,000 पौंड सिर्फ मन बहलाने के लिए मिलते थे। उन्नीसवीं सदी में कंपनी के कुछ कर्मचारियों ने 29 हजार डॉलर का रात्रिभोज ही कर डाला। 1840 तक कंपनी के क्लर्क की तनख्वाह किसी आम मजदूर से बारह गुनी ज्यादा थी।[54]

10 जनवरी, 1834 को टॉमस बेबिंगटन मैकाले भारत आया तो उसका कारण भारत में अंग्रेजों को मिलने वाला धन ही था। उसने अपनी बहन को पत्र में लिखा था, 'भारत आने के बहुत अधिक फायदे हैं। यह अत्यंत महत्वपूर्ण पद है, जिसकी तनख्वाह 10,000 पौंड सालाना है। कलकत्ते के मेरे मित्रों के अनुसार, मैं वहां 4,000 पौंड सालाना में राजाओं की तरह रह सकता हूं तथा बाकी पैसे बचाकर उन रुपयों के ब्याज से 39 वर्ष की आयु में 30,000 पौंड लेकर स्वदेश वापस लौटूंगा।'[55]

ब्रिटिश हुकूमत का उद्देश्य सिर्फ शासन करना नहीं था। मैकाले ने अपने पिता को पत्र में लिखा, 'अंग्रेजी के विद्यालय खूब सफलता से प्रगति कर रहे हैं। अंग्रेजी शिक्षा की मांग इतनी हो गई है कि सारे इच्छुक विद्यार्थियों को हम भर्ती नहीं कर पा रहे हैं। हुगली शहर में ही 1400 लड़के अंग्रेजी सीख रहे हैं। हिन्दुओं पर इस शिक्षा का काफी प्रभाव पड़ेगा। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने पर कोई भी हिन्दू अपने धर्म के प्रति समर्पित नहीं रह पाएगा। कुछ केवल नाममात्र के लिए हिन्दू रह जाएंगे। बाकी बहुत से ईसाई बन जाएंगे। यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरी शिक्षा नीति का ठीक से पालन होगा तो 30 साल में बंगाल में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा। धर्मांतरण के किसी प्रमाण के बिना तथा हिन्दुओं की धार्मिक स्वाधीनता में

हस्तक्षेप के बिना ही यह कार्य स्वयंमेव हो जाएगा।'[56]

मैकाले ने यह भी लिखा, 'मैं आज तक अपनी लेखनी के सहारे सालाना 200 पौंड से ज्यादा नहीं कमा पाया हूं।' यानी 200 पौंड सालाना वाले को भारत में 10,000 पौंड मिल रहे थे।[57]

हालांकि भारत में पहले से सुधारवादी कदम चल रहे थे और विभिन्न रियासतों ने कुप्रथाओं पर रोक लगा रखी थी। लेकिन बिना माहौल तैयार किए सुधारवादी कदमों का भी उल्टा असर हुआ। खुद ब्रिटिश मानते थे कि सती प्रथा का उन्मूलन, हिन्दू विधवाओं का पुनर्विवाह, कन्या वध पर प्रतिबंध जैसे कार्य, अपने में अच्छे हों या बुरे, भारतीय प्रथाओं और परंपराओं के प्रतिकूल थे। इनसे भारतीयों के मन का संदेह बढ़ गया।[58]

1850 में एक अधिनियम पारित करके ईसाई धर्म अपनाने वालों को पैतृक संपत्ति का अधिकार दे दिया गया। इससे भारतीयों में उपजे रोष के बीच ही किन्हीं मि. एडमंड का पत्र कलकत्ता से कंपनी के सभी अफसरों को भेजा गया। इस पत्र में कहा गया था कि पूरा उपमहाद्वीप ईसाई शक्ति के नियंत्रण में है और भारतीयों को ईसाई बनाना बिल्कुल ठीक है।[59]

इससे अफवाह फैली कि सबसे पहले कंपनी में कार्य करने वाले भारतीयों को और फिर जनसाधारण को ईसाई बनाया जाएगा। यह माना गया कि पत्र हुकूमत के आदेश से निकाला गया था। बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर को एडमंड के पत्र का पता चलते ही इन अफवाहों का खंडन किया गया लेकिन इससे क्षणिक राहत ही मिली। आम धारणा यही बनी रही कि हुकूमत ने इस काम को केवल स्थगित किया है। जैसे ही यह लगेगा कि अब वे कर सकते हैं, इसे किया जाएगा।[60]

देश के शासन में भारतीयों की कोई हिस्सेदारी नहीं थी। भारतीय यह सोचने लगे थे कि ब्रिटिश शासन में उनकी कोई सुनवाई नहीं है। इस गहरे दु:ख-दर्द के बीच 1824 से 1854 के बीच लंबी मंदी का दौर चला। कीमतों में भारी कमी आने से हालत और खराब होती चली गई। अपने प्रभाव और विस्तार के इन नाजुक क्षणों में अंग्रेजों को प्रथम अफगान युद्ध (1839-42), क्रीमियन युद्ध (1853-56) और सिखों से हुए दो युद्धों (1845-49) में नुकसान उठाना पड़ा। इसके कारण इन युद्धों में विजय के बावजूद अंग्रेजों की अपराजेयता के प्रति आम विश्वास डगमगा गया। लोगों को लगा कि अंग्रेजों के पास कोई अलौकिक शक्ति नहीं हैं। वे ऐसी घातक भूलें कर सकते थे, जिनसे चतुर शत्रु लाभ उठा सकें। इन परिस्थितियों में जब सिपाहियों से कहा गया कि सिंध या पंजाब में नौकरी करते समय मिल रहे विदेशी सेना के लाभ-भत्ते आगे से नहीं मिलेंगे। इससे प्रश्न उठा कि जिसे अब तक विदेशी भूमि माना जाता था, उस तक अंग्रेजों की सीमा का विस्तार कर देने भर से उन्हें पहले जैसे लाभ क्यों नहीं मिलते रहने चाहिए। सिपाहियों के मन में यह खटास पैदा हो गई क्योंकि ब्रिटिशों ने उनकी उत्तम सेवाओं (जिनके बिना वह क्षेत्र जीता नहीं जा सकता था) के लिए उन्हें अपनी योग्यता के बल पर मिल रहे वेतन के एक अंश से वंचित करने का पुरस्कार दिया था।[61]

पैदल सेना में एक सिपाही का वेतन 7 रुपए मासिक था, घुड़सवार सेना के सवार को

प्रतिमाह 27 रुपए मिलते थे लेकिन उसे अपना घोड़ा खुद रखना पड़ता था। वह अंग्रेज सिपाहियों की तुलना में काफी कम था। तत्कालीन विवरण के अनुसार, 'भारत की समूची सेना में 3,15,519 आदमी काम करते हैं और उन पर 98,02,235 पौंड खर्च होता है। इनमें से 56,68,110 पौंड 51,316 यूरोपीय अफसरों तथा सैनिकों पर खर्च होता है।[62]

असंतुष्ट सिपाहियों को शिकायत थी कि हिन्दुस्तान की सेनाओं ने लंदन के सम्राट और कंपनी बहादुर की ओर से वफादारी के साथ लड़ाइयां लड़ीं और उनके लिए कलकत्ता से पेशावर तक के प्रदेश जीते। बदले में हिन्दुस्तान में मालगुजारी के रूप में 200 रुपए की जगह 300 रुपए वसूल किए और जहां 400 रुपए वसूल किए जाने थे, वहां 500 रुपए की मांग की गई और उसे बढ़ाने में लगे हुए हैं। चौकीदारी कर को दस गुना तक कर दिया गया। नौकरी की तलाश में जब कोई व्यक्ति एक जिले से दूसरे जिले में जाने का निश्चय करता तो राहदारी के रूप में प्रति व्यक्ति 6 पाई और प्रति गाड़ी 4 से 8 आने तक देना पड़ता था। उनके मन में यह बात घर करने लगी थी सरकार ने सबका धर्म भ्रष्ट करने का निश्चय कर लिया है।[63]

1852 में आर्डनेंस के मास्टर जनरल वाइकाउंट हार्डिंग के आदेश पर इनफील्ड राइफल में नए प्रयोग किए गए और नई राइफल में नवीनतम सुधार किए गए। 1853-1856 के दौरान हुए क्रीमिया युद्ध में उसका प्रयोग किया गया और वह काफी उपयोगी सिद्ध हुई। 1856 में भारत में उसका प्रयोग शुरू किया गया। राइफल के साथ-साथ इंग्लैंड में ग्रीज लगे कारतूस भी आए और भारत की सेना के लिए इन कारतूसों का निर्माण कलकत्ता, दमदम और मेरठ में होने लगा। कुछ चुने हुए सैनिक उन्नत किस्म के शस्त्रों का प्रयोग सीखने के लिए दमदम, अंबाला और स्यालकोट के प्रशिक्षण केंद्रों में भेजे गए। एक दिन दमदम में एक अनुसूचित जाति के एक सैनिक ने एक ब्राह्मण सैनिक को बताया कि उक्त ग्रीज में एक अत्यंत आपत्तिजनक पशु की चर्बी मिली हुई है। यह खबर आग की तरह फैल गई और सिपाहियों में आतंक छा गया।[64]

22 जनवरी, 1857 को लेफ्टिनेंट राइट ने इस अफवाह की खबर मेजर बोन्टीन को दी, जो दमदम की मस्केटरी (चांदमारी) डिपो का संचालन कर रहा था। मेजर बोन्टीन ने अपने अफसर को रिपोर्ट दी, 'मैंने कल शाम डिपो के सारे भारतीय सैनिकों की परेड करवाई और उनसे कहा कि कोई शिकायत हो तो बताएं। भारतीय सेना के लगभग दो तिहाई लोग सामने आए, जिनमें कमीशन प्राप्त सभी भारतीय अफसर भी थे। बड़े ही विनम्र लेकिन स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा कि नई राइफल के लिए जिस ढंग से कारतूस तैयार किए जाते हैं, वे उन्हें पसंद नहीं है। कारतूस पर ग्रीज लगाने के लिए जिस मिश्रण का उपयोग किया जाता है, वह उनकी धार्मिक भावना के प्रतिकूल है और उन्होंने यह सुझाव दिया कि बदले में मोम और तेल का ऐसे अनुपात में प्रयोग किया जाए कि उक्त मिश्रण पूरा हो जाए।'[65]

ब्रिटिश हुकूमत से ग्रीज में चर्बी की मिलावट का विषय छिपा हुआ नहीं था। फोर्ट विलियम के इंस्पेक्टर जनरल ऑफ आर्डनेंस ने 29 जनवरी को लिखा, 'जैसे ही मैंने सुना कि ग्रीज के उपयोग पर दमदम डिपो के भारतीय सैनिकों को आपत्ति है, मैंने शस्त्रशाला में

पूछताछ की कि मिश्रण कैसे तैयार किया जाता है और तब मुझे पता चला कि वह उन्हीं चीजों से बनाया जाता है, जिनसे बनाने का आदेश कोर्ट के डायरेक्टरों ने दिया है यानी चर्बी और मोम से। इस प्रकार कोई सावधानी नहीं बरती गई कि उसमें आपत्तिजनक वस्तु का प्रयोग नहीं किया जाए।'[66]

23 फरवरी को दी टाइम्स में खबर छपी, 'नई इनफील्ड राइफल के कारतूसों में एक सिरे पर ग्रीज लगाया जाता है ताकि उसकी नली में वे आसानी से अंदर जा सकें। हुकूमत ने इस कार्य के लिए भेड़–बकरी की चर्बी इस्तेमाल करने का आदेश दिया था। कुछ ठेकेदारों ने पैसे बचाने के लिए उसके स्थान पर सूअर और बैल की चर्बी दी।' कुल मिलाकर सिपाहियों को यह विश्वास हो गया कि ग्रीज में वह आपत्तिजनक चर्बी डाली जाती है, जिसे छूना भी उनके लिए हराम है। यदि हिन्दुओं के लिए गोमांस निषिद्ध था तो मुसलमानों के लिए सूअर का मांस; और, ब्रिटिश अफसर इस बात का खंडन नहीं कर सके कि ग्रीज में उक्त चर्बियों का मिश्रण नहीं है।[67]

ग्रीज के बाद कारतूस के असाधारण चमकदार कागज पर भी संदेह होने लगा। इस कागज में ग्रीज नहीं लगा था लेकिन एक जांच अदालत के सामने आने के बाद अनेक सिपाहियों ने उसमें ग्रीज होने का संदेह व्यक्त किया और अंत में एक और अशांत कर देने वाली अफवाह फैली कि आटे में हड्डियों का चूरा मिलाया गया है और कुओं के पानी को दूषित किया गया है ताकि कोई भी अपवित्र होने से बच नहीं पाए।[68]

ग्रीज और कागज का विषय फैलता चला गया। बैरकपुर और उसके आसपास के इलाकों में आग लगा देने की कई घटनाएं हुईं। इसी प्रकार की घटनाएं वहां से सौ मील दूर रानीगंज में हुईं। इससे भी अधिक गंभीर घटनाएं मुर्शिदाबाद के निकट बहरामपुर में हुईं। वहां कर्नल मिचल की कमान में सोलहवीं देसी पैदल सेना तैनात थी। सोलहवीं रेजीमेंट के सैनिकों ने कारतूस पेटी पहनने से इनकार कर दिया क्योंकि कारतूस तैयार करने की विधि पर उन्हें संदेह था। कर्नल मिचल ने सिपाहियों से कहा, 'यदि सिपाहियों ने कारतूसों को स्वीकार नहीं किया तो उन्हें चीन या बर्मा भेज दिया जाएगा, जहां वे सब मर जाएंगे।'[69]

कर्नल मिचल के उत्तेजक भाषण ने सिपाहियों के संदेह की पुष्टि कर दी और सुबह कवायद होने से पहले ही उपद्रव शुरू हो गए। सिपाहियों ने शस्त्रशाला को तोड़कर अपने हथियारों पर बलपूर्वक कब्जा कर लिया और अपनी बंदूकें भर लीं। लेकिन सुबह तक सिपाही शांत हो गए और कवायद ठीक से हो गई।[70]

28 फरवरी की यह घटना तूफान से पहले की शांति थी। 29 मार्च को बहरामपुर में एक और गंभीर घटना घटी। मंगल पांडे 34वीं इन्फैंट्री के नौजवान सिपाही थे। उनका अब तक का आचरण बहुत अच्छा था। लेकिन उस दौरान हो रही घटनाओं से वे गंभीर थे। कुछ ही दिनों पूर्व दूसरी नेटिव इन्फैंट्री ग्रिनेडियर्स के दो सिपाहियों को राजद्रोह के षडयंत्र का अपराधी करार देकर 14 वर्ष के कठोर कारावास का दंड दिया गया था। अपने साथियों के सामने ग्रीज लगे कारतूसों को बुरा बताने के कारण जमादार सालिगराम सिंह का कोर्ट मार्शल करके बर्खास्त कर दिया गया था। 19 मार्च को चौंतीसवीं नेटिव इन्फैंट्री के एडजुटेंट लेफ्टिनेंट बफ

को पता चला कि उसकी रेजीमेंट का एक सैनिक पागल हो गया है और उसने अपने सार्जेंट मेजर पर गोली चला दी। वह तुरंत घटनास्थल पर मर गया लेकिन जब तक वह इसके संबंध में कुछ कर सकता, वह जिस घोड़े पर सवार था, उस पर गोली चला दी गई। बफ और सार्जेंट मेजर दोनों ने आक्रमणकारी मंगल पांडे पर हमला किया लेकिन वे अकेले इन दोनों अफसरों के बस के नहीं थे। एक अन्य सिपाही शेख पल्टू के बीच में आ जाने से ही इन दोनों की जान बच सकी। क्वार्टर गार्ड की ड्यूटी पर तैनात सिपाही दर्शकों की तरह यह दृश्य देख रहे थे जबकि कुछेक सिपाहियों ने तो घायल अफसरों पर प्रहार भी किए। जनरल हियरसे को इस घटना का पता चला तो वह समझ गया कि पूरी ब्रिगेड ने विद्रोह कर दिया है। वह अपने दो बेटों के साथ परेड के मैदान में गया और जनरल के उग्र व्यवहार से आतंकित रक्षकों ने उसका अनुसरण किया। मंगल पांडे को विश्वास हो गया कि उनका अंत समय निकट आ गया है। उन्होंने अपने सीने पर गोली चलाकर आत्महत्या करने का प्रयास किया लेकिन वह घाव प्राणघातक सिद्ध नहीं हुआ। उन्हें अस्पताल भिजवा दिया गया और कोर्ट मार्शल करके फांसी दे दी गई। अपनी जिद पर अड़ी रहने वाली रक्षक टुकड़ी के जमादार ईश्वरी पांडे को भी प्राणदंड दिया गया।[71]

उन्नीसवीं इन्फैंट्री के हथियार छीन लिए गए और उसे भंग कर दिया गया। यह सिद्ध करने के लिए कि सिपाहियों ने अपने हितैषी स्वामियों के उद्देश्यों को गलत समझा है, ब्रिटिश हुकूमत की ओर से कुछ उदारता दिखाई गई। जिस सिपाही का हथियार रखने का अधिकार छीन लिया गया था, उसे अपनी वर्दी पहनने का अधिकार दिया गया। उसे वेतन और पेंशन से तो वंचित कर दिया गया लेकिन हुकूमत ने उसे घर जाने का खर्चा दिया। यदि हुकूमत की इच्छा होती तो वह घर लौटते समय राह में किसी भी मठ-मंदिर में जा सकता था और किसी भी तीर्थ की यात्रा कर सकता था।[72]

इस रेजीमेंट को भंग कर देने का परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत के दूर-दूर बिखरे गांवों में जघन्य कारतूसों की दु:खद कहानी सुनाने तथा ग्रामीण जनता में राजद्रोह के बीज बोने के लिए सैकड़ों सैनिक फैल गए। 4 मई को बैरकपुर में मंगल पांडे की रेजीमेंट चौंतीसवीं नेटिव इन्फैंट्री को भंग कर दिया गया। सिपाहियों को अपनी वर्दी रखने की अनुमति नहीं दी गई। थॉमस राइस होम्स ने लिखा है, 'उन्हें किल्मरनाक टोपियां, जिनका दाम उन्होंने स्वयं चुकाया था, रखने दी गई। इन टोपियों को कंपनी के साथ अपना अंतिम संबंध सूत्र समझते हुए सिपाहियों ने उन्हें घृणा से पांवों तले रौंदा और अपने दंड को गुलामी से छूटने की प्रसन्नतापूर्ण स्थिति मानते हुए वे हमारे दुश्मनों की संख्या बढ़ाने के लिए निकले।'[73]

उन्नीसवीं नेटिव इन्फैंट्री को पूरी तरह भंग करने का असर यह हुआ कि लोगों के मन में धर्म परिवर्तन विषयक धारणा और जड़ पकड़ गई। हालात बिगड़ते जा रहे थे। मेरठ की घटना ने भयंकर विस्फोट कर दिया। 23 अप्रेल को मेरठ के तीसरे देसी रिसाले के कमांडर कर्नल कारमाइकेल स्मिथ ने आदेश दिया कि विभिन्न सैन्य दलों में से चुने हुए 90 सिपाहियों की परेड होगी। ब्रिटिश विवरण के अनुसार कर्नल स्मिथ सिपाहियों को दिखाना चाहता था कि बिना दांत से काटे नई कारतूसों को कैसे बंदूकों में भरा जा सकता है।[74]

हालांकि ब्रिटिश अफसरों ने स्मिथ को कहा कि परेड नहीं की जानी चाहिए क्योंकि संपूर्ण देसी सेना में कारतूसों को लेकर उत्तेजना फैली हुई है और उन्होंने कोई कारतूस दागे तो रेजीमेंट बदनाम हो जाएगी। लेकिन स्मिथ अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। अगले दिन आए 90 सिपाहियों में से 5 सिपाहियों के अलावा शेष ने नए कारतूस लेने से इनकार कर दिया। इस पर जांच अदालत बैठाई गई और देसी फौजी अदालत द्वारा मामला चलाने का आदेश दिया। इन कैदी सिपाहियों को 10 वर्ष के कठोर कारावास का दंड दिया गया। केवल 11 सिपाहियों की सजा उनकी उम्र का विचार करके कम कर दी गई।[75]

होम्स के अनुसार, '9 मई को सवेरे आकाश में आंधी-तूफान के सूचक काले बादल घिर रहे थे, सूर्य का कहीं पता नहीं था। ऐसे में अपराधियों (सिपाहियों) को अपमानित होते देखने के लिए पूरी ब्रिगेड को बुलाया गया। वर्दियां उतारकर इन बेचारों को हथकड़ियों-बेड़ियों में जकड़ दिया। लुहारों ने अपना काम बहुत धीरे-धीरे खत्म किया और प्राय: एक घंटे तक फौज ने चुपचाप अपने साथियों को अपमानित होते देखा।'[76]

जनरल गफ ने लिखा है, 'हमारे सिपाहियों में काफी कानाफूसी चल रही थी और यदि ब्रिटिश सैनिक उपस्थित नहीं होते तो कहा नहीं जा सकता क्या घटित हो जाता। लेकिन परेड चुपचाप खत्म हो गई। कुछ सिपाहियों के चेहरे पर उदासी छा गई, गड़बड़ी नहीं हुई। जब सिपाहियों ने महसूस किया कि वे क्या कुछ खोने जा रहे हैं तो उनका हौसला पस्त हो गया। बूढ़े सैनिकों ने, जो अपने अंग्रेज साथियों के साथ भयंकर युद्धों में लड़कर कितने ही तमगे जीत चुके थे, दहाड़ मारकर रोना शुरू किया, अपने भाग्य को दोषी ठहराया और अपने अफसरों से प्रार्थना की कि वे उन्हें भविष्य के कष्टों से बचाएं।'[77]

9 मई को गर्मी का लंबा दिन बीतता गया लेकिन अशांति के कोई चिह्न नहीं दिखाई दिए। सिपाही शांत रहे। रात भी चुपचाप आकर चली गई। कुछ सिपाहियों ने वकीलों से जरूर राय ली कि इस मामले में अपील दायर की जा सकती है या नहीं। बैरकों में सुगबुगाहट जरूर चलती रही। लेकिन शाम को 5 बजे बाद तूफान आ गया। सिपाही लाइन की ओर दौड़ते हुए एक बावर्ची लड़के ने यह खबर फैलाई कि रेजीमेंट के हथियारों पर कब्जा करने के लिए तोपचियों और बंदूकधारी सैनिकों के दस्ते आ रहे हैं। सहसा आने वाली इस स्थिति से सिपाही घबरा गए। उन्होंने न अभी वर्दियां पहनी थीं और न हथियार लिए थे, वे अपनी बैरकों में भागे। तीसरी रिसालदार सेना के सवार पुराने जेलखाने की ओर गए और उन्होंने अपने साथियों को मुक्त कर दिया। बीसवीं नेटिव इन्फैंट्री परेड के मैदान में आ जमी और फिर शस्त्रागार में घुस गई। दुकानदारों ने बाजार बंद कर दिए और मेरठ में उपद्रव शुरू हो गया। आसपास के गांवों के लोग भी शहर में आ घुसे। तीसरी रिसालदार सेना ने अपने साथियों को छुड़ाकर दम लिया या अन्य कैदियों को भी रिहा करवाया इसका विवरण प्राप्त नहीं है। लेकिन इसके संबंध में जेम्स डूरिट की गवाही से पता चला कि नई जेल पर रात के 2 बजे बाद ग्रामीणों का हमला हुआ और 839 कैदी छुड़ा लिए गए। एक नए रंगरूट ने कर्नल फिनिस को निशाना बनाकर गोली मार दी, जिसकी वहीं मृत्यु हो गई। सारी रात लूटपाट होती रही। बंगले जलाए जाते रहे और अंग्रेज मारे जाते रहे। ऐसी घटनाएं भी हुई जब इन भारतीय सिपाहियों ने अनेक

अंग्रेजों की मदद भी की और उनकी जान भी बचाई। सवेरा होते ही भीड़ छंट गई। भारतीय सिपाहियों ने उस रात के बाद मेरठ छोड़ दिया। छोटी-छोटी टुकड़ियों में बंटकर वे सुरक्षा की खोज में निकल पड़े। दिल्ली, रूहेलखंड, हापुड़, बागपत या कुछ दिनों बाद गुड़गांव की ओर। अधिकांश सिपाही दिल्ली की ओर बढ़े। इन सिपाहियों की भी बैरकें राख हो चुकी थीं और बाल-बच्चे पीछे छूट चुके थे।[78]

मेरठ के इस विद्रोह ने भारत के अधिकांश हिस्सों को अपने आगोश में ले लिया। क्रांतिकारी गुप्त संगठन की ओर से रविवार, 31 मई, 1857 की तारीख विद्रोह और क्रांति के लिए घोषित की गई थी। नाना साहब अप्रेल में दिल्ली गए थे और उसी समय यह सब निश्चय किया गया। लेकिन समय से पहले ज्वालामुखी फूट गया। मेरठ के देशभक्त सैनिक और मंगल पांडेय अपनी भावनाओं को वश में नहीं कर सके। स्वतंत्रता का संभावित आगमन अगले 90 वर्षों के लिए टल गया। 1857 की क्रांति का मुख्य कारण स्वदेश और स्वधर्म ही थे। इसीलिए इस युद्ध में भारतीयों की पराजय भी उन उद्देश्यों की पावनता को नष्ट नहीं कर पाई। इस महासंघर्ष से तरह-तरह की समिधाओं ने आकार लिया। उन आहुतियों ने संपूर्ण भारतवर्ष को एक मंत्र और एक स्वर से लयबद्ध कर दिया..स्वतंत्रता..सिर्फ स्वतंत्रता। गुलामी की बेड़ियों से मुक्ति यानी स्वराज्य।

1857 के संग्राम को किस तरह कुचला गया, इससे जुड़ी घटनाएं बर्बरता की बेमिसाल दास्तानें हैं। दिल्ली में मुगल बादशाह बहादुर शाह की गिरफ्तारी और उनके पुत्रों की हत्या के एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार, 'मिर्जा मुगल, मिर्जा खिजर सुल्तान और मिर्जा अबूबकर भी बहादुर शाह के साथ गिरफ्तार हुए थे। जब ये कैदी मौजूदा जेलखाने के करीब पहुंचे तो मेजर डब्ल्यू.एस.आर. हड्सन ने बादशाह और जीनत महल की पालकियों को एक तरफ रुकवा दिया। मिर्जा मुगल, मिर्जा खिजर सुल्तान, मिर्जा अबूबकर और मिर्जा अब्दुल्ला, चार शहजादों को रथों से उतारा और अपने हाथों से कत्ल करके एक चुल्लू खून का पिया। हड्सन ने कहा कि अगर मैं इनका खून नहीं पीता तो मेरा दिमाग खराब हो जाता क्योंकि इन लोगों ने मेरी कौम की बेकस औरतों और बच्चों के कत्ल में हिस्सा लिया था, इनको देखने से मेरा खून जोश खाता था। शहजादों के कत्ल के बाद इनके सिर काटे गए और इन सिरों को बादशाह के सामने लाया गया। हड्सन ने कहा, 'यह आपकी नज्र है, जो बंद हो गई थी और जिसको जारी करने के लिए आपने गदर में शिरकत की थी।' इसके बाद शहजादों की लाशें कोतवाली के सामने लटकाई गईं और सिर जेलखाने के सामने खूनी दरवाजे* पर लटका दिए गए।[79]

हुकूमत ने बादशाह के अपराधों की तफ्तीश के लिए जॉन लॉरेंस के आदेश से 25 जनवरी, 1858 को एक आयोग नियुक्त कर दिया। 2 अप्रेल, 1858 के फैसले में बहादुर शाह को 9 नवम्बर, 1858 को देश निकाला देकर रंगून भेज दिया गया। वहां बड़ी बेबसी और लाचारी की दशा में 1862 में अंतिम मुगल बादशाह की मृत्यु हो गई।[80]

1857 में दिल्ली के पतन के बाद दिल्ली के अंदर ब्रिटिश अत्याचार के बारे में लॉर्ड

---

*यही वह दरवाजा था, जिस पर दारा शिकोह का सिर भी लटकाया गया था और अब्दुल रहीम खां खानखाना के पुत्रों के सिर भी लटकाए गए थे। इसीलिए इसको खूनी दरवाजा कहते थे।

एल्फिस्टन ने जॉन लॉरेन्स को लिखा, 'हमारी सेना ने जो अत्याचार किए, उन्हें सुनकर हृदय फटने लगता है। बिना मित्र या शत्रु का भेद किए ये लोग सबसे एक-सा बदला ले रहे हैं। लूट में तो हम नादिरशाह से भी आगे बढ़ गए।'[81]

रॉबर्ट मोंटगोमेरी मार्टिन ने लिखा, 'हमारी सेना ने शहर में प्रवेश किया तो जितने नगर निवासी शहर की दीवारों के अंदर पाए गए, उन्हें उसी जगह संगीनों से मार डाला गया। एक-एक मकान में चालीस-चालीस, पचास-पचास आदमी छिपे हुए थे, जिन्हें हमारी दयालुता और क्षमाशीलता पर विश्वास था। मुझे खुशी है कि उनका भ्रम दूर हो गया।' रसेल की डायरी से प्राप्त विवरण के अनुसार, 'कभी-कभी मुसलमानों को मारने से पहले उन्हें सूअर की खालों में सी दिया जाता था, उन पर सूअर की चर्बी मल दी जाती थी, और फिर उनके शरीर जला दिए जाते थे और हिन्दुओं को भी जबर्दस्ती धर्मभ्रष्ट किया जाता था।'[82]

देशभर में अंग्रेजों ने कत्लेआम मचा दिया। एक अंग्रेज अफसर के विवरण के अनुसार, 'हमने एक बड़े गांव में आग लगा दी, जो लोगों से भरा हुआ था। हमने उन्हें घेर लिया और जब वे आग की लपटों में से निकलकर भागने लगे तो हमने उन्हें गोलियों से उड़ा दिया।'[83]

इतिहासकार जॉन विलियम के ने लिखा, 'फौजी और सिविल दोनों तरह के अंग्रेज अफसर अपनी-अपनी खूनी अदालतें लगा रहे थे या बिना स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े का विचार किए भारतवासियों का संहार कर रहे थे। इसके बाद खून की प्यास और भड़की। भारत के गवर्नर जनरल ने जो पत्र इंग्लैंड भेजे, उनमें लिखा है, 'बूढ़ी औरतों और बच्चों का उसी तरह वध किया गया है, जिस प्रकार उन लोगों का, जो विप्लव के दोषी थे। इन लोगों को सोच-समझकर फांसी नहीं दी गई, बल्कि उन्हें उनके गांव के अंदर जलाकर मार डाला गया; कहीं-कहीं गोली से भी उड़ा दिया गया।' ब्रिटिश हुकूमत की ओर से प्रकाशित पुस्तक में लिखा है, 'सड़कों के चौराहों और बाजारों में जो लाशें टंगी हुई थीं, उनको उतारने में सूर्योदय से सूर्यास्त तक मुर्दे ढोने वाली आठ गाड़ियां तीन महीने तक लगी रहीं। इस तरह एक स्थान पर 6 हजार लोगों को खत्म किया गया।'[84]

एक तत्कालीन अंग्रेज अफसर ने लिखा, 'हम लोग एक तोप लेकर एक स्टीमर पर चढ़ गए। हमारी किश्ती चलती जाती थी और हम अपनी तोप से दाएं और बाएं गोले फेंकते जाते थे। गांवों के किनारे पर पहुंचकर बंदूकों से गोलियां बरसानी शुरू कीं। मेरी पुरानी दोनली बंदूक ने कई काले आदमियों को गिरा दिया। मैं बदला लेने को इतना प्यासा था कि हमने दाएं और बाएं गांवों में आग लगानी शुरू कर दी।'[85]

ये अंग्रेज हर रोज बदला लेने निकलते थे। भारतीय को एक गाड़ी के ऊपर बैठाकर किसी पेड़ के नीचे ले जाया जाता। उसकी गर्दन में रस्सी का फंदा डाल दिया जाता और फिर गाड़ी हटा ली जाती और वह लटका हुआ रह जाता। इतिहासकार होम्स के अनुसार, 'बूढ़े आदमियों ने हमें कोई नुकसान नहीं पहुंचाया था; असहाय स्त्रियों से, जिनकी गोद में दूध पीते बच्चे थे, हमने उसी तरह बदला लिया, जिस तरह बुरे-से-बुरे आदमियों से।' जॉर्ज कैम्पबेल ने लिखा, 'इलाहाबाद में दो बार सामूहिक कत्लेआम किए गए। नील ने वे काम किए, जो कत्लेआम से भी अधिक मालूम होते थे। उसने लोगों को जान-बूझकर इस तरह यातनाएं दे-देकर मारा,

जिस तरह की यातनाएं भारतवासियों ने कभी किसी को नहीं दीं।' एक अंग्रेज लेखक के विवरण के अनुसार, '55 नंबर पलटन के कैदियों के साथ भयंकर व्यवहार किया गया ताकि दूसरों को शिक्षा मिले। उनका कोर्ट मार्शल हुआ, उन्हें दंड दिया गया और उनमें हर तीसरे सिपाही को तोप के मुंह से उड़ाने के लिए चुन लिया गया।' एक प्रत्यक्षदर्शी अफसर ने लिखा है, 'उस दिन परेड का दृश्य विचित्र था। परेड में लगभग 9000 सिपाही थे। एक चौकोर मैदान में तीन ओर फौज खड़ी कर दी गई। चौथी ओर दस तोपें थीं। पहले दस कैदी तोपों के मुंह से बांध दिए गए। इसके बाद तोपखाने के अफसर ने अपनी तलवार हिलाई, तुरंत तोपों की गरज सुनाई दी और धुएं के ऊपर हाथ, पैर और सिर हवा में उड़ते हुए दिखाई देने लगे। यह दृश्य चार बार दोहराया गया। हर बार समस्त सेना में से जोर की गूंज सुनाई देती थी, जो दृश्य की वीभत्सता के कारण लोगों के हृदयों से निकलती थी। उस समय सप्ताह में एक या दो बार उस तरह के प्राणदंड की परेड होती थी।[86]

चार्ल्स डिल्क ने जनरल हेवलॉक और रिनॉड के अधीन सेना की इलाहाबाद से कानपुर की यात्रा के विषय में एक अफसर के पत्र के आधार पर लिखा, 'जिन लोगों को फांसी दी गई या तोप से उड़ाया गया, वे सशस्त्र विद्रोही नहीं थे बल्कि गांव के रहने वाले थे, जिन्हें संदेह के आधार पर पकड़ा गया था। इस यात्रा में गांव के गांव क्रूरता के साथ जला डाले गए और निर्दयता के साथ ग्रामवासियों का संहार किया गया।' अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर फ्रेडिक कूपर ने ज्युडिशियल कमिश्नर रॉबर्ट मोंटगोमेरी मार्टिन के व्यवहार के बारे में लिखा है। यह घटना 26 नंबर पलटन के सिपाहियों के बारे में है। 26 नंबर पलटन के कुछ थके हुए सिपाही अमृतसर की एक तहसील अजनाले से 6 मील दूरी पर रावी नदी के किनारे पड़े हुए थे। ये वे सिपाही थे, जो 30 जुलाई की रात लाहौर की छावनी के पहरे से निकल भागे थे। इन लोगों ने विद्रोह में किसी प्रकार का भाग नहीं लिया था। संदेह के आधार पर उनके हथियार रखवा लिए गए थे और उन्हें कैद कर लिया गया था। कूपर के अनुसार, '31 जुलाई की दोपहर हमें सिपाहियों के रावी के किनारे पड़े होने का पता चला तो अजनाले के तहसीलदार को कुछ सशस्त्र सिपाहियों के साथ उन्हें घेरने को भेज दिया। शाम को चार बजे हम 80-90 सवारों को लेकर मौके पर पहुंचे। शीघ्र ही थके-मांदे लोगों पर गोलियां चलानी शुरू कर दीं। बहुत-से सिपाही रावी में कूद पड़े। बहुत से घायल होकर निकल भागे। उनकी संख्या पांच सौ थी। भूख-प्यास के कारण वे इतने निर्बल हो गए थे कि रावी नदी की धार में नहीं ठहर सके। जिन लोगों ने तैरते हुए रावी पार करके टापू पर शरण ली, उन्हें गिरफ्तार कर लिया। पचास सिपाही निराश होकर रावी में कूद पड़े और फिर दिखाई नहीं दिए। गिरफ्तार सिपाहियों की कंठी-मालाएं तोड़ दी गईं। 282 बांधे हुए सिपाहियों को अजनाले थाने में और एक गुम्बद में बंद कर दिया गया। अगले दिन इन सभी को गोली से उड़ा दिया गया।[87]

दूसरी तरफ, कुछ देशभक्त राजे-महाराजे विभिन्न कारणों से ब्रिटिश हुकूमत के सामने घुटने टेकने को तेयार नहीं थे। उन्होंने अंग्रेजी राज की चूलें हिला दीं। 1851 में बाजीराव द्वितीय का ब्रह्मावर्त में निधन हो गया। मृत्यु से पहले उन्होंने नाना साहब को अपना उत्तराधिकारी

नियुक्त किया। लेकिन उनकी मृत्यु का समाचार मिलते ही अंग्रेजों ने घोषणा कर दी कि बाजीराव को मिलने वाली 8,00,000 रुपए सालाना पेंशन पर नाना साहब का कोई अधिकार नहीं है। नाना साहब ने इसका विरोध करते हुए अपने विश्वासपात्र अजीमुल्ला खां को अपना राजदूत बनाकर लंदन भेजा। अजीमुल्ला खां को ब्रिटिश हुकूमत से कोई सफलता नहीं मिली। नाना साहब को अंग्रेजों का उत्तर मिल गया कि बाजीराव द्वितीय की पेंशन पर उनके किसी भी अधिकार को मान्यता नहीं दी जा सकती। इसके साथ ही यह भी कह दिया गया कि बिठूर के उत्तराधिकार से भी उनको पूर्णतया वंचित होना पड़ेगा। नाना साहब ने भी निश्चय कर लिया कि इस न्याय और अन्याय के प्रश्न का समाधान युद्ध के मैदान में होगा।

इसके बाद नाना साहब और अजीमुल्ला खां ने 1856 के आरंभ से ही भारत को मानसिक और शारीरिक दृष्टि से सन्नद्ध बनाने के प्रयत्न के लिए युद्ध करने की भावनाओं को जन-जन में जाग्रत करना आरंभ कर दिया। वे दोनों इस बात को भलीभांति जानते थे कि जिस क्षण भी भारत के विभिन्न राजाओं में अंग्रेजों के विरुद्ध संग्राम करने की सिद्धता हो जाएगी तो एक क्षण भी अंग्रेजों का देश पर शासन जारी रखने का साहस नहीं होगा। इस कार्य के लिए अर्थात स्वतंत्रता की ज्योति जगाने के उद्देश्य से नाना साहब ने सभी राजाओं को अपने दूतों द्वारा पत्र भिजवाए थे। उन पत्रों में अंग्रेजों के षडयंत्रों और स्वतंत्रता के अपहरण का पूरा ब्यौरा दिया हुआ था। इस प्रकार पत्र लिखकर और संदेश भिजवाकर नाना साहब ने पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक स्वतंत्रता की ज्योति जला दी। उन्होंने यह भी लिखा कि अनेक देसी राज्यों को तो अंग्रेजों ने हड़प लिया है लेकिन जो देसी राज्य विद्यमान हैं, शीघ्र ही उनको भी अंग्रेजी साम्राज्य का अंग बनाकर भस्मसात कर दिया जाएगा। इसके साथ ही पंडित, पुरोहित, संन्यासी, मुल्ला, मौलवी आदि समस्त भारत में गुप्त रीति से भ्रमण करते हुए प्रचार कर रहे थे। ये राजकीय पंडित, मौलवी और संन्यासी जन-जन के हृदय में दासता के विरुद्ध आक्रोश के भाव भर रहे थे। वे उन्हें समझा रहे थे कि किस प्रकार दासता से मुक्ति पाई जा सकती है। वे यह बताते कि यह कार्य कठिन नहीं अपितु सहज है और किस प्रकार हमारी ही तलवार हमारे अंत:स्थल को वध रही है। राजा और रंक सभी को दासता की खामियों और स्वतंत्रता की खूबियों का बखान किया जा रहा था।[88]

इधर, अंग्रेजों ने अवध को अपने निशाने पर लेना शुरू किया, जिस पर उनकी आंख 1764 से ही लगी हुई थी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने अवध के नवाब को बाध्य किया कि वह अपनी रक्षा के लिए ब्रिटिश सेना रख ले और इसके बदले में 16 लाख रुपए नवाब से ऐंठे जाने लगे। इससे अवध के नवाब का कोष खाली हुआ तो षडयंत्र रचकर रुहेलखंड भी छीन लिया गया। इसके बाद 1801 में संधि करके ब्रिटिश अफसरों से परामर्श करना जरूरी कर दिया गया। 1837, 1847, 1851 और 1853 में संधियां करके नवाब वाजिद अली शाह को आखिरकार कह दिया गया कि यदि प्रजा की प्रसन्नता के अनुरूप शासन नहीं चलाया तो कंपनी राज्य प्रशासन को स्वयं चलाने पर विचार कर सकती है। 1856 में नवाब पर प्रजा के संरक्षण और पालन-पोषण में असमर्थ होने और राज्यकोष के दुरुपयोग का आरोप लगाया गया। इसके बाद नवाब को सत्ताच्युत करने की घोषणा कर दी गई।

अवध के हड़पे जाते ही नाना साहब ने पत्रों की ऐसी बौछार की कि धीरे-धीरे लखनऊ के शासक नाना साहब के साथ किसी सीमा तक सहमत हो गए। इसके बाद कारतूसों का प्रसंग आया तो नाना साहब के पत्रों ने आग में घी का काम किया। जम्मू के महाराजा गुलाब सिंह ने पत्र में लिखा कि वे सेना और राजकोष दोनों से सहायता करने के लिए तत्पर हैं। लखनऊ के नवाबों ने ही नहीं, साहूकारों ने भी धन भेजना आरम्भ कर दिया। उधर, दिल्ली से मुगल बादशाही छीनी जा चुकी थी। बहादुर शाह उपाधि भी छोड़ने पर विचार करने लगे। बहादुर शाह ने घोषणा की कि उन्होंने सुन्नी पंथ का परित्याग करके शिया पंथ स्वीकार कर लिया है, जिसका अनुगामी ईरान भी है। उसी समय अंग्रेजों और ईरान में भी युद्ध आरंभ हो गया और ईरान ने बहादुर शाह से गुप्त वार्ता शुरू कर दी। इसके परिणाम स्वरूप 1857 के आरंभ में दिल्ली की मस्जिदों से सार्वजनिक रूप से घोषणाएं की जाने लगीं कि भारत को अंग्रेजों से मुक्त करने के लिए ईरान की सेनाएं आ रही हैं। इसलिए छोटे-बड़े, शिक्षित-अशिक्षित सभी का कुलीन कर्तव्य है कि इस युद्ध में कूद पड़ें। दिल्ली की जनता में स्वतंत्रता प्राप्ति की भावना कितनी उमड़ चुकी थी, इसका परिचय बहादुर शाह के गृह अमात्य मुकुन्दलाल के शब्दों से मिलता है, 'राजमहलों के द्वारों के समीप बैठकर मुगल और अन्य लोग स्वातंत्र्य युद्ध के संबंध में परामर्श किया करते थे। इसी प्रकार के विचार जनता भी व्यक्त करती थी। जनता के मन में यह आशा बलवती होती जा रही थी कि स्वराज्य प्राप्त होते ही समस्त अधिकार अपने हाथ में आ जाएंगे।' इस प्रकार दिल्ली के घर-घर में विद्रोह की चिंगारी सुलग गई थी। दिल्ली के दीवान-ए-आम और ब्रह्मावती के राजमंदिरों में स्वातंत्र्य युद्ध का गुप्त संगठन सुदृढ़ होता जा रहा था। इन दोनों रजवाड़ों द्वारा समस्त भारत वर्ष में क्रांति की शक्ति को संगठित करने के जो प्रयास चल रहे थे, वे इतने गुप्त और सतर्कता से भरे हुए थे कि अंग्रेजों को 1857 में हुए उस क्रांति का तोपों की गड़गड़ाहट होने से पहले थोड़ा भी आभास नहीं हो पाया।[89]

लोगों को ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ एकजुट करने के लिए राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत कुछ कविताएं रची गईं, जिन्हें लयबद्ध करके उनका प्रचार किया जाता था। सर्वत्र एक ही प्रकार के गीतों की ध्वनि गूंजती थी। लेकिन यह सब सांकेतिक भाषा के प्रयोग द्वारा किया जा रहा था। उन गीतों में भूत, भविष्य, वर्तमान दशाओं को इंगित किया जाता था और वर्तमान दुरावस्था के निराकरण का भाव भी शामिल होता था। स्थान-स्थान पर सैनिकों के मनोरंजन के लिए जो आयोजन किए जाते थे, उनमें भी जगह-जगह क्रांति किए जाने और उसे सफल बनाने पर अधिक संकेत होता था। कठपुतलियों के नृत्य भी साधारण कठपुतलियों के नृत्य नहीं रह गए थे। थानों के सामने, घने वृक्षों की छाया में, धर्मशालाओं में, ग्राम की चौपालों और चौकों पर कतिपय गूढ़ संदेशों से भरे गीत और आल्हा-ऊदल की कहानियां पाई जाती थीं। महाराष्ट्र में पोवाड़े और बंगाल में बाउल गान इसी भावना से भरे होते थे।[90]

रक्तकमल के नाम से उस समय एक विशिष्ट प्रणाली विकसित की गई। क्रांति पथ का एक दूत रक्तकमल लेकर किसी कंपनी में प्रविष्ट होकर उसके सूबेदार को वह कमल देता। सूबेदार उसे अपने सहायक को, सहायक अपने अधीनस्थ को देता। इस प्रकार अंतिम सिपाही

तक पहुंचकर वह कमल वापस सूबेदार को लौटा दिया जाता था। उस कमल से प्रत्येक व्यक्ति रोमांचित होता और अपने निश्चय पर दृढ़ रहने का संकल्प करता। वह कमल एक प्रकार से क्रांति की राजमुद्रा थी। रक्तकमल की तरह ही चपाती अभियान चलाया गया। केवल बाजरा और गेहूं के मिश्रित आटे से बनी ये चपातियां जिस किसी गांव के मुखिया को मिलतीं, वह उनमें से स्वयं प्रसाद ग्रहण करके शेष अपने गांव में वितरित कर देता था। जितनी चपातियां उस गांव में जातीं, उतनी या उसमें कुछ वृद्धि करके चपातियां अगले गांव में भिजवा दी जातीं। वहां भी यह क्रम चलता। इस प्रकार ये चपातियां देश भर में वितरित की जाने लगीं। ये चपातियां क्रांति की संदेशवाहिकाएं और प्रतीक चिह्न बन गईं। चपाती कहां से आतीं और कहां जातीं, इसका रहस्य किसी को विदित नहीं होता। लोग इनके आगमन में राहों पर पलक पांवड़े बिछाए रहते थे और ये चपातियां उनके कानों में मंत्र फूंककर अपने गंतव्य को चल देती थीं। इस प्रकार क्रांति का यह गुप्त संगठन अनेक प्रकार की गतिविधियों से पोषित-पालित होकर अपने अगले कार्यक्रम की प्रतीक्षा कर रहा था। क्रांति के मंत्रदाता गुप्त रूप से मंत्रदान करते रहे। परिणाम स्वरूप जितनी गोपनीयता इस कार्य के लिए आवश्यक और अनिवार्य थी, उसका पूर्णतया पालन होता रहा।[91]

क्रांति के इस दौर में झांसी की घटना ने भी देश का काफी ध्यान आकर्षित किया। 21 नवम्बर, 1853 को झांसी के राजा गंगाधर राव का देहांत हो गया। मृत्यु से एक दिन पहले उन्होंने पांच वर्षीय आनंद राव को गोद ले लिया। इसकी सूचना गंगाधर राव ने बुंदेलखंड के राजनीतिक मुख्य सुपरिंटेंडेंट मेजर आर.आर.डब्ल्यू. एलिस के जरिए ग्वालियर, रींवा और बुंदेलखंड के राजनीतिक प्रतिनिधि डी.ए. मेलकम को भिजवा दी। 22 नवम्बर को मेजर एलिस ने कैप्टन मार्टिन के साथ महल जाकर खजाने के ताले को सीलबंद कर दिया। ब्रिटिश हुकूमत गंगाधर राव के दत्तक पुत्र को मान्यता नहीं देना चाहती थी। अंग्रेजों ने उत्तराधिकार समाप्त होने के बाद रियासतों पर अधिकार करने को नीति बना लिया गया था। डलहौजी ने एक के बाद एक भारतीय रियासतों पर अधिकार कर लिया। नागपुर, सतारा और करौली की रियासतें ब्रिटिश भारत में मिला ली गईं। कर्नाटक के नवाब और तंजौर के राजा की मृत्यु के बाद उनके लिए निर्धारित वार्षिक पेंशन बंद कर दी गई। इन घटनाओं से सशंकित लक्ष्मीबाई ने ब्रिटिश शासन से लगातार पत्र व्यवहार किए। उन्होंने अपने पक्ष में कई उदाहरण भी दिए: (1) दतिया के वर्तमान राजा रास्ते में पड़े मिले लड़के हैं। गत राजा परीक्षित ने उन्हें रास्ते में पड़े हुए पाकर गोद लिया और ब्रिटिश सरकार ने उसे अनुमोदित कर दिया। (2) जालौन के राजा बालाराव की विधवा पत्नी ने अपने भाई को दूसरे गोत्र से गोद लिया। वह भाई ही हुआ जालौन का भूतपूर्व महाराजा। भिन्न गोत्र से गोद लेने के इस अधिकार का ब्रिटिश सरकार ने अनुमोदन किया था। (3) ओरछा के भूतपूर्व महाराजा सुजान सिंह राजा को राजा तेज सिंह द्वारा गोद लिया गया था एवं गोदनामा अनुमोदित था। (4) 1839 में आलगी के ब्राह्मण जागीरदार खंडेराव मर गए। आलगी ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन राज्य नहीं था। खंडेराव पुत्रहीन थे, इसलिए अधिकार खत्म हो जाने की नीति के अनुसार फेजर ने उनका राज्य ले लिया। कर्नल श्लीमन ने दया करके गवर्नर से दत्तक पुत्र ग्रहण करने की अनुमति लाकर दी।

विधवा रानी ने बहुत दूर के जाति वाले एक व्यक्ति को गोद लिया एवं राज्य जब्त करने के बाद से दत्तक पुत्र लेने तक का संपूर्ण खजाना ब्रिटिश हुकूमत ने उन्हें लौटाकर गोदनामे को स्वीकृत कर दिया।[92]

इन सभी तथ्यों के बावजूद डलहौजी ने अपने सहयोगियों जे.ए. डोरिनो, जे.लो., एफ.जे. हेलिडे के हस्ताक्षरित आदेश से 2 मार्च, 1854 को झांसी की रानी को पेंशन देने के फैसले के साथ ही झांसी को बुंदेलखंड के 10 अन्य ब्रिटिश राज्यों की तरह ही उत्तर पश्चिम प्रदेश के गवर्नर के शासन के अधीन घोषित कर दिया। इसके साथ ही मेलकम ने 15 मार्च को आदेश जारी कर दिया गया कि झांसी की जनता ब्रिटिश हुकूमत के अधीन है एवं राजस्व मेजर एलिस को दिया जाएगा। एलिस अगले ही दिन झांसी के दरबार में गया और डलहौजी तथा मेलकम की सार्वजनिक विज्ञप्ति पढ़ने लगा। इसी बीच लक्ष्मीबाई के पांच शब्द ध्वनित हो उठे, 'मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी।'[93]

झांसी के अधिग्रहण की घोषणा के बाद किला भी ब्रिटिश अधिकार में चला गया। वहां के सैनिकों-सामंतों को तीन माह का वेतन देकर छुट्टी दे दी गई। अस्त्र-शस्त्र, वर्दी सब जमा कर देने को कह दिया गया। एक तरफ, गंगाधर राव द्वारा गोद लिए गए पुत्र दामोदर राव को राजनीतिक अधिकार की दृष्टि से गैरकानूनी घोषित करके अंग्रेजों ने झांसी पर कब्जा कर लिया और दूसरी तरफ सामाजिक रूप से वैध स्वीकार करके नाबालिग रहने के समय सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं मानकर रानी के चिर अनधिकार की घोषणा कर दी। रानी के लिए पांच हजार रुपए मासिक की पेंशन तय कर दी गई। उसी दौरान उत्तर पश्चिम सीमांत के गवर्नर कोल्विन ने हिसाब-किताब लगाकर निष्कर्ष निकाला कि ऋण के रूप में दिए गए 36 हजार रुपए झांसी राज से लेने हैं और इन्हें रानी की मासिक पेंशन से काटा जाएगा। इस पर व्यापक प्रतिक्रिया हुई। होम्स ने लिखा है, 'अगर हुकूमत ने रानी पर अपने पति के ऋण को चुकाने के लिए 6000 पौंड वार्षिक पेंशन में से देने का दबाव नहीं डाला होता तो मध्य भारत में क्रांति नहीं होती।' रानी ने ब्रिटिश हुकूमत को बताया कि राज्य को अधिगृहीत करते समय ऋण का भार भी अंग्रेजों ने ग्रहण कर लिया है। लेकिन कोल्विन जबर्दस्ती उस ऋण को काटने लगा। इसके बाद झांसी की कुलदेवी महालक्ष्मी मंदिर के खर्च के उद्देश्य से समर्पित दो गांवों को भी जब्त कर लिया गया। रानी ने इस पर तीव्र विरोध किया। उसी दिन से महालक्ष्मी मंदिर में फिर संध्या दीप नहीं जला, चौघड़ा नहीं बजा। उस समय झांसी में कुल 80 अंग्रेज थे। अंग्रेजों ने झांसी नगर में कसाईखाना खुलवा दिया। कसाईखाने में गायों और सूअरों की हत्या होती और मांस छावनी में जाता। अपमानित रानी ने फिर विरोध किया। इन सब हरकतों से सामान्य लोगों ने समझ लिया कि अंग्रेज उनके विरोधी हैं। गंगाधर राव की नाट्यशाला बंद कर दी गई। रानी ने बालक दामोदर के यज्ञोपवीत संस्कार के लिए झांसी राजकोष के 6 लाख के खजाने में से 1 लाख की मांग की लेकिन ब्रिटिश हुकूमत ने अस्वीकार कर दिया। यह जानकर रानी बहुत मर्माहत हो गईं। अंत में पांच लोगों की जमानत पर धन उधार दिया गया।[94]

नाना साहब, लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे ने मिलकर ब्रिटिश साम्राज्य को हिला दिया। इस

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में प्रमुख सेनानायक के रूप में रामचंद्र पांडुरंग राव येवलकर यानी तात्या टोपे की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। वे नाना साहब की राज्य परिषद में असामान्य बुद्धि के महान संगठनकर्ता थे। सेनाओं को पुनर्गठित करने, ब्रिटिश सेना से मुकाबला करने और हर मुसीबत से बच निकलने की महारत उनके पास थी। उन्होंने नाना साहब के सेनापति के रूप में विभिन्न मोर्चों पर अपना पराक्रम दिखाया। यह उनकी कुशलता थी कि वे एक ओर लक्ष्मीबाई का साथ देकर मजबूती से लड़ाई लड़ रहे थे और दूसरी ओर, ग्वालियर की सेना को अपने साथ मिलाने में सफल थे। 18 जून, 1858 को लक्ष्मीबाई के वीरतापूर्ण बलिदान के बावजूद लगभग दस महीने तक टोपे अद्वितीय शौर्य का परिचय देते रहे। आखिर उन्हें भी धोखे से गिरफ्तार करके फांसी के फंदे पर लटका दिया गया।

1857 के संग्राम के कारण ब्रिटिश हुकूमत डर गई। भारतीयों के ऊपर से उसका विश्वास हट गया। मैसूर के सुल्तानों और मराठा शासकों के साथ हुए युद्धों ने कंपनी को दक्षिणी, पश्चिमी और उत्तर-मध्य भारत के इतने बड़े नए भूभाग तक पहुंचा दिया कि महारानी विक्टोरिया की ताजपोशी (1837) तक, भारतीय उपमहाद्वीप के लगभग आधे हिस्से पर कंपनी का शासन हो गया और बचे हुए हिस्से पर उसे स्थानीय शासकों के साथ समझौतों के जरिए अप्रत्यक्ष नियंत्रण मिल गया। फिर भी उस समय तक भारत में केवल 36,000 ब्रिटिश सैनिक थे। 1840 के दशक में सिंध के युद्ध, सिखों के साथ पंजाब में हुए युद्ध और उसके बाद झांसी, नागपुर तथा औध (बाद में अवध के नाम से मशहूर) सहित कई राज्यों पर मिले कब्जे ने कंपनी के साम्राज्य को और भी विस्तार दिया तथा विद्रोह के समय तक उसने उपमहाद्वीप के करीब दो तिहाई भूभाग पर कब्जा कर लिया। हालांकि, 1857 तक ब्रिटिश सैनिकों की तुलना में उनकी तरफ से लड़ रहे भारतीय सैनिकों की संख्या छह गुनी हो चुकी थी (40,000 की तुलना में 2,30,000)। विद्रोह के आतंक और आश्चर्य के बाद ही यह फैसला किया गया कि एक ब्रिटिश की तुलना में दो भारतीय रखकर सुरक्षित अनुपात चुनना चाहिए। 1863 में भारत में 62,000 ब्रिटिश सैनिक थे (1,25,000 भारतीय सैनिकों की तुलना में), जो 1891 में बढ़कर 74,000 के करीब हो गए।[95]

1860 से 1908 के 49 वर्षों में से 20 वर्ष अकाल वाले थे। इनमें से कई अकाल इतने भीषण थे, जिनमें बहुत बड़े पैमाने पर भूख के कारण मौतें हुईं। 1876-77 में 50,00,000, 1896-97 में 45,00,000 और 1899-1900 में 12,50,000 लोग मौत के शिकार हुए। दूसरी तरफ, 1857-59 के संग्राम के दमन के बाद ब्रिटिश हुकूमत ने राजे-रजवाड़ों को संतुष्ट रखने की नीति तैयार की। इस नीति के कारण राजे-रजवाड़ों, बड़े जमींदारों, सूदखोरों और बड़े व्यापारियों ने जनता का शोषण तेज कर दिया।[96]

इसके साथ ही देश भर में अलग-अलग तरह के पुनर्जागरण संबंधी आंदोलन शुरू हुए। परोक्ष रूप से ये आंदोलन प्राचीन भारतीय संस्कृति और धार्मिक विश्वासों के पुनरुत्थान के लिए थे। हिन्दू समाज में रीति-रिवाजों और प्रथाओं का आधुनिकीकरण करने की पहल करने वाले राजा राममोहन राय ईसाई धर्म के प्रचार और पादरियों द्वारा ईसाई बनाने के अभियान के घोर विरोधी थे। आधुनिकीकरण पर जोर देने के बावजूद सांस्कृतिक और नवजागरण की

प्रक्रिया में बंगाल के ब्रह्म समाज तथा महाराष्ट्र के प्रार्थना समाज जैसे संगठन हिन्दू पुनरुत्थान के आंदोलनों के रूप में उभरे। कुछ अन्य आंदोलन, जैसे महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले के नेतृत्व में चलाया गया आंदोलन, अछूतों सहित पिछड़ी जातियों के उत्थान के नारे पर आधारित थे। इन आंदोलनों का लक्ष्य उन समुदायों का सामाजिक और सांस्कृतिक तौर पर उत्थान करना था, जो हिन्दू समाज व्यवस्था के अभिन्न अंग जाति व्यवस्था के तहत उत्पीड़न के शिकार हो रहे थे। इनके लिए सांस्कृतिक नवजागरण और हिन्दू पुनरुत्थान दोनों एक दूसरे से मिले हुए थे। केरल में इसका सबसे प्रकट रूप उस आंदोलन में देखने को मिला, जिसे खास तौर पर अवर्ण हिन्दुओं के लिए मंदिरों और मठों की स्थापना के जरिए श्रीनारायण ने शुरू किया था।[97]

इसके साथ ही बंगाल में रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद, पंजाब में दयानंद सरस्वती के आर्य समाज आंदोलन और दक्षिण भारत में थियोसॉफिकल सोसायटी ने हिन्दू संस्कृति को पुनर्जीवन देने के महत्वपूर्ण प्रयत्न शुरू किए। इन्होंने जनता के बीच यह भावना पैदा करने का प्रयास किया कि उनमें पैदा हुई हीनता की ग्रंथि का कोई आधार नहीं है। इन नेताओं का बुनियादी दृष्टिकोण इस दावे पर आधारित था कि जिस समय मौजूदा ब्रिटिश शासकों के पूर्वज जंगलियों की तरह रह रहे थे, उस समय भारत में सभ्यता का उन्नत रूप विद्यमान था। उन्होंने यह दावा भी किया कि यद्यपि कुछ समय के लिए कुछ विकृतियों और विचलनों ने संस्कृति को प्रभावित किया लेकिन भारत की जनता में यह क्षमता है कि वह इन विकृतियों पर काबू पाते हुए प्राचीन हिन्दू संस्कृति में नई जान डाल सके। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि अगर भारत की जनता पुनरुत्थानवाद की इस प्रक्रिया को चलाते रहने का साहस दिखाए तो वह पश्चिमी प्रभुत्व को चुनौती दे सकती है और इसे समाप्त कर सकती है। इन सभी आंदोलनों में रामकृष्ण का आंदोलन सबसे महत्वपूर्ण था। कलकत्ता के दक्षिणेश्वर के काली मंदिर से शुरू हुई उनकी प्रारंभिक गतिविधियों ने उन्हें ऐसे शांति पुरुष के रूप में स्थापित किया, जो त्याग के जरिए अपने भक्तों की समस्याओं का समाधान करते थे। उनके आध्यात्मिक उपदेशों और व्यवहारों ने धार्मिक और जातिगत भेदभाव की सीमाओं को पीछे छोड़ दिया। हालांकि यह आंदोलन आधुनिकता से वंचित था लेकिन इसने जातिगत भेदभावों, धार्मिक अंधविश्वासों और धार्मिक पूर्वाग्रहों से स्वयं को ऊपर रखा। यह देखकर बुद्धिजीवियों की नई पीढ़ी उनकी ओर आकर्षित हुई। इन्हीं में एक थे नरेन्द्रनाथ दत्त। संन्यासी परंपरा के अनुसार उन्होंने अपना नाम विवेकानंद रखा। वे रामकृष्ण की ओर उस समय आकर्षित हुए, जब वे उच्च शिक्षा पूरी करने के बाद भविष्य के बारे में सोच रहे थे। वे शीघ्र ही रामकृष्ण के शिष्य बन गए। उन्होंने रामकृष्ण के संदेश का प्रचार करने के लिए समूचे भारत और विदेश में यात्राएं कीं। ये यात्राएं स्पष्ट तौर पर हिन्दू धर्म के प्रचार के लिए चलाए गए आंदोलन का हिस्सा थीं। इसका असर यह हुआ कि यह भारत की आत्मा के पुनर्जीवन का आंदोलन हो गया, जिसे विदेशी शासक पैरों तले रौंद रहे थे। 11 सितम्बर, 1893 को शिकागो में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में विवेकानंद ने जो भाषण दिया और उनके भाषण को पश्चिमी जगत से जो प्रशंसा मिली, उससे भारतीयों को अपने हीन भाव पर विजय पाने

में सफलता मिली। इससे उस चेतना के विकसित होने में भी मदद मिली, जिससे भारतीयों को यह महसूस हुआ कि वे एक ऐसी सांस्कृतिक विरासत के उत्तराधिकारी हैं जिसमें यह क्षमता है कि वह उन पर शासन करने वाले विदेशी शासकों को चुनौती दे सके। विवेकानंद ने एक बार कहा कि जिस समय गरीबी और विपदा देश में चारों तरफ फैली हुई हो, ऐसे समय धार्मिक भाषण का कोई औचित्य नहीं है। जब इन्हें समाप्त कर दिया जाएगा तब मैं धार्मिक प्रवचन दूंगा। प्राय: उन्होंने इस दृष्टिकोण को भी व्यक्त किया कि गरीब, दरिद्र और कमजोर लोग ही अपने भगवान हैं। उनके सभी भाषणों में आजादी की आकांक्षा देखी जा सकती थी।[98]

विवेकानंद राजनीति से अलग रहे और उन्हें अपने समय के राजनीतिज्ञ नापसंद थे। लेकिन उन्होंने आजादी, बराबरी और जनता को उठाने की जरूरत पर बार-बार जोर दिया, 'सिर्फ सोच-विचार और कामकाज की आजादी ही जिंदगी, तरक्की और खुशहाली की शर्त है। जहां यह आजादी नहीं है, वहां उस आदमी को, उस जाति को, उस राष्ट्र को जिंदा नहीं रखा जा सकता।'[99]

दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना करके और सत्यार्थ प्रकाश लिखकर हिन्दू धर्म की चेतना का पुनर्जागरण करने का बड़ा काम किया। उन्होंने हिन्दुओं को अंधविश्वासों से बाहर निकाला। रामकृष्ण-विवेकानंद के आंदोलन और आर्य समाज के बीच कई समानताएं थीं। दोनों प्राचीन हिन्दू सभ्यता की विरासत पर गर्व करते थे। इसी दौरान अल्प अवधि के लिए थियोसॉफिकल सोसायटी का आंदोलन दक्षिण भारत में हुआ। इस आंदोलन को लोकप्रियता प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर मिली, जब इस आंदोलन की प्रमुख नेता एनी बेसेंट ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ होम रूल मूवमेंट शुरू किया। इस तरह एक ऐसा संगठित आंदोलन शक्ल लेने लगा, जिसे हिन्दू पुनरुत्थानवादी आंदोलन के साथ कांग्रेस की स्थापना के बाद गरमपंथी माने जाने वाले बालगंगाधर तिलक के नेतृत्व से काफी बल मिला। इसी दौरान देश के विभिन्न हिस्सों में गुप्त क्रांतिकारी संगठन सक्रिय हुए। इन सभी का आपस में कहीं-न-कहीं संबंध था। तिलक द्वारा आयोजित गणपति उत्सव, बंगाल के क्रांतिकारियों द्वारा आयोजित दुर्गापूजा और कालीपूजा, केरल के अयप्पा सेवा संघ तथा इसी तरह के स्थानीय प्रयासों से राष्ट्रीय आंदोलन विकसित हुआ। इन संगठनों के पीछे जो विचारधारा थी, वह बंकिमचंद्र चटर्जी की बौद्धिक रचना आनंदमठ थी। उन्होंने भारत माता की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए वंदेमातरम् का नारा दिया था। इस विचारधारा में शत्रुमर्दिनी देवी के आशीर्वाद से आजादी प्राप्त करने की आकांक्षा देखी जा सकती है।[100]

कांग्रेस की स्थापना भी अनायास नहीं हुई। यह भी एक सुनियोजित प्रयास का हिस्सा थी, कम-से-कम उन लोगों के लिए जो भारतीय थे और अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार वाले क्षेत्रों से जुड़े हुए थे। दादा भाई नौरोजी ने 1867 में इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया एसोसिएशन की स्थापना की। यह वह दौर था, जब ब्रिटिश उपनिवेशों में स्वतंत्रता के आंदोलन हो रहे थे। भारत में सर्वप्रथम 1870 में पूना में सार्वजनिक सभा की स्थापना हुई। इसके 6 वर्ष बाद कलकत्ता में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के नेतृत्व में इंडियन एसोसिएशन का संगठन बनाया गया। इसके कुछ वर्ष

बाद मद्रास में महाजन सभा और बम्बई में बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन बनाई गईं। कलकत्ता में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनंदमोहन बोस तथा बम्बई में फिरोजशाह मेहता और बदरुद्दीन तैयबजी वगैरह इन संस्थाओं के संस्थापक थे। भारत में यह पहला अवसर था जब इस तरह सभा-समितियों की स्थापना हुई। इन पर स्पष्ट रूप से अंग्रेजी परंपरा और तौर-तरीकों का प्रभाव दिखाई देता था। संगठित लोकमत के द्वारा शासन-सत्ता पर प्रभाव डालने और समाज की समस्याओं को दूर करने के वैधानिक उपाय ब्रिटेन जैसे लोकतांत्रिक देशों की परंपरा थी। इन समितियों की स्थापना का उद्देश्य भी यही था। इन सबके बावजूद इन संस्थाओं के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में लोक शिक्षण का कार्य जरूर शुरू हुआ। इंडियन एसोसिएशन की शाखाएं न केवल बंगाल के कुछ जिलों में खुलीं; बल्कि उत्तर भारत के अनेक स्थानों पर खुलीं। दिसम्बर, 1883 में कलकत्ता में एसोसिएशन का राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसके साथ ही देश के कोने-कोने में एक ऐसा अंग्रेजी शिक्षित वर्ग तैयार हुआ, जो अपनी दृष्टि, भावना, कल्पना और आकांक्षा के हिसाब से अलग-अलग संस्थाओं को एकजुट करके संयुक्त प्रयास करने के बारे में सोच रहा था। एक साल बाद ही मद्रास के अडयार में थियोसॉफिकल सोसायटी के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर विभिन्न प्रांतों के प्रतिनिधियों ने अखिल भारतीय स्तर की संस्था की स्थापना के बारे में विचार-विमर्श किया। अडयार में दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग जैसे नेता उपस्थित थे। वहां इन लोगों ने निश्चय किया कि अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था की स्थापना करने का उपयुक्त समय आ गया है। इस निश्चय को कार्यरूप में परिणित करने के लिए उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की कि दिसम्बर, 1885 में पूना में इंडियन नेशनल यूनियन का सम्मेलन होगा। इस सम्मेलन में देश के सभी अंग्रेजी शिक्षित राजनीतिज्ञों को आमंत्रित किया गया।[101]

उस दौरान इन भारतीय नेताओं को एलन ओक्टेविन ह्यूम से अत्यधिक सहायता, सहयोग और सहानुभूति प्राप्त हुई। ह्यूम 1857 में भारत में ही थे और इटावा के प्रशासक के रूप में उन्होंने उस संघर्ष को नजदीक से देखा था। वे इंडियन सिविल सर्विस से जुड़े हुए थे। उन्हें 1871 में लॉर्ड मेयो ने राजस्व कृषि और वाणिज्य विभाग का सचिव बनाया था; लेकिन लॉर्ड लिटन की आलोचना करने के कारण उन्हें 1879 में सचिवालय से हटा दिया गया। उन्होंने भारतीय नेताओं की मदद करके अखिल भारतीय संस्था बनाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ह्यूम ने समझ लिया था कि भारत के गर्भ में पुन: असंतोष की आग सुलग रही है। दरिद्रता, अकाल, बेरोजगारी, शोषण, ब्रिटिश सरकार की नीति और भारत में शिक्षित वर्ग का आविर्भाव असंतोष को सुलगा रहा है। यदि इसे अनुकूल दिशा में नहीं मोड़ा गया तो फिर 1857 दोहराया जा सकता है। ह्यूम से यह बात छिपी नहीं रही कि अंग्रेजी से शिक्षित और प्रभावित वर्ग उनके इस कार्य में सहायक हो सकता है। इससे जनता को अपने मनोभावों को प्रकट करने का अवसर मिलेगा और सरकार भी उनसे परिचित हो सकेगी। ह्यूम भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की राजनीतिक संस्था की स्थापना को ब्रिटेन के हित में समझते थे और इसी भावना को लेकर उन्होंने भारतीय नेताओं की सहायता की। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी वगैरह 1885 में पूना में जो इंडियन नेशनल यूनियन का पहला अधिवेशन करना चाहते थे, वह पूना

में हैजे की महामारी के कारण नहीं होकर बम्बई में हुआ। इसकी अध्यक्षता व्योमेशचंद्र बैनर्जी ने की। इसमें पूरे भारत से 72 प्रतिनिधि आए। सम्मेलन ने वहीं अपना नामकरण किया और 'इंडियन नेशनल यूनियन' ही 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' के नाम से विख्यात हुई।[102]

1893 का वर्ष भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी वर्ष 30 वर्षीय स्वामी विवेकानंद ने शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में हिन्दुत्व और भारत का विश्व विजयी उद्घोष किया; इसी वर्ष 24 वर्षीय मोहनदास करमचंद गांधी एक मुकदमे के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गए और वहां प्रथम संघर्ष आरंभ किया। बालगंगाधर तिलक ने महाराष्ट्र में इसी वर्ष गणपति उत्सव आरंभ किया। एनी बेसेंट भी इसी वर्ष भारत आईं। उन्होंने थियोसॉफिकल सोसाइटी ऑफ इंडिया का गठन किया और बाद में कांग्रेस अध्यक्ष भी बनीं। इसी वर्ष 21 वर्ष के मेधावी युवा अरविंद घोष ने भारत लौटकर क्रांतिकारी आंदोलन को गति दी।

1900 के बाद अरविंद ने महाराष्ट्र और बंगाल के क्रांतिकारी दलों से संपर्क करना आरंभ किया और अपने भाई बारींद्रकुमार घोष और जतींद्रनाथ बनर्जी के सहयोग से उनके कार्य को समन्वित करने का प्रयास किया। पी. मित्तर, सुरेन्द्रनाथ टैगोर, चित्तरंजन दास और सिस्टर निवेदिता ने बंगाल में क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए पहली गुप्त परिषद गठित की। यद्यपि विभिन्न दलों के बीच प्रभावकारी समन्वय का उद्देश्य पूरी तरह कारगर नहीं हो सका तो भी उनमें से कुछ ने, जैसे पी. मित्तर की अनुशीलन समिति ने राष्ट्रीय आदर्श के प्रचार-प्रसार में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। उनका प्रमुख अस्त्र था अनेक शहरों और गांवों में ऐसे केंद्रों की स्थापना करना जहां नवयुवकों को बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक प्रशिक्षण दिया जाता और उन्हें भारत की स्वतंत्रता के लिए कार्य करने को प्रेरित किया जाता था।

साढ़े 8 करोड़ की आबादी वाले बंगाल पर हुकूमत करना प्रशासनिक तौर पर निश्चित रूप से बहुत मुश्किल था, लेकिन अंग्रेजों ने इस विशाल प्रदेश को जिस तरह विभाजित किया, उससे बांग्लादेशियों का राष्ट्र पश्चिम से पूर्व तक दो टुकड़े हो गया। एक तरफ पश्चिम के मुख्यत: हिन्दू बांग्लादेशी थे और दूसरी तरफ कलकत्ता के पूर्व में रहने वाले अधिकतर गरीब मुसलमान बांग्लाभाषी थे। पूर्वी बंगाल और असम को मिलाकर एक मुसलमान बहुल अलग प्रांत बनाया गया, जिसकी राजधानी ढाका थी। हिन्दू बहुल पश्चिम बंगाल का राजकाज कलकत्ता से चलता था, लेकिन बिहारियों और उड़ियाभाषियों की मौजूदगी के कारण उसमें बांग्लाभाषी हिन्दुओं का बहुमत नहीं रह गया। कलकत्ता का बंगाली हिन्दू अभिजात्य 1903 से ही कर्जन का कड़ा आलोचक बना हुआ था। उनका मानना था कि अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो की नीति' के तहत उनकी मातृभूमि का यह विभाजन बदला लेने की नीयत से किया है। पांच साल तक चले बंग-भंग विरोधी हिंसक आंदोलन की शुरुआत कलकत्ता के भीड़ भरे बाजारों और तंग गलियों में हुई। ब्रिटिश माल का बहिष्कार करने के जरिए राष्ट्रीय प्रतिरोध करने वाले इस आंदोलन की आग जल्दी ही बम्बई, पूना, मद्रास और लाहौर तक फैल गई। राजनीतिक मांगों के प्रभाव से अछूते रहे लाखों-लाख भारतवासियों का सरकार विरोधी जोशीले भाषणों और बंगाल के क्रांतिकारियों की कार्रवाइयों के माध्यम से राजनीतिकरण हो गया। अंग्रेजी कक्षाओं से बाहर आकर हजारों क्रांतिकारी नवयुवक बंधी हुई

मुट्ठियां ताने कांग्रेस का नया राष्ट्रगीत 'वंदेमातरम्' गाते हुए कलकत्ता की सड़कों पर निकल पड़े।[103]

बंगाल ने अपने विभाजन का उत्तर व्यापक और सर्वसम्मत विरोधों से दिया, जिनमें रवीन्द्रनाथ टैगोर, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, बिपिनचंद्र पाल, अश्विनीकुमार दत्त जैसे अनेक व्यक्तियों ने भाग लिया। स्वदेशी का आदर्श व्यापक रूप से फैला, जिसने ब्रिटेन में बनी वस्तुओं के बहिष्कार की आवाज उठाई। मार्च, 1906 में बारींद्रकुमार घोष ने अबिनाशचंद्र भट्टाचार्य और भूपेन्द्रनाथ दत्त के साथ मिलकर जोशीला बंगाली साप्ताहिक युगांतर प्रारंभ किया, जिसमें अरविंद ने अनेक लेख लिखे। अगस्त में बिपिनचंद्र पाल ने प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक 'बंदे मातरम्' का प्रकाशन प्रारंभ किया।[104]

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी आत्मकथा में इसी प्रकार की एक गुप्त समिति का उल्लेख किया है, जिसके सभापति राजनारायण वसु और ज्योतिन्द्रनाथ मंत्री थे। यह भी पता चलता है कि शिवनाथ शास्त्री के नेतृत्व में 1876 में एक गुप्त समिति बनी हुई थी। ये लोग अग्निकुंड के चारों ओर प्रदक्षिणा करके सरकारी नौकरी नहीं करने की प्रतिज्ञा करते थे। ये लोग ब्रह्म समाज से प्रभावित थे। विपिनचंद्र पाल इस समिति के सदस्य थे।[105]

महाराष्ट्र में क्रांतिकारी गतिविधियों ने साथ ही जोर पकड़ा। बीसवीं सदी की शुरुआत से पहले ही दामोदर, बालकृष्ण और वासुदेव चापेकर बंधुओं के बलिदान ने महाराष्ट्र को क्रांतिकारी गतिविधियों के केंद्र में ला दिया। 12 जून, 1897 को शिवाजी का राज्याभिषेक दिवस मनाया गया। 15 जून को उसका विवरण देते हुए केसरी ने कुछ पद्य छापे, जिनका शीर्षक शिवाजी की उक्तियां था। पुलिस का कहना था कि शिवाजी की उक्तियों के बहाने इसमें अंग्रेजों के विरुद्ध विद्वेष का प्रचार किया गया था। इस उत्सव में एक वक्ता द्वारा (पुलिस की रिपोर्ट के अनुसार) कहा गया, 'आज इस पवित्र उत्सव के मौके पर प्रत्येक हिन्दू तथा मराठे का, चाहे वह किसी भी दल या संप्रदाय का हो, दिल बांसों उछल रहा है। हम सभी अपनी खोई हुई स्वाधीनता को पा लेने की चेष्टा कर रहे हैं और हम सबको आपस में मिलकर इस भारी बोझ को उठाना है।' पुलिस रिपोर्ट में एक अन्य वक्ता का हवाला दिया गया, 'फ्रांस की राज्य क्रांति में भाग लेने वालों ने इस बात से इनकार किया है कि वे कोई हत्या कर रहे हैं; उनका कहना है कि वे रास्तों के कांटों को हटा रहे हैं, तिलक इस उत्सव के सभापति थे। तिलक ने कहा, 'क्या शिवाजी ने अफजल खां को मारकर कोई पाप किया? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत में मिल सकता है। भगवान कृष्ण ने तो गीता में अपने गुरु तथा संबंधियों तक को मारने की आज्ञा दी है। ईश्वर ने विदेशियों को हिन्दुस्तान के राज्य का पट्टा लिखकर नहीं दिया है। शिवाजी ने जो कुछ भी किया, वह यह था कि उन्होंने अपनी जन्मभूमि पर विदेशियों की राज्य शक्ति हटाने के लिए लड़ाई लड़ी थी। उन्होंने किसी पराई चीज पर दखल देने की चेष्टा नहीं की।'[106]

इसके एक सप्ताह बाद ही 22 जून को महारानी विक्टोरिया का राज्याभिषेक दिवस मनाया जा रहा था। पूना में उत्सव हो रहा था। रात को रोशनी हो रही थी, आतिशबाजियां छूट रही थीं। उसी दौरान दो अंग्रेज अफसरों मिस्टर रैण्ड और लेफ्टिनेंट एयर्स्ट की गोली मारकर हत्या

कर दी गई। इस हत्याकांड में दामोदर चापेकर को गिरफ्तार किया गया। दामोदर ने स्वीकार किया कि उसने हत्या की है और इससे पहले बम्बई में महारानी विक्टोरिया की मूर्ति पर तारकोल पोतने वाला भी वही है। दामोदर को फांसी की सजा हुई। तिलक के हस्ताक्षर वाली गीता को हाथ में लिए दामोदर श्लोक पढ़ते हुए फांसी पर चढ़ गए। आगे जाकर बालकृष्ण और वासुदेव को भी फांसी की सजा हुई। एक परिवार से तीन भाइयों के क्रांतिकारी होने पर देश में बहुत जोश फैला। इसी प्रकार सावरकर (विनायक दामोदर) ने एक कविता लिखी, 'तीन का क्या है, यदि हम सात भी होते, तो हम हवनकुंड में अपना सिर चढ़ा देते।'[107]

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत के साथ ही इंग्लैंड बहुत से भारतीय क्रांतिकारियों का आश्रय स्थल बन गया। ऐसे क्रांतिकारियों में सबसे पहला नाम श्यामकृष्ण वर्मा का है। उन्होंने इंग्लैंड से पढ़ाई करने के बाद बम्बई, रतलाम, अजमेर, उदयपुर और जूनागढ़ में वकालत, प्रशासनिक काम या दीवान के पद पर काम किया। 1897 में वे फिर इंग्लैंड चले गए। पहली बार वे तीन महीने के लिए ही गए थे लेकिन दोबारा गए तो फिर नहीं लौटे। उसी दौरान वर्मा के संपर्क में सरदार सिंह रावजी राणा नामक युवक आए। सरदार सिंह का जन्म सौराष्ट्र के लिम्बड़ी राज्य के कन्यारा गांव में हुआ था लेकिन उनके पूर्वज राणा प्रताप की सेना में थे। वे उन थोड़े से सिपाहियों में थे, जिन्होंने राणा प्रताप का साथ कभी नहीं छोड़ा। इसलिए वे राणा लगाते थे। उन्हीं दिनों शिकागो की विश्व धर्म संसद में भाग लेने वाले वीरचंद्र गांधी भी पहुंच गए।

वर्मा ने आगे जाकर इंडियन सोशियोलॉजिस्ट नाम से एक पत्रिका निकाली, जिस पर लिखा होता था, 'स्वतंत्रता और राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक सुधार का मुखपत्र'। 18 फरवरी, 1905 को 20 भारतीयों ने मिलकर वर्मा के नेतृत्व में इंडियन होम रूल सोसायटी की स्थापना की, जिसका उद्देश्य रखा गया 'भारतीयों के लिए भारतीय सरकार की स्थापना। यह तय हुआ कि इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिए ब्रिटेन में सभी तरह के कार्य किए जाएं और भारतीय जनता में स्वतंत्रता और राष्ट्रीय एकता के सुपरिणाम के संबंध में ज्ञान का विस्तार किया जाए। 1907 के आरंभ में वर्मा ने एक हजार रुपए के पुरस्कार की घोषणा करते हुए निबंध प्रतियोगिता आयोजित की, जिसका विषय था कि भारत के स्वतंत्र होने पर उसका संविधान क्या होगा।[108]

इसी दौरान विनायक दामोदर सावरकर 22 वर्ष की उम्र में इंग्लैंड पहुंचे। उन्होंने 1857 के भारतीय स्वतंत्रता संग्राम पर पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने ऐसे तथ्यों और अधिकृत दस्तावेजों को रखा, जो अभी तक अज्ञात थे। सावरकर के बाद अनेक राजनीतिक कार्यकर्ताओं और इतिहास के विद्वानों ने राष्ट्रवाद की जमीन पर खुद को खड़ा करके 1857-59 के संघर्ष के मूल्यांकन की कोशिश की। उनके द्वारा किए गए व्यापक शोध के फलस्वरूप यह तथ्य सामने आया कि उन दिनों की घटनाओं में भाग लेने अथवा उन घटनाओं के प्रत्यक्षदर्शी ब्रिटिश अफसरों में भी इस तथाकथित सिपाही विद्रोह के चरित्र को लेकर मतभेद था।[109]

सावरकर द्वारा लिखे स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास की कहानी स्वयं बड़ी रोमांचकारी है। सावरकर ने इसे 24 साल की उम्र में लंदन में मराठी में लिखा। इसके कुछ अध्यायों का

अंग्रेजी में अनुवाद करके वे लंदन की फ्री इंडिया सोसायटी के सदस्यों को सुनाते थे। स्काटलैंड यार्ड को इसका पता चला और उसके एजेंटों ने मराठी पुस्तक का एक अध्याय चोरी करवा लिया। तब पुस्तक चोरी से भारत भेज दी गई लेकिन मराठी प्रेस के मालिकों ने इसे छापने से इनकार कर दिया। फिर अंत में अभिनव भारत नामक क्रांतिकारी दल का सदस्य एक छापेखाने का मालिक उसे छापने को तैयार हो गया लेकिन पुलिस को उसका सुराग मिल गया। पुलिस ने एक साथ सभी छापेखानों पर छापा मारा लेकिन इतने में सहानुभूति रखने वाले किसी अफसर ने उस छापेखाने वाले को खबर दे दी और वहां से पुस्तक की पांडुलिपि हटा दी गई। बाद में यह पांडुलिपि पेरिस में लेखक के पास भेज दी गई। फिर मराठी पुस्तक को जर्मनी में किसी संस्कृत प्रेस में छापने की कोशिश की गई, लेकिन एक तो वहां प्रचलित नागरी लिपि पसंद नहीं आई, दूसरा खर्च बहुत आ चुका था, तीसरे जर्मन कंपोजिटर मराठी नहीं समझते थे; इसके कारण इसे उस समय मराठी में छापने का प्रस्ताव त्याग दिया गया। तब इसे अंग्रेजी में अनुवाद करके छापने की ओर ध्यान गया। लंदन में आई.सी.एस. आदि पढ़ने के लिए गए हुए मराठी छात्रों ने इसका बीड़ा उठाकर उसे पूरा किया। फिर वी.वी.एस. अय्यर की अध्यक्षता में इसे छापने की कोशिश हुई लेकिन पुलिस वाले चुप नहीं बैठे थे। इसके बाद अंगेजी पांडुलिपि पेरिस भेज दी गई लेकिन फ्रेंच सरकार ब्रिटिश सरकार की हिदायतों के अनुसार भारतीय क्रांतिकारियों के पीछे पड़ी हुई थी। कोई भी फ्रेंच मुद्रक इसे छापने को तैयार नहीं हुआ। अंत में झांसा देकर हॉलैंड के एक छापेखाने में पुस्तक छपने लगी लेकिन ब्रिटिश और फ्रेंच पुलिस को अंधकार में रखने के लिए क्रांतिकारियों की ओर से खुल्लमखुल्ला यह कहा जाने लगा कि पुस्तक फ्रांस में छप रही है। पुस्तक हॉलैंड में छप गईं तो प्रतियां चोरी से फ्रांस लाई गईं ताकि भारत और अन्य स्थानों पर भेजी जाएं। लेकिन छपने से पहले यह पुस्तक जब्त घोषित कर दी गई थी।[110]

हॉलैंड में छपी हुई पुस्तकों की प्रतियां गलत रैपर्स वगैरह लगाकर सर्वत्र पहुंचाई गईं। इसने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को बल पहुंचाया।[111]

विनायक सावरकर के बड़े भाई गणेश सावरकर को 9 जून, 1909 को राजद्रोहात्मक कविताओं के लेखन के आरोप में सजा सुनाई गई। तीसरे भाई नारायण सावरकर भी स्वतंत्रता सेनानी थे, उन्होंने भी जेल यातनाएं सहीं।

इसी बीच लंदन में 1 जुलाई, 1909 को मदनलाल धींगरा नामक क्रांतिकारी ने विलियम हट कर्जन वायली की गोली मारकर हत्या कर दी। धींगरा भी सावरकर से जुड़े हुए थे। 16 अगस्त, 1909 को धींगरा को फांसी दे दी गई। धींगरा ने अदालत में कहा, जो अमानुषिक फांसी और कालेपानी की सजा हमारे सैकड़ों देशभक्तों को हो रही है, मैंने उसी का एक साधारण-सा बदला उस अंग्रेज के रक्त से लेने की कोशिश की है। ..भारतवासी इस समय केवल इतना ही कर सकते हैं कि वे मरना सीखें। ..ईश्वर से मेरी केवल यही प्रार्थना है कि मैं फिर उसी माता के गर्भ से पैदा होऊं और फिर उसी पवित्र उद्देश्य के लिए अपने प्राणों का अर्पण कर सकूं।'

गणेश सावरकर पर मुकदमा करने वाले जैक्शन की भी 21 दिसम्बर, 1909 को हत्या कर

दी गई। 13 नवम्बर, 1909 को अहमदाबाद में वायसराय लॉर्ड मिण्टो पर बम फेंकने की घटना के बाद ब्रिटिश हुकूमत ने पाया कि ऐसी घटनाओं के सूत्रधार सावरकर ही हैं। ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ षडयंत्र, अवैध शस्त्रास्त्रों का संग्रह और भारत निर्यात, राजद्रोहात्मक भाषणों तथा अंग्रेजों की हत्याओं के षडयंत्रकारी होने का आरोप लगाते हुए 13 मार्च, 1910 को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इंग्लैंड से भारत भेजे जाने के दौरान वे 8 जुलाई को जहाज के शौचालय से समुद्र में कूद गए। समुद्र तट फ्रांस की सीमा में था और सावरकर तैरकर समुद्र तट पर आ गए। उन्हें वहां से गिरफ्तार करके बम्बई लाया गया। 23 सितम्बर, 1910 को अदालत ने उन्हें दो आजन्म कालेपानी की सजा सुनाई।[112]

1914 में यूरोप में महायुद्ध हुआ। ब्रिटेन युद्ध में शामिल था इसलिए युद्ध शुरू होते ही ब्रिटिश संसद ने फैसला किया कि भारत को भी युद्ध में शामिल कर लिया जाए और भारतीय सेना तथा भारतीय संसाधनों का इस्तेमाल किया जाए। इस युद्धकालीन नीति ने भारतीयों में आग भरने का काम किया। ब्रिटिश हुकूमत लगभग 3 करोड़ पौंड वार्षिक युद्ध कार्यों में व्यय करती थी। भारत से 10 करोड़ पौंड के लगभग वसूल करके ब्रिटेन को युद्ध व्यय के निमित्त दान दे दिया गया। करोड़ों पौंड का ऋण लेकर भारत के भूखे और दरिद्र करदाताओं पर 30 वर्षों के लिए 10 करोड़ पौंड वार्षिक ब्याज का भारी बोझ लाद दिया गया। भारत से 13 लाख लोग इस युद्ध के विभिन्न मोर्चों पर विश्वभर में भेजे गए। इन परिस्थितियों ने सारे देश के असंतोष में वृद्धि की।[113]

बंग भंग के कारण जो क्रांति आंदोलन 1909-10 में हुआ था और जिसका दमन करने में सरकार ने कोई कसर नहीं छोड़ी, एक बार फिर भड़क उठा। उस समय भारत के जो क्रांतिकारी नवयुवक इस देश से निकल भागे थे, वे यूरोप, अमेरिका और मध्यपूर्व में पहुंचकर ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। वे क्रांतिकारी युद्धकालीन परिस्थितियों का लाभ उठाने के लिए सक्रिय हो उठे। ऐसे ही भारतीयों ने अमेरिका में गदर पार्टी की स्थापना की। उन्होंने अपने दल के सदस्यों को गुप्त रूप से भारत भेजना शुरू किया और कोशिश की कि भारत के विप्लवी संगठन से संबंध जोड़ा जाए। लाला हरदयाल और तारकनाथ जैसे क्रांतिकारी जर्मनी पहुंचे और जर्मनी सरकार की मदद से ब्रिटिश शासन के खिलाफ सक्रिय हो गए। जर्मन युद्ध विभाग की देखरेख में वहां भारतीय राष्ट्रीय दल की स्थापना की गई। 1914 के आखिरी दिनों में अमेरिका के गदर दल के डेढ़-दो हजार भारतीय भारत के लिए रवाना हुए और मार्ग में चीन और मलाया में क्रांतिकारी विचार फैलाते हुए भारत पहुंचे। भारत आकर भारतीय क्रांतिकारियों से उन्होंने संबंध स्थापित किया और जगह-जगह क्रांति केन्द्र स्थापित किए। अमेरिका के गदर दल ने यह भी प्रबंध किया था कि 30,000 राइफलों और जर्मन सेनाधिकारियों के लिए एक जहाज जावा भेजा जाए जो गुप्त रूप से बंगाल पहुंचे, जहां भारतीय क्रांतिकारियों से मिलकर विप्लवी बंगाल पर अधिकार स्थापित कर लें।[114]

क्रांतिकारियों ने विप्लव की व्यापक योजना बना ली और अपना सारा कार्यक्रम निश्चित कर लिया। उनका विचार था कि भारतीय सेना में व्यापक रूप से क्रांतिकारी विचार फैलाए जाएं, उनको संगठित कर लिया जाए और एक निश्चित तिथि पर देश के विभिन्न स्थानों पर

विद्रोह की पताका फहरा दी जाए। उनकी योजना यह भी थी कि सरकारी शस्त्रागारों पर अधिकार स्थापित करके देश के कतिपय स्थानों में क्रांतिकारी सरकार प्रतिष्ठित कर दी जाए। अपनी इस योजना को उन्होंने बहुत दूर तक कार्यान्वित भी कर लिया। पेशावर से लेकर सिंगापुर तक भारतीय सेना में विद्रोही विचारों का प्रसार करने के लिए क्रांतिकारी दल के कार्यकर्ता पहुंच गए। 21 फरवरी, 1915 की तिथि व्यापक विद्रोह करने के लिए निश्चित कर दी गई। यह भी तय कर दिया गया कि फिरोजपुर, रावलपिंडी और लाहौर के सरकारी शस्त्रागारों पर भारतीय सेना आक्रमण करके अपना अधिकार स्थापित कर ले और साथ ही देश में जहां-तहां वर्तमान भारतीय सैनिक प्रचंड विप्लव की आग लगा दें। सारा आयोजन और प्रबंध इस प्रकार किया गया कि एक बार फिर 1857 का दृश्य उपस्थित कर दिया जाए; और, जो कार्य तब पूरा नहीं किया जा सका था, अब कर लिया जाए। विप्लववादियों ने यद्यपि आयोजन किया, लेकिन जितना 1857 में हुआ था, उतना भी तब नहीं किया जा सका। सरकार को विप्लव की सूचना पहले से ही मिल गई। फिर उसके दमन के वेग की कोई सीमा नहीं रही। अमेरिका की गदर पार्टी ने जो अस्त्र-शस्त्र भेजे थे, उनका पता भी अमेरिकी सरकार को मिल गया। वे रास्ते में ही पकड़ लिए गए। इधर, सारे देश में व्यापक धरपकड़ शुरू हो गई। पंजाब में क्रांतिकारियों के केन्द्र स्थलों पर पुलिस ने धावे किए और गिरफ्तारियां शुरू कर दीं। इसके बावजूद, सिंगापुर की भारतीय सेना ने 21 फरवरी को बगावत की और टापू को अपनी मुट्ठी में कर लिया। सात दिनों तक सिंगापुर विद्रोहियों के हाथ में रहा लेकिन देश में और कहीं कुछ नहीं हो सका। सात दिन के अंदर ब्रिटिश सेना ने सिंगापुर को फिर कब्जे में कर लिया। क्रांतिकारियों का जबर्दस्त दमन किया गया। ब्रिटिश हुकूमत ने 'भारत रक्षा कानून' बनाकर दमन तेज किया। हजारों नवयुवक नजरबंद कर लिए गए और पंजाब तथा बंगाल में सैकड़ों को फांसी, आजीवन कारावास और निर्वासन के दंड दिए गए। 1915 से लेकर 1917 तक दमन और निरंकुशता का ऐसा नग्न प्रदर्शन किया गया कि भारतीय राष्ट्र कांप उठा।[115]

इसी तरह 13 अप्रेल, 1919 को जलियांवाला बाग नरसंहार जैसी बर्बर घटना ने भारत के लोगों को गुस्से से भर दिया। लाला लाजपत राय की ब्रिटिश पुलिस की लाठियों से हुई हत्या को क्रांतिकारियों ने चुनौती के रूप में लिया। क्रांतिकारियों ने जान पर खेलकर ब्रिटिश हुकूमत को दिखा दिया कि सेंट्रल एसेम्बली में घुसकर भी बम फेंका जा सकता है।

इस तरह, भारत के विभिन्न क्षेत्रों में क्रांतिकारी आंदोलन जड़ फैला रहा था। आगे चलकर ये घटनाएं बढ़ती गईं। रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खां, रोशन सिंह, चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु जैसे कितने ही क्रांतिवीरों ने अपने बलिदान से क्रांतिगाथा लिखी, जिसने भारत की जनता में अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह की भावना को आकंठ पैदा कर दिया।

कांग्रेस ने देश की स्वतंत्रता के लिए काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उससे जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद और सुभाषचंद्र बोस जैसे नेता निकले; जिन्होंने सारा जीवन देश की स्वतंत्रता के लिए समर्पित कर दिया। लेकिन कांग्रेस की स्थापना और उसके बाद बाल गंगाधर तिलक के सक्रिय होने तक उसकी स्वतंत्रता प्राप्ति के संदर्भ में कोई विशेष

भूमिका नहीं थी। उसके कुछ नेता जरूर राष्ट्रीयता के प्रयत्नों से जुड़े हुए थे। 1901 के कलकत्ता अधिवेशन में मोहनदास कर्मचंद गांधी ने पहली बार भाग लिया लेकिन वे अगले साल ही वापस दक्षिण अफ्रीका चले गए। अपने राजनीतिक जीवन के शुरू के दिनों में भी तिलक में उस नई पीढ़ी की विशिष्टताएं मौजूद थीं, जिसका वे प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उनकी लेखनी में बहुत दम था और उन्होंने अपनी मातृभाषा मराठी में केसरी तथा अंग्रेजी में मराठा नामक पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू किया। इनके जरिए उन्होंने नौकरशाहों के कुशासन का भंडाफोड़ किया और भारत की आजादी के पक्ष में लिखा। इन पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू ही हुआ था कि तिलक और उनके सहयोगी गोपाल गणेश आगरकर को इस बात के लिए सजा मिली कि उन्होंने बड़ौदा रियासत के दीवान के कुकृत्यों का भंडाफोड़ किया था, जो उस रियासत के महाराजा के नाम पर भ्रष्टाचार कर रहा था। आधुनिक राष्ट्रवादी आंदोलन के इतिहास में पत्रकारों को दंडित करने की घटनाएं आम नहीं थीं। मुकदमे का खर्च वहन करने के लिए जनता ने जो योगदान किया तथा सजा पूरी करने के बाद जेल से बाहर आने पर तिलक और आगरकर का जिस गर्मजोशी के साथ जनता ने स्वागत किया, वह भारत के राजनीतिक जीवन की इस तरह की पहली घटना थी। यह एक ऐसा अनुभव था, जिसके बारे में महादेव गोविंद रानडे, दादाभाई नोरोजी, फिरोजशाह मेहता और गोपालकृष्ण गोखले जैसे विख्यात नेता सपने में भी नहीं सोच सकते थे। यह घटना कांग्रेस के गठन से पूर्व 1882 में हुई। तब से लगभग चार दशकों तक देश की सेवा में तिलक ने जिस नि:स्वार्थ भाव से काम किया, वह न केवल उनके जीवन की बल्कि भारतीय इतिहास की अत्यंत उल्लेखनीय घटनाओं में से एक थी।[116]

तिलक ने ही पहली बार नारा दिया, 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।' वे भारतीय संस्कृति के सर्वोत्तम गुणों के प्रतीक थे। उन्होंने देश के स्वतंत्रता संग्राम के संघर्ष के दौरान दुर्लभ साहस और संकल्प का परिचय दिया। 'केसरी' में उनके ओजस्वी लेखन से ब्रिटिश सरकार क्रोधित हो गई। उन पर 1897 में राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। उन्हें अठारह महीने की कैद की सजा मिली लेकिन वे निर्भय होकर लिखते रहे। मई-जून, 1908 में केसरी में प्रकाशित उनके लेखों के लिए उन पर उसी वर्ष बम्बई उच्च न्यायालय में मुकदमा चलाया गया। तिलक को छह वर्ष के निर्वासन और एक हजार रुपए के जुर्माने का दंड दिया गया। तिलक 1 अगस्त, 1920 तक, जिस दिन उनका देहावसान हुआ, देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते रहे। वे अपने पीछे ऐसी लौ जगा गए, जिसे मोहनदास करमचंद गांधी ने आगे बढ़ाया और भारत के लाखों देशभक्तों ने उनके साथ मिलकर इस लौ से ब्रिटिश शासन के सभी चिह्नों को जलाकर राख कर दिया।[117]

संदर्भ सूची

1. डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड: अकबर से औरंगजेब तक, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ 4
2. कमलापति त्रिपाठी: बापू और भारत, सरस्वती मंदिर, बनारस, 1948, पृष्ठ 46
3. कैलेंडर, एस.पी. 1513-1616 नं. 280/ डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड: अकबर से औरंगजेब तक, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ 23
4. डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड: अकबर से औरंगजेब तक, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ 10
5. वही, पृष्ठ 31
6. मार्शल पीजे निकोलस केन्नी : द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर- I : द ओरिजिन्स ऑफ अम्पायर; ब्रिटिश ओवरसीज एंटरप्राइजेज टू द क्लोज ऑफ द सेवेंटींथ सेंचुरी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,1998, पृष्ठ 272
7. डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड: अकबर से औरंगजेब तक, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ 28
8. जहांगीर: जहांगीरनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1956, पृष्ठ 284
9. वही, पृष्ठ 324
10. डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड: अकबर से औरंगजेब तक, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ 32
11. जहांगीर: जहांगीरनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1956, पृष्ठ 342
12. जदुनाथ सरकार: औरंगजेब, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, 1970, पृष्ठ 366
13. वही, पृष्ठ 366
14. वही, पृष्ठ 366-367
15. वही, पृष्ठ 368
16. वही, पृष्ठ 368-369
17. वही, पृष्ठ 369-370
18. के. जॉन विलियम: अ हिस्ट्री ऑफ द सेपॉय वॉर इन इंडिया(1857-58)/ ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 19
19. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 21
20. कार्ल मार्क्स: न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून, अंक 3816, 11 जुलाई, 1853
21. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 18-19
22. वही, पृष्ठ 22
23. ताराचंद: हिस्ट्री ऑफ द फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया-2, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली, 1965, पृष्ठ 299/ ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 22-23
24. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 23
25. ज्यां द्रेज-अमर्त्य सेन: भारत और उसके विरोधाभास, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2019, पृष्ठ 39
26. वही, पृष्ठ 38
27. वही, पृष्ठ 38-40
28. कार्ल मार्क्स: न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून, अंक 3816, 11 जुलाई, 1853
29. जॉन डिकिन्सन : द गवर्नमेंट ऑफ इंडिया अंडर अ ब्यूरोक्रेसी, सौन्डर्स एंड स्टेनफोर्ड, लंदन, 1853, पृष्ठ 50
30. ऑन द फर्स्ट इंडियन वॉर ऑफ इंडिपेंडेंस, पृष्ठ 17-18/ ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 37
31. ताराचंद: हिस्ट्री ऑफ द फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया-2, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली, 1965, पृष्ठ 47
32. कार्ल मार्क्स: न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून, अंक 3816, 11 जुलाई, 1853
33. वही, 1853
34. वही, 1853
35. जैमिनी मोहन घोष: संन्यासी एंड फकीर रेडर्स इन बंगाल, बंगाल सचिवालय, कलकत्ता, 1930/ रजिस्ट्री

डिपार्टमेंट ओरिजनल कंसलटेशन नंबर 27, 29.3.1793 ई., पृष्ठ 22-23

36. सुकुमार राय: भारतवर्षेर इतिहास (द्वितीय संस्करण)/ विश्वनाथ मुखर्जी: वंदेमातरम् का इतिहास, हिन्द पॉकेट बुक्स, गुड़गांव, 1979, पृष्ठ 20
37. सुकुमार राय: भारतेर कृषक विद्रोह ओ गणतांत्रिक संग्राम-1, कोलकाता, 1966, पृष्ठ 29/ विश्वनाथ मुखर्जी: वंदेमातरम् का इतिहास, हिन्द पॉकेट बुक्स, गुड़गांव, 1979, पृष्ठ 20
38. मन्मथनाथ गुप्त: भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2011, पृष्ठ 18
39. विश्वनाथ मुखर्जी: वंदेमातरम् का इतिहास, हिन्द पॉकेट बुक्स, गुड़गांव, 1979, पृष्ठ 20-21
40. बंकिम चंद्र: आनंदमठ, मनोज पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2005, पृष्ठ 23
41. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 48
42. वही, पृष्ठ 41-42
43. मन्मथनाथ गुप्त: भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2011, पृष्ठ 18-19
44. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 37
45. जोन ब्यूचैम्प: ब्रिटिश इंपीरिअलिज्म इन इंडिया, मार्टिन लॉरेंस लि., लंदन, 1934, पृष्ठ 17
46. थॉमस राइस होम्स: अ हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी, डब्ल्यू.एच. एलेन एंड कंपनी, लंदन, 1888, पृष्ठ 6
47. कार्ल मार्क्स: द ब्रिटिश रूल इन इंडिया, न्यूयॉर्क हेरल्ड ट्रिब्यून, 25 जून, 1853/ मार्क्स आर्टिकल्स ऑन इंडिया, पृष्ठ 22
48. जेम्स मिल: हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, क्रेडॉक एंड जॉय, बाल्डविन, लंदन, 1817, पृष्ठ 83
49. कार्ल मार्क्स : द ब्रिटिश रूल इन इंडिया, न्यूयॉर्क हेरल्ड ट्रिब्यून, 25 जून, 1953/ मार्क्स आर्टिकल्स ऑन इंडिया, पृष्ठ 22
50. तलमिज खालदुन: इंकलाब 1857, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ 9
51. वही, पृष्ठ 16
52. जवाहरलाल नेहरू: हिन्दुस्तान की कहानी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 352
53. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 121
54. अमांडा रूगेरी: इतिहास की सबसे ताकतवर कंपनी की कहानी, बीबीसी कैपिटल, 12 अप्रेल, 2016
55. लक्ष्मीनिवास झुंझुनवाला: विश्व धर्म सम्मेलन-1893, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ 38
56. वही, पृष्ठ 38
57. वही, पृष्ठ 37
58. बंडल, 194, फोलिया नं. 30/ विद्रोहियों का परवाना, प्रेस लिस्ट ऑफ म्यूटिनी पेपर्स, इंपीरियल रिकॉर्ड ऑफिस, कलकत्ता, 1921
59. रेव.जे.केव-ब्राउन: द पंजाब एंड देल्ही इन 1857-1, विलियम ब्लैकवुड एंड संस, लंदन,1861, पृष्ठ 28-29
60. थॉमस लोवे: सेंट्रल इंडिया ड्यूरिंग द रिबेलियन ऑफ 1857 एंड 1858, लौंगमैन एंड रॉबर्ट्स, लंदन, 1860, पृष्ठ 324
61. तलमिज खालदुन: इंकलाब 1857, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ 20
62. सुरेन्द्रनाथ सेन: अट्ठारह सौ सत्तावन, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 23
63. फॉरेन सीक्रेट कंसलटेशंस, सं., 30 अप्रेल, 1858
64. सुरेन्द्रनाथ सेन: अट्ठारह सौ सत्तावन, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 46
65. पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द 30, 1857, पृष्ठ 3, लेटर टु कोर्ट, 7 फरवरी, 1857 का सहपत्र-6, पृष्ठ 3
66. पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द 30, 1857, पृष्ठ 7, लेबर टु कोर्ट, 7 फरवरी, 1857 का सहपत्र-15
67. सुरेन्द्रनाथ सेन: अट्ठारह सौ सत्तावन, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 50
68. रॉबर्ट मोंटगोमेरी मार्टिन: द इंडियन एंपायर-2, द लंदन प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग कंपनी, लंदन, पृष्ठ 127
69. सुरेन्द्रनाथ सेन: अट्ठारह सौ सत्तावन, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 53
70. वही, पृष्ठ 54
71. वही, पृष्ठ 56
72. जी.डब्ल्यू फॉरेस्ट: अ हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी-1, विलियम ब्लैकवुड एंड संस, लंदन, 1904, पृष्ठ 24/ पर्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द 30, 1857, पृष्ठ 57-58

73. थॉमस राइस होम्स: अ हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी, डब्ल्यू.एच. एलेन एंड कंपनी, लंदन, 1888, पृष्ठ 93
74. जी.डब्ल्यू फॉरेस्ट: अ हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी-1, विलियम ब्लैकवुड एंड संस, लंदन, 1904, पृष्ठ 31-32
75. गफ, ओल्ड मेमोरिज, पृष्ठ 14/ सुरेन्द्रनाथ सेन: अट्ठारह सौ सत्तावन, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 65
76. थॉमस राइस होम्स: अ हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी, डब्ल्यू.एच. एलेन एंड कंपनी, लंदन, 1888, पृष्ठ 96-97
77. सुरेन्द्रनाथ सेन: अट्ठारह सौ सत्तावन, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 66
78. वही, पृष्ठ 72
79. ख्वाजा हसन देहलवी: चांद-फांसी अंक-1 वर्ष-7, संख्या-1, नवम्बर, 1928, पृष्ठ 107-108
80. जीवनलाल-डॉ. दरखशां ताजवर: सरगुजिश्ते-देहली, रामपुर रजा लाइब्रेरी, प्रिंटोलॉजी इंक, नई दिल्ली, पृष्ठ 367
81. आर. बॉसवर्थ स्मिथ : लाइफ ऑफ लॉर्ड लॉरेन्स-2, स्मिथ एल्डर एंड कंपनी, लंदन, 1883, पृष्ठ 262
82. ख्वाजा हसन देहलवी: चांद-फांसी अंक-1, वर्ष-7, संख्या-1, नवम्बर, 1928, पृष्ठ 159
83. चार्ल्स बॉल: द हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी-1, द लंदन प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग कंपनी, न्यूयॉर्क, पृष्ठ 243-244
84. ख्वाजा हसन देहलवी: चांद-फांसी अंक-1, वर्ष-7, संख्या-1, नवम्बर, 1928, पृष्ठ 144-150
85. चार्ल्स बॉल: द हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी-1, द लंदन प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग कंपनी, न्यूयॉर्क, पृष्ठ 257
86. ख्वाजा हसन देहलवी: चांद-फांसी अंक-1, वर्ष-7, संख्या-1, नवम्बर, 1928, पृष्ठ 152-153
87. वही, पृष्ठ 157-158
88. विनायक दामोदर सावरकर: 1857 का भारतीय स्वातंत्र्य समर, सूर्य भारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ 30-31
89. वही, पृष्ठ 32
90. वही, पृष्ठ 33
91. वही, पृष्ठ 34
92. महाश्वेता देवी: झांसी की रानी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ 81
93. वही, पृष्ठ 86
94. वही, पृष्ठ 100-102
95. डेविड गिलमोर: द ब्रिटिश इन इंडिया, पेंगुइन रैंडम हाउस, लंदन, 2018, पृष्ठ 16-17
96. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 106
97. वही, पृष्ठ 106
98. वही, पृष्ठ 107-108
99. जवाहरलाल नेहरू: हिन्दुस्तान की कहानी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 391
100. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 109
101. कमलापति त्रिपाठी: बापू और भारत, सरस्वती मंदिर, बनारस, 1948, पृष्ठ 98-104
102. वही, पृष्ठ 105-107
103. स्टेनली बोलपर्ट: जिन्ना-मुहम्मद अली से कायद-ए-आजम तक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ 44
104. अरविंद: भारत का पुनर्जन्म, अरविंद आश्रम, पुडुचेरी, 2003, पृष्ठ 16-17
105. मन्मथनाथ गुप्त: भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2011, पृष्ठ 24
106. वही, पृष्ठ 27-28
107. वही, पृष्ठ 32
108. वही, पृष्ठ 35-36
109. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 39
110. मन्मथनाथ गुप्त: भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2011, पृष्ठ 39
111. वही, पृष्ठ 40

112. धनंजय कीर: स्वातंत्र्यवीर सावरकर, श्री बड़ा बाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता, 2009, पृष्ठ 23–25
113. कमलापति त्रिपाठी: बापू और भारत, सरस्वती मंदिर, बनारस, 1948, पृष्ठ 138
114. वही
115. वही
116. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद: भारत का स्वाधीनता संग्राम, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 123
117. पी.एन. भगवती: तिलक का मुकदमा, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 2009, प्राक्कथन

2

मोहन से महात्मा

वे हजारों पीड़ितों की झोंपड़ियों में घूमे दरिद्रनारायण की लंगोटी पहनकर। उन्होंने उनसे बातें की उन्हीं की जुबान में। सत्य मानो सजीव बनकर उनके पास आया। इसलिए भारत की जनता का दिया 'महात्मा' ही उनका सच्चा नाम है। हिन्द की जनता से और किसी ने उनसे बढ़कर प्यार नहीं किया। प्रेम भारत के द्वार पर आया और उसका सुंदर स्वागत हुआ। गांधीजी के नाद से भारत फिर एक बार नवपल्लवित हुआ। जैसे भगवान बुद्ध के बिरादरी और जीवन उपदेश से हुआ।

–रवीन्द्रनाथ टैगोर

मोहनदास करमचंद गांधी विश्व के राजनीतिक इतिहास में अद्वितीय व्यक्ति हैं। उन्होंने पीड़ित लोगों के स्वातंत्र्य संघर्ष के लिए एक बिल्कुल नई और मानवोचित प्रणाली का आविष्कार किया और उस पर भारी परिश्रम और तत्परता से अमल भी किया। उन्होंने सभ्य संसार में विचारवान लोगों पर जो नैतिक प्रभाव डाला, उसके पाशविक बल की अतिशयोक्ति से पूर्ण वर्तमान युग में बहुत अधिक स्थाई रहने की संभावना है।[1] गांधी को पढ़ना आसान है; विश्वास करना कुछ कठिन और अपनाना असंभव भी नहीं तो गांधी के विचार व्यक्ति को दुर्लभ बना देते हैं। नेलसन मंडेला जैसों के लिए भी यह राह आसान नहीं रही। मंडेला के अनुसार, 'हां, मैंने गांधी को पढ़ा। ..अगर सिद्धांत के रूप में इसे स्वीकार करते हैं तो हर परिस्थिति में अहिंसा का पालन करना पड़ता है। हमारी दृष्टि यह थी कि हम अहिंसा का पालन उसी सीमा तक करेंगे, जहां तक स्थितियां हमें अनुमति देती हैं।'[2]

गांधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनोबा भावे मानते थे कि गांधी के हृदय में अध्यात्म था। उनको बाहर से थोड़ा राजनीति में पड़ना पड़ता था। उन्होंने कई बार कहा, 'हम गरीबों की सेवा करें। गरीबों की सेवा द्वारा ही राजनीति में परिवर्तन होगा।' लेकिन उस समय हिन्दुस्तान गुलाम था और उसे गुलामी से मुक्त करने के लिए उन्हें राजनीतिक चिंतन और उपवास इत्यादि करने पड़े।[3]

भारत की आजादी के बाद भी दिल्ली में एक दिन सुबह घूमते समय, आगा खां महल में 21 महीने साथ जेल में रहीं, सुशीला नैयर ने गांधी से पूछा, 'बापू, आपने कहा है, आप दरअसल समाज सुधारक हैं। विदेशी राज में आप अपना काम नहीं कर सकते थे, इसलिए आपको राजनीति में आना पड़ा। अब विदेशी राज चला गया है। क्या अब आप अपना समय

राजनीति में लगाएंगे.. समाज सुधार में अपनी सारी शक्ति खर्च करेंगे?' उन्होंने उत्तर दिया, 'अगर मैं इस अग्निपरीक्षा में से निकला तो मुझे पहले राजनीति को सुधारना होगा।' राजनीति सत्य और अहिंसा के आधार पर चल सकती है, धर्म से वह अलग या भिन्न नहीं, यह गांधी की सबसे बड़ी खोज थी।[4]

सत्याग्रह गांधी के जीवन का आधार बन गया। वे मानते थे कि सत्याग्रह की यही विशेषता है कि वह खुद चलकर आता है; उसे खोजने नहीं जाना पड़ता। यह गुण उसके सिद्धांत में निहित है। इसमें कुछ दिया हुआ नहीं है, इसमें चालाकी नहीं करनी पड़ती। इसमें असत्य के लिए तो स्थान ही नहीं, ऐसा धर्मयुद्ध अनायास ही पास आता है और धर्म में आस्था रखने वाला व्यक्ति उसके स्वागत के लिए सदैव तैयार रहता है। जिसकी रचना पहले से करनी पड़े, वह धर्मयुद्ध नहीं है। धर्मयुद्ध की रचना करने वाला और संचालक तो स्वयं ईश्वर है। यह युद्ध ईश्वर के नाम ही चल सकता है। जब सत्याग्रही की सारी बुनियाद ढीली हो जाती है, जब वह नितांत निर्बल हो जाता है, जब उसके चारों ओर अंधकार छा जाता है, तभी ईश्वर उसकी मदद को पहुंचता है। मनुष्य जब अपने को रज कण से भी छोटा मानता है, तभी ईश्वर उसकी सहायता करता है। राम निर्बल को ही बल देते हैं।[5]

सत्याग्रह में दो बातें शामिल थीं, एक व्यक्तिगत दायित्व और दूसरा सामाजिक और राजनीतिक कर्तव्य। सामूहिक कार्यवाही के रूप में सत्याग्रह की धारणा उन सब लोगों का प्रतिरोध और विरोध करती है जो अन्यायपूर्ण प्रणाली का संचालन करते हैं लेकिन ये प्रतिरोध बिना किसी दुर्भावना के अहिंसक रीति से किया जाता है।[6] सत्याग्रह के दौरान सत्याग्रहियों को यह वचन देना होता था कि वे हिंसा का किसी भी रूप में प्रयोग नहीं करेंगे तथा किसी भी प्रकार की सुविधा तथा विशेषाधिकार की मांग नहीं करेंगे। गांधी का कहना था, 'हिन्दुस्तान अंग्रेजों ने लिया यह बात नहीं है, बल्कि हमने उन्हें दिया है। हिन्दुस्तान में वे अपने बल से नहीं टिके हैं, बल्कि हमने उन्हें टिका रखा है। ..आपको अंग्रेजों ने सिखाया है कि आप एक राष्ट्र नहीं थे और एक राष्ट्र बनने में आपको सैकड़ों बरस लगेंगे यह बात बिल्कुल बेबुनियाद है। जब अंग्रेज हिन्दुस्तान में नहीं थे तब हम एक राष्ट्र थे, हमारे विचार एक थे, हमारा रहन-सहन एक था। तभी अंग्रेजों ने यहां एक राज्य कायम किया। भेद तो हमारे बीच बाद में अंग्रेजों ने पैदा किए। एक राष्ट्र का यह अर्थ नहीं कि हमारे बीच कोई मतभेद नहीं था; लेकिन हमारे मुख्य लोग पैदल या बैलगाड़ी में हिन्दुस्तान का सफर करते थे। वे एक दूसरे की भाषा सीखते थे और उनके बीच कोई अंतर नहीं था। जिन दूरदर्शी लोगों ने सेतुबंध रामेश्वरम्, जगन्नाथपुरी और हरिद्वार की यात्रा निश्चित की, वे मूर्ख नहीं थे। वे जानते थे कि ईश्वर भजन घर बैठे भी होता है। उन्होंने ही हमें सिखाया है, मन चंगा तो कठौती में गंगा।'[7]

गांधी 1936 में सेवाग्राम में रहने आए तब वहां न सड़क थी; न दवाखाना, न डाकघर न दुकान। गांधी की डाक वर्धा से सेवाग्राम अक्सर महादेवभाई बोरा कंधे पर डालकर लाते-ले जाते थे। इस तरह गांधी ने अपना काम शुरू किया। पुराने मकान का जीर्णोद्धार किया। उसकी कच्ची दीवारों को पक्की ईंट से बनाया गया और फर्श भी बना। गांधी के आश्रम का रसोईघर भी एक तरह से चिकित्सा की प्रयोगशाला था। भोजन से शरीर पर पड़ने वाला प्रभाव भी

अध्ययन के केंद्र में था। रसोई घर में पाव रोटी बनाने की भट्टी बनाई गई थी। देहाती कुकर, मक्खी-मच्छर से सुरक्षित जालीदार आलमारी, निर्धूम चूल्हा, रोटी बनाने वालों के लिए ऊंचे चबूतरे की सुविधाएं तैयार की गईं। अधिकतर सब्जी, अनाज, दूध, गुड़, फल आश्रम में पैदा होते, उन्हीं का उपयोग किया जाता था।[8]

आहारशास्त्री और प्रयोगकर्ता थे गांधी। दूध उबालने से उसका 'सी' विटामिन नष्ट हो जाता है और उबाले बिना दूध में रोग के कीटाणु होने की संभावना रहती है। इसलिए बापू उसमें टमाटर या नींबू डालकर खाने की सलाह देते थे। आश्रम में खोपरा (नारियल) बहुत काम में आता था। गीले खोपरे को बीमारों और कमजोरों को दे दिया जाता था और छूंछ को या तो शाक में मिला दिया जाता या उसे खा लेते थे। शाक में मिलाने को गांधी ने अनुचित बताया और छूंछ के उपयोग का समर्थन किया। वे स्वास्थ्यप्रद प्रयोग को सदा प्रोत्साहन देते। सेवाग्राम आश्रम के कुएं का पानी दूषित था, इसलिए गांधी के निर्देश थे कि पानी उबालकर ही काम में लिया जाए। दातून भी धोकर झाबे में डालनी पड़ती थी। शाक में किसी प्रकार का मसाला नहीं डाला जाता था, वह केवल उबला हुआ होता था। नमक भी पूछकर देते थे।[9]

कार्यों में गांधी की सहभागिता सबसे बड़ी बात थी। सामान्य नियमों के प्रति भी वे कठोर थे लेकिन उस कठोरता के प्रति वे भी प्रस्तुत होते थे। आश्रम में एक बार दलिया नहीं बना। गांधी को तय होने के बावजूद दलिया का नहीं बनना नापसंद था। उन्हें पता चला तो कहा कि दलिया के बदले में दूसरी चीजें देकर हम दलिया नहीं बनाने का बचाव नहीं कर सकते। उनका कहना था कि अगर दला हुआ दलिया नहीं था तो उनसे कहना चाहिए था, वे खुद मदद करते। गांधी मदद की बात सिर्फ कहने तक सीमित नहीं थे। एक बार आटा पीसने वाला कोई नहीं था। गांधी को पता चला तो आकर चक्की चलाने बैठ गए। गांधी ने चक्की से आटा पीसा। इसी तरह, गांधी ने एक योजना बनाई कि सबके जूठे बर्तन बारी-बारी से दो-तीन आदमी साफ करें। इसके साथ ही गांधी ने तय किया, 'चलो, पहली बारी मेरी और बा की।' गांधी अपने साथ बा को लेकर बर्तन मलने की जगह जाकर बैठ गए और सबसे कह दिया कि थाली यहां रख दो और हाथ धोकर चले जाओ। गांधी और बा दोनों बर्तन साफ करने के लिए जुट गए।[10]

एक बार वर्धा में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक थी। गांधी ने भोजन के लिए सबको निमंत्रण दिया। उतने लोगों के लिए थाली-कटोरी नहीं थे। गांधी ने कहा कि बड़ के पत्ते तोड़ लिए जाएं और कटोरियों की जगह मिट्टी के सकोरे इस्तेमाल हों। साथ ही, यह भी कहा कि मिट्टी के सकोरे खाने के बाद फेंक देने के लिए नहीं हैं। उन सबको धोकर, साफ करके फिर अग्नि में शुद्ध करके रखना है। आम तौर पर मिट्टी के बर्तन काम में लेकर फेंक देने का रिवाज था। गांधी ने कहा, 'देखो, कुम्हार उस पर कितनी मेहनत करता है। उसे बनाता है, तपाता है, उस पर रंग करता है और हम एक ही बार इस्तेमाल करके उसे फेंक दें यह तो हिंसा है। सामान की बर्बादी है।' इसके बाद सभी लोग खाने बैठे तो सूचना दी गई कि मिट्टी के बर्तन फेंकने नहीं हैं। इस पर बाबू राजेन्द्र प्रसाद चौंककर बोले, 'उन्हें फिर इस्तेमाल किया जाएगा!' गांधी का जवाब था, 'हां, इनको फिर से अग्नि में तपाकर शुद्ध किया जाएगा और

तब इनका उपयोग करने में कोई हर्ज नहीं है।'[11]

गांधी कहते थे, 'हमें गांवों को अपने चंगुल में जकड़े रखने वाली तीन बीमारियों का इलाज करना है; पहली सार्वजानिक स्वच्छता की कमी, दूसरी पोषक आहार की कमी और तीसरी ग्रामवासियों की जड़ता।' वे गांवों को इस स्थिति से उबारने के लिए शहरों का सहयोग वांछनीय समझते थे। गांधी चाहते थे कि प्रत्येक ग्रामवासी स्वावलम्बन अपनाए ताकि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सकें।[12]

स्वच्छता के प्रति गांधी का आग्रह असीम था। सफाई और स्वच्छता को गांधी शरीर और आत्मा दोनों के विकास के लिए आवश्यक मानते थे। बाहरी वातावरण की स्वच्छता के बिना मन की सफाई संभव ही नहीं हैं। इसीलिए आश्रम में विशेषकर संडास की सफाई पर उनका विशेष जोर रहता था। यह आरोग्य की दृष्टि से भी आवश्यक था। गांधी का मानना था कि संडास इतना स्वच्छ होना चाहिए कि वहां बैठकर खाना खाया जा सके। संडास सफाई के लिए अपने आश्रम में गांधी ने विशेष व्यवस्था की। मल पर मिट्टी डालकर गाड़ देने की व्यवस्था आश्रम में थी। दैनिक जीवन में हर कहीं उनका ध्यान सफाई पर रहता था। देश और विश्व की जटिल समस्याओं में लगे रहने पर भी वे इस क्षेत्र में कभी नहीं चूके। गांधी के एक इंजीनियर मित्र ई.बी. विलियम ने 1941 में बापू कुटी में सेप्टिक संडास बनवा दिया। गांधी का संडास मंदिर जैसा स्वच्छ रहता था। वे अपना संडास स्वयं साफ करते थे। गांधी सामान्यतया शौच के लिए कमोड का उपयोग करते थे, जो कि खड्डे में साफ किया जाता था। गांधी सोचते थे कि गांवों में लोग इधर-उधर खुले में शौच के लिए बैठते हैं, उससे मक्खी-मच्छर का उपद्रव बढ़ता है और बीमारियां बढ़ती हैं। इनको रोकने के लिए गांधी ऐसे संडास की खोज में थे: (1) गांव की जनता को कम खर्च में उपलब्ध हो। (2) खाद पूरा मिल जाए। (3) मक्खी-मच्छर का केंद्र नहीं बने। (4) कुओं-नदी आदि का पानी दूषित होने से बचाएं। उन्होंने सेप्टिक टैंक अपनी कुटी में अपने उपयोग के लिए बनाने की इजाजत दी तो वह कम-से-कम खर्च पर व्यवस्थित ढंग से बनाया गया।[13]

चरखे और खादी को आजादी प्राप्त करने के अहिंसक अस्त्र में बदल देने के पीछे गांधी की व्यापक सोच थी। उस समय अर्थशास्त्रियों का मानना था कि भारत में 29 करोड़ लोग खेती से जीवन यापन करते हैं। देश में 21 करोड़ एकड़ भूमि में खेती होती थी और करीब 15 करोड़ लोग उस समय खेती में लगे हुए थे। उनका मानना था कि एक व्यक्ति को जितनी एकड़ भूमि खेती के लिए मिलती है, उससे तीन गुनी भूमि में वह खेती कर सकता है। इस लिहाज से भारत के 5 करोड़ लोग 21 करोड़ एकड़ भूमि में खेती कर सकते थे। यानी, भारत में 15 से 55 वर्ष के बीच के 10 करोड़ ऐसे लोग थे, जो काम के अभाव में खेती करते थे। भारत की यह समस्या थी कि इन 10 करोड़ लोगों को कैसे काम दिया जाए।[14]

इसी तरह, भारत में प्रति व्यक्ति औसतन 17 गज कपड़े का उपभोग था। इस हिसाब से पौने सात अरब गज कपड़े की आवश्यकता भारत को पड़ती थी। यदि प्रत्येक भारतीय को तीस गज कपड़ा प्रतिवर्ष दिया जाता तो 40 करोड़ की जनसंख्या वाले देश के लिए 12 अरब गज कपड़े की जरूरत होती। यदि इतना कपड़ा भारतीय मिलों में बनाया जाता तो भारतीय

मिलों की संख्या दोगुनी करनी पड़ती। उस समय विचारणीय प्रश्न यह था कि यदि भारत के लिए कपड़े की आवश्यकता को पूरा करने को 800 मिलों की स्थापना की जाए और उनके लिए 200 करोड़ की पूंजी लगा दी जाए तो केवल 10 लाख लोगों को काम दिया जा सकता था। देश में 25 लाख जुलाहे थे, जो दो अरब गज कपड़ा करघों पर बुनते थे। यदि 10 लाख लोगों को मिलों में काम पर लगाकर भारत के कपड़े की आवश्यकता पूरी की जाती तो भारत के 25 लाख जुलाहों के जीविकोपार्जन का प्रश्न था।[15]

गांधी ने दूरदृष्टि से इस समस्या का निराकरण खोजा। उन्होंने उस समय पाया कि देश का कल्याण कल-कारखानों में नहीं है; भारत का मूल प्रश्न करोड़ों बेरोजगारों को काम देना है। उन्होंने कहा, 'कल कारखाने उस समय कुछ लाभ पहुंचा सकते हैं जब आवश्यक और अपेक्षित उत्पादन के लिए उत्पादकों की संख्या कम हो। जहां उत्पादकों और काम करने वालों की संख्या काम से अधिक है, वहां कल कारखाने अहितकर ही नहीं अभिशाप सिद्ध होते हैं। भारत के हालात ऐसे ही हैं। हमारे सामने समस्या श्रम को बचाने वाले यंत्रों की नहीं बल्कि अपार और निरर्थक पड़े श्रम का उपयोग करने की है।' गांधी ने इसका समाधान चरखे और खादी के प्रयोग से निकाला। उत्पादन की विकेन्द्रित प्रणाली का पर्यायवाची चरखा बन गया। गांधी के तर्कों से देश ने स्वीकार किया कि भारत में कपड़ा उत्पादन के लिए मिलों की स्थापना की जाए तो 10 लाख लोगों को काम मिलेगा और अरबों में पूंजी लगानी पड़ेगी। वहीं, यदि कुटीर व्यवसाय अपनाए जाएं तो 4,60,00,000 लोगों को रोजगार मिलेगा और केवल 20 करोड़ रुपए की पूंजी लगानी पड़ेगी। इस प्रकार चरखा और खादी के रूप में गांधी ने न केवल भारत की आर्थिक समस्या का समाधान प्रस्तुत किया बल्कि भावी भारत के लिए निर्देशक सिद्धांत भी तय कर दिए। गांधी इसे सरल भाषा में बताते थे, 'खादी का ध्येय है वह मार्ग निकालना, जिससे सारा भारत और भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा हो सके। मिलों से वस्त्र उत्पादन करने से पैसा गरीबों की जेब में नहीं जाता बल्कि वहां से निकलकर धनवानों की तिजोरियों में पहुंचता है। इसके सिवाय जनता को अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिए दूसरों का आश्रित बनना पड़ता है। यह ठीक है कि बड़े-बड़े कारखानों के द्वारा हम सामूहिक रूप से स्वावलंबी कहे जा सकते हैं लेकिन वास्तव में परावलंबी ही होते हैं। खादी से दलित जनता को स्वावलंबी बनाते हैं।'[16]

गांधी का मानना था कि खादी और चरखा उस भारत का संकेत करते हैं, जिसमें ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं हो, जात-पांत नहीं हो और छुआछूत की बर्बर प्रथा नहीं हो। वह उस भारत का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें अपनेपन का अभिमान हो, भारतीयता से प्रेम हो; इसके साथ ही मानव जाति की सेवा की भावना हो। वह उस भारत की कल्पना से अभिभूत है जिसमें दलन-दोहन, पराधीनता, पलायन, आत्मविस्मृति और पतन नहीं हो। वह भारत की सामाजिक दुरवस्था, रूढ़िवादिता, जड़ता, संकीर्णता और अज्ञानता का अंत चाहने वाली धारा का प्रतीक हो गया। गांधी ने इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर चरखे और खादी को भारत की नवरचना का आधार बना डाला।[17] गांधी का मानना था कि सत्य और अहिंसा के आधार पर खड़ी होने वाली अर्थव्यवस्था ही हिन्दुस्तान में टिक सकती है और देश को डूबने से बचा

सकती है। ये अर्थव्यवस्था खादी और चरखे पर आधारित होगी।[18]

हिन्दुओं में व्याप्त अस्पृश्यता गांधी को असहनीय थी। उन्होंने हिन्दुओं को चेतावनी दी कि वे ऊंची जाति और नीची जाति के रूप में सोचना बंद करें। उनका मानना था कि हिन्दू धर्म में निःसंदेह जाति प्रथा है लेकिन जाति प्रथा कर्तव्य भावना प्रदान करने के लिए बनाई गई है। यह प्रथा सुविधाओं और अधिकारों के लिए नहीं है। उन्होंने कहा, 'ईश्वर की निगाह में सब बराबर है और जो सबसे अच्छी तरह मानवता की सेवा करता है, वही सबसे ज्यादा महान है। छुआछूत की भावना ईश्वर और मानवता दोनों के प्रति अपराध है। यह हिन्दू धर्म का कलंक है। जब तक हिन्दू बहुत प्रयास करके अस्पृश्यता के अभिशाप से मुक्त नहीं हो जाते तब तक यह देश कभी सुखी नहीं हो सकेगा।[19]

अस्पृश्यता निवारण के लिए गांधी की राष्ट्रव्यापी यात्रा ने लोगों के मनोमालिन्य को दूर करने में बड़ी भूमिका निभाई। इसका श्रेय हरिजन सेवक संघ के मंत्री ठक्कर बाप्पा को था। उनको सेवा और जागरण कार्यों के लिए दौरा करते समय लगा कि यदि गांधी देश का दौरा करें तो अस्पृश्यता निवारण के कार्य को काफी सहयोग मिल सकता है। 7 नवम्बर, 1933 को वर्धा से 10 किलोमीटर सेलू गांव में लक्ष्मीनारायणजी के मंदिर को सभी जातियों के लिए खोलने से यह यात्रा शुरू हुई। इस यात्रा का समापन 2 अगस्त, 1934 को काशी में हुआ। इस दौरान महाराष्ट्र, मध्य भारत, बिहार, असम, उड़ीसा और उत्तर प्रदेश से जुड़े हुए विभिन्न गांवों में न केवल जनजागरण हुआ बल्कि इससे लाखों लोगों की आस्था और सोच में विस्मयकारी परिवर्तन हुआ। गांधी जहां पहुंचते, वहां की सड़कें, बाजार सुंदर तरीके से सजाए हुए होते, जिधर से उनकी गाड़ी निकलती, उधर जनसमूह उमड़ पड़ता। गांधी ने दौरे के शुरुआत में ही स्पष्ट कर दिया था, 'हमने अस्पृश्यता को दूर नहीं किया तो हिन्दू धर्म का नाश हो जाएगा। धर्म में द्वेष के लिए कोई जगह नहीं हैं। जब अस्पृश्यता दूर हो जाएगी और हिन्दुओं के दिलों में द्वेष नहीं रहेगा, तभी दूसरे धर्मों के प्रति भी हृदय में आदरभाव होगा। ..या तो मैं अस्पृश्यता मिटा दूंगा या अपने जीवन का अंत कर लूंगा।'[20]

वे अनुसूचित जाति के लोगों को भी समझाते कि वे मरे हुए जानवरों का मांस खाना छोड़ दें। शराब के व्यसन से दूर हो जाएं। जो मंदिर उनके लिए खोले गए हैं, उनका खूब उपयोग करें। नहा-धोकर मंदिर में जाएं और भगवान की भक्ति करें। दूसरी ओर, सवर्णों से कहते, 'आइए, हृदय को बदलिए। बलात्कार, क्रोध और द्वेष से धर्म फल-फूल नहीं सकता।' नागपुर में एक काफी हृदयस्पर्शी घटना हुई। एक गरीब व्यक्ति ने चंदा एकत्र करते समय एक कौड़ी दे दी। गांधी ने समझ लिया कि उस व्यक्ति के पास देने के लिए कुछ और नहीं है। उन्होंने उस कौड़ी को सभा के दौरान नीलाम करके 111 रुपए इकट्ठे कर लिए। मध्य भारत में करेली से देवरी जाते समय बीच में वर्मान घाट पर नाव से नर्मदा पार करनी पड़ी। केवटों ने गांधी की इच्छा के विपरीत उनके चरण धोकर चरणामृत लिया। जबलपुर की सभा में एक हरिजन बालक मंच पर आ गया। गांधी को लगा वह कुछ देने आया है। उससे पूछा तो उसने शीशे की गोली दिखा दी। गांधी ने उस डरे हुए बालक को शाबासी दी और कहा, 'यह कम थोड़े ही है!'[21]

गांधी हरिजन शब्द से पूरी तरह सहमत नहीं थे। मद्रास में उन्होंने कहा, 'हरिजन' नाम मेरा आविष्कार नहीं है। एक हरिजन भाई का ही सुझाया हुआ है। जब तक अस्पृश्यता मर नहीं जाती, तब तक इस समूह का सूचक कोई नाम तो रखना ही पड़ेगा। 'अछूत' या 'दलित' शब्द दासता के बंधक हैं। हरिजन का अर्थ भगवान का प्यारा होता है। भगवान हम सबको सच्चे अर्थ में हरिजन बनाएं।'

मैसूर में आदर्श हरिजन बस्ती देखकर गांधी काफी खुश हुए। उनका कहना था कि मकानों की सुंदरता और सड़कों की सफाई इस बात का प्रमाण है कि यहां के लोगों का जीवन कितना समुन्नत है। प्रत्येक घर स्वच्छ और सुखी दिखाई दिया। हरिजन बाल भवन, छात्रावास, वाचनालय, औद्योगिक पाठशाला देखकर गांधी ने काफी तारीफ की। केलप्पन में गांधी ने स्पष्ट किया कि उनका इरादा ब्राह्मण धर्म को नष्ट करने का हो ही नहीं सकता। मैं ब्राह्मण धर्म के नाश को हिन्दू धर्म के नाश का पर्यायवाची समझता हूं। लेकिन किसी भी मनुष्य को जन्म के कारण समाज ब्राह्मण नहीं मान सकता। जिसने ब्रह्म को जान लिया, वही ब्राह्मण हो सकता है।[22]

बिहार के गंडक नदी के बांध पर होकर गांधी की मोटर जा रही थी तो वहां के डोम समाज की ओर से एक पर्चा मिला। उसमें लिखा था कि गांव वाले सार्वजनिक कुएं से पानी नहीं भरने देते। गांधी के कहने पर गांव के चौधरी ने वायदा किया कि आगे से ऐसा नहीं होने देंगे। दक्षिण भारत में कुछ स्थानों पर गांधी के विरुद्ध काले झंडों से प्रदर्शन किया गया। लेकिन उनमें भी ऐसे लोग काफी होते थे, जो गांधी के अभिवादन का जवाब देते और प्रशंसा-जय जयकार में सम्मिलित होने में संकोच नहीं करते थे। गांधी ने उड़ीसा के जाजपुर (कटक) में कहा, 'जिस मंदिर में हरिजनों को प्रवेश का अधिकार नहीं, उस मंदिर में मूर्ति तो है लेकिन वहां भगवान की प्रतिष्ठा नहीं हुई है।' गांधी यात्रा की यह पूर्ण सफलता थी कि काशी के विद्वान पंडितों ने गांधी को सम्मान पत्र दिया, 'हमारा परम सौभाग्य है कि भगवान ने आज हमें आप जैसे त्यागी, महान पुरुष का काशी जैसे पवित्र तीर्थ में स्वागत करने का अवसर दिया है। आप भारत के हृदय हैं। भारत आज दरिद्र होने पर भी आपके सहारे संसार में सिर ऊपर किए खड़ा है। आपने देश सेवा के व्रत में अपने सुख, स्वार्थ और ऐश्वर्य को भुला दिया है। आपके हृदय में द्वेष भाव नहीं है। जो आपसे सहमत नहीं हैं, उन्हें भी आपसे प्रेम, सद्भाव और संतोष मिला है। आपने सदा दुखियों के दुख में आंसू बहाए, पीड़ितों के कष्ट में हाथ बंटाया और निर्भय होकर सत्य का प्रचार किया।' 12,504 मील की लंबी यात्रा की समाप्ति के बाद गांधी ने 7 अगस्त से 14 अगस्त तक वर्धा में उपवास किया। गांधी ने उपवास आरंभ करते हुए कहा, 'मैं उपवास आरंभ करते समय अधिक आत्मशुद्धि और अधिक एकाग्रता से कार्य करने की आवश्यकता पर हरिजन सेवा करने वालों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। कार्यकर्ताओं की सतत और अनवरत साधना के बिना अस्पृश्यता रूपी राक्षस का नाश असंभव है।'[23]

एक बार फिर जेल में बंद गांधी ने 8 मई, 1933 को हरिजन आंदोलन की पवित्रता, सेवाभाव और आत्म-शुद्धि के लिए 21 दिन का उपवास आरंभ किया। गांधी के शब्दों में,

'प्रभु ने, सत्य ने जो अग्निपरीक्षा मेरे लिए भेजी है, मेरे सामने उसका औचित्य प्रतिदिन स्पष्ट होता जा रहा है। अगर मैं उपवास न करता तो जो नई बातें मुझे मालूम हो रही हैं, वे मुझे निष्प्राण करके ही छोड़तीं। इस उपवास के बाद मैं जिंदा रहता हूं या नहीं, यह तो कोई महत्व की बात नहीं है। पर अगर मैं यह उपवास न करता तो, बहुत संभव है, मैं हरिजन सेवा या किसी अन्य सेवा के लिए किसी काम का न रह जाता। यह उपवास हरिजनों पर कोई अहसान लादने की नीयत से नहीं किया जा रहा है, यह तो मैंने अपनी और अपने सहयोगियों की आत्मशुद्धि के लिए ही किया है।'[24]

स्त्री यौन हिंसा के प्रति गांधी कायरता के पक्षधर नहीं थे। उनका मानना था कि कायरता से हिंसा श्रेष्ठ है। सती को वे सात्विकता के रूप में लेते थे। उन्होंने 'सती' का उपयोग करते समय जलने या जलाए जाने का भाव नहीं लिया है। एक प्रश्न के उत्तर में गांधी कहते हैं, 'जो स्त्री पूरी तरह सती है। उस पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता। शुद्धता का दूसरे पर असर होता ही है और बुरे-से-बुरे आदमी की उस पर कुदृष्टि डालने की हिम्मत नहीं हो सकती। ऐसी हिम्मत तभी होती है जब स्त्री में भी कहीं-न-कहीं कमजोरी होती है। इतने पर भी यदि कुचेष्टा की जाए, तो स्त्री के नाराजगी प्रकट करने और प्रेमपूर्वक उलाहना या साहसपूर्ण फटकार दे देने से दुष्ट शर्मिंदा होकर दुष्कर्म से अलग हो जाता है। इसके बावजूद बहुत ही कम आदमी आगे बढ़ने का दु:साहस कर सकते हैं। यदि फिर भी कोई ऐसा करे और स्त्री अपने धर्म की रक्षा के लिए प्राण देने को तैयार रहे, तो उस आक्रमण को विफल करने के अनेक अहिंसक उपाय उसी समय सूझ जाते हैं। आक्रमणकारी को काट लेना, नोच लेना, उसको लात-घूंसे मारना वगैरह को मैं अहिंसक उपाय ही मानता हूं। ये उतने ही अहिंसक हैं, जितना चूहे का अपनी जान बचाने के लिए बिल्ली पर प्रहार करना है, क्योंकि वह जानता है कि उसके प्रहारों से बिल्ली तो मरेगी नहीं और अंत में उसी को अपनी जान से हाथ धोना पड़ेगा। लेकिन यदि ये सब उपाय भी कारगर नहीं हों तो अपनी लाज लुटने देने से आक्रमणकारी का वध कर डालना बेहतर है। उन्होंने आगे कहा, 'यही उपाय नजर आता हो तो वर्धा के बाजार से खंजर खरीद लाओ और गांधी का नाम लेकर आक्रमणकारी के सीने में भोंक देना और अपने सतीत्व की रक्षा करना।' एक अन्य प्रश्न के उत्तर में गांधी का कहना था, 'दुष्ट के अधिक शरीर बल के सामने स्त्री का कोई भी उपाय सफल नहीं हो और वह अपनी रक्षा नहीं कर सके तो उसे आत्महत्या करने की जरूरत नहीं और न समाज को उसे तिरस्कृत समझना चाहिए। न केवल वह निर्दोष है बल्कि अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जान जोखिम में डालकर सब उपाय करने के लिए कद्र की हकदार है।'[25]

जब गांधी के आश्रम की लड़कियों के साथ छेड़खानी की घटना हुई तो गांधी का व्यवहार अपने कथन के अनुसार ही था। एक दिन सेवाग्राम में रहने वाली लड़कियां कहीं से लौट रही थीं कि रास्ते में कुछ युवक उन्हें परेशान करने लगे। लड़कियां घबरा गईं और आश्रम में भाग आईं। प्रार्थना के बाद उन्होंने गांधी को इस घटना की सूचना दी। गांधी ने कहा, 'तुम भाग क्यों आईं; हिम्मत से वहीं ठहरना था।' एक लड़की ने कहा, 'यदि लड़कों ने हमारी बेइज्जती की होती तो?' गांधी बोले, 'तो उनके मुंह पर दो-चार घूंसे जमा देने थे।' वे लड़कियां गांधी

के मुंह से यह सुनकर चकित हो गईं। उन्होंने पूछा, 'यह हिंसा नहीं है क्या?' गांधी ने खिलखिलाते हुए कहा, 'तुम्हारे गाल पर एक तमाचा मारकर तुम्हें समझाना पड़ेगा कि हिंसा किसे कहते हैं।'[26]

सती प्रथा के रूप में स्त्री देह दहन के वे समर्थक नहीं थे। जमनालाल बजाज के देहावसान के बाद उनकी धर्मपत्नी जानकी देवी के संस्मरण गांधी के विचारों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। बजाज के निधन के बाद की स्मृतियों पर जानकी देवी ने प्रकाश डाला, 'बापू बोले, 'जानकी, जमनालाल को तो भगवान के दर्शन हो चुके, अब तो तुम्हें करना बाकी है। उसकी तैयारी करो। जो काम उन्होंने आधा किया है उसे पूरा करो। उसके लिए अपने सर्वस्व को होम कर दो।' बचपन में सती होने की मेरी इच्छा थी, वह जाग उठी। मैं बोली, 'बापूजी, मैं सती होना चाहती हूं। आज्ञा दीजिए।' बापू बोले, 'शरीर को जलाने से क्या फायदा है? वह तो तुच्छ है, मिट्टी है। अपने सब दुर्गुणों को जला देना ही सतीत्व है। अपने सब दुर्गुणों को चिता में होम करो। फिर बाकी बचेगा, वह शुद्ध कंचन रहेगा। उसको कैसे जलाया जाए? उसे तो कृष्णार्पण ही किया जा सकता है। स्त्रियों को मैं त्यागमूर्ति मानता हूं, क्योंकि हिन्दू स्त्री विधवा होने पर सारे भागों को तिलांजलि देती है, विकारों का शमन करती है। अब तुम त्यागमूर्ति बन गई। अपने अवगुणों को जमनालाल की चिता में जला दो। अपना जो कुछ है, वह उसके काम में लगा दो। यही सती होना है। उठो, तुम सती हो जाओ।' मैं बोली, 'मैं और मेरी संपत्ति उनके काम के लिए अर्पित है।' ..दाह क्रिया गोपुरी में जमनालाल जी की झोपड़ी के सामने करना तय हुआ। चिता की तैयारी की गई। कपूर से चिता को प्रज्ज्वलित किया गया। मैंने बापूजी के हाथ में कंडा दिया। मैं कहीं चिता में न कूद जाऊं, इसलिए बापूजी ने मुझे पकड़ लिया था।'[27]

सभी उपासना पद्धतियों के प्रति सहिष्णु होने के साथ गांधी इस बात के विशेष आग्रही थे कि धर्मांतरण नहीं होना चाहिए। मई, 1935 के पूर्वार्द्ध में एक मिशनरी नर्स ने उनसे मुलाकात की। नर्स ने उनसे पूछा, 'क्या आप लोगों का धर्मांतरण करने के लिए मिशनरियों के भारत आगमन पर रोक लगा देना चाहेंगे?' गांधी का स्पष्ट जवाब था, 'उन्हें रोकनेवाला मैं कौन होता हूं? अगर मेरे हाथ में सत्ता हो और मैं कानून बना सकूं तो मैं धर्मांतरण का यह सारा कारोबार ही बंद करवा दूं। इससे वर्ग-वर्ग के बीच निश्चय ही निरर्थक कलह और मिशनरियों के बीच बेकार का द्वेष बढ़ता है। यों किसी भी राष्ट्र के लोग शुद्ध सेवा भाव से आएं तो मैं उनका स्वागत करूंगा। हिन्दू कुटुम्बों में मिशनरी के प्रवेश से वेशभूषा, रीति-रिवाज, भाषा और खानपान तक में परिवर्तन हो गया है और इसका नतीजा यह हुआ है कि सुंदर हरे-भरे कुटुम्ब छिन्न-भिन्न हो गए।'

नर्स ने कहा, 'आप जो कहते हैं वह तो पुराने जमाने की बात है। अब धर्म परिवर्तन के साथ इन सब चीजों का संबंध नहीं है।' गांधी बोले, 'बाह्य स्थिति शायद बदल गई होगी, पर आंतरिक स्थिति तो अधिकतर अब भी वैसी ही है। हिन्दू धर्म की निंदा दबी जुबान से आज भी की जाती है। मिशनरियों की दृष्टि में अगर आमूल परिवर्तन हो गया होता तो क्या आज भी मिशनों की दुकानों पर मरडोक की किताबें बिकने दी जातीं? क्या मिशनरियों के संघों ने

किताबों के बेचे जाने की मनाही कर दी है? इन किताबों में सिवा हिन्दू धर्म की निंदा के और है ही क्या? आप कहती हैं कि उस पुरानी कल्पना के लिए अब स्थान नहीं रहा। अभी कुछ ही दिन हुए, एक मिशनरी एक दुर्भिक्ष पीड़ित अंचल में पैसा लेकर पहुंच गया, अकाल पीड़ितों को उसने पैसा बांटा, उन्हें ईसाई बनाया; फिर उनका मंदिर हथिया लिया; और, उसे तुड़वा डाला। यह अत्याचार नहीं तो क्या है? जिन हिन्दुओं ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था उनका अधिकार तो उस मंदिर पर रहा नहीं था; और, ईसाई मिशनरी का भी उस पर कोई हक नहीं था। पर यह मिशनरी वहां पहुंचता है; और, जो लोग कुछ ही समय पहले यह मानते थे कि उस मंदिर में ईश्वर का वास है, उन्हीं के हाथ से उसे तुड़वा डालता है।'

नर्स ने विषय को आगे बढ़ाया, 'पर गांधीजी, आप धर्म परिवर्तन यात्रा के विरुद्ध क्यों हैं? हम तो लोगों को और भी अच्छा जीवन बिताने के लिए आमंत्रण देते हैं; क्या उसके लिए बाइबिल में प्रमाण नहीं है?'

गांधी ने तत्काल जवाब दिया, 'हां, है; पर उनका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें आप ईसाई धर्म में दीक्षित कर लें। आप अगर अपने धर्मवचनों का ऐसा अर्थ करने लग जाएं जैसा कि किया जा रहा है तो इसका यह मतलब हुआ कि आप लोग मानव समाज के उस विशाल हिस्से को पतित मानते हैं जिसका विश्वास वैसा नहीं है जैसा आपका है। ईसा मसीह यदि आज पृथ्वी पर पुनः अवतीर्ण हों तो ईसाई धर्म के नाम पर जो बातें आज हो रही हैं उनमें से बहुत-सी बातों को वे निषिद्ध ठहरा दें। जो मुख से 'प्रभो, प्रभो' उच्चारण करता है, वह ईसाई नहीं है; सच्चा ईसाई वह है जो 'प्रभु की इच्छा के अनुसार आचरण करता है'। जिस मनुष्य ने ईसा मसीह का नाम नहीं सुना, क्या वह प्रभु की इच्छा के अनुसार आचरण नहीं कर सकता?'[28]

एक बार गांधी ने गुजरात महाविद्यालय के छात्रों को बाइबिल पढ़ाना शुरू कर दिया। कई लोगों ने इसकी तीखी आलोचना की और गांधी को पत्र लिखे। एक व्यक्ति ने पत्र लिखकर सवाल किया, 'क्या बाइबिल की अपेक्षा गीता आपको घटिया लगती है? सनातनी हिन्दू होने का दावा करते तो आप थकते नहीं। क्या यह सिद्ध नहीं होता कि आप छिपे हुए ईसाई हैं? क्या बच्चों को बाइबिल पढ़ाना और ईसाई बनाने का साधन नहीं है?' उस व्यक्ति ने उम्मीद की कि गांधी इस पत्र का उत्तर देंगे और बाइबिल छोड़कर वेद पढ़ाना शुरू करेंगे।

गांधी ने इसका उत्तर नवजीवन के 5 सितम्बर, 1926 के अंक में 'बाइबिल पढ़ने का पाप' शीर्षक लेख में दिया। गांधी ने लिखा कि अंतिम मांग वे कभी स्वीकार नहीं कर सकते। उन्हें या दूसरों को जो अच्छा लगे, उसकी अपेक्षा छात्रों को जो मांगने का हक है वही उन्हें स्वीकार करना होगा। गांधी ने लिखा:

> 'जब छात्रों ने मुझे सप्ताह में एक घंटा देने को निमंत्रित किया था, तब मैंने उन्हें भगवद्गीता, तुलसी रामायण और प्रश्नोत्तर इन तीन में से एक को पसंद करने को कहा था, लेकिन बहुमत से उन्होंने बाइबिल सीखने और प्रश्नोत्तर का निर्णय किया। .. मेरा मानना है कि प्रत्येक संस्कारी स्त्री-पुरुष का संसार

के धर्मशास्त्र समभाव से पढ़ना धर्म है। यदि हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे धर्म का आदर करें तो हमें उनके धर्म का वैसा ही आदर करना होगा और आदर करने के लिए संसार के धर्मशास्त्रों का समभावपूर्ण अध्ययन करना पवित्र कर्तव्य हो जाता है। हां, भय का कारण तब हो जब नादान छोकरों (छात्रों) के सामने कोई अपने धर्मग्रंथ उन्हें भ्रष्ट करने के गुप्त या प्रकट इरादे से पढ़ता हो। मैं तो बाइबिल, कुरान और दूसरे धर्मग्रंथों के अध्ययन और उनके प्रति अपने आदर को अपने पक्का सनातनी होने के दावे के साथ सुसंगत समझता हूं। मैं तो सनातनी हिन्दू होने का दावा करता हूं, क्योंकि नीति को आघात पहुंचाने वाली सब चीजों का त्याग करते हुए भी मुझे हिन्दू शास्त्रों से अपनी आत्मा की भूख मिटाने वाली खुराक मिल जाती है। दूसरे धर्मों के आदर युक्त अध्यापन से हिन्दू धर्मशास्त्र के प्रति मेरी भक्ति और श्रद्धा कम नहीं हुई। हां, उन धर्म पुस्तकों के पढ़ने से हिन्दू धर्मशास्त्र की मेरी समझ पर चिरस्थाई प्रभाव जरूर हुआ है। .. मैं अवश्य मानता हूं कि ईश्वर के दबाव में न कोई हिन्दू है, न ईसाई, न मुसलमान। इसलिए जब तक मेरी उन्नति में बाधा नहीं पड़े या किसी दूसरे धर्म से अच्छा अंश लेने में दिक्कत नहीं हो, तब तक मुझे तो अपने बाप-दादाओं का धर्म चालू रखना चाहिए।'[29]

गांधी को सांप्रदायिकता अस्वीकार थी। उन्होंने 1905 में सांप्रदायिक आधार पर किए गए बंगाल विभाजन की 'हिन्द स्वराज' में आलोचना करते हुए लिखा, 'जिस दिन बंग भंग हुआ, उसी दिन से अंग्रेजी राज के भी टुकड़े- टुकड़े हो गए। बंग भंग से जो धक्का अंग्रेजी हुकूमत को लगा, वैसा और किसी काम से नहीं लगा। बंग भंग से अंग्रेजी जहाज में जो दरार पड़ी है, वह तो हमेशा रहेगी और दिन-ब-दिन चौड़ी होती जाएगी। जागा हुआ हिन्द फिर सो जाए, ये नामुमकिन है। बंग भंग को रद्द करने की मांग स्वराज की मांग के बराबर है।'[30]

गांधी का स्वराज्य उन्हें भारतीय संस्कृति से जोड़ता था। यह उनके सपने का रामराज्य था। उन्होंने 'स्वराज्य और रामराज्य' में लिखा:

'स्वराज्य के कितने ही अर्थ क्यों न किए जाएं, तो भी मेरे नजदीक तो उसका त्रिकाल सत्य एक ही अर्थ है, और वह है रामराज्य। यदि किसी को रामराज्य शब्द बुरा लगे तो मैं उसे धर्मराज्य कहूंगा। रामराज्य शब्द का भावार्थ यह है कि उसमें गरीबों की संपूर्ण रक्षा होगी, सब कार्य धर्मपूर्वक किए जाएंगे और लोकमत का हमेशा आदर किया जाएगा ..सच्चा चिंतन तो वही है जिसमें रामराज्य के लिए योग्य साधन का ही उपयोग किया गया हो। यह याद रहे कि रामराज्य स्थापित करने के लिए हमें पाण्डित्य की कोई आवश्यकता नहीं है। जिन गुणों की आवश्यकता है, वह तो सभी धर्मों और वर्गों के लोगों में आज भी मौजूद है। सत्य, अहिंसा, मर्यादा-पालन, वीरता, क्षमा, धैर्य आदि गुणों

का पालन प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है।'[31]

वे मानते थे कि स्वराज्य का वास्तविक अर्थ है, अपने ऊपर काबू रखना। यह वही मनुष्य कर सकता है, जो स्वयं नीति का पालन करता है, दूसरों को धोखा नहीं देता। जो परिवार और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है, ऐसा व्यक्ति चाहे किसी भी देश में रहे, स्वराज्य का सुख भोगता है।[32]

28 अप्रेल,1925 को गांधी बेलगाम में गोरक्षा परिषद के अध्यक्ष बनाए जा चुके थे। इसके बाद मुंबई में अखिल भारतीय गोरक्षा सभा की स्थापना का समय था। रामानुजाचार्य और मौलाना शौकत अली इस सभा में विशेष रूप से उपस्थित थे। गांधी ने इस अवसर पर कहा, 'गोरक्षा के काम में मैं बचपन से दिलचस्पी लेता आया हूं। तीस वर्ष से मैंने इस विषय का एकांत में अध्ययन भी किया है। यह काम केवल बुद्धि के प्रयोग से नहीं होता। इसके पीछे बहुत श्रम और तपस्या चाहिए। यह कार्य करने की शक्ति के लिए मुझमें जितनी तपस्या और संयम है, उससे अधिक होनी चाहिए।' इतना ही नहीं, इससे आगे गांधी ने कहा, 'गाय की रक्षा का अर्थ गाय नाम के पशु की रक्षा ही नहीं, अपितु जीव मात्र की रक्षा, प्राणी मात्र की रक्षा है। प्राणी मात्र में मनुष्य तो आ ही जाता है। .. मैं सनातनी हिंदू होने का दावा करता हूं। वह धर्म मुझे सिखाता है कि गाय को बचाने के लिए मैं अंग्रेज या मुसलमान को नहीं काट सकता। .. प्राणी मात्र की रक्षा कर पाना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। इसलिए इस विधान में केवल स्थूल गाय की ही रक्षा का उद्देश्य बताया गया है। .. गाय की रक्षा का अर्थ उसे कसाई के हाथ में से बचा लेना ही नहीं है, परंतु हम स्वयं उसे मार रहे हैं, यह रोकना है। गोरक्षा की सारी कल्पना के भीतर यही निहित है कि हिंदुओं का अपने प्रति और गाय के प्रति क्या कर्तव्य है।'[33]

गांधी के भाषण का तत्काल असर हुआ। उस अवसर पर मौलाना शौकत अली ने कहा, 'कोई भी हिन्दू, चाहे वह कैसा भी हो, ऐसा नहीं कि जिसके दिल में गोमाता के लिए प्रेम न हो। हमें उसके पड़ोसी के रूप में, उसके भाई के रूप में रहना है। इसलिए मुझे कोशिश करनी चाहिए कि अपने भाई की भावना को न दुखाऊं और गाय को बचाने का कोई रास्ता निकालूं। हम गाय को माता नहीं मानते, परंतु पवित्र तो मानते हैं। इसलिए ऐसा उपाय हमें अवश्य करना चाहिए जिससे 24 करोड़ हिन्दुओं के दिल न दुखें। मुसलमान खिलाफत का दुखड़ा रोते हैं और हिंदू गाय का रोते हैं। परंतु न मुसलमान इस्लाम का कुछ करता है, न हिन्दू गाय का कुछ करता है। आज देश में काले बादल हैं।.. एक दिन ऐसा देखेंगे, जब भारत में स्वराज्य होगा, इस्लाम आजाद होगा और गाय आजाद होगी।'[34]

1925 में गुजरात यात्रा के दौरान महात्मा गांधी की सभाओं का व्यापक उल्लेख मिलता है। वे कहते, 'मैं तुमसे कहता हूं कि गोमांस छोड़ दो। कभी मुर्दार मांस मत खाना। ऐसा मांस अक्सर स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। मैं तो कहूंगा तुम मांस ही नहीं खाओ।' वे काठियावाड़ पहुंचे। वहां बेटियों को बेचने का रिवाज था। गांधी ने कहा, 'कन्या अर्थात गरीब गाय। जो कन्यादान करने की बजाय उसे धन जुटाने का साधन बनाकर बेचता है, वह गोहत्या

से अधिक घोर पाप करता है।' मांगरोल में और स्पष्ट किया तथा कहा, 'जो कन्या विक्रय करता है.. गोहत्या का पाप करता है.. अस्पृश्यता रखता है.. उसकी हड्डियों में दया नहीं है, निर्दयता है।'

गांधी के लिए गाय सिर्फ गोमाता नहीं रही और न वे सिर्फ गोहत्या बंदी तक सीमित थे; बल्कि इससे आगे बढ़कर उनका विषय गोरक्षा और गोसेवा तक चला जाता। एक बार गांधी ने पिंजरापोल का निरीक्षण किया। इसके बाद उन्होंने सुझाव दिए कि पिंजरापोल में चार विभाग होने चाहिए। एक, अपंग ढोरों के लिए; दो, आदर्श पशुपालन के लिए; तीन, उत्तम दूध, छाछ, मलाई, पनीर मिले; चार, चर्मालय। उनका कहना था कि चमार को भी सिखाना होगा आंतड़ियों और हड्डियों का उपयोग कैसे हो। हड्डियों की वस्तुएं काम में ली जाएं।[35]

19 अगस्त 1925 को गांधी ने कटक में बाबू मधुसूदन दास का कारखाना देखते समय उनकी बात को पसंद किया, 'बेकार दिखाई देने वाली, दूध देने वाली गायें आज कसाई के यहां बिकती हैं, उन्हें यदि हमारे पास राष्ट्रीय चर्मालय हो तो वहीं ले लें, उसे जब तक जिए, पालें और बाद में चमड़े का उपयोग करें।'[36]

उसके कुछ समय बाद ही गांधी ने कच्छ में कहा, 'गोरक्षा का प्रश्न कथित गोसेवकों ने बिगाड़ा है। मुसलमान कुर्बानी के लिए जितनी गायों का वध करते हैं, उससे सौ गुना गायें व्यापार के लिए काटी जाती हैं। भारत के कत्लखाने मुसलमानों के लिए नहीं, सेना के लिए हैं और चमड़े के लिए हैं। कसाई का धंधा पुसाता है, इसका कारण भारत के करोड़पतियों का हिन्दू धर्म का अज्ञान है; और, वैष्णव धर्मियों में, हमारे धर्म शिक्षकों के धर्ममान की न्यूनता और शिथिलता है। गायें हिन्दुओं की ही हैं इसलिए गाय बेचने वाले हिन्दुओं के अलावा कोई भी नहीं हैं.. यदि इनकी रक्षा करनी है तो करोड़पतियों को दूध और चमड़े का व्यापार करना होगा।' उन्होंने सवाल किया, 'गोरक्षा के लिए आप कानून बना सकते हैं परंतु कुदरत का कानून कैसे मिटा सकेंगे? भारत के हिंदू गाय के लिए मरने को तैयार ही नहीं है। असली उपाय यह है कि हम गोशालाओं में ही बढ़िया से बढ़िया ढोर रखें, पालें और दूध बेचें।' गांधी द्वारा गोरक्षा के लिए धन एकीकृत करने का भी जिक्र मिलता है।[37]

गांधी लोगों को कहते कि गोमांस का अंग्रेजों के आगमन से पहले निषेध था। अंग्रेजों ने वह निषेध हटा दिया। गांधी गाय को लेकर भाव विह्वल हो जाते थे। उन्होंने एक सवाल के जवाब में कहा, 'भारत वर्ष की संसार को दी हुई अनेक भेंटों में मूक जीव दृष्टि के साथ मनुष्य के अभेद की कल्पना एक अद्वितीय वस्तु है। मेरे लिए गोपूजा एक भव्य विचार है और उसे व्यापक किया जा सकता है।' 27 अक्टूबर, 1920 को महात्मा गांधी डाकोर में थे। उन्होंने गोहत्या पर काफी गुस्सा प्रकट किया। उनके निशाने पर हिन्दू ही थे। उन्होंने कहा, 'मुसलमान गाय को मारते हैं, इससे तुम्हें क्रोध होता है, परंतु क्या हिन्दू गाय नहीं मारते? गाय का दूध खत्म हो जाने पर भी उसका खून खींच लेना, गाय की संतानों के आर (लकड़ी में लगी नुकीली कील) भोंकना भी गाय की हत्या के बराबर ही है। ऐसी गोहत्या करने वाले हिन्दू किस मुंह से मुसलमान भाइयों के पास जाकर कहेंगे कि मेरी गाय को तुम क्यों मारते हो? गाय को यदि बचाना हो तो हिन्दुओं को अपनी शराफत दिखानी चाहिए.. अंग्रेज

सिपाहियों का बीफ-गोमांस के बिना घड़ीभर भी काम नहीं चलता।'

गोरक्षा के काम में गांधी को मारवाड़ियों का काफी आर्थिक सहयोग मिला। उन्होंने गुजरात की सभाओं में इसका जिक्र किया। गांधी विनोबा भावे द्वारा वर्धा में संचालित सत्याग्रहाश्रम गए। वहां भी गांधी ने कहा, 'हम धर्माचरण का एक उदाहरण लें गोरक्षा। गो को वेद में अघन्या कहा गया है, ऐसी जो हनन के योग्य नहीं। इतना ही नहीं, परंतु जो ताड़न के भी योग्य नहीं। वेद में गो की इतनी अधिक स्तुति है कि शायद ही किसी और चीज की उतनी स्तुति होगी। उसे परमात्मा की मूर्ति कहा है।' एक अन्य अवसर पर गांधी ने बताया, 'मैं तो गाय को इस हद तक पूजने वाला हूं कि जब मैंने दक्षिण अफ्रीका में गाय का दूध निकालने में होने वाले बल प्रयोग का हाल जाना, तब गाय का दूध लेना ही बंद कर दिया।'[38]

जीवन से जुड़े हर विषय की गहराई में गांधी गए। भजन उन्हें अतिप्रिय थे; कुछ भजन तो उन्हें काफी अच्छे लगते थे। वे अपने प्रवचन से पूर्व भजन गंवाते थे। इनमें लय और संगीत का तारतम्य देखते। वे इसमें भी राष्ट्रीयता का विषय जोड़ देते थे। अहमदाबाद के राष्ट्रीय संगीत मंडल का दूसरा वार्षिकोत्सव सत्याग्रहाश्रम के प्रार्थना कक्ष में गांधी के समक्ष हुआ। इस अवसर पर गायन-वादन होने के बाद गांधी ने कहा, 'हमारा एक सुभाषित है कि जिसे संगीत प्रिय न हो, वह या तो योगी होगा या फिर पशु होगा। संगीत जानने का अर्थ है सारे जीवन को संगीतमय बना डालना। हमारा जीवन सुरीला नहीं, इसीलिए हमारी दशा दयाजनक है। जहां जनता का एक सुर नहीं निकलता हो, वहां स्वराज्य कहां से हो?'

उन्होंने इस संदर्भ में प्लेटो का उदाहरण दिया, 'संगीत की दिशा देखकर समाज की राजनीतिक स्थिति बता सकते हैं। यदि हमारे में संगीत आ जाए, तो स्वराज्य आ जाएगा।' गांधी ने बताया, 'हमारे सामवेद की ऋचाएं संगीत की खान हैं। कुरान शरीफ की एक भी आयत सुर के बिना नहीं बोली जा सकती और ईसाई धर्म में डेविड के 'साम' (गीत) सुनें तो जैसे सरस्वती ने हाथ धो डाले हों, जैसे हम सामवेद सुनने बैठे हों।' गांधी ने उस अवसर पर संगीत को रोजगार और देश की अर्थनीति से भी जोड़ दिया, 'परन्तु चरखे के संगीत के सामने, जो घर-घर सुना जा सकता है यह संगीत तुच्छ लगता है, क्योंकि चरखे का संगीत तो कामधेनु है, मेरी दृष्टि में करोड़ों का पेट भरने का साधन है।' उन्होंने उस अवसर पर गायन-वादन करने वाले संगीत प्रेमियों को इस बात की बधाई दी कि वे संगीत की मदद कर रहे हैं।[39]

गांधी कला की व्याख्या करते समय आम जन में खो जाते थे। वे कहते, 'आत्मा के उल्लास से गाने वाले रास्ते चलते मुसाफिर या भिखारी को या प्रभात में चक्की चलाने वाली को, अनुपम गान गाते जिसे सुनने को मिलता है; उसे शायद हजार रुपए लेकर दीपक, पूर्वी और मालकोस की धुन अलापने वाले को सुनने की जरूरत नहीं रहे। ..इस निर्दोष सर्व भोग्य कला का मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में बड़ा स्थान है लेकिन उसके जीवन में ऐसा भी समय आता है, जब वह इंद्रिय भोग्य कला के पार जाने को तड़पता है और पार जाता है। उसके लिए शरीर या इंद्रिय की कला जैसी चीज अनावश्यक हो जाती है, वह आत्मा की कला में मुग्ध हो जाता है।[40]

भारत के क्रांतिकारियों को लेकर गांधी के व्यवहार और विचारों पर काफी बहस चलती रही। भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु की शहादत के बाद यह और तेज हो गई। 30 अप्रेल, 1931 को गांधी ने लिखा, 'अनेकों में से एक' का लिखा हुआ पत्र सुखदेव का है। सुखदेव भगत सिंह के साथी थे। यह पत्र उनकी मृत्यु के बाद मुझे दिया गया था। समयाभाव के कारण मैं इसे जल्दी ही प्रकाशित नहीं कर सका। लेखक (सुखदेव) 'अनेकों में से एक' नहीं हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए फांसी को गले लगाने वाले अनेक नहीं होते। राजनीतिक खून चाहे जितने निंदनीय हों तो भी जिस देश प्रेम और साहस के कारण ऐसे भयानक काम किए जाते हैं, उनकी कद्र किए बिना नहीं रहा जा सकता।'[41]

यही विचार दो आजीवन कारावास की सजा पाए स्वतंत्रता सेनानी विनायक दामोदर सावरकर को लेकर गांधी के थे। 1 मार्च, 1927 को रत्नागिरी में सभा को संबोधित करते हुए गांधी ने कहा, 'रत्नागिरी में सावरकर भाई भी रहते हैं। विलायत में मेरा उनसे गाढ़ा परिचय हुआ था और उनके साथ वार्तालाप हुआ था। इनका स्वार्थ त्याग उज्ज्वल है। इनकी मातृभूमि की सेवा बड़ी है। इनसे मिला जा सके तो अवश्य मिलूं, क्योंकि इन्हें तो बाहर जाने की इजाजत है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। हम दोनों के बीच मतभेद जबर्दस्त हैं। इंग्लैंड में भी था और वह चला आ रहा है, क्योंकि हम दोनों (अपने मतों के बारे में) आग्रही हैं, परन्तु मतभेद कितने भी हों तो भी प्रेम भाव रखना ही चाहिए। यदि ऐसा नहीं हो तो मुझे अपनी पत्नी का भी शत्रु बनना चाहिए।'[42]

महादेव भाई डायरी में बाद की एक सभा से पहले का विवरण लिखते हैं, 'इस सभा में जाने से पहले गांधीजी अंडमान की तपस्या करके आए हुए भाई सावरकर के घर हो आए थे। पांच-दस मिनट में बहुत बातें तो हो नहीं सकती थीं। अस्पृश्यता और शुद्धि के बारे में गांधीजी के विचारों का अखबारों में आने वाला विपरीत स्वरूप साफ करने का यहां उन्हें अवसर मिला। परन्तु अधिक चर्चा के लिए उन्होंने भाई सावरकर को पत्र व्यवहार करने का अनुरोध किया: सत्य को चाहने वाले, सत्य के लिए मृत्यु पर्यन्त लड़ने वाले की हैसियत से आपके लिए मुझे कितना आदर है, यह आप जानते हैं। अंत में हम दोनों का ध्येय तो एक ही है। इसलिए आप जिस मामले में मेरे साथ चर्चा करना चाहें, उस पर खूब पत्र व्यवहार कीजिए और चाहें तो खादी, शुद्धि आदि के विषय में आपके साथ सफाई कर लेने के लिए मैं अपने व्यस्त समय में से दो-तीन दिन निकालकर रत्नगिरी में आपके साथ रहने को तैयार हूं।' सावरकर ने यह कहकर कि आप मुक्त को मैं बंदी नहीं बनाना चाहता, पत्र व्यवहार के सुझाव का स्वागत किया।'[43]

भारतीय नेताओं के प्रति गांधी के मन में अगाध प्रेम था। उन्होंने राजनीतिक रूप से अपने समकालीन नेताओं से असहमत हुए भी उनके प्रति गुण ग्राह्यता में कमी नहीं आने दी। विनोबा भावे के अनुसार, 'एक बार गांधीजी से बात हो रही थी। गांधीजी ने कहा, 'दूसरे के गुणों को बढ़ाकर देखना चाहिए और दोष हों तो घटाकर देखना चाहिए।' मैंने पूछा, 'आप तो सत्य के ग्राहक हैं; फिर घटाना-बढ़ाना क्यों?' उन्होंने कहा, 'हमें दूसरों के दोष बड़े दिखते हैं इसलिए घटाकर देखेंगे तो सही चित्र सामने आता है।'[44]

सुभाषचंद्र बोस से गांधी के राजनीतिक मतभेद रहे। दोनों एक दूसरे की नीतियों के आलोचक थे। इसके बावजूद सुभाषचंद्र बोस के लिए गांधी राष्ट्रपिता बने रहे और उन्होंने विदेशों में आजाद हिन्द फौज के सम्मेलनों में गांधी का चित्र लगाना और उनका यशोगान जारी रखा। दूसरी ओर, गांधी का भी मानना था, 'जब तक सुभाष बाबू किसी एक रास्ते को ठीक समझते हैं तब तक उस रास्ते पर डटे रहने का उनका अधिकार और धर्म है, चाहे कांग्रेस को वह पसंद हो या न हो। मैंने उनसे कहा कि यह अधिक ठीक होगा कि कांग्रेस में से निकल जाएं, लेकिन मेरी राय उनको जंची नहीं। लेकिन यह सब होते हुए भी अगर उनका प्रयत्न सफल हो और हिन्दुस्तान को स्वतंत्रता मिल जाए तो उनका कांग्रेस के प्रति विद्रोह करना ठीक ही सिद्ध होगा। कांग्रेस न सिर्फ उनके इस विद्रोह को क्षमा ही करेगी, बल्कि देश के तारनहार के तौर पर वह उनका स्वागत भी करेगी।'[45]

बोस के बारे में एक बार गांधी ने कहा, 'नेताजी एक महान गुणवान पुरुष थे। उनकी उल्लेखनीय सफलताओं में, भारत से बाहर के, उस समय के कार्य हैं जब वे देश से भागे और काबुल, इटली, जर्मनी और अन्य देशों से होकर अंत में जापान पहुंचे। विदेशी चाहे कुछ भी कहें; लेकिन मैं विश्वास के साथ यह अवश्य कहूंगा कि आज भारत में एक भी आदमी ऐसा नहीं है जो उनके इस प्रकार भागने को अपराध मानता हो। जब सर्वप्रथम उन्होंने सेना तैयार की तो उसकी कम संख्या की उन्होंने कोई चिंता नहीं की। उनका निश्चय था कि संख्या चाहे कितनी ही कम क्यों न हो; लेकिन भारत को आजाद करवाने के लिए उन्हें सामर्थ्य भर यत्न करना ही चाहिए। नेताजी का सबसे महान और स्थिर रहने वाला कार्य था सब प्रकार के जातीय और वर्गभेद का उन्मूलन। वे केवल बंगाली ही नहीं थे। उन्होंने अपने आपको कभी सवर्ण हिन्दू नहीं समझा। वे आमूलचूल भारतीय थे। इससे अधिक क्या कि उन्होंने अपने अनुगामियों में भी यही आग प्रज्ज्वलित की, जिससे प्रेरित होकर वे उनकी उपस्थिति में सभी भेदभाव भूल गए थे और एक सूत्र होकर काम करते थे।'[46]

लोकमान्य तिलक से गांधी के मतभेद की बात सभी जानते हैं। उनके जीवनकाल में और मृत्यु के बाद गांधी ने उनके मतभेदों को कभी कम करके बताने या भुलाने की कोशिश नहीं की लेकिन इसके कारण वे तिलक का सही मूल्यांकन करने में नहीं झिझके। उनकी मृत्यु पर गांधी ने लिखा, 'लोकमान्य बालगंगाधर तिलक अब संसार में नहीं हैं। यह विश्वास करना कठिन मालूम होता है कि वे संसार से उठ गए। हम लोगों के समय में ऐसा दूसरा कोई नहीं जिसका जनता पर लोकमान्य जैसा प्रभाव हो। हजारों देशवासियों की उन पर जो भक्ति और श्रद्धा थी, वह अपूर्व थी। यह सत्य है कि वे जनता के आराध्य थे, व्यक्तित्व थे, उनके वचन हजारों आदमियों के लिए नियम और कानून से थे। पुरुषों में पुरुष सिंह संसार से उठ गया। केसरी की घोर गर्जना विलीन हो गई।'[47]

बेनिटो मुसोलिनी इटली में फासीवाद की नींव रखने वाले प्रमुख नेताओं में था। मुसोलिनी ने 1935 में अबीसीनिया पर हमला किया और कहा जा सकता है कि यहीं से द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हुआ। गांधी ने इससे पहले मुसोलिनी से मुलाकात की। उन्होंने उस तानाशाह को यह कहने में जरा भी देर नहीं लगाई कि यूरोप जिस तरह चल रहा है, वैसे नहीं चल सकेगा।

उसे न केवल अपना आर्थिक जीवन का पूरा ढांचा बल्कि अपने मूल्यांकन मूलभूत तौर पर बदलने होंगे। उन्होंने यहां तक कहा, 'जिस दिन वह पूर्व का शोषण बंद करेगा, उसी दिन सहकार संभव है।'[48]

मुसोलिनी से गांधी की मुलाकात 12 दिसम्बर, 1931 को रोम में हुई। गांधी के साथ महादेव भाई और मीरा बहन भी थे। महादेव भाई ने उस मुलाकात का बखूबी चित्रण किया है: 'अनेक कमरों से गुजरकर हम शस्त्रों से भरे हुए एक कक्ष में पहुंचे, और वहां से एक उससे भी विशाल कमरे में गए। दरवाजे पर स्वयं तानाशाही की जीवंत मूर्ति हमारा स्वागत कर रही थी। लंबे टेबल के ऊपर दवात, पेपर कटर, चाकू, एक प्याले में संतरों का रस, एक मूर्ति, टेबल के एक कोने में एक सिंह, टेबल के नीचे एक छोटा-सा गलीचा, छत में सौ बत्तियों का जलता हुआ झूमर और विशाल हॉल पूरा बिना गलीचे का। सवाल पूछते समय मुसोलिनी की आंखों की पुतलियां घूमती रहती थीं।' गांधी-मुसोलिनी की वार्ता:

मुसोलिनी : आपको इटली पसंद आया?

गांधी : जी हां, मुझे आपका सुंदर देश अच्छा लगा।

मुसोलिनी : आप पोप से मिले?

गांधी : जी नहीं, वे मुझे मुलाकात का समय दे नहीं पाए। उन्होंने कहा कि रविवार को वे किसी से मिलते ही नहीं और आज कुछ व्यस्त थे।

मुसोलिनी : गोलमेज परिषद पूरी हो गई?

गांधी : हां, हालांकि अब भी कुछ काम बाकी है। हमें कहा गया है कि परिषद मुल्तवी की गई है। एक कार्यकारिणी समिति बनाई गई है, जो काम जारी रखेगी।

मुसोलिनी : आप लोगों को कुछ मिला?

गांधी : नहीं, और कुछ प्राप्त करने की मुझे आशा थी ही नहीं।

मुसोलिनी : (तिरस्कार भरी स्मिति) आर्थिक विषयों में हिन्दुस्तान की स्थिति कैसी है?

गांधी : बुरी। हम अपनी जरूरत से ज्यादा पैदाइश जरूर करते हैं और इसलिए कुछ देशों से हमारी स्थिति कम बुरी है। अगर रोज-रोज शोषण न होता और आमदनी के 80 प्रतिशत सेना पर न खर्च होते तो हम सुखी हो सकते थे।

मुसोलिनी : (उसने गर्दन हिलाई) आपका कार्यक्रम क्या है?

गांधी : हमें सविनय कानून भंग का आंदोलन शायद शुरू करना पड़े।

मुसोलिनी : हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न का क्या होगा?

गांधी : हमें अपने रास्ते पर डटकर रहना पड़ेगा और किसी तरह समस्या सुलझानी ही होगी। आखिर हमारे यहां इस्लाम के कुछ उत्तम प्रतिनिधि हैं, जो कांग्रेस के लिए काम करते हैं। डॉ. अंसारी से बढ़कर आपको दुनिया में कोई नहीं मिलेगा। वे उस 'अंसार' परिवार के वंशज हैं, जिसने पैगंबर को मक्का छोड़ने के समय उनकी मदद की थी।

मुसोलिनी : आप मानते हैं कि आप सब एक हो सकेंगे?

गांधी : मुझे तनिक भी शंका नहीं है।

मुसोलिनी : हिन्दुस्तान के लिए आपको संपूर्ण स्वातंत्र्य चाहिए?

यहां 'संपूर्ण' शब्द बोलकर उसने आंखे झपकाई।

गांधी : हां, परन्तु इंग्लैंड से समान कक्षा पर हिस्सेदारी का उसमें विरोध नहीं है। अब तो इंग्लैंड भारत का शोषण कर रहा है। जब वह बंद होगा, तब उसके साथ हिस्सेदारी हो उसमें हमें कोई एतराज नहीं है।

मुसोलिनी : आप गणतंत्र का विचार कर रहे हैं क्या?

गांधी : हां, हमें लोकतंत्र चाहिए।

मुसोलिनी : सब राज्यों का एक प्रमुख हो ऐसा आप सोचते हैं?

गांधी : जी नहीं, हर एक वर्ग की ओर से चुने हुए प्रमुख हों, ऐसा चाहता हूं।

मुसोलिनी : साम्यवाद आपके देश में सफल हो सकता है ऐसा आप मानते हैं?

गांधी : नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता हूं।

मुसोलिनी : मेरा भी वही मत है। ..आप इंग्लैंड कितनी बार गए हैं? कितने महीने?

गांधी : दो महीने।

मुसोलिनी : इंग्लैंड में क्या स्थिति है?

गांधी : बुरी! जापान और आपका देश, उसके दो स्पर्धी हैं, उससे ज्यादा सफल हैं। इससे जो आर्थिक परिस्थिति पैदा हो रही है, उसका मुकाबला इंग्लैंड नहीं कर सकेगा। खासकर, आपका आर्ट सिल्क का माल उसमें सबसे ज्यादा रुकावट है।

मुसोलिनी : यूरोप की स्थिति के बारे में आपकी क्या राय है?

गांधी : मैं कब से जिस प्रश्न की राह देख रहा था वह प्रश्न आपने पूछा है। अब जैसे चल रहा है, वैसे नहीं चल सकेगा। उसे अपने आर्थिक जीवन का पूरा ढांचा बदलना होगा। उसे अपने मूल्यांकन मूलभूत तौर पर बदलने होंगे। इस इमारत पर वे मूल्य टिक नहीं सकते हैं, चाहे उसे बनाए रखने को कितने भी कदम उठाएं।

मुसोलिनी : पूर्व और पश्चिम का मेल नहीं हो सकता है क्या?

गांधी : क्यों नहीं! आज तक तो पश्चिम पूर्व का शोषण करता आया है। मगर जिस दिन वह पूर्व का शोषण बंद करेगा, उसी दिन सहकार संभव है।

मुसोलिनी : मैं भी ऐसा ही मानता हूं।

इस बातचीत के बाद मुसोलिनी गांधी को हॉल के बाहर तक छोड़ने आया।[49]

हालांकि द्वितीय विश्वयुद्ध रोका नहीं जा सका, जिसने गांधी को फिर काफी उद्वेलित किया। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद के अनुसार, 'गांधीजी के लिए यह बहुत कठिन समय था। गांधीजी देख रहे थे कि युद्ध पूरी दुनिया का विनाश कर रहा है और वे इसे रोकने के लिए कुछ नहीं कर पा रहे हैं। वे इतने व्यथित हो चुके थे कि कई मौकों पर उन्होंने आत्महत्या करने की भी बात कही। उन्होंने मुझसे कहा कि उनके पास युद्ध को रोकने की शक्ति नहीं है, लेकिन इससे लोगों को जो कष्ट पहुंच रहा है, कम-से-कम वह तो नहीं देखना पड़ेगा।[50]

द्वितीय विश्वयुद्ध से आहत गांधी ने हिटलर को एक और लंबा महत्वपूर्ण पत्र लिखा, लेकिन वह भी पहले संक्षिप्त पत्र की तरह ब्रिटिश हुकूमत द्वारा दबा दिया गया। गांधी का

मानना था, 'वायसराय समझते हैं कि मेरा वह पत्र सरकार के युद्ध संबंधी प्रयासों में बाधक सिद्ध होगा।'[51] गांधी ने 24 दिसम्बर, 1940 को हिटलर को लिखा:

> 'मैं किसी औपचारिकतावश आपको मित्र कहकर संबोधित नहीं कर रहा हूं। मैं किसी को अपना शत्रु नहीं मानता। पिछले 33 वर्षों से मेरे जीवन में एक ही काम रहा है: जाति, रंग या धर्म का भेद किए बिना मानव जाति को मित्र बनाकर सारी मानव जाति की मैत्री प्राप्त करना।
>
> मानव जाति का एक बहुत बड़ा भाग विश्व बंधुत्व के सिद्धांत से प्रभावित रहा है। मुझे आशा है, आपको यह जानने की इच्छा होगी और आपके पास इसके लिए समय भी होगा कि आपके कार्यों के बारे में मानव जाति का यह भाग क्या सोचता है। हमें आपकी वीरता या देशभक्ति में संदेह नहीं है, और न हम यही मानते हैं कि आपके विरोधी आपको जिस तरह राक्षस के रूप में चित्रित करते हैं आप वैसे हैं। किन्तु आपके अपने और आपके मित्रों और प्रशंसकों के लेखों और वक्तव्यों से इस बात में कतई संदेह नहीं रहता कि आपके बहुत से कार्य राक्षसी हैं और मनुष्य की गरिमा के योग्य नहीं हैं- खासकर मुझ जैसे विश्व मैत्री में विश्वास करने वाले लोगों की निगाह में तो वे ऐसे ही हैं। चेकोस्लोवाकिया का पद-दलन, पोलैंड पर बलात्कार और डेनमार्क को हड़पना- ये आपके कुछ ऐसे ही कार्य हैं। मैं जानता हूं कि आपके जीवन-दर्शन के अनुसार लूट-मार के ये काम सत्कार्य हैं। लेकिन हमें बचपन से यही सिखाया गया है कि ऐसे काम इंसान को उसकी इंसानियत से गिराते हैं। इसलिए हम आपकी फौजों की सफलता की कामना नहीं कर सकते।
>
> किन्तु हमारी स्थिति कुछ अनोखी है। हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भी उतना ही विरोध करते हैं जितना नाजीवाद का। अगर कुछ फर्क है तो मात्रा का। पूरी मानव जाति के पंचमांश को जिन तरीकों से ब्रिटेन के अधीन किया गया, वे गलत और निद्य तरीके थे। ब्रिटिश शासन का हम विरोध करते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम ब्रिटेन के लोगों को कोई नुकसान पहुंचाना चाहते हैं। हम उन्हें युद्ध क्षेत्र में पराजित करना नहीं चाहते, बल्कि उनका हृदय परिवर्तन करना चाहते हैं। हमारा विद्रोह ब्रिटिश शासन के विरुद्ध नि:शस्त्र विद्रोह है। हम उनका हृदय परिवर्तन कर सकें अथवा न कर सकें, लेकिन हम अपने अहिंसक असहयोग के जरिए उनके शासन को असंभव बना देने पर आमादा हैं। यह तरीका ऐसा है जो अचूक है। यह तरीका इस ज्ञान पर आधारित है कि कोई भी लुटेरा तब तक अपना इष्ट सिद्ध नहीं कर सकता जब तक उसे अपने शिकार हुए व्यक्ति की ओर से इच्छा या अनिच्छावश थोड़ा-बहुत सहयोग नहीं मिलता। हमारे शासक हमारी जमीन और हमारे शरीर पर अधिकार भले कर लें, किन्तु हमारी आत्मा पर अधिकार

नहीं कर सकते। हमारी जमीन और हमारे शरीर पर अधिकार वे तभी कर सकते हैं जब वे प्रत्येक भारतीय पुरुष, स्त्री और बच्चे का संपूर्ण नाश कर दें। यह सही है कि सभी लोग शायद ऐसी वीरता न दिखा सकें, और काफी आतंक द्वारा विद्रोह की कमर तोड़ी जा सकती है, लेकिन यह तर्क अप्रासंगिक होगा। कारण, यदि भारत में ऐसे स्त्री-पुरुष काफी बड़ी संख्या में मिल सकें जो घुटने टेकने के बजाय लुटेरों के प्रति बिना कोई द्वेष भाव रखे अपने प्राण न्यौछावर करने का तैयार हों, तो वे हिंसा के आतंक से स्वतंत्र होने का मार्ग दिखा देंगे। आप विश्वास करें कि आपको भारत में ऐसे स्त्री-पुरुष अप्रत्याशित रूप से बड़ी संख्या में मिलेंगे। वे पिछले 20 वर्षों से इसी चीज का प्रशिक्षण प्राप्त करते रहे हैं।

पिछले पचास सालों से हम ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने की कोशिश करते रहे हैं। स्वतंत्रता का आंदोलन जितना मजबूत इस समय है उतना पहले कभी नहीं था। सबसे शक्तिशाली राजनीतिक संगठन- मेरा अभिप्राय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से है-इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। अहिंसात्मक प्रयत्नों से हमें काफी कुछ सफलता प्राप्त हो चुकी है। ब्रिटिश सत्ता संसार की सबसे अधिक संगठित हिंसात्मक सत्ता है और इसका मुकाबला करने के लिए हम किसी सही उपाय की तलाश कर रहे थे। आपने उसी ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दी है। अब यह देखना है कि कौन ज्यादा सुसंगठित है- जर्मन सत्ता या ब्रिटिश सत्ता। हम जानते हैं कि ब्रिटिश सत्ता के पैरों तले रहने का हमारे लिए और दुनिया की गैर-यूरोपीय जातियों के लिए क्या मतलब है। लेकिन हम जर्मनों की मदद से ब्रिटिश शासन का अंत करना कभी नहीं चाहेंगे। हमें अहिंसा के रूप में एक ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई है जिसे यदि संगठित कर लिया जाए तो वह संसार भर की सभी प्रबलतम हिंसात्मक शक्तियों के गठजोड़ का मुकाबला कर सकती है। इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है। जैसा कि मैंने कहा, अहिंसात्मक तरीके में पराजय नाम की कोई चीज है ही नहीं। यह तरीका तो बिना मारे या चोट पहुंचाए 'करने या मरने' का तरीका है। इसका इस्तेमाल करने में धन की लगभग कोई जरूरत नहीं है और उस विनाश शास्त्र की सहायता की तो नहीं ही जिसे आपने पूर्णता के चरम बिंदु पर पहुंचा दिया। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि आप यह भी नहीं देख पाते कि विनाशकारी यंत्रों पर किसी का एकाधिकार नहीं है। अगर ब्रिटिश लोग नहीं तो कोई और देश निश्चय ही आपके तरीकों से ज्यादा बेहतर तरीका ईजाद कर लेगा और आपके ही तरीकों से आपको नीचा दिखाएगा। आप अपने देशवासियों के लिए कोई ऐसी विरासत नहीं छोड़ रहे हैं जिस पर उन्हें गर्व होगा। वे एक क्रूर कर्म की चर्चा करने में गर्व का अनुभव नहीं करेंगे, फिर भले ही वह कृत्य कितनी ही निपुणतापूर्वक नियोजित क्यों न किया गया हो।

अत: मैं मानवता के नाम पर आपसे युद्ध रोक देने की अपील करता हूं। आपके और ब्रिटेन के बीच जो विवाद के मुद्दे हैं यदि आप उन्हें किसी ऐसे अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के सामने रख दें जिसे आप और ब्रिटेन दोनों मिलकर पसंद करें, तो ऐसा करके आप कुछ खोएंगे नहीं। यदि आपको युद्ध में सफलता मिल जाती है तो इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि आपका पक्ष सही था। उससे केवल इतना ही सिद्ध होगा कि आपकी विनाश शक्ति अपेक्षाकृत ज्यादा प्रबल थी। इसके विपरीत, एक निष्पक्ष न्यायाधिकरण द्वारा किया गया फैसला यह सिद्ध करेगा कि कौनसा पक्ष न्याय पर था।

आप जानते हैं कि कुछ ही समय पहले मैंने मेरा अहिंसात्मक प्रतिरोध का तरीका अपनाने की हर ब्रिटेनवासी से अपील की थी। मैंने ऐसा इसलिए किया था कि अंग्रेज जानते हैं कि यद्यपि मैं विद्रोही हूं तो भी उनका मित्र हूं। आपके और आपके देशवासियों के लिए मैं अजनबी हूं। मैंने हर ब्रिटेनवासी से जो अपील की थी, वैसी अपील आपसे करने का साहस मुझ में नहीं है। ऐसी बात नहीं कि वह अपील आप पर भी उसी प्रभावकारी ढंग से लागू नहीं होगी जिस ढंग से अंग्रेजों पर होती है। बल्कि बात यह है कि मेरा मौजूदा प्रस्ताव कहीं ज्यादा सीधा-सादा है, क्योंकि वह ज्यादा व्यावहारिक और जाना-पहचाना है।

इस मौसम में, जब यूरोपवासियों के दिल शांति के लिए ललक रहे हैं, हमने खुद अपना शांतिपूर्ण संघर्ष भी स्थगित कर दिया है। क्या इस समय आपसे शांति के लिए कोशिश करने को कहना बहुत ज्यादा होगा? यह ऐसा समय है जिसका व्यक्तिगत रूप से आपके लिए भले ही कोई महत्व न हो, लेकिन करोड़ों यूरोपवासियों के लिए इसका बहुत महत्व है। मेरे कान करोड़ों मूक लोगों की पुकार सुनने के लिए अभ्यस्त हैं और मैं अपने इन्हीं कानों से करोड़ों यूरोपवासियों की शांति की मूक पुकार सुन रहा हूं। मैंने सोचा था कि आपके और श्री मुसोलिनी के नाम मैं एक संयुक्त अपील निकालूंगा। श्री मुसोलिनी से मैं गोलमेज सम्मेलन के एक प्रतिनिधि की हैसियत से अपनी इंग्लैंड यात्रा के अवसर पर रोम में मिला था। मैं आशा करता हूं कि मेरी इसी अपील को आवश्यक परिवर्तनों के साथ वे अपने नाम लिखी गई अपील समझेंगे।'[52]

गांधी के सत्य के प्रयोग में ब्रह्मचर्य का प्रयोग भी शामिल था। उनके जीवन से जुड़े इस अध्याय को लोगों ने विवादित बनाने की कोशिश की। गांधी का मानना कुछ अलग था:

'जैसे ईश्वर में आस्था आवश्यक है, वैसे ही ब्रह्मचर्य भी आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के बिना सत्याग्रही में तेज नहीं होगा; नि:शस्त्र होते हुए भी सारे संसार के सामने खड़े रहने की शक्ति नहीं होगी। भले ब्रह्मचर्य की जो व्याख्या मैंने

> की है, वह नहीं मानी जाए; भले ही ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वीर्य रक्षा माना जाए। स्वल्पाहार पर तथा बिना बाह्य उपचारों के जिसे जीवन निर्वाह करना है, उसके लिए वीर्य संग्रह के कार्य के अलावा कोई चारा नहीं है। मनुष्य की यह बड़ी से बड़ी पूंजी है। जो इसका संग्रह कर सकता है, वह नित्य नया बल उत्पन्न करता है। जो इसे जाने-अनजाने में खर्च कर डालता है, वह अंत में निवीर्य हो जाएगा। वीर्य रक्षा कैसे की जाए, इस पर अमल करें। जो आंख से अथवा स्पर्श से विलास करता है, वह वीर्य रक्षा कदापि नहीं कर सकता। जिसे छप्पन भोगों की आदत है, वह भी नहीं कर सकता। प्रवाह के विरुद्ध चलकर भी नहीं थकने का संकल्प जैसे व्यर्थ जाता है, वैसे ही वीर्य रक्षा के आधारभूत नियमों का अनादर करके वीर्य रक्षा की जो आशा की जाती है, वह भी व्यर्थ जाएगी। अधूरा प्रयत्न करने वाला अंत में उस व्यक्ति की अपेक्षा भी निर्बल सिद्ध होगा जो ब्रह्मचर्य पालन का आडम्बर नहीं रचता, लेकिन सीमित विषय भोग करता है। जो मन में विषयों का भोग करता है, उसकी तृप्ति तो कभी होती ही नहीं; इसलिए वह अंत में निकम्मा, मंद बुद्धि तथा पृथ्वी पर भार रूप हो जाता है। ऐसा आदमी कभी सत्याग्रही नहीं बन सकता।'[53]

गांधी का व्यवहार हर किसी को आश्चर्यचकित कर देता था। वे कब क्या सोच रहे हैं और क्यों सोच रहे हैं, यह वे ही जानते थे। एक बार गांधी से काफी देर तक बातचीत करने के बाद रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उनसे कहा, 'मैंने आपका बहुत समय बर्बाद कर दिया।' गांधी मुस्कुराते हुए बोले, 'नहीं तो, मैं तो बातचीत करते हुए भी लगातार सूत कातता रहा था। प्रतिदिन जितनी देर मैं सूत कातता हूं, यही सोचता रहता हूं कि मैं देश की संपदा में वृद्धि कर रहा हूं। यदि एक करोड़ व्यक्ति प्रतिदिन एक घंटा सूत कातें, तो देश के खजाने में रोज पचास हजार रुपए जमा हो सकते हैं। चरखे के कारण किसी व्यक्ति की रोजी नहीं मारी जाती।[54]

दक्षिण अफ्रीका में गांधी को जेल भिजवाने वाले जनरल स्मट्ज को गांधी ने अपने हाथों से बनी हुई चप्पल भेंट की थी। बाद में गांधी की सत्तरवीं वर्षगांठ पर जनरल स्मट्ज ने एक संदेश में लिखा था, 'जेल में गांधी ने मेरे लिए एक चप्पल बनवाकर भेजी थी, जिसे मैंने कई सालों तक पहनी, लेकिन मैं उनकी बराबरी करने के लायक नहीं हूं।'[55]

40 वर्षों तक अहिंसा धर्म का पालन करने के बाद 19 मार्च, 1929 को गांधी ने टौंगू (बर्मा) में अहिंसा को स्पष्ट किया, 'अहिंसा जगत की महान प्रचंड शक्ति है। यदि हम यह समझ लें तो नित्य पूर्व में उगने वाले सूर्य जैसी यह शक्ति है, यद्यपि इसका बल तो हजारों सूर्यों से अधिक है। यह अहिंसा सूर्य, प्रकाश, प्राण, शांति और सुख की किरणें अहर्निश बरसाती है। जहां अहिंसा का धर्म सर्वोपरि होगा वहां ईर्ष्या-द्वेष नहीं होगा, लोभ-मोह नहीं होगा, पाप नहीं होगा। अहिंसा के लिए प्राणी का प्राण नहीं लेना ही काफी नहीं है; लेकिन अपने भोजन और भोग के लिए प्राणी का प्राण लेना, सहन करना भी पाप है। अहिंसा के मंत्र

का अर्थ है: अभय मंत्र।'[56]

गांधी की अहिंसा यानी सब जगह फैला हुआ सर्वव्यापी प्रेम। किसी को नहीं मारना, यह तो अहिंसा है ही, लेकिन इतना ही बस नहीं। अहिंसा का मतलब है मनुष्य से लेकर छोटे जीव-जन्तुओं तक सब चीजों के लिए समभाव, बराबरी का, अपनेपन का भाव। तमाम खराब विचार हिंसा है। जल्दबाजी हिंसा है। झूठ बोलना हिंसा है। द्वेष-वैर-डाह हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जिस चीज की दुनिया को जरूरत है, उस पर कब्जा करना भी हिंसा है। मन, वचन और शरीर से किसी का भी, अपना या दूसरे का भला मानकर भी, किसी जीव को दु:ख नहीं देना अहिंसा है। जहां राग-द्वेष है वहां हिंसा है ही। अहिंसा एक सामाजिक धर्म है और सामाजिक धर्म के रूप में ही उसका पालन किया जा सकता है। गांधी के अनुसार:

> 'जो आदमी मरने से डरता है और जिसमें प्रतिरोध की शक्ति नहीं है, उसे हिंसा का पाठ नहीं पढ़ाया जा सकता। असहाय चूहे को हम सिर्फ इसलिए अहिंसक नहीं कह सकते क्योंकि वह हमेशा बिल्ली के मुंह का ग्रास बना रहता है। उसमें अगर ताकत होती तो वह उस हत्यारी बिल्ली को खुशी से खा जाता, लेकिन वह तो बिल्ली को देखकर भाग खड़ा होता है। हम उसे कायर नहीं कहते क्योंकि प्रकृति ने उसका स्वभाव ही ऐसा बनाया है कि वह इससे भिन्न व्यवहार नहीं कर सकता। अगर जो मनुष्य खतरा देखकर चूहे जैसा व्यवहार करता है, उसे कायर कहें तो ठीक ही है। उसके दिल में हिंसा और घृणा भरी हुई है और खुद मार खाए बिना अगर वह शत्रु को मार सके तो उसे मारना भी चाहता है। ऐसा मनुष्य अहिंसा से लाखों कोस दूर है।'[57]

गांधी की दृष्टि में अहिंसा एक विशेष दृष्टि थी। 1917 के मध्य में कोचरब में प्लेग फैल गया, जहां गांधी का आश्रम था। एक व्यापारी मित्र की मदद से वे जून, 1917 में आश्रम को साबरमती नदी किनारे ले गए। ये सांपों की बहुतायत वाली करीब 20 एकड़ जमीन थी, जहां न कोई घर था न ही कोई पेड़। आश्रमवासियों को कुछ समय के लिए टैंट में रहना था और टिन शेड के नीचे रसोई की व्यवस्था की गई। आश्रम का सामान्य नियम था कि सांपों को नहीं मारा जाए।[58]

गांधी ने सात सामाजिक पाप बताए थे। पहला सिद्धांत के बिना राजनीति, दूसरा कर्म के बिना धन, तीसरा बिना आत्मा के सुख, चौथा चरित्र के बिना धन, पांचवा नैतिकता के बिना व्यापार, छठा मानवीयता के बिना विज्ञान और सातवां त्याग के बिना पूजा। गांधी के अनुसार नैतिकता, अर्थशास्त्र, राजनीति और धर्म अलग-अलग इकाइयां हैं, पर सबका उद्देश्य एक ही है-सर्वोदय। ये सब यदि अहिंसा और सत्य की कसौटी पर खरे उतरते हैं, तभी अपनाने योग्य हैं। राजनीति यदि नैतिक आदर्शों पर नहीं टिकी है, तो वह पवित्र नहीं। राजनीति से मिली शक्ति का उद्देश्य है- जनता को हर क्षेत्र में बेहतर बनाना। तटस्थता, सत्य की खोज और नि:स्वार्थ भाव एक राजनेता के आदर्श होने चाहिए। वॉलेंटरी पॉवर्टी यानी स्वेच्छा से गरीबी

अपनाना और डी-पॉजेशन यानी निजी वस्तुओं का त्याग, राजनेता के लिए अनिवार्य कर्म है। धन बिना कर्म के मंजूर नहीं होना चाहिए, अनुचित साधनों से बिना परिश्रम से कमाया गया धन अस्तेय नहीं बल्कि चुराया हुआ धन है। अपने लिए जितना जरूरी हो, उतना रखकर शेष धन को जनता की अमानत समझकर न्यासी भाव से कल्याण के कार्यों में लगाना धनी व्यक्ति का कर्तव्य है। आत्मा के अभाव में सभी प्रकार के सुख सिर्फ भोग और वासना मात्र हैं। आत्मा से उनका अभिप्राय उस आंतरिक आवाज से है जो आत्म अनुशासन से सुनाई पड़ती है। यही गलत और सही का विवेक देती है। दूसरों को दु:ख देकर पाया गया सुख पाप है, अस्थाई है। यदि इस सुख को स्थाई बनाना है तो पहले मूलभूत सुखों से वंचित लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। मनुष्य का लक्ष्य पवित्र होते हुए भी ज्ञान के बिना गलत रास्तों पर चलने का खतरा रहता है। चरित्र पर कलंक लग जाता है। सुंदर चरित्र या व्यक्तित्व के बिना ज्ञानी भी कभी-कभी पापी की कोटि में आ जाता है। व्यापार में अक्सर नैतिकता को दरकिनार किया जाता है। व्यापारी निजी और पेशे की नैतिकता को अलग-अलग तत्व मानते हैं। जरूरत से ज्यादा नफा लेने वाला व्यक्ति यदि अपनी दुकान पर ग्राहक का छूट गया सामान लौटा देता है तो भी वह नीतिवान नहीं माना जाएगा। जमाखोर किसी डाकू से कम नहीं होते। पूजा त्याग के अभाव में कर्मकांड मात्र रह जाती है। धर्म आत्मविकास का साधन है। छोटे-छोटे स्वार्थों और आसक्तियों का त्याग धर्म को पूर्णता की ओर ले जाता है। दूसरे धर्मों के प्रति आदर और सहनशीलता का भाव अहिंसा और सत्य के पालन का ही एक रूप है। दूसरे के धर्म में दखल देना, दूसरे धर्मावलंबियों को चिढ़ाने और लड़ने के मौके ढूंढना पूजा की पवित्रता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं।[59]

दिसम्बर, 1946 के प्रथम सप्ताह में जब वायसराय तथा कांग्रेस और लीग के प्रतिनिधिमंडल लंदन में थे, अहमदाबाद में 37 घंटे का कर्फ्यू लगा था, बम्बई में छुरों के वारों का अंत नहीं होता दिखाई देता था और ढाका में साम्प्रदायिक उपद्रवों ने पुरानी बीमारी का रूप धारण कर रखा था।[60] दु:ख और दर्द की घटनाओं, परिवारों के समाप्त हो जाने, स्त्रियों के जबरन भगाए और बलात्कार किए जाने के इस दु:खद कांड के मध्य, जिससे संसार के मध्य होने वाले ऐसे सभी कांड छोटे जान पड़ते थे, आशा की केवल एक ही किरण दिखाई देती रही। बंगाल की दलदल से भरी भूमि में एक व्यक्ति 'अकेला, मित्रहीन और उदास' आगे बढ़ता हुआ दिखाई दिया, जो हजारों परिवारों द्वारा छोड़े हुए घरों को देखता हुआ आगे बढ़ता ही गया। इस व्यक्ति के हाथ में आशा और शांति की ज्योति थी। वह जनता से भय का त्याग करने और हृदय में विश्वास बनाए रखने का उपदेश करता। उस व्यक्ति को मानव स्वभाव की सतोगुणी प्रवृत्ति पर अगाध विश्वास था। उसका खयाल था कि अंत में प्रेम घृणा पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह असत्य के, अंधकार के मध्य प्रकाश की और मृत्यु के मध्य जीवन की ज्योति जगाए बढ़ा चला जा रहा था। गांधी ने कहा कि अपना विश्वास या उत्साह खोने से तो अच्छा पूर्वी बंगाल के दलदल में मर-खप जाना है। उनके हाथ में जगी हुई अहिंसा की ज्योति का प्रकाश दूर-दूर तक फैल रहा था, किंतु वे कायरता से हिंसा को अच्छा मानते थे। गांधी पूर्वी बंगाल में चट्टान की तरह अचल थे। उनके जैसा बनने के लिए असाधारण साहस

और आत्मविश्वास की आवश्यकता थी, गांधी के मित्र उनके उद्देश्य पर संदेह करते थे और शत्रु उन्हें ताने देते थे, लेकिन वे हमेशा शहीद बनने के लिए तैयार होकर मनुष्यमात्र में भाईचारे और सद्भावना का उपदेश देते थे– उन्हीं मनुष्यों के बीच जिन्हें परमात्मा ने एक बनाया था, लेकिन जो एक दूसरे से दूर होते जा रहे थे। ऐसा जान पड़ता था जैसे परमात्मा की सृष्टि की प्रत्येक वस्तु सुंदर है, केवल एक मनुष्य ही घृणित है।[61]

गांधी उन दिनों दिल्ली में थे। नोआखाली में स्त्रियों पर किए गए अत्याचारों के समाचारों ने उन्हें अत्यधिक व्यथित कर दिया। सारा कार्यक्रम रद्द करके वे वहां जाने को तैयार हुए। मित्रों ने उन्हें रोकना चाहा। उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। महत्वपूर्ण राजनीतिक मसलों पर परामर्श के लिए दिल्ली में उनकी आवश्यकता थी, परंतु गांधी ने किसी की नहीं सुनी। उन्होंने कहा, 'मैं नहीं जानता कि वहां जाकर क्या कर पाऊंगा, परंतु वहां गए बगैर मुझे शांति नहीं मिलेगी।'

दंगों से कलकत्ता की क्षत-विक्षत दशा देखकर बापू की छाती बैठने लगी थी। पूर्वी बंगाल में भय, घृणा और हिंसा का बोलबाला था। उन्होंने अपने एक वक्तव्य में कहा, 'मैं सच्चाई का पता नहीं लगा सकता। पारस्परिक अविश्वास की कोई सीमा नहीं है। पुराने रिश्ते और दोस्तियां सब खत्म हो गईं। साठ वर्ष तक मेरे जीवन के आधार बने रहने वाले सत्य और अहिंसा की जैसे आज समाप्ति हो गई! सत्य और अहिंसा से अधिक अपनी परीक्षा के लिए मैं श्रीरामपुर जा रहा हूं।'

गांधी ने अपने साथियों को, जो कि उनके साथ गए थे, गांवों में बिखेर दिया। अपने साथ प्रो. निर्मलकुमार वसु, परशुराम तथा मनु गांधी को रखा।[62]

उन्होंने कहा कि वे अपना खाना पकाएंगे और अपनी मालिश स्वयं करेंगे। मित्रों ने सलाह दी कि मुसलमानों से सुरक्षा के लिए पुलिस उनके साथ रहनी चाहिए और चिकित्सा तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से ' डॉ. सुशीला, प्यारेलाल, सुचेता कृपालानी, आभा और कनु सब एक-एक गांव में बैठ जाएं और अपने प्रेम के उदाहरण से वहां की हिंसा को निर्मूल करें।' प्यारेलाल मलेरिया के शिकार हो गए थे, उन्होंने गांव से गांधी को लिखकर पूछा कि क्या उनकी देखभाल के लिए वे अपनी बहन डॉ. सुशीला को बुला लें? गांधी ने लिखा, 'जो गांवों में जा रहे हैं, उन्हें इस इरादे से जाना चाहिए कि जीवित रहेंगे या मर जाएंगे। अगर वे बीमार पड़ते हैं, तो उन्हें वहीं अच्छा होना है या वहीं मरना है। तभी जाने का कुछ अर्थ होगा। व्यवहार में इसका मतलब यह होता है कि उन्हें गांव के उपचारों या प्रकृति के पंचतत्वों से संतुष्ट रहना चाहिए। डॉ. सुशीला के पास देखभाल के लिए अपना गांव है। उसकी सेवा अभी हमारे दल के सदस्यों के लिए नहीं है। वह पूर्वी बंगाल के ग्रामवासियों के लिए पहले से ही गिरवी रखी जा चुकी है।'

नोआखाली की यात्रा में गांधी उनचास गांवों में घूमे। गांव में पहुंचकर वे किसी ग्रामीण की झोपड़ी में और मुख्यत: किसी मुसलमान के यहां जाते और कहते हैं कि वह उनको और उनके साथियों को अपने यहां ठहरा लें। दुत्कारे जाने पर वे आगे की झोपड़ी में कोशिश करते। वे किसी फलों तथा सब्जियों पर, और मिल जाता तो बकरी के दूध पर निर्वाह करते। 7

नवम्बर, 1946 से 2 मार्च, 1947 तक उनका यही जीवनक्रम रहा। इस समय वे सतहत्तर वर्ष के हो चुके थे।

रास्ता चलने में बापू को कठिनाई होती थी। उनके पांवों में बिवाइयां फट गईं। परंतु वे चप्पल बहुत कम पहनते थे। नोआखाली का झगड़ा उनके कथनानुसार इसलिए पैदा हुआ था कि वे लोगों का अहिंसा के द्वारा इलाज करने में सफल नहीं हुए थे। इसलिए यह उनकी प्रायश्चित यात्रा थी और प्रायश्चित करने वाला यात्री जूते नहीं पहनता।

विरोधी लोग कभी-कभी रास्ते में कांच के टुकड़े, कांटे और मैला बिखेर देते। गांधी सबको बचाकर चलने का प्रयास करते। कितनी ही जगह दलदल पर बने बांसों और खपच्चियों से बने कमजोर पुलों को पार करके उन्हें जाना पड़ता। एक स्थान पर पांव फिसल जाने के कारण वे दलदल में गिरते-गिरते बचे। इस उम्र में इस प्रकार की यात्रा के लिए भी वे अभ्यस्त हो गए थे। नोआखाली यात्रा में दर्दनाक घटनाओं का एक जाल बिछा हुआ दृष्टिगोचर होता था।[63]

कई सभाओं में गांधी को ऐसे लोग मिले, जिन्होंने कई लोगों की हत्याएं की थीं। गांधी ने उन्हें समझाने की चेष्टा की और उन्हें माफ किया। उनकी शिष्या अमतुस्सलाम ने इस यात्रा में एक मुसलमान गांव में प्रायश्चितस्वरूप पच्चीस दिन का उपवास करके गांववालों का दिल बदल दिया। वे गांव-गांव घूमते रहे। यात्रा में उन्होंने लोगों को प्रभावित किया, मुसलमानों में सहानुभूति जाग्रत की और हिन्दुओं में साहस। स्त्रियों में आत्मविश्वास के भाव जाग्रत हुए।

2 मार्च को गांधी नोआखाली से बिहार के लिए रवाना हो गए। उन्होंने फिर किसी दिन आने का वादा किया। वापस आने का वादा इसलिए कि उनका मिशन अभी पूरा नहीं हुआ था। नोआखाली के हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचार का बदला बिहार ने मुसलमानों के साथ वही करके दिया। गांधी को इससे असहय वेदना हुई। उन्होंने नोआखाली जाते हुए कलकत्ता से ही बिहार के नाम एक संदेश भेजा, 'मेरे स्वप्नों के बिहार ने मुझे झूठा साबित कर दिया है। ऐसा न हो कि जिस बिहार ने कांग्रेस की प्रतिष्ठा बढ़ाने में इतना काम किया है, वही सबसे पहले उसकी कब्र खोदने वाला बन जाए।' इसके प्रायश्चितस्वरूप गांधी ने घोषणा की कि वे कम-से-कम भोजन करेंगे और यदि पथभ्रष्ट बिहारी लोग नया अध्याय न शुरू करेंगे तो यह आमरण उपवास बन जाएगा। गांधी की इस यात्रा का बिहार के देहाती क्षेत्र पर अच्छा असर पड़ रहा था। गांधी के कहने पर आजाद हिंद फौज के जनरल शाहनवाज बिहार ही रह गए थे। उन्होंने बताया कि डर से भागे हुए मुसलमान लोग अपने-अपने गांवों को लौट रहे हैं, हिन्दू तथा सिख उन्हें सहायता दे रहे हैं।[64]

गांधी ने कई दंगाग्रस्त गांवों का दौरा किया, बर्बादी और तबाही के दृश्य अपनी आंखों से देखे और जिन लोगों की जान बच गई थी उनकी जुबानी हत्या और संहार की गाथाएं सुनी। यद्यपि कुछ हिन्दुओं ने 'दंगे के वक्त मुसलमानों को शरण दी थी और अपनी जान को खतरे में डालकर उनकी हिफाजत की थी।' लेकिन बहुत से ऐसे हिन्दू भी थे जो मानते थे कि 'बिहार की इस मार-काट ने हिन्दुस्तान को बचा लिया।' गांधी ने इन लोगों को 'पागल' कहा और ऐसे व्यवहार को 'हिन्दुस्तान की आजादी को रोकने का तरीका' करार दिया।[65]

इस तरह के प्रयोग करते हुए सत्तर पार उम्र में भी खाने-पीने के तमाम परहेज और अल्प आहारी होने के बावजूद गांधी का शरीर सुगठित था। सीने के स्वस्थ पुट्ठे उभरे हुए, पतली कमर और लंबे-पतले मजबूत पैर, जो चप्पलों से धोती तक नग्न होते थे। उनके घुटनों की गांठें निकली हुई थीं और उनकी हड्डियां चौड़ी तथा मजबूत थीं। उनके हाथ बड़े-बड़े और अंगुलियां लंबी और सुदृढ़ थीं। उनकी चमड़ी कोमल, चिकनी और स्वस्थ थी। उनका शरीर बूढ़ा नहीं मालूम देता था। उनके बुढ़ापे का पता उनके सिर से लगता था। चाहे बात करते हों या सुनते हों, उनका चेहरा सजीव बना रहता था और उस पर तुरंत प्रतिक्रिया होती थी। बात करते समय वे प्रभावशाली ढंग से हाथों द्वारा भाव प्रदर्शित करते थे। गांधी के सामने जाने पर लगता कि एक तनाव रहित, प्रफुल्ल, बुद्धिमान और सभ्य व्यक्ति बैठे हैं। उनके व्यक्तित्व में चमत्कार था। अपने व्यक्तित्व के बल पर ही वे बिना संगठन और सरकार के सहारे अपना प्रभाव सुदूरवर्ती क्षेत्रों में छोड़ने में सफल थे। साध्य के ऊपर साधन की श्रेष्ठता। जिस संसार में सत्ता, धन और अहंकार के क्षयकारी प्रभाव के सामने टिकने वाले नहीं के बराबर हैं, गांधी एक उत्तम पुरुष थे। बिजली, रेडियो, नल या टेलीफोन से वंचित एक छोटे से भारतीय गांव की कुटिया में जमीन पर आधे से अधिक नंगे बैठे हुए। हर दृष्टि से वे जमीन के निकट थे।[66]

2 अक्टूबर 1947 को गांधी के अठहत्तरवें जन्मदिन पर जब दुनिया भर से उन्हें बधाई संदेश प्राप्त हो रहे थे, तब गांधी ने कहा, 'अच्छा होता कि बधाई के बजाय सांत्वना प्राप्त होती। मैं दंगों की इस आग के बीच अब एक और जन्मदिन नहीं चाहता। मैं विनाश के दृश्य असहाय होकर नहीं देख सकता।'[67]

आखिरी 24 घंटे में भी वे भारत के भविष्य को लेकर चिंतित थे, जबकि वे दिन विवादों और निराशा से भरे थे। 29 जनवरी को अमेरिका की एक रिपोर्टर ने उनसे पूछा कि क्या वे 125 वर्ष जीने की इच्छा पर दृढ़ हैं, तो गांधी ने जवाब दिया, 'मैं दुनिया के भयावह हालात से वह उम्मीद छोड़ चुका हूं। मैं अंधकार में नहीं जीना चाहता।' उसी दौरान पाकिस्तान से आए हुए कुछ नेत्रहीन गांधी से मिलने आए। वे अपनी करुण कहानी बड़ी ही नाराजगी और आवेश से सुना रहे थे। एक बूढ़े नेत्रहीन ने गांधी को हिमालय चले जाने को कहा। गांधी ने जरा बड़े स्वर में कहा, 'मेरा हिमालय तो यहां है। आपकी सेवा करते-करते मरना ही मेरे लिए हिमालय जाने जैसा है।'[68]

गांधी को इन लोगों की बात इतनी चुभ गई कि प्रार्थना से उठते हुए उन्होंने मनु गांधी से कहा, 'इसे एक नोटिस ही समझ। जो लोग मेरे एक-एक बोल को झेल लेते थे, सिर चढ़ाते थे, वे ही आज मुझे हिमालय जाने के लिए कह रहे हैं। इन दु:खी भाइयों की हृदय की चीत्कार ईश्वर की आवाज ही समझ।' गांधी का उस दिन का प्रवचन आखिरी प्रवचन बन गया। उस प्रवचन में भी उन पर शरणार्थी की हिमालय वाली बात हावी रही। उन्होंने स्पष्ट किया, 'आप क्यों नहीं मानते हैं कि मैं आपका दु:ख नहीं जानता, आपके दु:खों में हिस्सा नहीं लेता, हिन्दुओं और सिखों का मैं दुश्मन हूं और मुसलमानों का दोस्त?' ..मैं कैसे भाग सकता हूं? किसी के कहने से मैं खिदमतगार नहीं बना हूं। ईश्वर की इच्छा से जो बना हूं, बना हूं। उसे जो करना होगा, करेगा। ईश्वर चाहे तो मुझे मार सकता है।'

इसके बावजूद गांधी उम्मीदों से भरे थे। उन्होंने उस प्रवचन में कहा, 'मेरी चले तो हमारा गवर्नर जनरल किसान होगा। ..हिन्दुस्तान का सचमुच राजा तो वही है। लेकिन आज हम उसे गुलाम बनाए हुए हैं। आज किसान क्या करे.. क्या एम.ए., बी.ए. बने, ऐसा किया तो किसान मिट जाएगा। जो आदमी अपनी जमीन से पैदा करता है और खाता है, वही जनरल बने, प्रधान बने तो हिन्दुस्तान की शक्ल ही बदल जाएगी।'[69]

इसके बाद गांधी कांग्रेस के लिए पथ प्रदर्शन लिखने बैठे। रात को अत्यंत थके होने के बावजूद कांग्रेस संविधान का मसविदा पूरा करके छोड़ा। यह उनका अंतिम लेख था। इसलिए इसे उनका आखिरी वसीयतनामा कहा जाता है, देश का बंटवारा होते हुए भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा मुहैया किए गए साधनों के जरिए हिन्दुस्तान को आजादी मिल जाने के कारण मौजूदा स्वरूप वाली कांग्रेस का काम अब खत्म हुआ, यानी प्रचार के वाहन और धारा सभा की प्रवृत्ति चलने वाले तंत्र के नाते उसकी उपयोगिता अब समाप्त हो गई है। शहरों और कस्बों से भिन्न उसके सात लाख गांवों की दृष्टि से हिन्दुस्तान की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है। लोकशाही के मकसद की तरफ हिन्दुस्तान की प्रगति के दरमियान फौजी सत्ता पर मुल्क की सत्ता को प्रधानता देने की लड़ाई अनिवार्य है। कांग्रेस को हमें राजनीतिक पार्टियों और सांप्रदायिक संस्थाओं के साथ की गंदी होड़ से बचाना चाहिए। इन और ऐसे ही दूसरे कारणों से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी नीचे दिए हुए नियमों के मुताबिक अपनी मौजूदा संस्था को तोड़ने और लोकसेवक संघ के रूप में प्रकट होने का निश्चय करे। जरूरत के मुताबिक इन नियमों में फेरबदल करने का संघ को अधिकार रहेगा।

गांववाले या गांववालों जैसी मनोवृत्ति वाले पांच वयस्क पुरुषों या स्त्रियों की बनी हुई प्रत्येक पंचायत इकाई बनेगी। पास-पास की ऐसी हर दो पंचायतों की, उन्हीं में से चुने हुए एक नेता की रहनुमाई, एक काम करने वाली पार्टी बनेगी।

जब ऐसी 100 पंचायतें बन जाएं, तब पहले दर्जे के पचास नेता अपने में से दूसरे दर्जे का एक नेता चुनें और इस तरह पहले दर्जे के नेता दूसरे दर्जे के नेता के मातहत काम करें। दो सौ पंचायतों की ऐसी समानांतर समूह रचना तब तक जारी रखी जाए, जब तक कि वे पूरे हिन्दुस्तान को अपने में समा न लें। और, बाद में कायम की गई पंचायतों का प्रत्येक समूह पहले की तरह दूसरे दर्जे का नेता चुनता जाए। दूसरे दर्जे के नेता सारे हिन्दुस्तान के लिए सम्मिलित रीति से काम करें और अपने प्रदेशों में अलग-अलग काम करें। जब जरूरत मालूम हो तब दूसरे दर्जे के नेता अपने में से एक मुखिया चुनें; और, वह मुखिया, चुनने वाले चाहें तब तक, सब समूहों को व्यवस्थित करके उनकी रहनुमाई करे।

(प्रांतों या जिलों की अंतिम रचना अभी तय नहीं होने से सेवकों के इस समूह को प्रांतीय या जिला समितियों में बांटने की कोशिश नहीं की गई है। और, किसी भी वक्त बनाए हुए समूह या समूहों को सारे हिन्दुस्तान में काम करने का अधिकार रहेगा। सेवकों के इस समुदाय को अधिकार या सत्ता अपने उन स्वामियों से यानी सारे हिन्दुस्तान की प्रजा से मिलती है, जिसकी उन्होंने अपनी इच्छा से और होशियारी से सेवा की है।)

1. प्रत्येक सेवक अपने हाथ-कते सूत की या चरखा संघ द्वारा प्रमाणित खादी हमेशा

पहनेगा और नशीली चीजों से दूर रहेगा। अगर वह हिन्दू है तो उसे अपने में से और अपने परिवार में से हर किस्म की छुआछूत दूर करनी चाहिए और जातियों के बीच एकता के, सब धर्मों के प्रति समभाव के और जाति, धर्म या स्त्री-पुरुष के किसी भेदभाव के बिना सबके लिए समान अवसर और समान दर्जे के आदर्श में विश्वास रखने वाला होना चाहिए।

2. अपने कार्यक्षेत्र में उसे प्रत्येक गांववाले के निजी संपर्क में रहना चाहिए।

3. वह गांववालों में से कार्यकर्ता चुनेगा और उन्हें तालीम देगा। इन सबका वह एक रजिस्टर रखेगा।

4. वह अपने रोजाना के काम का लेखा रखेगा।

5. वह गांवों को इस तरह संगठित करेगा कि वे अपनी खेती और गृह उद्योगों द्वारा स्वयंपूर्ण और स्वावलंबी बनें।

6. गांववालों को वह सफाई और तंदुरुस्ती की तालीम देगा और उनकी बीमारी व रोगों को रोकने के लिए सारे उपाय काम में लाएगा।

7. हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की नीति के मुताबिक नई तालीम के आधार पर वह गांववालों की जन्म से मृत्यु तक की सारी शिक्षा का प्रबंध करेगा।

8. जिनके नाम मतदाताओं की सरकारी सूची में नहीं आ पाए हों, उनके नाम वह उसमें दर्ज कराएगा।

9. जिन्होंने मत देने के अधिकार के लिए कानूनी सहायता अभी हासिल नहीं की हो, उन्हें ऐसी योग्यता हासिल करने के लिए वह प्रोत्साहन देगा।

10. ऊपर बताए हुए और समय-समय पर बढ़ाए जाने वाले उद्देश्यों को पूरा करने के लिए, कर्तव्य का समुचित पालन करने की दृष्टि से, संघ के द्वारा तैयार किए गए नियमों के अनुसार वह स्वयं तालीम लेगा और योग्य बनेगा।

संघ नीचे की स्वाधीन संस्थाओं को मान्यता देगा :

1. अखिल भारत चरखा संघ
2. अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ
3. हिन्दुस्तानी तालीमी संघ
4. हरिजन सेवक संघ
5. गोसेवा संघ

संघ अपना मकसद पूरा करने के लिए गांववालों से और दूसरों से चंदा लेगा। गरीब लोगों का पैसा इकट्ठा करने पर वह खास जोर देगा।'[70]

45-50 किलोग्राम वजन, 5 फुट 4 इंच लंबाई और अत्यंत साधारण मानी जा सकने वाली कृशकाय देह में दृढ़ता, बुद्धिमत्ता, संयम, नीति, साहस, चातुर्य और कर्मठता का समावेश था। इसी दिव्य शक्ति के बल पर उन्होंने सूर्य नहीं छिपने वाले ब्रिटिश साम्राज्य से बौद्धिक लोहा लिया और भारत की गुलामी समाप्त करने में अभूतपूर्व योगदान दिया।[71] आने वाली पीढ़ियां शायद ही भरोसा करेंगी कि हाड़-मांस से बना हुआ कोई ऐसा व्यक्ति भी धरती पर चलता-फिरता था।[72] गांधी के व्यक्तित्व में राजनेता, समाजसुधारक, वक्ता, लेखक, शिक्षक, मानवतावादी, विश्ववादी और सत्यान्वेषक सभी का समावेश हो गया था। वे हमेशा अपने अंत:करण के अनुसार ही कार्य करते रहे।[73]

संदर्भ सूची

1. अल्बर्ट आइन्स्टाइन का आलेख/ डॉ. एस. राधाकृष्णन: गांधी अभिनंदन ग्रंथ, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, पृष्ठ 84
2. नेलसन मंडेला: मेरा जीवन बातों-बातों में, ओरिएंट पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ 61
3. कुसुम देशपांडे: विनोबा अंतिम पर्व, परमधाम प्रकाशन, वर्धा, 2010, पृष्ठ 480
4. सुशीला नैयर: बापू की कारावास कहानी, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ 13
5. मोहनदास करमचंद गांधी: दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 9-10
6. जे.बी. कृपलानी: गांधी मार्ग, साधना-सदन, इलाहाबाद, 1948, पृष्ठ 88-89
7. मोहनदास करमचंद गांधी: हिंद स्वराज, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, 2018, पृष्ठ 53
8. कनकमल गांधी: बापू कुटी-सेवाग्राम आश्रम, गांधी सेवा संघ, सेवाग्राम-वर्धा, 2016, पृष्ठ 65
9. वही, पृष्ठ 68
10. वही, पृष्ठ 71-72
11. वही, पृष्ठ 77-78
12. हरिजन, मई, 1930
13. कनकमल गांधी: बापू कुटी-सेवाग्राम आश्रम, गांधी सेवा संघ, सेवाग्राम-वर्धा, 2016, पृष्ठ 207-208
14. कमलापति त्रिपाठी: बापू और भारत, सरस्वती मंदिर, बनारस, 1948, पृष्ठ 230-231
15. वही, पृष्ठ 231-232
16. वही, पृष्ठ 236-238
17. वही, पृष्ठ 240
18. जे.सी. कुमारप्पा: गांधी अर्थ विचार, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 2010, पृष्ठ 6
19. संपूर्ण गांधी वांगमय-21, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1967, पृष्ठ 136
20. वियोगी हरि: बापू की ऐतिहासिक यात्रा, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 3
21. वही, पृष्ठ 12
22. वही, पृष्ठ 27
23. वही, पृष्ठ 47
24. संपूर्ण गांधी वांगमय-55, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1973, पृष्ठ 162
25. कनकमल गांधी: बापू कुटी-सेवाग्राम आश्रम, गांधी सेवा संघ, सेवाग्राम-वर्धा, 2016, पृष्ठ 455-456
26. वही, पृष्ठ 466-467
27. जानकी देवी बजाज: मेरी जीवन यात्रा, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 136-138
28. हरिजन, 11 मई, 1935
29. नवजीवन, 5 सितम्बर, 1926
30. मोहनदास करमचन्द गांधी: हिन्द स्वराज, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1949, पृष्ठ 8
31. नवजीवन, 20 मार्च, 1930
32. मोहनदास करमचंद गांधी: सर्वोदय, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ 25
33. महादेव देसाई: गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-5, सर्वसेवा संघ, वाराणसी, 2011, पृष्ठ 138-142
34. वही, पृष्ठ 143
35. महादेव देसाई: गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-8, सर्वसेवा संघ, वाराणसी, 1970, पृष्ठ 109
36. महादेव देसाई: गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-6, सर्वसेवा संघ, वाराणसी, 1968, पृष्ठ 112
37. वही, पृष्ठ 146
38. महादेव देसाई: गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-5, सर्वसेवा संघ, वाराणसी, 2011, पृष्ठ 142

39. महादेव देसाई: गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-7, सर्व सेवा संघ, वाराणसी, 1969, पृष्ठ 80-82
40. वही, पृष्ठ 58
41. महात्मा गांधी: मेरे समकालीन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1951, पृष्ठ 621
42. महादेव भाई की डायरी, गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-8, 1927, पृष्ठ 134
43. वही, पृष्ठ 138
44. कुसुम देशपांडे: विनोबा अंतिम पर्व, परमधाम प्रकाशन, ग्राम सेवा मंडल, पवनार, वर्धा, पृष्ठ 468
45. महात्मा गांधी: मेरे समकालीन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1951, पृष्ठ 419
46. वही, पृष्ठ 420-421
47. वही, पृष्ठ 16
48. नारायण देसाई: अग्निकुंड में खिला गुलाब, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990, पृष्ठ 663
49. वही, पृष्ठ 661-664
50. मौलाना अबुल कलाम आजाद: इंडिया विन्स फ्रीडम, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 32
51. संपूर्ण गांधी वांगमय-73, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ 314
52. संपूर्ण गांधी वांगमय-74, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1981, पृष्ठ 275-277
53. संपूर्ण गांधी वांगमय-73, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ 75-76
54. अनु बंद्योपाध्याय: बहुरूपी गांधी, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, 1971, पृष्ठ 61
55. वही, पृष्ठ 20
56. महादेव देसाई: गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-10, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1973, पृष्ठ 328-329
57. कनकमल गांधी: बापू कुटी-सेवाग्राम आश्रम, गांधी सेवा संघ, सेवाग्राम, 2016, पृष्ठ 451
58. डी.जी. तेंदुलकर: महात्मा-1, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1954, पृष्ठ 326
59. यंग इंडिया, 22 अक्टूबर, 1925
60. डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामैय्या: कांग्रेस का इतिहास-3, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958, पृष्ठ 371
61. वही, पृष्ठ 372
62. हरिभाऊ उपाध्याय: बापू कथा, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 2014, पृष्ठ 216
63. वही, पृष्ठ 217
64. वही, पृष्ठ 218
65. संपूर्ण गांधी वांगमय-87, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1998, भूमिका पृष्ठ 6
66. लुई फिशर: गांधी की कहानी, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1954, पृष्ठ 136-138
67. जे.बी. कृपलानी: गांधी-अ लाइफ, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1968, पृष्ठ 193
68. मनु बहन गांधी: बापू की अंतिम झांकी, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 2014, पृष्ठ 226-228
69. वही, पृष्ठ 230-232
70. हरिजन, 22 फरवरी, 1948, पृष्ठ 49-50
71. डॉ. एस. राधाकृष्णन: महात्मा गांधी-100 वर्ष, सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, वाराणसी, 1969, पृष्ठ 98-99
72. अल्बर्ट आइन्स्टाइन: आउट ऑफ माय लेटर ईयर्स, फिलॉसोफिकल लाइब्रेरी, न्यूयॉर्क, 1950, पृष्ठ 40
73. डॉ. एस. राधाकृष्णन: महात्मा गांधी-100 वर्ष, सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, वाराणसी, 1969, पृष्ठ 98-99

गांधी दृष्टि : सात घनघोर पाप

- काम के बिना धन
- अंतरात्मा के बिना सुख
- मानवता के बिना विज्ञान
- चरित्र के बिना ज्ञान
- सिद्धांत के बिना राजनीति
- नैतिकता के बिना व्यापार
- त्याग के बिना पूजा

करमचंद गांधी

पुतलीबाई

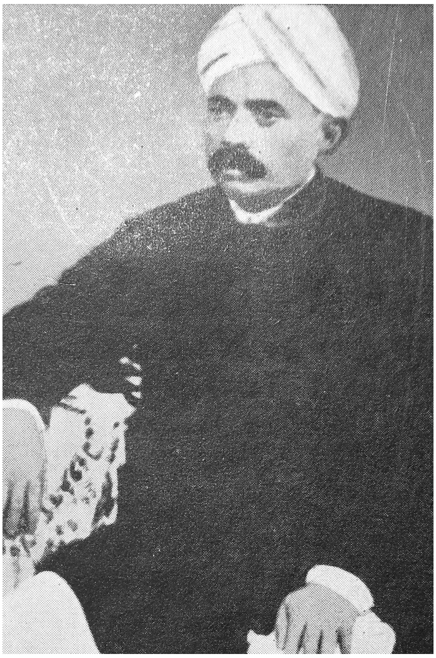

भ्राता लक्ष्मीदास

बहन रलियत

पोरबंदर (सुदामापुरी) के कक्ष में स्वास्तिक, मोहन का जन्मस्थान

कस्तूरबाई अपने पुत्रों हरिलाल, मणिलाल, रामदास और देवदास के साथ

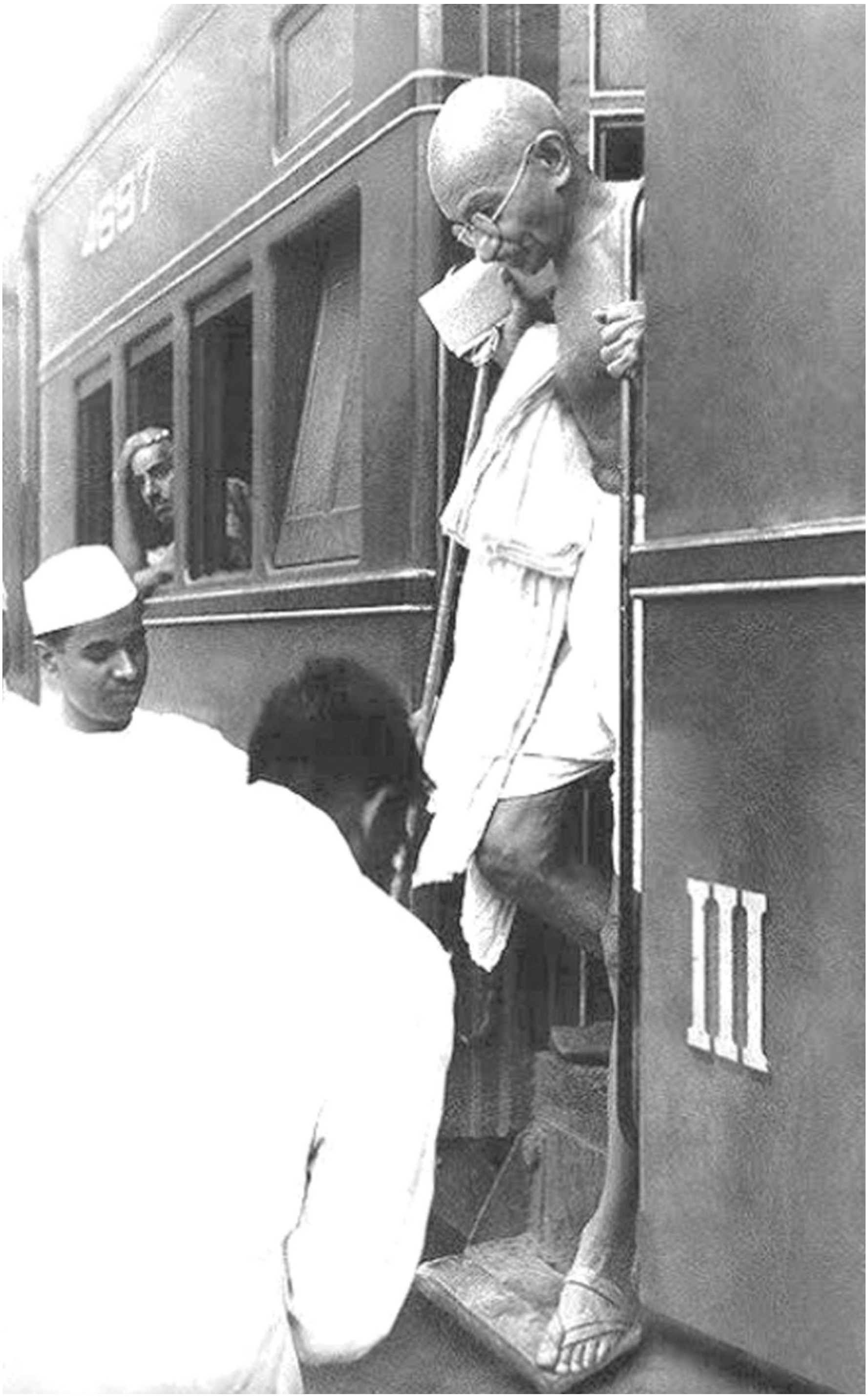

तीसरे दर्जे की यात्रा ने गांधी को पहुंचाया जन-जन के मन तक

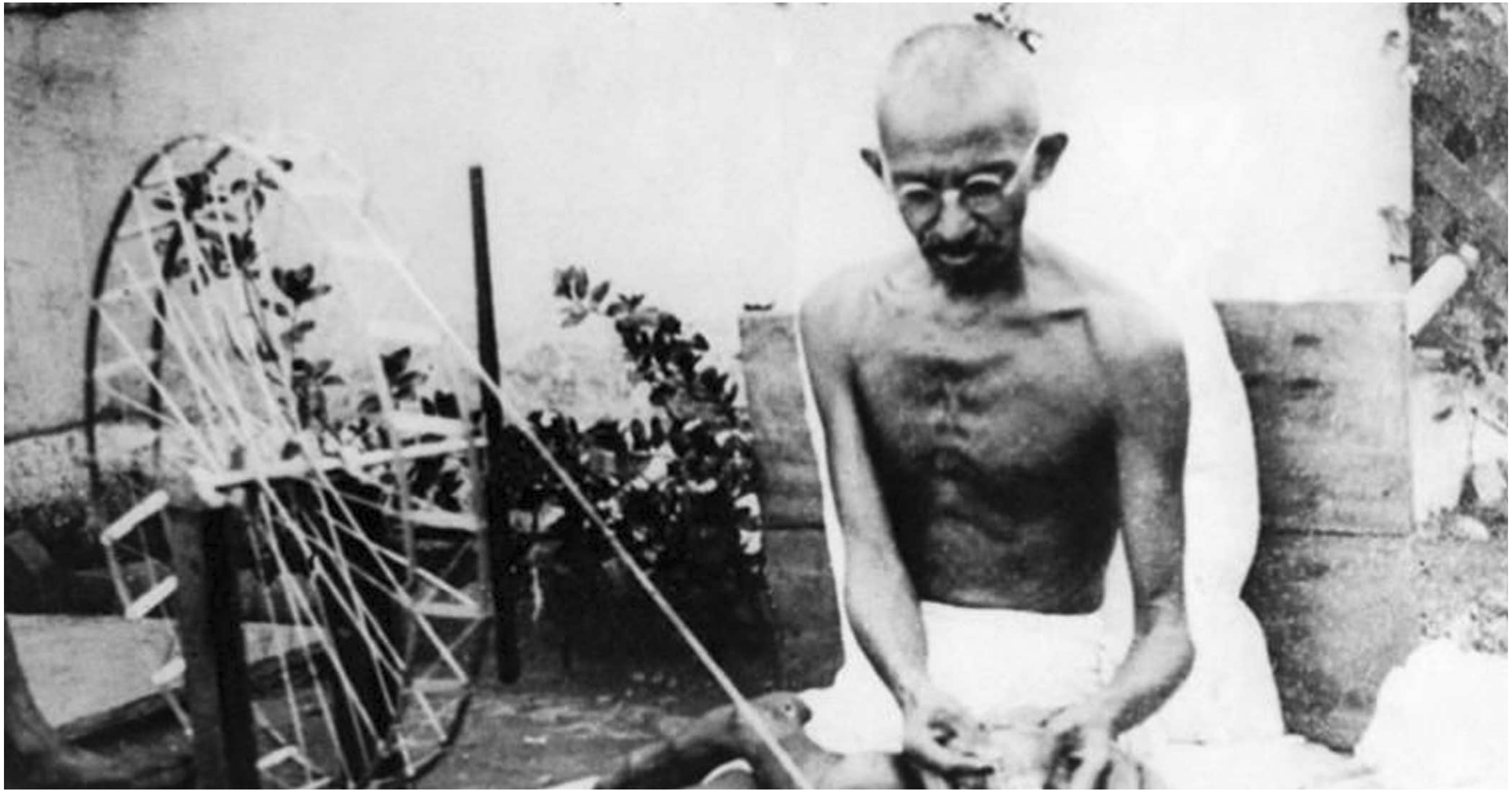

चरखे और खादी को आजादी प्राप्त करने के अहिंसक अस्त्रों में बदल डाला

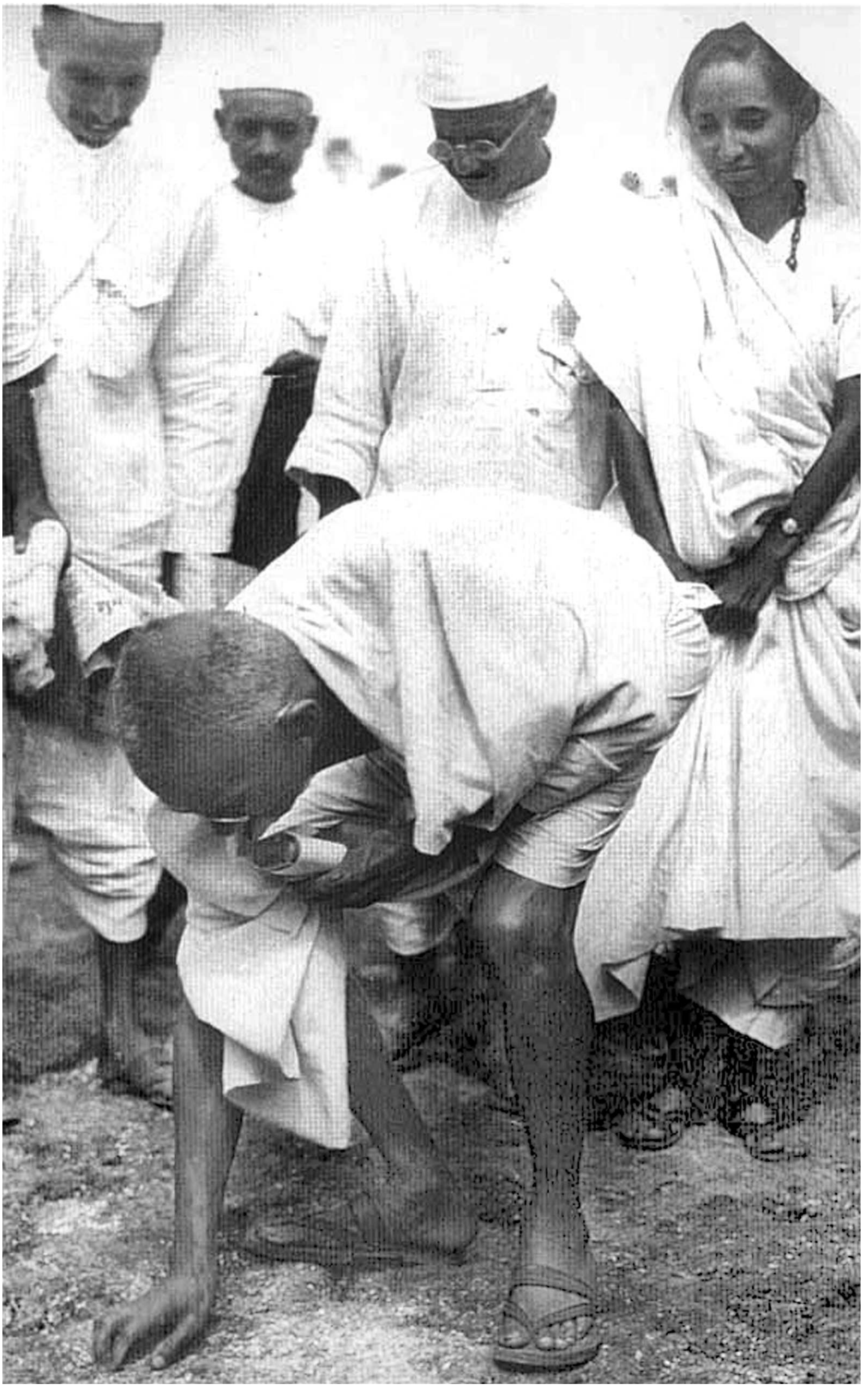

नमक कानून तोड़कर ब्रिटिश सत्ता को सीधी चुनौती, 6 अप्रेल, 1930

हरिपुरा अधिवेशन में गांधी, जमलाल बजाज, सुभाषचंद्र बोस और वल्लभभाई पटेल, 1938

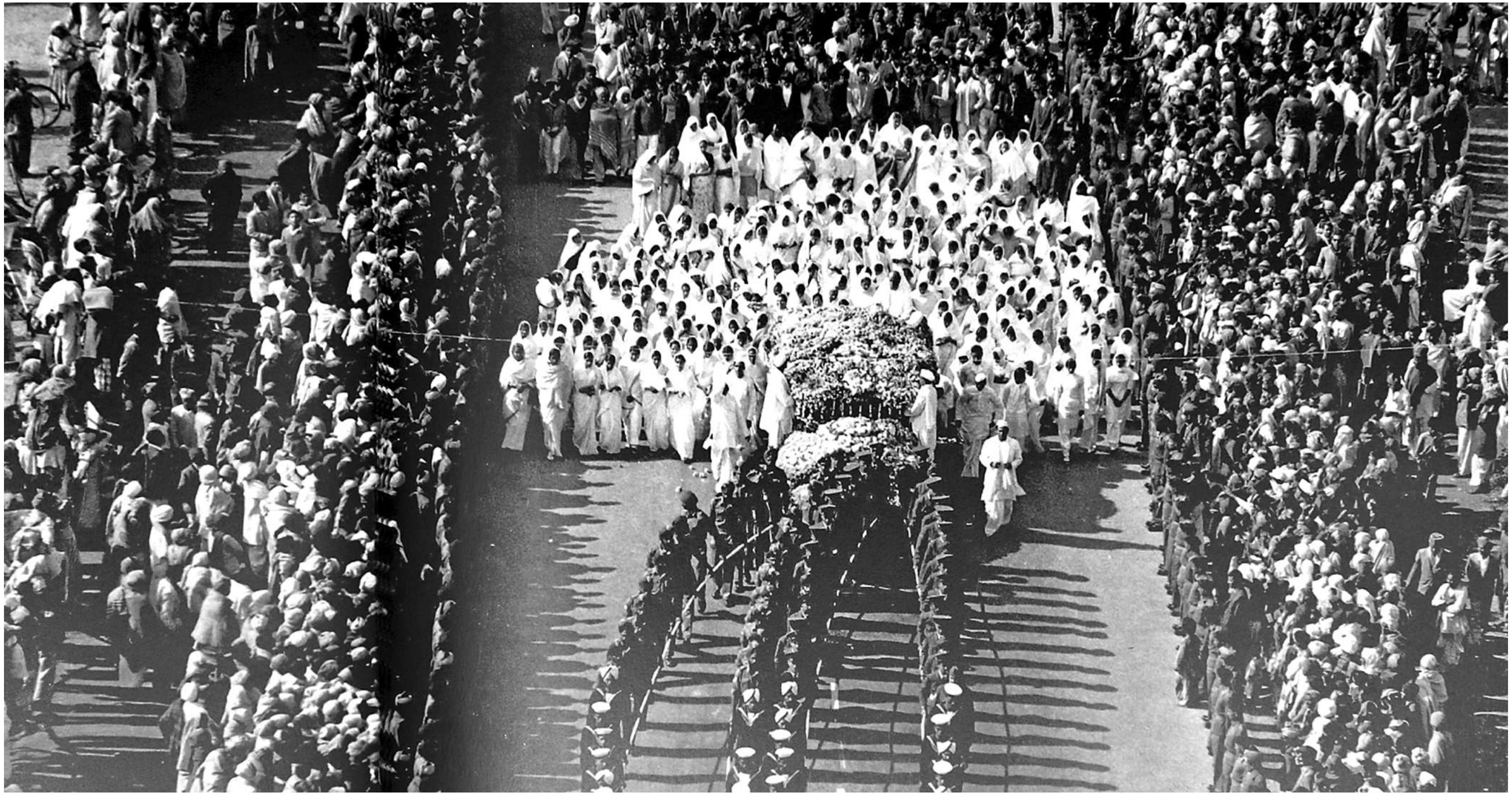

गांधी की हत्या पर शोकमग्न हो उठा सारा राष्ट्र, अंत्येष्टि स्थल की ओर उमड़ पड़ा जनसागर

3

जयपुर में मोहनदास

जयपुर अद्भुत जगह है। कलकत्ते के म्यूजियम से अल्बर्ट म्यूजियम की इमारत बहुत ज्यादा अच्छी है और उसका कला विभाग स्वत: अध्ययन की चीज है। ऐसा मालूम होता है कि जयपुर की चित्रकला अपने योग्य बंगाली अधीक्षक के अधीन खूब फल-फूल रही है।

–मोहनदास करमचंद गांधी

24 फरवरी, 1902 को मोहनदास करमचंद गांधी का जयपुर आगमन[1] उनके भारत को देखने, समझने, सुधार की रूपरेखा बनाने और क्रियान्वयन का एक महत्वपूर्ण कदम था। यह सिर्फ भारत के उभरते हुए विख्यात नगर का पर्यटन भर नहीं था, बल्कि दिल में गहरे तक बैठी अपने देश के प्रति ललक थी। इसी के कारण दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए उन्हें उनका देश आमंत्रित करता। वे दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले हजारों भारतीयों की समस्या के निराकरण के लिए अपना जीवन दांव पर लगाए हुए थे; लेकिन भारत के जो करोड़ों लोग गुलामी की पीड़ा भुगतने को मजबूर थे, वे भी नितांत उनके अपने थे और उनका रहन-सहन, तौर-तरीका, राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक व्यवहार समझकर ही समाधान के रास्ते पर चला जा सकता था। भारतीयों की एक और सोच समझी जानी जरूरी थी, जिसके आधार पर भारत के लिए उपयुक्त प्रयोग किए जा सकते थे। गांधी ज्यों-ज्यों दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ अन्याय देखते; उनकी भारत के प्रति आत्मीयता और बढ़ती चली जाती। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा, 'मैंने देखा कि दक्षिण अफ्रीका में बैठा-बैठा कुछ सेवा तो अवश्य कर सकूंगा, लेकिन वहां मेरा मुख्य धंधा कमाना ही हो जाएगा।'[2]

इसी के कारण दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारों के लिए संघर्षरत गांधी प्रारंभ से भारत के घटनाक्रम पर पूरी नजर रखे हुए थे। कांग्रेस के वरिष्ठतम नेता और 1886 तथा 1893 के कांग्रेस अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी को गांधी लगातार पत्र लिख रहे थे। 5 जुलाई, 1894 को गांधी ने नौरोजी को डरबन से पत्र लिखा, 'नेटाल की पहली संसद प्रमुखत: एक भारतीय संसद ही रही। वह अधिकांशत: भारतीयों पर असर डालने वाले कानून बनाने में व्यस्त रही। ये कानून किसी भी तरह प्रवासी भारतीयों के अनुकूल नहीं हैं। गांधी ने इस विधेयक में निहित नेटाल की पहली संसद के मंतव्य को स्पष्ट लिखा, 'हम नहीं चाहते कि भारतीय यहां रहें। मजदूर हम जरूर चाहते हैं, पर यहां वे गुलाम बनकर ही रहेंगे।' इस संबंध में उन्होंने नौरोजी से निवेदन किया, 'हमारा आपसे विनम्र अनुरोध है कि आप इस पर पूरा-पूरा ध्यान

दें और आपका जो प्रभाव हमेशा भारतीयों के पक्ष में आया है, चाहें आप कहीं भी क्यों न हों, उसका आप पूरा उपयोग करें।' गांधी ने खुद को अनुभवहीन मानते हुए गलतियों की संभावना व्यक्त करते हुए नौरोजी से मार्गदर्शन चाहा। 25 वर्ष से कम आयु के नौजवान बैरिस्टर गांधी के लिए 69 वर्षीय बुजुर्ग नेता नौरोजी को यह लिखना सिर्फ विनम्रता का प्रतीक ही नहीं था, 'मैं आपके सुझावों को वैसे ही स्वीकार करूंगा, जैसे कोई पुत्र अपने पिता के सुझावों को'[3], बल्कि यह गांधी की गहन दूरदृष्टि का भी परिचायक था। गांधी ने 14 जुलाई, 1894 को दादाभाई नौरोजी को पुनः एक पत्र लिखते हुए यह चिंता व्यक्त की कि 10,000 भारतीयों के हस्ताक्षर से युक्त विधेयक गवर्नर की स्वीकृति के पश्चात कानून बन गया तो अब से 10 वर्ष बाद उपनिवेश में भारतीयों की स्थिति दयनीय हो जाएगी।[4] गांधी डरबन से नौरोजी को एक-एक घटना, उपलब्धि, चिंताओं और सहायता की जरूरत से अवगत करवाते रहे। इसी बीच, गांधी को अखबारों से पता चला कि ब्रिटिश सम्राज्ञी ने मताधिकार विधेयक का निषेध कर दिया है। उन्होंने पत्रों की श्रृंखला में 25 जनवरी, 1895 को एक और पत्र नौरोजी को लिखा। इसमें जानना चाहा कि क्या वे इसके बारे में कुछ बता सकते हैं क्योंकि सरकार चुप है। साथ ही, लिखा, 'आपने प्रवासी भारतीयों की ओर से जो कष्ट उठाया, उसके लिए वे आपको और कांग्रेस कमेटी को जितना भी धन्यवाद दें, थोड़ा ही होगा।'[5]

आश्चर्यजनक रूप से उस दौरान गांधी ने जिन दूसरे नेता से संपर्क साधा, वे महाराष्ट्र के प्रखर नेता बालगंगाधर तिलक थे। हालांकि यह संपर्क हो नहीं पाया। गांधी ने तिलक को छपी हुई, 'दक्षिण अफ्रीका के प्रत्येक भारतीय को अपील' भेजी। लेकिन वह गलत पता लिखा होने से बालगंगाधर तिलक को पुणे में मिलने की बजाय बम्बई के 92, कालबा देवी रोड की फर्म एस.एम. तिलक एंड कंपनी के पास पहुंच गई। फर्म की ओर से के.वी. खरे ने 11 फरवरी, 1896 को गांधी को पत्र लिखकर तिलक का पूना वाला पता भेजा।[6]

5 जून, 1896 को गांधी भारत आए। 19 अगस्त को उन्होंने एक साथ तीन महत्वपूर्ण नेताओं से मुलाकात की। वे थे महादेव गोविंद रानडे, बदरुद्दीन तैयबजी और फिरोजशाह मेहता। इसी क्रम में 12 अक्टूबर को वे पूना गए और गोपालकृष्ण गोखले तथा तिलक से मुलाकात की। 31 अक्टूबर को कलकत्ता में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से मिले। इन मुलाकातों के कारण वे विशेष रूप से गोखले के नजदीक होते चले गए। गांधी के अनुसार, 'मैं गोखलेजी के पास गया। वह फर्ग्यूसन कॉलेज में थे। बड़े प्रेम से मुझसे मिले और मुझे अपना बना लिया। उनका भी यह ही प्रथम परिचय था; पर मालूम हुआ मानों हम पहले मिल चुके हों। सर फिरोजशाह (मेहता) तो मुझे हिमालय जैसे मालूम हुए, लोकमान्य (बाल गंगाधर तिलक) समुद्र की तरह। गोखलेजी गंगा की तरह। उसमें मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ना मुश्किल है, समुद्र में डूबने का भय रहता है; पर गंगा की गोदी में खेल सकते हैं, उसमें डोंगी पर चढ़कर तैर सकते हैं।'[7] गांधी ने इस मुलाकात के बारे में अपनी आत्मकथा में लिखा है कि गोखले ने बारीकी से मेरी जांच की, जैसे कोई विद्यार्थी स्कूल में भर्ती होने जाए, तो की जाती है। उन्होंने मुझे यह बताया कि मैं किससे और कैसे मिलूं और मेरा भाषण देखने को मांगा। जब जरूरत हो तब मिलने की बात कहकर उन्होंने मुझे विदा किया। राजनीतिक क्षेत्र

में जो स्थान गोखले ने जीवित अवस्था में ही मेरे हृदय में बनाया और आज स्वर्गवासी हो जाने के बाद भी वे इस हृदय में विराजमान हैं, उस स्थान का अधिकारी कोई दूसरा नहीं हो सका।'[8]

वे अपने देश में स्थाई रूप से रहने के लिए आए थे, लेकिन दक्षिण अफ्रीका से उन्हें अगले पांच सालों के लिए फिर से बुलावा आ गया। वे दक्षिण अफ्रीका लौट गए लेकिन दक्षिण अफ्रीका प्रवास के दौरान भारत का मित्र वर्ग देश लौट आने के लिए बराबर आग्रह करता रहा। गांधी को भी लगा कि देश जाने से उनका उपयोग अधिक हो सकेगा। उन्होंने भारत लौटने की इच्छा दक्षिण अफ्रीका के अपने साथियों के सामने व्यक्त की। यह बड़ी कठिनाई से एक शर्त के साथ स्वीकृत हुई कि यदि एक वर्ष के अंदर कौम को उनकी आवश्यकता महसूस हुई, तो उन्हें वापस दक्षिण अफ्रीका पहुंचना होगा। दक्षिण अफ्रीका से भारत आते हुए गांधी मॉरिशस के पोर्ट लुइस शहर रुके थे। वहां के भारतीय समाज ने उनका स्वागत किया। इस अवसर पर गांधी ने जोर देकर कहा, 'भारतीयों को अपनी मातृभूमि में होने वाली घटनाओं का परिचय रखना अपना कर्तव्य मानना चाहिए तथा राजनीति में दिलचस्पी लेते रहना चाहिए।'[9]

गांधी ने एजेंडा तय करते हुए भारत में कदम रखा। नवम्बर, 1901 के आखिरी सप्ताह में गांधी परिवार बम्बई पहुंच गया। यह संयोग था कि उसी दौरान कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। गांधी इस बार पक्का मन करके स्थाई रूप से भारत रहने आए थे और कांग्रेस में घुल-मिल जाना चाहते थे। संयोग से कलकत्ता जाने के लिए बम्बई से जिस ट्रेन में फिरोजशाह मेहता रवाना हुए, उसी में गांधी बैठे थे। डिब्बे में उस साल की कांग्रेस के अध्यक्ष दीनशा एदलजी वाच्छा और चिमनलाल सेतलवाड़ भी बैठे थे। राजनीतिक चर्चा हो रही थी। मेहता ने कहा, 'गांधी, तुम जो कहोगे वह प्रस्ताव तो पास कर देंगे लेकिन अपने देश में ही कौन-से अधिकार मिलते हैं! मैं तो मानता हूं जब तक हमें अपने देश में सत्ता नहीं मिलती, तब तक उपनिवेशों में तुम्हारी स्थिति नहीं सुधर सकती।' दीनशा ने जरूर उत्साह बढ़ाया, 'गांधी प्रस्ताव लिखकर मुझे बताना भला।' गांधी ने उनका उपकार माना; दूसरे स्टेशन पर ज्योंही ट्रेन खड़ी हुई, गांधी दौड़कर अपने डिब्बे में घुस गए।[10]

कलकत्ता पहुंचकर गांधी ने कांग्रेस को नजदीक से देखा और समझा। गांधी को जिस रिपन कॉलेज में ठहरने ले जाया गया, वहां की व्यवस्था के बारे में गांधी ने आत्मकथा में लिखा, 'स्वयंसेवक एक दूसरे को टरकाते रहते थे। जो काम जिसे सौंपा जाता, वह स्वयं उसे नहीं करता था। वह तुरंत दूसरे को पुकारता था। दूसरा तीसरे को। बेचारा प्रतिनिधि न तो तीन में होता, न तेरह में। ..जैसे स्वयंसेवक थे, वैसे ही प्रतिनिधि थे। वे अपने हाथ से कोई काम नहीं करते थे। सब बातों में उनके हुक्म रटते रहते थे, 'स्वयंसेवक यह लाओ; स्वयंसेवक वह लाओ' चला करता था। छुआछूत को मानने वाले बहुत थे। द्राविड़ी रसोई बिल्कुल अलग थी। इन प्रतिनिधियों को तो दृष्टिदोष भी लगता था। कॉलेज के अहाते में चटाइयों का रसोईघर बनाया गया था। उसमें धुआं इतना रहता कि आदमी का दम घुट जाए। गंदगी की हद नहीं थी। चारों तरफ पानी ही पानी फैल रहा था। पाखाने कम थे। मैंने एक स्वयंसेवक को यह

सब दिखाया। उसने साफ इनकार करते हुए कहा, 'यह तो भंगी का काम है।' मैंने झाड़ू मांगा। वह मेरा मुंह ताकता रहा। मैंने झाड़ू खोज निकाला। पाखाना साफ किया। रात के समय कोई-कोई तो कमरे के सामने वाले बरामदे में ही निबट लेते थे। सवेरे स्वयंसेवकों को मैंने मैला दिखाया। कोई साफ करने को तैयार नहीं था। उसे साफ करने का सम्मान भी मैंने ही प्राप्त किया।'[11]

कांग्रेस के अधिवेशन में एक-दो दिन की देर थी। गांधी ने सोचा कि कांग्रेस के कार्यालय में उनकी सेवा स्वीकार की जाए, तो सेवा करें और अनुभव लें। जिस दिन वे पहुंचे उसी दिन नहा-धोकर कांग्रेस के कार्यालय में चले गए। उन्होंने सेवा की मांग की। एक ने दूसरे के पास भेज दिया। दूसरे ने हंसकर पूछा, 'मेरे पास तो क्लर्क का काम है, आप करेंगे?' गांधी ने उत्तर दिया, 'अवश्य करूंगा। मेरी शक्ति से बाहर न हो, ऐसा हर काम करने के लिए मैं आपके पास आया हूं।' फिर वे गांधी से बोले, 'यह पत्रों का ढेर है और यह मेरे सामने कुर्सी है। इस पर आप बैठिए। आप देखते हैं कि मेरे पास सैकड़ों आदमी आते रहते हैं। मैं उनसे मिलूं या इन बेकार पत्र लिखने वालों को उनके पत्रों का जवाब लिखूं? मेरे पास ऐसे क्लर्क नहीं हैं, जिनसे यह काम ले सकूं। इन सब पत्रों में से बहुतों में काम की एक भी बात नहीं होगी। पर आप सबको देख लीजिए। जिसकी पहुंच भेजना उचित समझें उसकी पहुंच भेज दीजिए। जिसके जवाब के बारे में मुझसे पूछना जरूरी समझें, मुझे पूछ लीजिए।' गांधी इस विश्वास पर मुग्ध हो उठे जबकि वह सज्जन उन्हें पहचानते तक नहीं थे। नाम-वगैरह जानने का काम तो उन्होंने बाद में किया। गांधी ने सामने रखे हुए पत्रों के ढेर को तुरंत निबटा दिया। वे सज्जन बातूनी थे। गांधी से बोले, 'असल में यही सच्ची वृत्ति है। पर आज के नवयुवक इसे नहीं मानते। वैसे मैं तो कांग्रेस को उसके जन्म से जानता हूं। उसे जन्म देने में मि. ह्यूम के साथ मेरा भी हिस्सा था।' उन सज्जन के बटन भी बैरा लगाता था। यह देखकर गांधी ने बैरे का काम भी ले लिया। धीरे-धीरे अपनी निजी सेवा के सारे काम वे गांधी से लेने लगे। बटन लगाते समय मुस्कुराकर कहते, 'देखिए न, कांग्रेस के सेवक को बटन लगाने का भी समय नहीं मिलता, क्योंकि उस समय भी उसे काम रहता है।' इस भोलेपन पर गांधी को हंसी आई, लेकिन ऐसी सेवा के प्रति मन में थोड़ी भी अरुचि उत्पन्न नहीं हुई। गांधी को कुछ ही दिनों में कांग्रेस की व्यवस्था का ज्ञान हो गया। वहां समय की जो बर्बादी होती थी, उसे भी गांधी ने अनुभव किया। अंग्रेजी का प्रभाव भी देखा। इससे उस समय भी उन्हें दु:ख हुआ था। उन्होंने देखा कि एक आदमी से हो सकने वाले काम में अनेक आदमी लग जाते थे, और यह भी देखा कि कितने ही महत्वपूर्ण काम कोई करता ही नहीं था।[12]

गांधी के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के किसी अधिवेशन में जाने का यह पहला अवसर था। कलकत्ता अधिवेशन में पहुंचे दिग्गज नेताओं को देखकर गांधी को घबराहट हो रही थी कि उनका प्रस्ताव वहां सुना जाएगा या नहीं। जब अधिवेशन में सभी प्रस्ताव पढ़ लिए गए तो गोखले ने खुद कहा कि दक्षिण अफ्रीका वाला प्रस्ताव बाकी है। रात के 11 बज चुके थे और सभी वहां से जाने की जल्दी में थे। गोखले ने गांधी को मंच पर बुलाया और अपना प्रस्ताव पढ़ने के लिए कहा। गांधी ने कांपते हुए प्रस्ताव पढ़ा और गोखले ने उसका समर्थन

किया। किसी ने प्रस्ताव को समझने का कष्ट नहीं उठाया। सब जल्दी में थे। गोखले ने प्रस्ताव देख लिया था, इसलिए दूसरों को देखने-सुनने की जरूरत नहीं हुई। दूसरे दिन प्रस्ताव का समय आने पर दीनशा वाच्छा ने गांधी का नाम पुकारा। गांधी को बोलते हुए पांच मिनट भी नहीं हुए थे कि घंटी बजा दी गई। घंटी बजते ही गांधी बैठ गए। सबने हाथ उठा दिए और प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गया। गांधी की खुशी के लिए यह पर्याप्त था क्योंकि कांग्रेस की मुहर लगना सारे भारत की मुहर थी।[13]

अधिवेशन के बाद गांधी दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के संबंध में बात करने के लिए कलकत्ता में ही रुके रहे। गोखले को पता चला तो उन्होंने गांधी को अपने साथ रहने के लिए आमंत्रित किया। गांधी गोखले के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित थे और उनके सामने खुलने में संकोच महसूस करते थे। जब वे एक-दो दिनों तक नहीं गए तो गोखले खुद आकर उन्हें अपने साथ ले गए। उन्होंने कहा, 'गांधी! इस देश में रहना है तो ऐसे संकोच से काम नहीं चलेगा। जितने अधिक लोगों से मेल-जोल कर सको, करना चाहिए। मुझे तुमसे कांग्रेस का काम लेना है।'[14]

गोखले के इन शब्दों ने गांधी के जीवन को एक नई संभावना की ओर मोड़ दिया। गांधी लगभग एक महीने तक उनके साथ रहे और उनसे और भी अधिक प्रभावित होते चले गए। पारसी कोट-पतलून पहनने वाले 32 वर्षीय बैरिस्टर ने कांग्रेस को नजदीक से देखने के बाद हिन्दू धर्म के प्रतिष्ठानों को नजदीक से देखने की कोशिश की। गांधी ने दिन के दो भाग कर लिए थे। एक भाग में वे दक्षिण अफ्रीका के काम के सिलसिले में कलकत्ते में रहने वाले नेताओं से मिलने में बिताते थे और दूसरे भाग में कलकत्ते की धार्मिक संस्थाएं और दूसरी सार्वजनिक संस्थाएं देखने में बिताते। गोखले की छत्रछाया में रहने से बंगाल की राजनीतिक मंडली से गांधी का परिचय हो गया।[15]

गांधी ने कलकत्ते की एक-एक गली छान डाली। अधिकांश काम वे पैदल चलकर करते थे। वे घूमने के साथ-साथ भविष्य की रूपरेखा तैयार कर रहे थे। वे काली मंदिर गए। रास्ते में बलिदान के बकरों की लंबी कतार चली जा रही थी। मंदिर की गली में भिखारियों की भीड़ लगी देखी। हृष्ट-पुष्ट भिखारियों को गांधी कुछ नहीं देना चाहते थे। भिखारियों ने उन्हें बुरी तरह घेर लिया। बकरों के बलिदान पर गांधी ने एक बाबाजी से बहस भी की। गांधी ने आत्मकथा में लिखा है, 'सामने लहू की नदी बह रही थी। दर्शनों के लिए खड़े रहने की इच्छा नहीं रही। उसी दिन मुझे एक बंगाली सभा का निमंत्रण मिला। वहां मैंने एक सज्जन से इस क्रूर पूजा की चर्चा की।' उन्होंने कहा, 'हमारा खयाल यह है कि वहां जो नगाड़े वगैरह बजते हैं, उनके कोलाहल में बकरों को चाहे जैसे भी मारो, उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती।' गांधी ने उन सज्जन से कहा, 'यदि बकरों की जुबान होती तो वे दूसरी ही बात कहते।'

कलकत्ता के इन अनुभवों के कारण गांधी के मन में बंगाली जीवन को जानने की इच्छा बढ़ गई। ब्रह्म समाज के बारे में वे काफी पढ़-सुन चुके थे। प्रतापचन्द्र मजूमदार का जीवन वृत्तांत थोड़ा जानते थे, उनका व्याख्यान सुनने भी गए थे। उनका लिखा केशवचन्द्र सेन का जीवन वृत्तांत उन्होंने प्राप्त किया और उसे पढ़ा। गांधी ने साधारण ब्रह्म समाज और आदि ब्रह्म

समाज का भेद जाना। पंडित विश्वनाथ शास्त्री के दर्शन किए। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शनों के लिए गए लेकिन वे उन दिनों किसी से मिलते नहीं थे। ब्रह्म समाज के बारे में यथासंभव जानने के बाद स्वामी विवेकानंद के दर्शन करने गांधी वेलूर मठ तक पैदल पहुंचे। यह सुनकर वे निराश हुए कि स्वामीजी बीमार हैं, उनसे मिला नहीं जा सकता। विवेकानंद उस समय अपने कलकत्ते वाले घर में थे। गांधी ने भगिनी निवेदिता के निवास स्थान का पता लगाया और चौरंगी के एक महल में दर्शन किए। भगिनी निवेदिता के व्यक्तित्व और हिन्दू धर्म के प्रति उनके प्रेम ने गांधी पर मिश्रित असर डाला।[16]

गोखले घोड़ागाड़ी रखते थे। गांधी ने उनसे इसको लेकर कोई शिकायत नहीं की लेकिन पूछ ही लिया, 'आप सब जगह ट्राम में क्यों नहीं जा सकते? क्या इससे नेता वर्ग की प्रतिष्ठा कम होती है।' कुछ दु:खी होकर उन्होंने उत्तर दिया, 'तुम्हें ट्राम में घूमते देखकर मुझे ईर्ष्या होती है, लेकिन मैं वैसा नहीं कर सकता। जितने लोग मुझे पहचानते हैं, उतने तुम्हें पहचानने लग जाएंगे, तब तुम्हारे लिए भी ट्राम में घूमना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाएगा। नेता जो कुछ करते हैं, वो मौज-शौक के लिए ही करते हैं, यह मानने का कोई कारण नहीं है। तुम्हारी सादगी मुझे पसंद है। मैं यथासंभव सादगी से रहता हूं लेकिन तुम निश्चित मानना कि मुझ जैसों के लिए कुछ खर्च अनिवार्य है।'[17]

वे बीच में ब्रह्मदेश (बर्मा) होकर आए। वहां भी वे स्वर्ण पैगोड़ा के दर्शन को गए तो मंदिर के गर्भगृह में चूहों को दौड़ते देखकर उन्हें स्वामी दयानंद के अनुभव का स्मरण हो आया। ब्रह्मदेश से लौटकर उन्होंने गोखले से विदा ली। गांधी ने आत्मकथा में लिखा, 'मैंने सोचा कि धंधे में लगने से पहले हिन्दुस्तान की एक छोटी-सी यात्रा रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे में करूंगा और तीसरे दर्जे के यात्रियों का परिचय प्राप्त करके उनके कष्ट जान लूंगा। मैंने गोखले के सामने अपना यह विचार रखा। उन्होंने पहले तो उसे हंसकर उड़ा दिया। लेकिन जब मैंने इस यात्रा के विषय में अपनी आशाओं का वर्णन किया, तो उन्होंने प्रयत्नपूर्वक मेरी यात्रा को स्वीकृति दे दी।'[18]

दरअसल, यह यात्रा उस शृंखला की एक कड़ी थी, जिसके तहत गांधी डरबन से भारत लौटने के बाद धार्मिक-राजनीतिक-सामाजिक नेताओं से मिलने और जनता के वास्तविक हालात, समाज में व्याप्त व्यवस्था तथा धार्मिक स्थितियों के बारे में वस्तुस्थिति जानने के लिए कलकत्ते में पैदल घूमे थे। पारसी कोट-पैंट पहनने वाले 32 वर्ष के युवा गांधी ने तीसरे दर्जे की यात्रा के लिए उसी तरह का सामान जुटाया। पीतल का एक डिब्बा गोखले ने ही दिया और उसमें गांधी के लिए बेसन के लड्डू और पूरियां रखवा दीं। बारह आने में किरमिच का एक थैला लिया। छाया (पोरबंदर के पास के एक गांव) की ऊन का एक ओवरकोट बनवाया। थैले में यह ओवरकोट, तौलिया, कुर्ता और धोती थी। ओढ़ने को एक कम्बल था। इसके अलावा एक लोटा भी साथ रख लिया। गोखले उन्हें स्टेशन तक छोड़ने आए और जीवन को प्रयोगों की पाठशाला बनाकर जीने वाले गांधी को विदा किया। गांधी की यह यात्रा राजकोट तक की थी। उन्हें इस यात्रा में काशी, आगरा, जयपुर और पालनपुर होते हुए राजकोट जाना था।

इस पूरी यात्रा में गांधी के ट्रेन किराए सहित कुल इकत्तीस रुपए खर्च हुए। तीसरे दर्जे की यात्रा में भी वे अक्सर डाकगाड़ी छोड़ देते थे क्योंकि उसमें भीड़ अधिक होती थी। उसका किराया भी पैसेंजर गाड़ी के तीसरे दर्जे के किराए से अधिक होता था।[19]

तीसरे दर्जे की पहली ट्रेन यात्रा के दौरान गांधी ने देश के हालात को और नजदीक से देखा। उनके लिए ट्रेन से यात्रा महज आवागमन का माध्यम भर नहीं थी; वे सरकारी व्यवस्था, जनता की स्थिति और स्वभाव, अफसरों के व्यवहार और भविष्य की संभावना पर गहरी नजर रखते चल रहे थे। तीसरा दर्जा भी इसलिए क्योंकि उसमें ही आम आदमी यात्रा कर सकते थे। गांधी ने इस यात्रा में महसूस किया कि तीसरे दर्जे के यात्री भेड़-बकरी समझे जाते हैं और सुविधा के नाम पर उनको भेड़-बकरियों के ये डिब्बे मिलते हैं। संख्या की मर्यादा दिखी ही नहीं। रेलवे विभाग की ओर से होने वाली इन असुविधाओं के अलावा यात्रियों की गंदी आदतें सुघड़ यात्री के लिए तीसरे दर्जे की यात्रा को दंड स्वरूप बना देती थीं। चाहे जहां थूकना, चाहे जहां कचरा डालना, चाहे जैसे और चाहे जब बीड़ी पीना, पान-तंबाकू चबाना और जहां बैठे हैं वहीं उसकी पिचकारी छोड़ना, फर्श पर जूठन गिराना, चिल्ला-चिल्लाकर बातें करना, पास में बैठे हुए आदमी की सुख-सुविधा का विचार नहीं करना और गंदी बोली बोलना सभी जगह का अनुभव था। गांधी को इस महाव्याधि का एक ही उपाय समझ में आया कि शिक्षित समाज को तीसरे दर्जे में ही यात्रा करनी चाहिए और लोगों की आदतें सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। गांधी ने अन्य उपाय के बारे में लिखा है, 'रेलवे विभाग के अधिकारियों को शिकायत कर-करके परेशान कर डालना चाहिए। अपने लिए कोई सुविधा प्राप्त करने या प्राप्त सुविधा की रक्षा करने के लिए घूस-रिश्वत नहीं देनी चाहिए और उनके एक भी गैरकानूनी व्यवहार को बर्दाश्त नहीं करना चाहिए।'[20]

कलकत्ता से गांधी काशी पहुंचे। वहां भक्तिभाव से बाबा विश्वनाथ के दर्शन किए, लेकिन वहां की गंदगी और सड़ांध से उनका सिर चकराने लगा। उससे भी ज्यादा ज्ञानवापी के पास पुजारी पंडे की लोलुपता देखकर उनका मन वितृष्णा से भर उठा। काशी में उनकी मुलाकात एनी बेसेंट से हुई।[21]

24 फरवरी, 1902, मोहनदास करमचंद गांधी के लिए जयपुर एक अहम पड़ाव था। वे कुर्ता-धोती पहने हुए थे। वे जयपुर शहर में घूम रहे थे और यहां के दर्शनीय स्थल देख रहे थे। काशी की धार्मिक विडम्बनाओं और आगरा में सिर्फ ताजमहल के अलावा उन्हें जयपुर में शिक्षा, सौंदर्य और संस्कृति का समन्वित स्वरूप देखने को मिला। अल्बर्ट म्यूजियम ने उन्हें काफी प्रभावित किया।[22] वहीं, रामनिवास बाग जयपुर की धड़कन के रूप में मौजूद था, 76 एकड़ में फैला हुआ मोरों और चिड़ियों की चहचहाहट से गूंजता, हरा-भरा निराला बाग। जिसकी सार-संभाल पर 17,000 रुपए वार्षिक खर्च किए जाते थे।[23]

रामनिवास बाग का निर्माण 1868 में जयपुर के महाराजा सवाई प्रताप सिंह ने करवाया था। जयपुर एक कम वर्षा वाला क्षेत्र था। इसलिए यहां के शासकों ने शहर को सुंदर बनाने और सर्वसाधारण को गर्मी में विहार का उपयुक्त स्थान देने के लिए इस उल्लेखनीय बाग का निर्माण करवाया। जब रामनिवास बाग बना था तब वहां म्यूजियम नहीं था। अल्बर्ट हॉल के

स्थान पर एक बड़ा गुलाब का बगीचा था। बाद में महाराजा प्रताप सिंह से माधो सिंह द्वितीय तक के कार्यकाल में इसे बनाकर तैयार किया गया। अल्बर्ट हॉल के आर्किटेक्ट सेमुअल स्विंटन जैकब थे। मेहराबों, जालियों, खुले दरवाजों और खूबसूरत खिड़कियों वाली बेमिसाल इमारत में म्यूजियम बना हुआ था। नया बना होने से और आकर्षित करता था। महाराजा राम सिंह इस स्थान पर पहले टाउनहॉल बनवाना चाहते थे लेकिन माधो सिंह ने यहां म्यूजियम बनवाने और उसे नए बने रामनिवास बाग का हिस्सा बनाने का फैसला किया। प्रिंस ऑफ वेल्स अल्बर्ट एडवर्ड ने 6 फरवरी, 1876 को म्यूजियम भवन की नींव रखी।[24]

म्यूजियम भवन का निर्माण पूरा होने में 10 साल से ज्यादा का वक्त लगा और 1886 में इसे पूरा किया जा सका। इमारत को बनाने में उस वक्त 5,01,036 रुपए खर्च हुए थे। जयपुर के इतिहास को सहेजने के लिए यह म्यूजियम बनवाया गया था। तब के लोग इसे अजायबघर भी पुकारते थे। इस संग्रहालय में पुरातात्विक और हैंडीक्राफ्ट के सामानों का विस्तृत संग्रह रखा गया। म्यूजियम में एक महिला की 2340 साल पुरानी ममी रखी हुई है। यह ममी 1880 में ब्रिटिश सरकार मिस्र से भारत लाई थी। तभी से इसे अल्बर्ट म्यूजियम में संभालकर रखा गया। गांधी के लिए रोमांचक अनुभव रहे।

गांधी कलकत्ता का म्यूजियम देखकर आए थे इसलिए उन्होंने जयपुर से उसकी तुलना की। उनको अल्बर्ट म्यूजियम की इमारत ज्यादा अच्छी लगी। जयपुर के कला विभाग ने भी उन्हें प्रभावित किया। उस समय जयपुर के प्रधानमंत्री संसारचंद्र सेन थे। उनके समय बंगाली कला को जयपुर में काफी महत्व मिला। गांधी ने जयपुर यात्रा में महसूस किया कि कला विभाग के बंगाली अधीक्षक के अधीन जयपुरी चित्रकला काफी फल-फूल रही है। जयपुर को देखकर गांधी के मुंह से निकला..अद्‌भुत..अद्‌भुत जयपुर।[25]

राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट्स की स्थापना 1857 में महाराजा राम सिंह द्वितीय ने 'मदरसा-ए-हुनर' नाम से की थी। 1886 में इसका नाम बदलकर राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स कर दिया गया।[26] महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स के दो उद्देश्य थे। पहला, आर्ट एंड क्राफ्ट की स्थिति में सुधार करना और दूसरा, आर्ट एंड क्राफ्ट के विभिन्न नए रूपों की खोज करना।

पालनपुर के अलावा गांधी धर्मशाला या पंडे के घर रुके थे। काशी के अलावा इन जगहों पर कहीं पंडे नहीं थे। इसलिए स्वाभाविक रूप से जयपुर में वे किसी धर्मशाला में रुके।

संयोग था कि जब गांधी ने जयपुर की यात्रा की; उसी समय जयपुर के महाराजा माधो सिंह एडवर्ड सप्तम की ताजपोशी में हिस्सा लेने के लिए लंदन जाने की तैयारी कर रहे थे। एक ओर माधो सिंह ने 10 अक्टूबर, 1901 को जयपुर के दीवान-ए-आम में दरबार करके ब्रिटिश हुकूमत के प्रति अपनी वफादारी दोहराई और दूसरी ओर उसके अगले दिन ही डरबन में गांधी ने एक भारतीय नाई की पैरवी करके शौचालय कानून के अंतर्गत अपराध करने के मुकदमे से छुड़वाया।[27]

गांधी जयपुर से पालनपुर होते हुए राजकोट चले गए। राजकोट पहुंचने के कुछ दिनों बाद 4 मार्च, 1902 को उन्होंने गोपालकृष्ण गोखले को पत्र लिखकर इस यात्रा की जानकारी दी:

राजकोट,
मार्च 4, 1902

प्रिय प्रोफेसर गोखले,

गाड़ी में पांच रात बिताने के बाद मैं पिछले बुध को अर्थात बीच के स्टेशनों पर रुके बिना मैं जिस दिन पहुंचता उससे सिर्फ एक दिन बाद यहां पहुंचा।

बड़ी मुश्किल से डयोढ़े दर्जे के एक डिब्बे में जगह मिली, वह भी यह वादा करने पर कि अगर जरूरत होगी तो मैं सारी रात खड़ा रहूंगा। दर हकीकत, कुछ मुसाफिरों के दोस्तों की यह एक चाल थी। उन्होंने और अधिक मुसाफिरों को घुसने से रोकने के लिए सब बची-खुची जगह घेर ली थी। गार्ड के गाड़ी छोड़ने के लिए सीटी देते ही वे उतर गए। तीसरे दर्जे के डिब्बों में तो कतई जगह न थी। आप भद्र पुरुषों की तरह शान और आराम के साथ तीसरे दर्जे में सफर नहीं कर सकते। किन्तु बनारस से तो मैंने सिर्फ तीसरे दर्जे में सफर किया। आपके शब्दों में कहूं तो पहली ही डुबकी ऐसी थी जो कठिन थी। उसके बाद का परिणाम सब सुखद रहा। दूसरे मुसाफिरों की और मेरी बातचीत खुलकर हुई और कभी-कभी हम गहरे दोस्त भी बने। गरीब मुसाफिरों के लिए बनारस शायद सबसे बुरा स्टेशन है। रिश्वत का दौरदौरा है। जब तक आप पुलिस सिपाहियों को घूस देने के लिए तैयार न हों तब तक अपना टिकट पाना बहुत कठिन है। वे दूसरों के साथ-साथ मेरे पास भी कई बार आए और बोले कि अगर हमें इनाम (या रिश्वत) दें तो हम आपके टिकट खरीद देंगे। कई लोगों ने इस प्रस्ताव का फायदा उठाया। हममें से जिन्होंने यह मंजूर नहीं किया उन्हें खिड़की खुलने के बाद भी करीब-करीब एक घंटे तक राह देखनी पड़ी। तब कहीं टिकट मिले। यदि हम कानून के इन संरक्षकों की एक-दो ठोकरों का उपहार लिए बिना ही वैसा कर पाए तो यह हमारा सौभाग्य ही समझिए। इसके विपरीत मुगलसराय में टिकट मास्टर बहुत सज्जन था। उसने कहा कि मैं राजा और रंक में भेद नहीं करता।

हम किसी तरह डिब्बों में भर गए। हालांकि डिब्बों में सूचनाएं लगी थीं, फिर भी संख्या के संबंध में कोई रोक-थाम नहीं थी। ऐसी स्थिति में रात का सफर तीसरे दर्जे के गरीब मुसाफिरों के लिए भी बहुत असुविधाजनक हो जाता है।

तीन जगहों पर अलग-अलग प्लेग की जांच की गई। लेकिन मैं नहीं कह सकता कि जांच में कोई सख्ती बरती गई हो। मेरा अनुभव बहुत थोड़ा है; किन्तु इन मुसाफिरों की भयंकर दशा की जो तस्वीर मैंने कल्पना से खींची थी, वह कुछ हल्की पड़ गई है। कोई सही नतीजा निकालने के लिए पांच दिनों में मुश्किल से ही काफी मसाला जुट सकता है। फिर भी, इस अनुभव

से मेरा हौसला बढ़ा और मजबूत हुआ है और पहला मौका आते ही मैं इसे पुन: प्राप्त करूंगा।

मैं बनारस, आगरा, जयपुर और पालनपुर में उतरा। सेंट्रल हिन्दू कॉलेज कोई बुरी संस्था नहीं, यद्यपि जल्दी में किए गए निरीक्षण के आधार पर विश्वास के साथ ऐसा कहना बड़ा कठिन है। 'संगमरमर निर्मित सपना' ताजमहल सचमुच देखने लायक है।

जयपुर अद्‌भुत जगह है। कलकत्ते के अजायबघर से अल्बर्ट अजायबघर की इमारत बहुत ज्यादा अच्छी है और उसका कला विभाग स्वत: ही अध्ययन की चीज है। ऐसा मालूम होता है कि जयपुरी चित्रकला अपने बंगाली अधीक्षक के अधीन खूब फूल-फल रही है।

अब मेरे पत्र का अत्यंत महत्वपूर्ण हिस्सा आता है। पालनपुर में जाने का मेरा एकमात्र उद्देश्य था राज्य के कारोबारी से भेंट करना। वे मेरे निजी मित्र हैं। मैं संयोग से उनसे यह चर्चा कर बैठा कि शायद अगली अप्रेल में रानडे स्मृति कोष के लिए चंदा इकठ्ठा करने में मैं उनके साथ सम्मिलित हो जाऊं। राज्य के कारोबारी श्री पटवारी एक सच्चे आदमी हैं। वे कहते हैं कि कोष संग्रह का काम अप्रेल में शुरू करना भारी गलती होगी, खासकर अगर हम गुजरात में भी करना चाहते हैं। उनका खयाल है कि इससे हमें कम-से-कम 10,000 रुपए का घाटा होगा। सभी राज्य अकाल के असर से कम-ज्यादा कराह रहे हैं। उनकी यह पक्की राय है कि धन-संग्रह अगले दिसम्बर या जनवरी मास में किया जाए। मैं उनके मंतव्य को वह जिस लायक हो उसके लिए, आपके सम्मुख रखता हूं।

काठियावाड़ के कई हिस्सों में प्लेग जोरों पर है।

मेहरबानी करके प्रोफेसर राय* को मेरी याद दिलाएं।

कृपया खराब टाइप करने के लिए क्षमा करें, वहां मेरे पास जो टाइपराइटर था, उससे यह बिल्कुल भिन्न है। मेरी चीजें अभी कलकत्ते से नहीं आई हैं।[28]

आपका सच्चा
मो.क. गांधी

जयपुर से गांधी पालनपुर होते हुए राजकोट चले गए। गोखले की बड़ी इच्छा थी कि गांधी बम्बई में बस जाएं, वहां वकालत करें और उनके साथ सार्वजनिक सेवा में हाथ बंटाएं। गांधी के अनुसार, 'उस समय सार्वजनिक सेवा का मतलब था, कांग्रेस की सेवा। गोखले के द्वारा स्थापित संस्था का मुख्य कार्य कांग्रेस की व्यवस्था चलाना था। मेरी भी यही इच्छा थी, लेकिन काम मिलने के बारे में मुझे आत्मविश्वास नहीं था। पिछले अनुभवों की याद भूली नहीं थी।

*प्रोफेसर प्रफुल्लचंद्र राय कलकत्ता में गोपालकृष्ण गोखले के पड़ोसी थे। गांधी का 1901-1902 में कलकत्ता प्रवास के दौरान उनसे संपर्क हुआ।

खुशामद करना मुझे विषतुल्य लगता था।'[29]

इसलिए गांधी राजकोट रहने लगे। वहां उन्हें तीन मुकदमे मिले। उन्होंने मुकदमे जीते तो लगा कि बम्बई जाकर वकालत करने में भी कोई कठिनाई नहीं आएगी। उस समय की एक महत्वपूर्ण लेकिन जटिल बात यह थी कि ज्यूडिशियल असिस्टेंट एक जगह टिककर नहीं बैठते थे। उनकी सवारी घूमती रहती थी। जहां वे जाते, वहां वकीलों और मुवक्किलों को भी जाना होता था। वकील का मेहनताना बाहर जाने पर दुगुना हो जाता लेकिन जज को इससे मतलब नहीं था। इसके चलते गांधी से जुड़े केस में अपील की सुनवाई वेरावल में होने वाली थी। वहां भयंकर प्लेग फैला हुआ था। गांव खाली हो गया था। गांधी वहां निर्जन धर्मशाला में टिके। गांधी उस माहौल से निकलकर फिर राजकोट आ गए। वहां से बम्बई पहुंचे। बम्बई में किराए का चैम्बर लिया; वैसे ही घर ले लिया। लेकिन उन्हीं दिनों उनके दस वर्ष के बेटे मणिलाल में सन्निपात के लक्षण दिखाई देने लगे। डॉक्टर ने बताया कि मणिलाल के लिए दवा बहुत कम उपयोगी होगी, अंडे या मुर्गी का शोरबा देने की जरूरत है। गांधी ने डॉक्टर के आग्रह को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने पानी के प्रयोग से मणिलाल का उपचार किया। मणिलाल स्वस्थ हो गए। गांधी को लगा कि बम्बई का वह इलाका रहने लायक नहीं है। इसलिए उन्होंने सांताक्रूज में सुंदर-सा घर किराए पर ले लिया। गांधी की वकालत उनकी अपेक्षा से अधिक चलने लगी। गोखले की आंख भी उन पर लगी रहती थी। हफ्ते में दो-तीन बार गांधी के चैम्बर में आकर कुशलक्षेम पूछ जाते।[30]

गांधी ने बम्बई में ही रहने का निश्चय किया और स्थिरता अनुभव की कि अचानक दक्षिण अफ्रीका से तार मिला, 'चैम्बरलेन यहां आ रहे हैं, आपको आना चाहिए।' गांधी को अपना वचन याद था। उन्होंने तार दिया, 'मेरा खर्च भेजिए, मैं आने को तैयार हूं।' उन्होंने तुरंत रुपए भेज दिए और गांधी दक्षिण अफ्रीका के लिए रवाना हो गए।[31]

संदर्भ सूची

1. चंदुलाल भगुभाई दलाल: गांधीजीनी दिनवारी, साबरमती आश्रम सुरक्षा अने स्मारक ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1976, पृष्ठ 43
2. मोहनदास करमचंद गांधी: सत्य के प्रयोग, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, 2018, पृष्ठ 220
3. दादा भाई नौरोजी: द ग्रेंड ओल्ड मैन ऑफ इंडिया/ संपूर्ण गांधी वांगमय-1, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1970, पृष्ठ 146
4. संपूर्ण गांधी वांगमय-1, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1970, पृष्ठ 163
5. संपूर्ण गांधी वांगमय-1, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1970, पृष्ठ 199
6. लेटर्स टू गांधी-1, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 2017, पृष्ठ 78-79
7. महात्मा गांधी: मेरे समकालीन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1951, पृष्ठ 178
8. मोहनदास करमचंद गांधी: सत्य के प्रयोग, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, 2018, पृष्ठ 224-226
9. स्टैण्डर्ड, 15 नवम्बर, 1901
10. मोहनदास करमचंद गांधी: सत्य के प्रयोग, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, 2018, पृष्ठ 224
11. वही, पृष्ठ 224-226
12. मोहनदास करमचंद गांधी: सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ 217-218
13. वही, पृष्ठ 219-220
14. वही, पृष्ठ 221
15. वही, पृष्ठ 228-229
16. वही, पृष्ठ 226-228
17. वही, पृष्ठ 234
18. मोहनदास करमचंद गांधी: सत्य के प्रयोग, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, 2018, पृष्ठ 239
19. वही, पृष्ठ 240
20. वही, पृष्ठ 241
21. सुमित्रा गांधी कुलकर्णी: महात्मा गांधी-मेरे पितामह (व्यक्तित्व और परिवार)-1, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 85
22. गोपालकृष्ण गोखले को पत्र/ संपूर्ण गांधी वांगमय-3, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1960, पृष्ठ 246
23. जयपुर सिटी (जयनगर), द इम्पीरियल गेजेटियर ऑफ इंडिया-13, पृष्ठ 402
24. वही, पृष्ठ 402
25. संपूर्ण गांधी वांगमय-3, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1960, पृष्ठ 246
26. थॉमस हॉलबिन हैंडले: हैंडबुक ऑफ जयपुर म्यूजियम, सेंट्रल प्रेस कंपनी, कलकत्ता, 1895
27. संपूर्ण गांधी वांगमय-3, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1960, पृष्ठ 507
28. वही, पृष्ठ 245-246
29. मोहनदास करमचंद गांधी: सत्य के प्रयोग, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, 2018, पृष्ठ 244
30. वही, पृष्ठ 250
31. वही, पृष्ठ 251

भाग: दो

एक नया राजवंश

4

कछवाहा और मुगल

राजा बिहारीमल (भारमल) और उसके पुत्रों तथा अन्य रिश्तेदारों को विदा लेने के लिए अकबर के दरबार में हाजिर किया गया। उस समय अकबर एक उन्मत्त हाथी पर सवार था, जो नशे में इधर-उधर दौड़ रहा था। लोग डरकर एक ओर हट रहे थे। एक बार वह इन राजपूतों की ओर भी दौड़ा, लेकिन वे अपने स्थान पर अचल खड़े रहे। जब अकबर ने उनकी दृढ़ता देखी तो वह प्रसन्न हुआ। राजा के विषय में पूछताछ की और कहा, 'तुमको निहाल किया जाएगा।'

–शेख अबुल फजल

कछवाहा वंश परम्परागत रूप से सूर्यवंश की शाखा माना जाता है। कच्छपघातों, जो बाद में कछवाहा राजपूत नाम से प्रसिद्ध हुए, ने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपना शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। इस वंश के वज्रदामन ने कन्नौज के प्रतिहार राजा को हराकर गोपगिरि यानी ग्वालियर के प्रसिद्ध दुर्ग को जीत लिया। उस समय गोपगिरि चंदेलों के अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि वज्रदामन ने चंदेल नरेश धंग और उसके स्वामी प्रतिहार राजा दोनों को हराया था।[1] कच्छपघात राजवंश के पुरातात्विक प्रमाण के रूप में नरवर के राजा वीरसिंहदेव के सिक्के और ताम्र पत्र ग्वालियर और गोरखपुर से प्राप्त हुए हैं।*[2]

राजाओं का एक अन्य वंश स्वयं को राजा नल (महाभारतकालीन निषध) का वंशज मानता था। यह वंश जयपुर (विजगपट्टम जिला) में राज्य करता था और उसकी राजधानी पुष्करी थी। छठी शताब्दी के आसपास इस वंश के अधिकार में वाकाटकों की पुरानी राजधानी नंदिवर्धन पाई जाती है। लेकिन उनकी राजधानी ध्वस्त कर दी गई।[3] चालुक्य राजा विक्रमादित्य प्रथम के अभिलेखों में नलबाड़ी विजय का उल्लेख है, जिसमें बेल्लारी और कूर्नूल के कुछ भाग थे। मध्य प्रदेश के रायपुर जिले के उस काल के कुछ अन्य शासक भी स्वयं को नल का वंशज मानते थे। वहीं, नलपुर से नरवर को जोड़ा जाता है। यानी कछवाहा वंश के तार पूरे देश में जुड़े नजर आते हैं।

आम्बेर-जयपुर के कछवाहा वंश के संदर्भ में विभिन्न विवरण अयोध्या नरेश रामचंद्र के

*वीरसिंहदेव के नाम के सोने के तीन सिक्के प्राप्त हुए हैं। पहले सिक्के के एक तरफ घुड़सवार का चित्र अंकित है और दूसरी ओर वीरसिंहदेव का नाम लिखा है। दो अन्य सिक्कों पर उनके नाम के साथ भगवान विष्णु और लक्ष्मी के दैवीय प्रतीक अंकित हैं। घुड़सवार वाले सिक्के पर जहां 'श्रीमद् वीरसिंहदेव' लिखा हुआ है; वहीं, भगवान के चित्र वाले सिक्के पर 'श्रीमद् वीरसिंहराय' अंकित है। बनावट और प्रतीकों की भिन्नता के कारण पुरातत्ववेत्ताओं में इस बात को लेकर मतभेद है कि तीनों सिक्के एक ही शासक से संबंधित हैं। विक्रम संवत 1177 में वीरसिंहदेव ने एक ताम्रपत्र भी जारी किया था, जिसमें वीरसिंहदेव को 'महाराजाधिराज' से संबोधित किया गया है।

पुत्र कुश से अलग हुए वंश को देवानीक तक जोड़ते हैं। देवानीक के पुत्र ईशदेव ग्वालियर के राजा थे। सोढ़देव चरित में विक्रम संवत 1023, कार्तिक कृष्ण नवमी को ईशदेव की मृत्यु होने के बाद सोढ़देव का राजतिलक होने का उल्लेख मिलता है। इसमें यह भी है कि पिता के वचन के कारण वे ग्वालियर का राज्य अपने रिश्ते के भाई जय सिंह को देकर बरेली (बांस बरेली) जाकर बस जाते हैं। बरेली महाभारतकालीन उत्तर पांचाल का हिस्सा था। उत्तर पांचाल की तत्कालीन राजधानी अहिच्छत्र के अवशेष स्थानीय रामनगर (आंवला तहसील) के समीप पाए गए हैं।[4] जयपुर राजघराने की वंशावली में ज्ञानपाल तक ग्वालियर पर शासन करने और उनकी तीन पीढ़ियों काहिनदेव, देवानीक और ईसे सिंह के बांस बरेली के राजा होने का उल्लेख मिलता है। इसके बाद सोढ़देव ढुंढाहड़ आए। अन्य विवरणों के अनुसार सोढ़देव के पुत्र दुर्लभराज या दुल्लह राय या दुल्हे राय ने लालसोट के चौहान राजा की पुत्री से विवाह किया और दौसा के किले में एक हिस्सा दहेज स्वरूप प्राप्त किया। दौसा क्षेत्र में उस समय बड़गूजर राजपूत निवास करते थे, लड़ाई के दौरान वे बड़ी संख्या में मारे गए। दुल्हे राय घायल हुए लेकिन युद्ध जीतते हुए आखिर में मीणों को हराकर उस क्षेत्र में किला बनाया, जिसका नाम रामगढ़ रखा। वहां अपनी कुलदेवी जमवाय माता का मंदिर बनवाया। लेकिन दुल्हे राय ग्वालियर के आसपास किसी लड़ाई में मारे गए। उनकी मृत्यु के बाद बड़े पुत्र कांकिल ने पिता की गद्दी संभाली।

कांकिल का भी मीणों से युद्ध हुआ और इसमें कांकिल की जीत हुई। कांकिल ने जमवाय माता मंदिर के क्षेत्र का और विस्तार करते हुए पहाड़ियों से घिरे हुए क्षेत्र में अम्बिकापुर की नींव डाली। यही अम्बिकापुर आगे जाकर आम्बेर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पास में शिव मंदिर बनवाया, जो अम्बिकेश्वर महादेव के नाम से विद्यमान है। जयपुर राजघराने की वंशावली में हणु का आम्बेर में टीका किए जाने का उल्लेख है।

कांकिल के बाद हणू, जानड़देव, पज्जून या पजवन, मलेसी, बीजलदेव, राजदेव, कील्हण, कुंतिल, जोणसी, उदेकरण, नरसिंह, बनवीर, उधरण, चंद्रसेन और पृथ्वीराज या पृथिराज आम्बेर की गद्दी पर बैठे।[5] जय सिंह द्वितीय द्वारा तैयार करवाए गए 'जयसिंह कल्पद्रुम' में मुगलकालीन आम्बेर के कछवाहा राजवंश का स्पष्ट विवरण मिलता है। इसमें मान सिंह, जगत सिंह, महा सिंह, जय सिंह प्रथम, राम सिंह प्रथम, कृष्ण सिंह, विष्णु सिंह, जय सिंह द्वितीय के क्रम दिए हुए हैं। जय सिंह द्वितीय को कृष्ण सिंह का पौत्र तथा विष्णु सिंह का पुत्र बताया गया है।* यह ऐतिहासिक तथ्य महत्वपूर्ण है और यह सभी विवरणों से अलग है।[6]

कछवाहा राजाओं में पज्जून श्रेष्ठतम वीरों में से एक माने जा सकते हैं। पृथ्वीराज चौहान और शहाबुद्दीन गोरी के बीच हुए युद्धों में पज्जून जैसे पराक्रम वाला कोई और पराक्रमी सामने नहीं आता। पृथ्वीराज रासो में गोरी को एकाधिक बार परास्त करने का संपूर्ण श्रेय पज्जून को दिया गया है। चंद बरदाई ने लिखा है कि पज्जून के नेतृत्व में महोबा युद्ध में कछवाहों के

---

*पौत्रः श्रीकृष्ण-सिंहक्षितिय-कुलमणेर्विष्णुसिंहस्य पुत्रः
श्रीमान राजाधिराजो जयहरिहरमराधीशवत् कौ सुखी स्यात्।
(जयसिंह कल्पद्रुम, रत्नाकर भट्ट, 25 जुलाई, 1713)

खड्ग की मार खाकर शाह गजनी को लौटा। गोरी की शाही सेना के समस्त हाथी-घोड़े, सोना और जवाहरात जो लूट में मिले, बांट दिए गए। पृथ्वीराज ने गोरी से पूर्व के युद्धों में छीना गया छत्र, सात पताकाएं, नक्कारे, चंवर, रत्न, स्वर्ण और बहुत से हाथी-घोड़े ससम्मान पज्जून को दिए।[7] महोबा में वीर होने की प्रतिष्ठा खोकर और दो बार हारने के बाद शहाबुद्दीन गोरी गजनी लौट गया। लेकिन उसने प्रतिज्ञा की कि कछवाहे वीर (पज्जून) को मारकर ही पगड़ी बांधूंगा। गोरी को हराने के बाद नागौर की सुरक्षा का भार पृथ्वीराज ने पज्जून और उनके तीन पुत्रों बलिभद्र, मलय और पल्हन को सौंप दिया।[8] इसके बाद फिर पज्जून और गोरी में भीषण युद्ध हुआ। पृथ्वीराज रासो में उसका वर्णन 'पज्जून पातशाह युद्ध' के रूप में किया गया। पृथ्वीराज उस समय दिल्ली के लिए रवाना हो गए थे। गोरी ने उसी दौरान पज्जून को संदेश भेजा, 'यदि अभिमान किया तो युद्ध छेड़कर घमंड दूर कर दिया जाएगा। इसलिए आकर पैर पकड़ लो, नहीं तो तुम्हें बांधकर शरीर को टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाएगा।' पज्जून ने जवाब दिया, 'मेरा नाम पज्जून है, हे शाह! जीवन की चिंता न कर, आ जा।' इसके बाद गोरी ने आकर नागौर को घेर लिया। फिर भीषण युद्ध में पज्जून के पुत्र मलय ने अतुलनीय पराक्रम का परिचय दिया। मलय के आक्रमण के सामने गोरी भागने लगा। लेकिन गोरी को पकड़कर बांध दिया गया और किले में ले आए। बाद में पृथ्वीराज ने शाह को बंदी बनाने का श्रेय पज्जून को देते हुए गोरी को रिहा कर दिया। इसके बदले में गोरी से 1000 घोड़े और 15 हाथी दंड स्वरूप वसूल किए गए।[9]

पज्जून का विवाह पृथ्वीराज चौहान की बहन से होने का उल्लेख मिलता है। पज्जून की चौथी पीढ़ी के राजदेव ने आम्बेर नगर आबाद करके राजधानी बनाई।[10] इसके बाद राजा पृथ्वीराज प्रथम के बारे में कुछ जानकारियां उपलब्ध हैं। उनकी पत्नी अपूर्वदेव (बालाबाई) बीकानेर के राव लूणकरण की पुत्री थीं। वे हरिभक्त के रूप में मशहूर थीं। इनके गुरु प्रसिद्ध संत कृष्णदास पयहारी थे। आम्बेर के पूर्ववर्ती राजा नाथ सम्प्रदाय को मानने वाले थे। पयहारी वैष्णव थे। उनके समय से ही गलता क्षेत्र तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यहां पहले गालव ऋषि का आश्रम हुआ करता था।[11]

उसी दौर में भारत में मुगल सल्तनत का संस्थापक जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर लम्बे-चौड़े क्षेत्रफल और बेशुमार धन-दौलत वाले हिन्दुस्तान को जीतने के साथ-साथ इस्लाम का प्रभुत्व बढ़ाने आया। बाबर का जन्म फरवरी, 1483 में फरगाना की राजधानी अंदिजान (वर्तमान तुर्कमेनिस्तान) में हुआ। उसके जन्म की तारीख को लेकर मतभेद है। बाबर तैमूर लंग का प्रपौत्र था, जिसने 1398 में दिल्ली पर हमला किया था। बाबर की मां चंगेज खान के वंश से थी। यानी, बाबर में तैमूरी और चंगेजी दोनों नस्लों का खून था। वह खुद मंगोल था। बाबर 12 वर्ष की उम्र में उत्तराधिकारी बना। बाबर मानता था कि उस समय हिन्दुस्तान में पांच मुसलमान बादशाहों के अलावा दो काफिर हैं।[12] काफिरों में उसने बीजा नगर के राजा और दूसरे राजपूतों के प्रतिनिधि राणा सांगा यानी मेवाड़ के राणा संग्राम सिंह को शामिल किया। बाबर के अनुसार, 'राणा सांगा का अपना मुल्क चित्तौड़ है लेकिन मालवा सुल्तानों का बल टूटने से रणथंभौर, सारंगपुर, भीलसा और चंदेरी भी उसके हो गए हैं। मैंने 934 हिजरी में

चंदेरी पर चढ़ाई की और अल्लाह की मौज, कुछ ही घड़ियों में राणा सांगा के बड़े भरोसे के नौकर मेदनी राव के 4-5 हजार काफिरों से शहर छीन लिया और उन्हें तलवार से मौत के घाट उतारकर बरसों के दारुल हर्ब को दारुल इस्लाम बना दिया।'[13] दारुल इस्लाम का अर्थ है मुस्लिम शासित क्षेत्र और दारुल हर्ब का अर्थ है गैर मुस्लिम अर्थात काफिरों का क्षेत्र। आक्रमणकारियों का लक्ष्य दारुल हर्ब को दारुल इस्लाम बनाना होता था और वे मानते थे कि इस्लाम कबूल नहीं करने वाले काफिरों के लिए मौत ही एकमात्र दंड है। वे अन्य धर्मों के पूजास्थलों को तोड़ते थे, बलपूर्वक धर्म परिवर्तन करवाते थे और विरोध करने वालों को मौत के घाट उतार देते थे।[14]

यह कहना गलत नहीं होगा कि राजपूत शासकों के कारण ही बाबर को चुनौती मिली। बाबर के लिए भारत को जीतना आसान नहीं था। एक बार अपनी थकी और डरी हुई फौज को ढांढस बंधाते हुए उसने कहा, 'अल्लाह ने हमें नेकनसीबी की यह दौलत अता की है। इसमें जो मरे वह शहीद और जो मारे वह गाजी।' आखिर सबने कुरान हाथ में लेकर शपथ ली कि कोई मौत से नहीं भागे; जब तक दम में दम है, इस लड़ाई में मुंह नहीं घुमाए।[15]

21 अप्रेल,1526 को पानीपत में इब्राहिम लोदी को हराने के बाद सीकरी में 14 फरवरी, 1527 को शुरू हुई लड़ाई में राणा सांगा की पराजय के कारण ही बाबर का आगे बढ़ना संभव हुआ और भारत में मुगल साम्राज्य की नींव पड़ी। उसी समय से कछवाहा वंश के पृथ्वीराज के पराक्रम और संधि-संबंधों का विवरण मिलना शुरू होता है। वे चित्तौड़ के महाराणा संग्राम सिंह के सहयोगी के रूप में दिखाई देते हैं। संग्राम सिंह बयाना के किले को जीतने के लिए रवाना हुए तो उनकी सेना में पृथ्वीराज भी अपने सैन्य दल सहित शामिल थे। 21 फरवरी, 1527 के इस युद्ध में बाबर की हार हुई।[16]

16 मार्च, 1527 को फिर लड़ाई हुई। इस लड़ाई में महाराणा के साथ धोखा हुआ और उनके चेहरे पर एक तीर लगा। इससे महाराणा मूर्छित हो गए। उस हालत में पृथ्वीराज और जोधपुर के राजा मूर्छित महाराणा को पालकी में बैठाकर सुरक्षित ले गए। बाबर को जीत हासिल हुई।[17] महाराणा को पालकी में बैठाकर बसवा लेकर आए। महाराणा को होश आया तब उन्होंने युद्ध क्षेत्र से लौटा लाने पर नाराजगी प्रकट की। उनका कहना था कि वे बाबर पर जीत हासिल किए बिना चित्तौड़ वापस नहीं जाएंगे। कहा जाता है कि महाराणा को युद्ध करने के इरादे से बहुत लोगों ने रोका लेकिन उन्होंने इरादा नहीं बदला। तब नमकहरामों ने उन्हें जहर दे दिया।[18] अन्यत्र महाराणा की मृत्यु काल्पी में बताई जाती है।

बाबर ने आगरा को अपनी राजधानी बनाया। 26 दिसम्बर, 1530 को आगरा में बाबर की मृत्यु हो गई और उसे काबुल के बाग-ए-बाबर में दफनाया गया। बाबर की मृत्यु के बाद उसके पुत्र हुमायूं ने दिल्ली की गद्दी संभाली। बाबर और माहिमा बेगम के पुत्र हुमायूं का जन्म 17 मार्च, 1508 को काबुल में हुआ था। हुमायूं ने अफगानिस्तान, पाकिस्तान, उत्तर भारत से जुड़े क्षेत्रों पर लगभग 10 वर्षों तक शासन किया। 1540 में शेरशाह सूरी ने हुमायूं को हराकर दिल्ली की गद्दी पर कब्जा कर लिया। हुमायूं को तंग हालात में कुछ लोगों के साथ अमरकोट भागना पड़ा। उस दौरान हालात इतने खराब हो गए थे कि शेरशाह सूरी आगरा

के पास पहुंच गया तो निराश होकर हुमायूं ने अपने भाई हिन्दाल मिर्जा से कहा कि हरम की महिलाओं को अपने हाथों से कत्ल कर दिया जाए। हिन्दाल ने हौसला दिखाकर किसी तरह महिलाओं-बच्चों को लाहौर पहुंचाया।[19]

हुमायूं के साथ सफर में साथ चल रहे अकबर जौहर ने लिखा है कि जिसकी सवारी में लाखों सवार और हजारों हाथी चलते थे, वह अपनी बेगम को पैदल उतारकर लड़ाई के समय घोड़े पर सवार हुआ। मारवाड़ में उसके बहुत से आदमी प्यास से मारे गए। एक मौके पर हुमायूं के पास सिर्फ 16 सवार रह गए। तभी 500 सवार राजपूत आ पहुंचे लेकिन उनके दो प्रमुख राजपूत मारे जाने के बाद बाकी भाग गए। जैसलमेर में भी गाय मारने पर वहां के राजपूतों ने लड़ाई की।[20] फलौदी, जोगीतालाब (किशनगढ़) और सांभर होते हुए हुमायूं जा रहा था। उसकी सवारी में दो घोड़े और एक खच्चर के सिवाय कुछ नहीं था। हुमायूं को रोकने के लिए रास्ते के सभी कुओं को रेत से भर दिया गया। तब हुमायूं ने खुद पैदल होकर अपनी बेगम को घोड़े पर बैठा दिया। पैदल चलते हुए थक जाने के बाद हुमायूं ने ऊंट की सवारी की और मुश्किल भरी यात्रा तय करके अमरकोट पहुंचा। अमरकोट के राणा ने हुमायूं का स्वागत किया और किले के अंदर उनके रहने की अच्छी व्यवस्था की। वहीं, 13 अक्टूबर, 1542 को रविवार के दिन हमीदा बानो ने एक शहजादे को जन्म दिया।[21] शहजादे का नाम बदरुद्दीन और जलालुद्दीन रखा गया जो आगे जाकर अकबर के नाम से मशहूर हुआ।

हुमायूं भागकर बलूचिस्तान, सीस्तान होता हुआ ईरान पहुंचा और वहीं आश्रय लिया। एक दिन ईरान के बादशाह तहमास्प ने हुमायूं से पूछा, 'आपको सबसे ज्यादा तकलीफ किस बात से हुई?' हुमायूं ने जवाब दिया, 'भाइयों की नालायकी से।' तहमास्प ने हुमायूं से कहा कि यदि हिन्दुस्तानी राजाओं के साथ रिश्तेदारी रखी होती तो बादशाहत पर कोई आंच नहीं आती।[22]

इधर, शेरशाह सूरी और उसके बेटे इस्लाम शाह सूरी ने लगभग 15 वर्षों तक दिल्ली पर अपना कब्जा जमाए रखा। इस्लाम शाह की मृत्यु के बाद सूरी वंश कमजोर पड़ने लगा। इसके बाद हुमायूं ने एक बार फिर पलटवार किया और दिल्ली को वापस अपने अधीन कर लिया। 1556 में हुमायूं की मृत्यु हो गई।[23]

आम्बेर में पृथ्वीराज प्रथम के बाद खूनखराबे, षडयंत्र और संधि का मिला-जुला नया दौर शुरू हुआ। पृथ्वीराज के पुत्र पूरणमल 19 नवम्बर, 1527 को गद्दी पर बैठे। 13 फरवरी, 1533 या 18 जनवरी, 1534 को एक लड़ाई में भाई ने ही उनकी हत्या कर दी। उसी दौरान पूरणमल के पुत्र शुजा सिंह ने मेवात के मुगल गवर्नर मुहम्मद शरीफुद्दीन हुसैन से गठबंधन किया, जो अकबर का साला लगता था। इधर, पूरणमल की हत्या के बाद 14 फरवरी, 1533 को भीम सिंह राजा बने, उनकी हत्या उनके पुत्र आसकरण सिंह ने 16 अगस्त, 1536 को कर दी। भीम सिंह की गद्दी उनके पुत्र रतन सिंह को मिली। आसकरण ने भाई रतन सिंह की भी 11 जून, 1547 या 15 मई, 1548 को हत्या कर दी। आसकरण ने पिता और भाई की हत्या के बाद आम्बेर की गद्दी जरूर संभाली लेकिन सिर्फ दो सप्ताह ही बैठ सका। रतन सिंह के समय भाइयों की लड़ाई चरम पर थी। इन भाइयों ने आसपास के इलाकों पर कब्जा करना शुरू कर

दिया। इन्हीं में से एक सांगा ने अपने ननिहाल बीकानेर जाकर मदद प्राप्त की। राजपूती लड़ाई में सांगा की भी हत्या हो गई। आसकरण के गद्दी पर बैठते ही भारमल ने आम्बेर पर कब्जा कर लिया और आसकरण को राज्य से निकाल दिया। आसकरण ने सूरी बादशाहों के कारिंदे हाजी खां पठान की मदद से भारमल को पराजित करना चाहा लेकिन पठान का भारमल से समझौता हो गया। आसकरण को शेरशाह सूरी के पुत्र सलीम शाह ने नरवर की जागीर दे दी।

हुमायूं का पुत्र अकबर 14 फरवरी, 1556 को गद्दी पर बैठा। उस समय उसके राज्य में चारों ओर बखेड़ा मचा हुआ था। इसी बीच हाजी खां पठान ने आम्बेर के राजा भारमल की मदद से नारनौल को घेरा। नारनौल में मजनूं खां काकशाल का कब्जा था। भारमल ने बुद्धिमानी से मजनूं खां को परिवार और धन संपदा सहित सुरक्षित बाहर निकलवा दिया। मजनूं खां ही भारमल को अकबर के नजदीक लाने का माध्यम बना।[24] यहां से हुई शुरुआत के बाद चाहे-अनचाहे में मुगल साम्राज्य और आम्बेर के राजाओं का वर्तमान जुड़ता चला गया। हिन्दू राजाओं में आम्बेर के शासक ही मुगल बादशाहों के लिए सबसे अधिक उपयोगी साबित हुए। उन्होंने अफगानिस्तान से लेकर दक्षिण के सुदूरवर्ती इलाकों तक मुगलिया सल्तनत की धूम मचा दी। उस समय के पराक्रमी महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी से यहां के तत्कालीन शासक ही लोहा ले सके। इन राजाओं ने कितने ही शासकों को पराजित किया और विभिन्न क्षेत्रों के सूबेदार तैनात होते रहे। यहां की कई राजकुमारियों को मुगल दरबार में खासी हैसियत मिली; यहां तक कि आम्बेर की राजकुमारियों से पैदा हुए शहजादे हिन्दुस्तान के बादशाह भी बने। इसके बावजूद जयपुर के शासकों को कुछेक बार संदेह की नजर से देखा गया। उन्हें गाहे-बगाहे बेइज्जत भी किया गया; यहां तक कि एक बार जयपुर के राजा को पदच्युत कर दिया गया और एक अन्य बार मनसब छीन लिया। उस दौर में जयपुर सहित अन्य राजघराने के वारिसों की नियुक्ति भी मुगल बादशाह की रजामंदी से हुआ करती थी।

मुगल बादशाह इस बात को समझते थे कि राजपूतों की सहायता के बिना मुगल साम्राज्य को मजबूत बनाना कठिन है। बागियों और षडयंत्रकारियों को दबाने के लिए उन्हें राजपूत कौम की जरूरत थी। इसके अलावा उन्हें यह भी डर था कि वे आपस की लड़ाई में उलझे रह जाएंगे और इसका फायदा उठाकर राजपूत भारत पर अपना पूरा कब्जा जमा लेंगे। अकबर ने अनेक अवसरों पर राजपूत राजाओं की विश्वसनीयता और बहादुरी को देखा। राजपूतों के स्वभाव को समझने के बाद अकबर ने राजपूतों को अपने पक्ष में रखने की नीति के तहत काम किया और दोस्ती से शुरुआत कर धीरे-धीरे उनके साथ पारिवारिक रिश्ते जोड़ना शुरू कर दिया।[25] मुगल साम्राज्य की स्थापना के साथ आम्बेर के राजाओं की स्थिति और उद्देश्य में भी बदलाव आने लगा। मुगल बादशाहों की नजदीकियों ने ही इन राजाओं का कद बढ़ाकर मिर्जा, सवाई, महाराजा और महाराजाधिराज तक पहुंचा दिया। मुगलों के सेनापति के रूप में विभिन्न विजयों का ही परिणाम था कि आम्बेर की जगह जयपुर को बसाया जा सका और खूबसूरती के मामले में बेजोड़ शहर की स्थापना की जा सकी।

मुगल-आम्बेर संबंधों की शुरुआत राजपूताना से निकले हेमू वीर के उत्थान-पतन से जुड़ी

हुई है। हेमू मूलत: अलवर के पास माचेड़ी में पैदा हुए थे। वे एक सेनानी से सेनानायक की अजेय गाथा लिखते हुए 22 युद्धों में विजयी हुए। यह वह दौर था जब अकबर ने अपने पिता हुमायूं का ताज धारण किया ही था। 14 फरवरी, 1556 को अकबर बादशाह बना और 7 अक्टूबर, 1556 को हेमू ने मुगल फौज को हराकर दिल्ली के पुराना किला में अपने को सम्राट घोषित करते हुए हेमचन्द्र विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। अबुल फजल के विवरण के अनुसार, 'जालंधर खबर पहुंची कि हेमू शासक बनने का सपना देख रहा है। हेमू और इब्राहिम में कई युद्ध हुए। इब्राहिम सुल्तान बनना चाहता था परंतु हेमू की सदैव विजय हुई। मुबारिज खां के विरोधियों से हेमू ने 22 लड़ाइयां लड़ी और सबमें विजयी हुए। उस समय दिल्ली का हाकिम तर्दी बेग था, उसने युद्ध की तैयारी की। हुमायूं की मृत्यु की खबर फैलने के बाद हेमू ने अकबर से युद्ध का साहस किया। हेमू के पास विपुल धन के साथ 40 हजार सवार, 1000 हाथी, 51 बड़ी तोपें और 500 छोटी तोपें थीं। 6 अक्टूबर, 1556 को हेमू दिल्ली के पास आ पहुंचा। 7 अक्टूबर को दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ जिसमें हेमू की विजय हुई।'[26]

अकबर ने हेमू की विजय की खबर सुनते ही एक और फौज को रवाना होने की आज्ञा दी। 5 नवम्बर, 1556 को अकबर और हेमू की सेनाओं में लड़ाई हुई। घमासान युद्ध में हेमू की आंख में तीर लगा। हेमू को बांधकर अकबर के सामने लाया गया। तलवार से हेमू का सिर काटकर काबुल भेज दिया गया और उनके धड़ को दिल्ली में सूली पर चढ़ा दिया गया। हेमू के वृद्ध पिता को अलवर से पकड़कर अकबर के करीबी पीर मुहम्मद के समक्ष प्रस्तुत किया गया और धर्म बदलने को कहा गया। उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं 80 वर्षों से अपने इष्टदेव की पूजा कर रहा हूं और अपने धर्म पर आरूढ़ हूं। अब इस उम्र में धर्म क्यों बदलूं और जीवन के भय से तथा तुम्हारे धर्म को समझे बिना ही तुम्हारे धर्म को क्यों स्वीकार करूं।' पीर मुहम्मद ने तलवार से उनकी हत्या कर दी।[27]

हेमचन्द्र विक्रमादित्य की हत्या के बाद मुगल-आम्बेर संबंधों की बुनियाद पड़ी। मुगल सेनापति मजनूं खां काकशाल ने अकबर को आम्बेर के राजा बिहारीमल (भारमल) के बारे में बताया और नारनौल के घेरे के समय उनके द्वारा दिखाई गई स्वामिभक्ति का उल्लेख किया। अकबर ने बिहारीमल को दरबार में बुलाने का आदेश दिया। बिहारीमल अपने पुत्रों और अन्य रिश्तेदारों के साथ पहुंचे जहां उन्हें खिल्लत दी गई और विदाई के समय शाही दरबार में हाजिर किया गया। उस समय अकबर एक उन्मत्त हाथी पर सवार था जो इधर-उधर दौड़ रहा था। लोग हाथी को अपनी ओर आता देखकर पीछे हट रहे थे। एक बार वह हाथी आम्बेर के राजपूतों की ओर दौड़ा। लेकिन वे लोग अपने स्थान पर खड़े रहे। जब अकबर ने उनकी दृढ़ता देखी तो वह प्रसन्न हुआ और राजा के विषय में पूछताछ की और कहा, 'तुमको निहाल किया जाएगा।'[28]

इसी दौरान बिहारीमल के भतीजे सूजामल ने मेवात में अकबर के जागीरदार मिर्जा मोहम्मद शरीफुद्दीन के साथ मिलकर आम्बेर की गद्दी पर कब्जा करने की योजना बनाई। शरीफुद्दीन ने 1561 में एक विशाल सेना को आम्बेर पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया। बिहारीमल उनसे युद्ध करने की स्थिति में नहीं थे। उन्होंने शरीफुद्दीन को एक निश्चित

धनराशि चुकाने का वादा किया और तब तक आश्वासन के रूप में अपने बेटे जगन्नाथ और दो भतीजों को उनके साथ भेज दिया।[29] बिहारीमल के समर्पण के बाद भी शरीफुद्दीन को संतुष्टि नहीं मिली। अगले वर्ष उसने आम्बेर पर पूरा कब्जा हासिल करने के इरादे से और भी बड़ी सेना तैयार करना शुरू कर दिया। बिहारीमल ने हुमायूं के पुराने विश्वासपात्र चगताई खां से इस विषय में सहायता मांगी।[30]

14 जनवरी, 1562 को अकबर अपने अनुचरों के साथ अजमेर के लिए रवाना हुआ जिनमें चगताई खां भी था। करौली पहुंचने पर चगताई खां ने अकबर से कहा कि राजा बिहारीमल कछवाहा राजपूतों का प्रमुख है और अपनी बुद्धि और पराक्रम के लिए प्रसिद्ध है लेकिन शरीफुद्दीन के भय से पहाड़ियों में छिपे रहने को मजबूर है। यदि बादशाह की कृपा दृष्टि हो जाए तो बिहारीमल को इस विपत्ति से छुटकारा मिल जाएगा और फिर शायद उसकी सेवाएं बादशाह को पसंद आएंगी।[31]

अकबर ने पूरा वृत्तांत सुनने के बाद बिहारीमल को बुलावा भेजा। अकबर की सवारी दौसा पहुंची तो बिहारीमल के भाई रूपसी के पुत्र जयमल और दौसा के सरदार ने आकर अकबर की अधीनता स्वीकार की। अकबर ने कहा कि रूपसी को खुद आकर हमारे आगमन को ईश्वर की देन मानना होगा और हमारी चौखट का चुंबन करना होगा। इसके बाद रूपसी वहां पहुंचा और उस पर कृपा की गई। अगले दिन सांगानेर में अकबर का शिविर लगा। चगताई खां ने बिहारीमल और उनके बंधु-बांधवों का परिचय अकबर से करवाया। बिहारीमल ने प्रस्ताव रखा कि वे अपनी पुत्री का विवाह अकबर से करना चाहते हैं। अकबर ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।[32]

अजमेर से वापसी के दौरान सांभर पहुंचने पर मिर्जा शरीफुद्दीन ने बिहारीमल के पुत्र और भतीजों को आजाद कर दिया। सांभर में ही अकबर और बिहारीमल की पुत्री का विवाह हुआ। विवाह उत्सव के लिए अकबर की सवारी एक दिन सांभर में ठहरी। रणथंभौर के निकट पहुंचने पर बिहारीमल ने अपने परिवार का परिचय अकबर से करवाया। यहीं पर अकबर ने बिहारीमल के पौत्र मान सिंह को स्थाई रूप से शाही सेना में ले लिया। मान सिंह बिहारीमल के ज्येष्ठ पुत्र भगवंत दास के पुत्र थे। बिहारीमल ने चाहा कि बादशाह आम्बेर आएं और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाएं लेकिन अकबर को आगरा जाने की जल्दी थी इसलिए आम्बेर जाना किसी दूसरे समय के लिए स्थगित रखा गया। भगवंत दास, मान सिंह और उनके कुछ बंधु-बांधव अकबर के साथ रवाना हो गए।[33]

मान सिंह ने सेनापति के रूप में अकबर के लिए कई युद्ध लड़े और मुगल साम्राज्य का विस्तार किया। अफगानिस्तान, बिहार, बंगाल और उड़ीसा जैसे कई अभियानों को बहुत कम समय में पूरा किया और अकबर के सबसे विश्वसनीय सेनापति बने। अकबर ने उन्हें अपने नवरत्न में शामिल किया था। बादशाह से संबंधों के कारण मान सिंह काफी शक्तिशाली हो गए थे। वे 6 महीने अपनी रियासत में और 6 महीने अकबर की सेवा में रहते थे। जब भी वे शाही दरबार में पहुंचते तो आम तौर पर कम से कम 50 लाख रुपए भेंट करते थे। मान सिंह ने अपनी ताकत को इतना बढ़ा लिया था कि हिन्दुस्तान के राजाओं में कोई भी उनकी

योग्यता और वैभव तक नहीं पहुंचता था।[34]

1563 तक राजपूताना की सभी रियासतें अकबर की अधीनता स्वीकार कर चुकी थीं। केवल मेवाड़ ही था जो मुगल आधिपत्य स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। अकबर किसी भी कीमत पर मेवाड़ को अपने आगे झुकाना चाहता था। अकबर खुद चित्तौड़ पहुंचा और एक महीना लगाकर पूरे किले को घेरे में लिया। दुर्ग के दो कोस के वृत्त में जगह-जगह तोपें लगवाईं। राणा वहां से निकलकर कुंभलनेर की ओर चले गए तो वहां भी सेना भेजकर लोगों की हत्या करवाई तथा चित्तौड़ दुर्ग पर घेरा जारी रखा। भगवंत दास इस मोर्चे पर अकबर के साथ थे। 20 अक्टूबर, 1567 से 23 फरवरी, 1568 तक चले युद्ध में दुर्ग की प्राचीर और बुर्ज को सुरंगों में बारूद भरकर उड़ा दिया गया। दुर्ग में कई जगह जौहर की ज्वालाएं उठती दिखाई दीं। युद्ध के आखिरी दिन 30 हजार राजपूत और स्थानीय कृषक मारे गए।[35] मेवाड़ के महाराणा उदय सिंह ने चित्तौड़ हारने के बाद नई राजधानी बनाई और उसे उदयपुर नाम दिया। 1572 में उनकी मृत्यु हो गई और प्रताप सिंह मेवाड़ के नए महाराणा बने। अकबर ने प्रताप सिंह को हराने के लिए कई बार मान सिंह को मेवाड़ भेजा। मान सिंह प्रताप की सेना से लड़ते और उन्हें हरा भी देते लेकिन वे कभी भी उनके क्षेत्र पर कब्जा नहीं कर सके और न ही प्रताप को समझौता करने पर मजबूर कर सके। सभी युद्धों में मिली जीत के बावजूद प्रताप को झुकाने का अकबर का सपना अधूरा ही रह गया।

मुगल साम्राज्य को बढ़ाने के लिए पूरी दृढ़ता से लड़ने के बावजूद विभिन्न अवसरों पर आम्बेर के राजपूतों को बादशाह की उपेक्षा और नाराजगी का शिकार होना पड़ा। हल्दीघाटी की इस चर्चित लड़ाई में भी मान सिंह को अकबर का क्रोध झेलना पड़ा। अबुल फजल के अनुसार, 'प्रताप जीतता प्रतीत होता था लेकिन अकबर के आने का हल्ला मच जाने से लड़ाई का स्वरूप बदल गया।'[36] दूसरी ओर, एक ताजा शोध के निष्कर्ष में प्रताप की जीत हुई मानी जा रही है। लेकिन आम तौर पर यह सहमति है कि घायल प्रताप युद्ध भूमि से निकल गए थे और उनका प्रिय अश्व चेतक अदम्य साहस का प्रदर्शन करते हुए अपने स्वामी को बचाकर शहीद हो गया था।

हल्दीघाटी के युद्ध में अकबर के आने का हल्ला असत्य था लेकिन वह युद्ध के परिणाम से संतुष्ट नहीं हुआ। दरअसल, युद्ध के बाद प्रताप पहाड़ियों में चले गए और मान सिंह अपने सैनिकों के साथ गोगूंदा में ठहर गए जहां प्रताप का अड्डा हुआ करता था। यह माना गया कि मान सिंह ने दूरदर्शिता से प्रताप का पीछा नहीं किया। हालांकि मान सिंह के पास खाद्य पदार्थों की कमी थी और उन तक अन्न नहीं पहुंच सकता था। लेकिन मुगल दरबार के चालाक लोगों ने अकबर से कहा कि प्रताप के साथ युद्ध करने में शिथिलता की गई।[37] अब्दुल कादिर बदायूंनी ने भी लिखा है कि मान सिंह ने विजय के बाद प्रताप का पीछा नहीं किया इसलिए अकबर उससे नाराज हो गया था। दूसरी बात यह भी लिखी है कि मान सिंह ने गोगूंदा ठहरकर सेना को भूखों मरने दिया और प्रताप के राज्य को नहीं लूटा।[38]

11 अक्टूबर, 1576 को शाही सेना के साथ अकबर बाल सुंदर नामक हाथी पर सवार होकर गोगूंदा के लिए रवाना हुआ। वह गोगूंदा पहुंचा तो बहुत से लोगों ने उसकी अधीनता

स्वीकार की। अकबर ने राजा भगवंत दास और मान सिंह सहित कई लोगों को प्रताप को ढूंढने के लिए भेजा। प्रताप दक्षिण की पहाड़ियों में चले गए। प्रताप का पता नहीं चलने पर ये लोग शाही आदेश के बिना ही वापस लौट आए।[39] इस बात से अकबर बहुत नाराज हुआ। उसने भगवंत दास को बुरा-भला कहा और कई दिनों तक उनसे मुलाकात नहीं की। जब उन्होंने पश्चाताप किया तो उनको दरबार में वापस बुला लिया गया।[40]

आम्बेर राजघराने और मुगल सुल्तानों के बीच पारिवारिक संबंधों का सिलसिला जारी रहा और वहां की कई राजकुमारियों का विवाह शाही खानदान में हुआ। आम्बेर घराने से वैवाहिक संबंधों के बारे में जहांगीर ने लिखा है, 'हमने राजा मान सिंह के सबसे बड़े पुत्र जगत सिंह की पुत्री अपने निकाह के लिए मांगी। इसीलिए 80 हजार रुपए याचक के रूप में उक्त राजा के पास उसे सम्मानित करने के लिए भेजा। जगत सिंह की पुत्री हरम में आई और महल में निकाह पढ़ाया गया।[41] औरंगजेब के पुत्र मुहम्मद आजम का विवाह भी आम्बेर की राजकुमारी से हुआ जो राजा जय सिंह प्रथम के पुत्र कीर्ति सिंह की पुत्री थी।

इन वैवाहिक संबंधों के बावजूद आम्बेर के राजा ताबेदार जैसी ही भूमिका में थे। रोजमर्रा के हालात ने इन राजाओं को विचलित कर दिया। 1586 में पंजाब के सेनानायक बनाए गए भगवंत दास को अफगानिस्तान भेजा जाने लगा तो वे विक्षिप्त जैसे हो गए। उनकी जगह इस्माइल कुली को भेजा गया। इसके बाद भगवंत दास ने खुद अफगानिस्तान जाने का आग्रह किया। लेकिन काबुल जाते समय सिंधु पार करके खेरबाग की सराय में रुके तो फिर बुद्धि विकृत होने लगी। एक वैद्य उनकी नाड़ी देख रहा था तो यकायक अपना खंजर निकालकर खुद को ही आहत कर लिया।[42] भगवंत दास के भतीजे बलराम की बनारस में एक मुगल कर्मचारी ने खंजर मारकर हत्या कर दी। 1598 में भगवंत दास के पुत्र प्रताप सिंह ने विक्षिप्त होकर आत्महत्या करने की कोशिश की। उन्होंने अपने गले पर खुद ही खंजर मार लिया, बड़ी मुश्किल से उन्हें बचाया जा सका।[43] मुगल बादशाहों की ओर से लड़ाई में, उनके गुस्से के शिकार होकर या अपनी कमजोरियों के कारण आम्बेर के कई राजे-राजकुमार मौत को प्राप्त हुए। राजा भगवान दास के पुत्र अक्षय राज के तीनों बेटे अभय राम, जय राम और श्याम राम बिना बादशाही हुक्म के आगरा से चुपचाप महाराणा अमर सिंह के यहां जाने लगे, इन तीनों को नजरबंद कर दिया गया। जब इनके हथियार खुलवाने लगे तो लड़ाई में तीनों मारे गए।[44]

दूसरी ओर, कछवाहा राजा मुगल सल्तनत को समर्पित थे। आम्बेर के किले में फारसी में लिखा शिलालेख इस पर पर्याप्त प्रकाश डालता है, 'सुल्तानों को पनाह देने वाले शाहंशाह दीन और दुनिया के जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर बादशाह, खुदाए बुजुर्ग उनका मुल्क हमेशा कायम रखे, के जमाने में बुलंद आदेश देने वाले और अपने साम्राज्य की ईमानदारी और इंसाफ से बुनियाद रखने वाले महाराज राजा मान सिंह पुत्र राजा भगवंत दास पुत्र राजा भारमल पुत्र राजा पिथी (पृथ्वी) राज कछवाहा, उनका इकबाल हमेशा मुकम्मल रहे तारीख माह हिज्जा सन हजार आठ में स्वर्ग जैसी इमारत पच्चीस साल की मुद्दत में निहायत सलीके और तरीके के साथ मुकम्मल हुई तथा कुशलतापूर्वक सजाई-संवारी गई।

जिस प्रकार आसमान हमेशा बारिश से भरा रहे, महाराज की उम्र व दौलत की बुनियाद

यह इमारत भी हर प्रकार के नुकसान से खाली रहे।' इसके बावजूद मान सिंह को अनेक अवसरों पर अपमान के घूंट पीने पड़े। विशेष रूप से जहांगीर का व्यवहार उनके प्रति उपेक्षा भरा था। जहांगीर का सोचना था कि इस जाति (कछवाहों) में समझ की पूर्णता नहीं आ सकती।[45] जहांगीर ने लिखा है, 'राजा मान सिंह रोहतासगढ़ से आकर सेना में उपस्थित हुआ जो बिहार-पटना प्रांत है। यह छह-सात बार भाग जाने पर आया था और खान आजम के समान साम्राज्य का एक कपटी और पुराना भेदिया है। इन लोगों ने हमारे साथ क्या किया और हमने उनके साथ कैसा व्यवहार किया उसे अंतर्यामी ईश्वर ही जानता है।'[46] एक बार जाबुलिस्तान से राजपूतों की शिकायत मिलने पर अकबर ने मान सिंह को वहां की सूबेदारी से हटा दिया था; जहांगीर ने भी एक बार उन्हें बंगाल के सूबे से इसी तरह हटाया। ऐसा ही एक मौका आया जब अकबर की मृत्यु के बाद मान सिंह ने अन्य दरबारियों के साथ मिलकर खुसरो को तख्त पर बैठा दिया, जो जहांगीर का बड़ा बेटा और मान सिंह का भांजा लगता था। जहांगीर झगड़े के डर से अपनी हवेली में चुपचाप बैठ गया। सातवें दिन खुसरो अपने दादा की कब्र पर हलवा बांटने गया तो शेख फरीद ने जहांगीर को बुलाकर तख्त पर बैठा दिया। मान सिंह ने जहांगीर की ताबेदारी स्वीकार की, जिसके कारण उनकी बंगाल की सूबेदारी बहाल रखी गई।[47]

जहांगीर ने मान सिंह को दक्षिण की मुहिम में भेजा था, वहीं पर उनकी मृत्यु हो गई। मान सिंह के पुत्र जगत सिंह और जगत सिंह के पुत्र महा सिंह भी मुगल ताबेदारी के दौरान 32-32 वर्ष की उम्र में मरे। कहा गया कि अधिक शराब पीने से दोनों की मौत हुई। मान सिंह के बाद आम्बेर के राजा बने उनके पुत्र भाऊ सिंह की मृत्यु भी संदेहास्पद परिस्थितियों में हुई। उनकी मृत्यु का कारण और समय दोनों अनिश्चित है। मान सिंह के एक अन्य पुत्र दुर्जन सिंह भी अन्य मौके पर मारे गए। जय सिंह प्रथम की मृत्यु के बारे में कहा जाता है कि उनके बेटे कीर्ति सिंह ने औरंगजेब की शह पर जहर दे दिया था। अन्य उल्लेख के अनुसार जय सिंह की मृत्यु बुरहानपुर में हाथी से गिरने पर हुई। 1673 में कीर्ति सिंह की मृत्यु भी दक्षिण में हो गई। राम सिंह के पुत्र कृष्ण सिंह की हत्या मार्च, 1682 में दक्षिण में मुगल दरबार में एक विवाद के कारण हुई। कृष्ण सिंह के पुत्र राजा विष्णु सिंह की मृत्यु 10 जनवरी, 1700 को काबुल में हुई। जय सिंह द्वितीय की पत्नी रानी बघेली गौरी जी और उनके पुत्र शिव सिंह की अगस्त, 1724 में हुई मौतों को लेकर भी विवाद है। शिव सिंह मथुरा के फौजदार थे। इतिहासकार मानते हैं वे या तो बीमारी से मरे या उन्हें जहर दिया गया।

आगे जाकर आम्बेर के राजा बनाए जाने का फैसला भी बादशाह ही करने लगे थे। जहांगीरनामा में उस समय का उल्लेख है, 'राजा मान सिंह की मृत्यु का समाचार मिला। उक्त राजा हमारे पिता के मुख्य सरदारों में से एक था। हमने साम्राज्य के बहुत-से सेवकों को दक्षिण के कार्य पर भेजा था, इसलिए इसे भी वहीं नियत किया था। उसी सेवा में इसकी मृत्यु होने पर हमने मिर्जा भाऊ सिंह को बुला भेजा, जो उसका वैधानिक उत्तराधिकारी था। जब हम शाहजादा थे, तभी से इसने हमारी बहुत सेवा की थी। उस वंश की सरदारी तथा नेतृत्व हिन्दू विधानानुसार महा सिंह को मिलना चाहिए था। यह राजा के बड़े पुत्र जगत सिंह का पुत्र था,

जो अपने पिता के जीवनकाल ही में मर गया था। परन्तु हमने इसे नहीं माना और भाऊ सिंह को मिर्जा राजा की पदवी देकर उसका मनसब चार हजारी, 3000 सवार का कर दिया। इसे हमने आम्बेर दे दिया, जो इसके पूर्वजों का निवास स्थान था। महा सिंह को संतोष तथा सांत्वना दिलाने के लिए मनसब पांच सौ से बढ़ा दिया और गढ़ा प्रांत पुरस्कार में दिया। मिर्जा राजा भाऊ सिंह संतुष्ट तथा प्रसन्न होकर अपने देश लौट गया तथा वचन देकर गया कि वह दो-तीन महीने से अधिक नहीं रुकेगा।'[48]

खुसरो और उसकी मां के प्रति जहांगीर का व्यवहार अच्छा नहीं रहा। जहांगीर के बादशाह बनने के बाद खुसरो घर छोड़कर चला गया। खुसरो की मां, मान सिंह की बहन ने खाना-पीना छोड़ दिया। जहांगीर ने लिखा है कि खुसरो की मां ने तीन दिन तक कुछ भी नहीं खाया और लज्जा तथा क्रोध के कारण अंत में उसकी मृत्यु हो गई।[49] अकबरनामा में लिखा है कि उसने अफीम खाकर आत्महत्या कर ली।[50]

राजपूत शासकों की धार्मिक मान्यताओं के प्रति मुगल बादशाहों की सोच जहांगीर के कुछ संस्मरणों से स्पष्ट होती है। जहांगीर ने एक प्रसंग का उल्लेख करते हुए लिखा है, 'मथुरा में मेरे पिता (अकबर) की हरमों में राजा मान सिंह की पुत्री और अन्य बड़े राजाओं ने बड़े-बड़े मंदिर बनवाए, जिसमें एक-एक में एक और दो लाख रुपए तक लग गए। दूसरे मंदिर बनारस में बनवाए हैं। राजा मान सिंह ने उस दरबार में जो मंदिर निर्माण करवाया है उसमें हमारे पिता के आठ-दस लाख रुपए तक लग गए।'[51]

1613 में जहांगीर अजमेर आया और लगभग 3 वर्ष रहा। इस दौरान पुष्कर देखने और शिकार करने गया। वहां पुष्कर तीर्थ के चारों ओर मंदिर बने हुए थे। वहां उन्हें देवरा कहा जाता था। जहांगीर के अनुसार, 'इन्हीं में एक लाख रुपए की लागत से बना विशाल भव्य मंदिर था, जिसे राणा सांगा (विद्रोही अमर के चाचा) ने बनवाया था। काले पत्थर से काटकर मूर्ति बनाई गई थी, जिसके गले से ऊपर का भाग सूअर के मुख-सा और नीचे का भाग मनुष्यों का था। हिन्दू घरों में इसे अवतार माना जाता था इसलिए ये इसे पूज्य मानते थे।' जहांगीर ने आगे लिखा, 'हमने आज्ञा दे दी कि इस वीभत्स मूर्ति को तोड़कर तालाब में फेंक दो। वहीं, पहाड़ी पर एक गुम्बद था। हमने आज्ञा दी कि उस स्थान को तोड़ डालें तथा जोगी को वहां से निकाल दें और वहां रखी मूर्ति को नष्ट कर दें।'[52] अजमेर की दरगाह के बारे में जहांगीर ने लिखा, 'कुछ इच्छाओं के विचार से मन्नत मांगी थी कि ख्वाजा के प्रकाशमान दरगाह के घेरे में जाली सहित सोने की रेलिंग लगा दी जाएगी। वह तैयार करवाकर लगाने की आज्ञा दी। एक लाख दस सहस्त्र उसे बनाने में लगे।'[53]

औरंगजेब के शासनकाल में आम्बेर के राजाओं की शक्ति और यश में सबसे अधिक वृद्धि हुई। औरंगजेब ने भी जय सिंह प्रथम को अपना सबसे विश्वसनीय सूबेदार बनाया और कई महत्वपूर्ण अभियानों का दायित्व उन्हें दिया। औरंगजेब ने अपने भाई दारा शिकोह की हत्या करके दिल्ली की गद्दी पर कब्जा किया था। दारा शिकोह का पीछा करने के लिए भी औरंगजेब ने जय सिंह को लगाया। इसी के कारण दारा को कहीं आराम करने का मौका तक नहीं मिला। जय सिंह ने छोटे-बड़े रण, कच्छ द्वीप, सिविस्तान की सीमा तक दारा का पीछा

किया। लेकिन दारा भारत की मुगल सीमा पार करने में सफल रहा। आगे जाकर जब वह पकड़ में आया तो उसकी हत्या कर दी गई।[54]

जहांगीर के शासनकाल में जय सिंह मुगल साम्राज्य के सबसे विश्वसनीय प्रतिनिधि रहे थे। उन्हें जहांगीर ने मिर्जा राजा की उपाधि दी थी। मुगल साम्राज्य के विस्तार में जय सिंह का योगदान अतुलनीय रहा। शाहजहां के दीर्घकालीन शासनकाल में कोई ऐसा वर्ष नहीं बीता था जिसमें जय सिंह ने किसी युद्ध में भाग नहीं लिया हो। रणभूमि में एक-से-बढ़कर एक योद्धाओं को परास्त कर जय सिंह ने मुगल दरबार में अपना एक विशेष महत्व बनाया था। जब भी कोई कठिन अभियान पूरा करना होता था तो बादशाह की नजर जय सिंह पर जाती थी। जय सिंह जितने पराक्रमी योद्धा थे, उतने ही कुशल राजनीतिज्ञ भी। वे विपरीत परिस्थितियों में धैर्य रखना जानते थे। उनमें कूटनीति, दूरदर्शिता और साहस का एक अद्‌भुत तालमेल था। भारत की क्षेत्रीय बोलियों के अलावा उन्हें तुर्की और फारसी का भी ज्ञान था। अफगान, तुर्क और राजपूत सैनिकों से बनी मुगल सेना के प्रतिनिधित्व के लिए जरूरी सभी विशेषताएं उनके पास थीं।[55]

जय सिंह ने पश्चिम में काबुल से लेकर पूर्व में असम तक और उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिणी प्रांतों तक मुगल साम्राज्य को संभाला था। औरंगजेब एक पक्का राजनीतिज्ञ था। उसे परिणाम की परवाह थी, भावनाओं की नहीं। लेकिन जय सिंह का स्वभाव बिल्कुल विपरीत था। उन्हें लोगों, वफादारी और गद्दी के सम्मान की चिंता थी। जय सिंह ने औरंगजेब और उसके भाई शूजा के बीच हुई लड़ाई में औरंगजेब की रक्षा की थी। वे दिल्ली की गद्दी के सम्मान की रक्षा में जुटे रहे। दारा शिकोह के बेटे सुलेमान को बंदी भी उन्होंने ही बनाया था। माना जाता है कि यदि जय सिंह नहीं होते तो औरंगजेब को दिल्ली की गद्दी नहीं मिलती।[56]

औरंगजेब ने मराठा योद्धा शिवाजी को हराने का जिम्मा जय सिंह को दिया और इस महत्वपूर्ण अभियान के लिए उन्हें दक्षिण में नियुक्त किया। शिवाजी पर विजय प्राप्त करने के लिए जय सिंह ने पहली चाल बीजापुर की ओर चली। उन्होंने वहां के सुल्तान आदिल शाह से कहा कि यदि उसने शिवाजी के खिलाफ लड़ाई में मुगलों का साथ दिया तो औरंगजेब की कृपादृष्टि से उसे कर में छूट मिल जाएगी और वह मुगल साम्राज्य का मित्र बन जाएगा। जय सिंह ने शिवाजी के अन्य शत्रुओं को भी अपने साथ जोड़ लिया और मार्च, 1665 में पुरंदर के पास अपना स्थाई पड़ाव डाल दिया। मुगल सेना ने एक-एक करके शिवाजी के किलों पर कब्जा करना शुरू किया। 13 अप्रेल, 1665 की आधी रात को मुगल सेना ने वज्रगढ़ के किले पर धावा बोला। अगले दिन गोलाबारी होती रही और शाम ढलने से पहले मराठा सेना को समर्पण करना पड़ा।[57] वज्रगढ़ पर मिली जीत पुरंदर के अभियान में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। वज्रगढ़ को पुरंदर से जोड़ने वाली पर्वत श्रृंखला के सहारे मुगल सेना आगे बढ़ी और पुरंदर के निचले भाग को घेर लिया। शिवाजी यह समाचार पाकर चिंतित हो गए। अधिकतर मराठा सरदारों के परिवार पुरंदर में ही आश्रय लेकर बैठे थे। शिवाजी ने सोचा कि मुगल सेना उन्हें कैद कर लेगी और उनके साथ बुरा व्यवहार करेगी। अपने लोगों को कष्ट से बचाने के लिए शिवाजी ने जय सिंह से मिलकर संधि करने का फैसला किया।[58]

11 जून, 1665 को शिवाजी जय सिंह के शिविर में पहुंचे। जय सिंह ने सम्मान के साथ उनका स्वागत किया। उनके बीच काफी देर तक बातचीत होती रही। अंततः वे एक नतीजे पर पहुंचे और दोनों पक्षों के लिए कुछ शर्तें निश्चित करने के बाद संधि हो गई। शिवाजी ने अपने 23 किले मुगल साम्राज्य को सौंप दिए। उनके पास कुल 12 किले छोड़े गए, इस शर्त पर कि वे मुगल साम्राज्य के प्रति वफादार बने रहेंगे। शिवाजी ने शाही दरबार में उपस्थित रहने के दायित्व से छूट मांगी और आश्वासन दिया कि बादशाह के दक्षिण में आने पर वे उनसे भेंट करने पहुंच जाएंगे। इसके अलावा उन्होंने दक्षिण के मुगल सूबेदार को 5 हजार सवार सैनिकों का नेतृत्व करने के लिए अपने पुत्र को भेजने और सभी सैनिकों की तनख्वाह चुकाने की शर्त स्वीकार की।[59]

शिवाजी और जय सिंह के बीच की लड़ाई में बीजापुर शिवाजी की सहायता कर रहा था। जय सिंह को इसका पता चल गया था। शिवाजी से युद्ध समाप्त होने के बाद सेना को किसी न किसी अभियान में लगाए रखना जरूरी था। ऐसे में बीजापुर पर आक्रमण करना ही जय सिंह को उचित लगा। इसके लिए शिवाजी से संधि के दौरान जय सिंह ने उनसे वादा लिया कि बीजापुर पर आक्रमण करने के समय वे 2 हजार घुड़सवार सैनिकों को मुगल सेना की सहायता के लिए भेजेंगे।[60] इसके बाद शिवाजी ने एक अन्य प्रस्ताव जय सिंह के सामने रखा। उन्होंने कहा कि यदि उन्हें कोंकण की तराई के क्षेत्र पर पूरा अधिकार मिल जाए तो वे 13 वार्षिक किश्तों में 40 लाख हूण (प्राचीन मुद्रा) बादशाह को भेंट करेंगे। उनकी शर्त मान ली गई और पुरंदर की संधि की प्रक्रिया पूरी हुई। जय सिंह ने अपने सैनिकों को किलों पर कब्जा करने के लिए रवाना कर दिया।[61] उन्होंने बीजापुर के आश्रित राज्यों को मुगल साम्राज्य से मनसब दिलवाने का प्रलोभन देकर अपने साथ जोड़ लिया और नवम्बर, 1665 में लगभग 47 हजार सैनिकों के साथ बीजापुर पर चढ़ाई के लिए निकले। उनकी पहली लड़ाई 25 दिसम्बर, 1665 को हुई। शिवाजी और जय सिंह के नेतृत्व में मुगल और मराठा सेना ने मिलकर बीजापुर की सेना से युद्ध किया। 28 दिसम्बर को दोबारा युद्ध हुआ। मुगल सेना बीजापुर से केवल 12 मील दूर रह गई थी लेकिन बीजापुर के आदिल शाह ने पूरी घेराबंदी कर रखी थी। इसी बीच जय सिंह के पास युद्ध सामग्री कम पड़ने लगी। बीजापुर की सहायता के लिए गोलकुंडा से भी सेना आने लगी, जबकि मुगल सैनिकों के सामने भूखों मरने की नौबत आ गई थी।[62] इन हालात में मुगल सेना ने 5 जनवरी, 1666 को वापस लौटना शुरू कर दिया। इसी दौरान सिकंदर नामक एक अफगान जय सिंह की सेना के लिए युद्ध सामग्री लेकर जा रहा था जिसे बीजापुर की सेना ने पकड़ लिया और सारी रसद लूट ली। जय सिंह के पास लौटने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। आखिरकार वे अपनी सेना को लेकर मुगल साम्राज्य की सीमा में लौट आए और युद्ध विराम हो गया। इस युद्ध में हुए आर्थिक नुकसान के कारण औरंगजेब जय सिंह से नाराज हो गया। जय सिंह ने अपने पास से लगभग एक करोड़ रुपए इस युद्ध में लगा दिए थे। औरंगजेब ने उन्हें एक भी रुपए का भुगतान नहीं किया।[63]

बीजापुर से लौटने के बाद जय सिंह ने शिवाजी को मुगल दरबार में लाने की जिम्मेदारी

ली। उन्होंने शिवाजी से वादा किया कि उन्हें दरबार में सम्मान मिलेगा। बड़े प्रयत्न के बाद शिवाजी तैयार हुए और अपनी मां को राज्य का अभिभावक बनाकर अपने पुत्र संभाजी के साथ रवाना हुए। 12 मई, 1666 को शिवाजी औरंगजेब के दरबार में पहुंचे। औरंगजेब के 50वें जन्मदिन का उत्सव चल रहा था। उन्होंने एक हजार स्वर्ण मुद्राओं के साथ 5 हजार रुपए औरंगजेब को भेंट किए। औरंगजेब की ओर से उनके अभिवादन का कोई जवाब नहीं मिलने पर शिवाजी आहत हुए। इसके बाद उन्हें साधारण मनसबदारों की कतार में खड़ा कर दिया गया और दरबार की कार्रवाई शुरू हुई। इसके बाद खिलअत और सिरोपाव* वितरण शुरू हुआ जो राजाओं और सम्मानित व्यक्तियों को मिलता था। इस प्रक्रिया में भी शिवाजी को नजरअंदाज किया गया। इस अपमान को देखकर शिवाजी गुस्से से भर गए। औरंगजेब ने उनके चेहरे के भाव पढ़ लिए और जय सिंह के पुत्र राम सिंह से उनकी तबीयत के बारे में पूछने के लिए कहा। राम सिंह शिवाजी के पास पहुंचे तो उन्होंने अपना गुस्सा प्रकट किया और दरबार से उठकर जाने लगे। राम सिंह ने औरंगजेब के डर से उन्हें रोकने की कोशिश की लेकिन वे हाथ झटककर दूसरी जगह जाकर बैठ गए। उन्होंने राम सिंह से कहा, 'मेरी मौत आई है, या तो तुम मुझे मारोगे या मैं आत्मघात कर लूंगा। चाहो तो मेरा सिर काटकर ले जाओ लेकिन मैं बादशाह की सेवा में नहीं जाऊंगा।'[64] इसके बाद राम सिंह ने उन्हें आराम करने के लिए भेज दिया। दरबार में उपस्थित लोगों ने औरंगजेब को भड़काना शुरू किया और कहा कि एक छोटे से भौमिए ने हिन्दुस्तान के बादशाह को चुनौती दी है, इसलिए उसे सजा मिलनी चाहिए।[65]

औरंगजेब ने जहांआरा, जसवंत सिंह वगैरह का कहना मानकर शिवाजी को काबुल भेजने का आदेश दिया। इसका अर्थ राम सिंह के अनुसार यह था कि औरंगजेब ने शिवाजी को रास्ते में ही मरवा देने का निश्चय किया है।[66] लेकिन बाद में औरंगजेब ने यह विचार बदल दिया, जिसका बड़ा कारण राम सिंह का उनके पिता द्वारा शिवाजी को दिए गए सुरक्षा के वचन की याद दिलाना था। शिवाजी की काबुल में नियुक्ति रद्द करके जय सिंह से पूछा गया कि शिवाजी को क्या वचन दिया हुआ है।[67] जय सिंह उस समय दक्षिण में ही थे। उनका जवाब आने तक औरंगजेब ने शिवाजी को कैद करने का हुक्म दे दिया और आगरा शहर के कोतवाल सिद्दी फौलाद खां से कहकर उनके डेरे के चारों ओर पहरा लगा दिया। जय सिंह को जब यह सूचना मिली तो वे धर्मसंकट में पड़ गए। उनके आश्वासन पर ही शिवाजी औरंगजेब के दरबार में आने के लिए तैयार हुए थे। उन्होंने राम सिंह को लगातार कई पत्र लिखे और यह ध्यान रखने के लिए कहते रहे कि शिवाजी के जीवन पर कोई संकट नहीं आए।[68]

उसी दौरान शिवाजी के बीमार होने की बात बाहर आने लगी। राम सिंह ने शिवाजी के स्वास्थ्य के बारे में पूछने के बहाने उनसे मुलाकात की। शिवाजी ने बताया कि उन्हें बुखार नहीं है, हालांकि उन्होंने शरीर में दर्द की शिकायत की। राम सिंह परेशान दिखाई दे रहे थे।

*खिलअत और सिरोपाव बादशाह या राजा की ओर से सम्मानार्थ दी जाने वाली पोशाकें थीं जिनमें सिर से पांव तक पहने जाने वाले सभी कपड़े शामिल होते थे।

उन्होंने कहा, 'राजा साहब आपकी सेहत गलत समय पर गलत दिशा में जा रही है।'

शिवाजी ने पूछा, 'आप ऐसा क्यों कह रहे हैं?'

राम सिंह ने जवाब दिया, 'मैंने सुना है कि विट्ठलदास की हवेली में आपकी हत्या की योजना बन रही है। मैं बहुत असहाय महसूस कर रहा हूं। मैं आपकी सहायता नहीं कर सकता।' यह कहते हुए राम सिंह रो पड़े। शिवाजी बड़ी मुश्किल से खड़े हुए और उन्होंने राम सिंह को गले लगा लिया।[69]

दूसरी ओर, शिवाजी ने फौलाद खां के कई आदमियों को रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर लिया। फौलाद खां को शिवाजी की इस गतिविधि के बारे में कोई भी जानकारी नहीं थी।[70] इसके बाद शिवाजी एक नाटकीय घटनाक्रम में आगरा से निकल भागने में कामयाब हो गए। औरंगजेबनामा के अनुसार यह घटना 19 अगस्त, 1666 की है। एक अन्य विवरण के अनुसार राम सिंह ने ही इसकी सूचना औरंगजेब को दी। राम सिंह ने भीगी हुई आंखों के साथ औरंगजेब की तरफ देखा और कहा, 'जहांपनाह, एक बुरी खबर है। शिवाजी फरार हो गया।' औरंगजेब को एक पल के लिए राम सिंह की बात का मतलब नहीं समझ आया। उसने अपने हाथ में ली हुई मोतियों की माला फेंक दी और गुस्से में चीखने लगा। औरंगजेब ने इस घटना के लिए आम्बेर के राजाओं को माफ नहीं किया। राम सिंह के आदमियों को पकड़कर दंड दिया गया लेकिन वे इस घटना के बारे में कोई सुराग नहीं दे सके।[71]

इसके बाद राम सिंह का मनसब रद्द कर दिया गया और जय सिंह को संदेश भेजा गया कि उनके आग्रह पर जो 5 हजार सवार का मनसब दिया गया था उसे वापस कर दें।[72] शिवाजी के आगरा से गायब हो जाने के बाद औरंगजेब ने जय सिंह को काबुल जाने का आदेश दिया।[73] उसी दौरान जय सिंह के नेतृत्व में मुगल सेना ने बीजापुर पर आक्रमण किया। सैनिक दृष्टि से बीजापुर पर जय सिंह की यह चढ़ाई सर्वथा विफल रही। मुगलों द्वारा जीते हुए बीजापुरी किलों में से एक भी मुगलों के अधिकार में नहीं रह गया था। मुगल सेना की हार और बीजापुर के इस आक्रमण से होने वाले धन खर्च के कारण जय सिंह से औरंगजेब बहुत नाराज हो गया। अक्टूबर, 1666 में जय सिंह को औरंगाबाद लौटने का हुक्म मिला तथा 23 मार्च, 1667 को उन्हें वापस दिल्ली बुला लिया गया। शहजादे मुअज्जम को दक्षिण का सूबेदार और उसकी सहायता के लिए जसवंत सिंह को नियुक्त किया गया। अपमान और निराशा से भरे हुए जय सिंह ने औरंगाबाद में मई, 1667 में शासन सौंपकर उत्तर भारत की राह ली। बीजापुर के युद्ध में जय सिंह ने एक करोड़ रुपए के लगभग निजी धन व्यय किया, जिसमें से एक पैसा भी औरंगजेब ने नहीं चुकाया। निरादर और निराशा ने जय सिंह का दिल तोड़ दिया था। वृद्धावस्था तथा रोग से जीर्ण जय सिंह की 28 अगस्त, 1667 को बुरहानपुर में मृत्यु हो गई।[74]

दरअसल, जय सिंह एक वफादार सैनिक और भावुक व्यक्ति थे। उस समय के हालात ऐसे थे कि उन्हें औरंगजेब से बगावत करने में अधिक समय नहीं लगता। शिवाजी को भी लगता था कि वे और जय सिंह मिलकर मुगल सल्तनत को खत्म कर सकते हैं। निस्संदेह औरंगजेब को यह दुश्मनी भारी पड़ जाती।[75] जय सिंह न केवल एक कुशल रणनीति विशेषज्ञ

थे, बल्कि अनुपम सूझबूझ वाले राजनेता भी थे। दक्षिण के विषय में उन्होंने जिन नीतियों का प्रतिपादन किया, वे दृढ़ और परिपक्व थीं। यदि उन्हें ठीक से माना और क्रियान्वित किया गया होता तो मुगल साम्राज्य उस बड़े राजनीतिक संकट से बच गया होता, जिसने जय सिंह की मृत्यु के एक दशक बाद ही मुगल साम्राज्य को घेर लिया।[76]

जय सिंह की मृत्यु के बाद औरंगजेब ने राहत की सांस ली। इधर, जय सिंह के नहीं रहने पर शिवाजी को भी अपने साम्राज्य का सूरज अस्त होता दिखाई देने लगा। उन्हें पता था कि औरंगजेब के लिए नैतिकता जैसे शब्द निरर्थक हैं। उन्होंने औरंगजेब से समझौता करने का इरादा किया और इसके लिए जसवंत सिंह को पत्र लिखा जो जोधपुर के महाराजा थे और असम में औरंगजेब के सूबेदार थे। शिवाजी ने इस पत्र में अपने संरक्षक मिर्जा राजा की मृत्यु का हवाला देते हुए समझौते की पहल की। जसवंत सिंह ने शिवाजी का प्रस्ताव औरंगजेब को भेजा। औरंगजेब ने स्वीकृति दे दी। उसने 1668 के आरंभ में शिवाजी को राजा कहकर संबोधित करना शुरू कर दिया लेकिन उनके द्वारा मुगल साम्राज्य को सौंपे गए किलों में से केवल एक चाकण का किला ही वापस किया।[77] जय सिंह की मृत्यु के बाद औरंगजेब ने राम सिंह की पुरानी गलतियों को माफ कर दिया और उन्हें आम्बेर की गद्दी सौंप दी।[78]

औरंगजेब ने हमेशा यह याद दिलाने की कोशिश की कि बादशाह का हुक्म ही सर्वमान्य है और बाकी सभी राजा उसका पालन करने के लिए बाध्य हैं। जनवरी, 1670 में औरंगजेब ने मथुरा के केशवराय मंदिर को विध्वंस करने और मथुरा का नाम बदलकर इस्लामाबाद करने का हुक्म दिया। इसके साथ ही साम्राज्य के सभी सूबों, परगनों, शहरों और महत्वपूर्ण स्थानों पर अपने आदमियों को नियुक्त किया जिनका काम हिन्दुओं के तीर्थों और मंदिरों को तहस-नहस कर देना था। इसी क्रम में जून, 1680 में आम्बेर राज्य के स्वामिभक्त राजा की राजधानी के भी सारे मंदिर तुड़वा डाले गए।[79]

अपने इकलौते पुत्र कृष्ण सिंह की असमय मृत्यु के बाद राम सिंह ने अपने पौत्र विष्णु सिंह को उत्तराधिकारी चुना। 28 मार्च, 1688 को जाटों के सरदार राजाराम ने सिकन्दरा पर चढ़ाई की। उसने अकबर की हड्डियों को जलाकर उसके मकबरे को नष्ट कर दिया।[80] यह सुनकर औरंगजेब का खून खौल उठा। उसने जाटों का दमन करने के लिए विष्णु सिंह को मथुरा के फौजदार के रूप में नियुक्त किया। उन्हें जाटों का सर्वनाश करने का काम सौंपा गया और बदले में सिनसिनी की जागीर देने का वायदा किया गया। यद्यपि जाटों का नेतृत्व किसी उच्च कोटि के पुरुष के हाथों में नहीं था; फिर भी उन्होंने विष्णु सिंह को नाकों चने चबवा दिए। सिनसिनी का घेरा कई महीनों तक पड़ा रहा और जाटों ने उन्हें चैन से नहीं बैठने दिया। सिनसिनी पर पहला धावा विफल रहा। जनवरी, 1690 में दूसरा धावा हुआ, जो सफल हुआ। घमासान गुत्थमगुत्था लड़ाई में सैकड़ों ने प्राण गंवाए।[81]

आने वाले वर्षों में विष्णु सिंह ने सोघर, हरसौली, सोनखेड़, रायसिन, बठावली, जवाहर की गढ़ी समेत कई महत्वपूर्ण जाट किलों पर कब्जा कर लिया। इसके एवज में औरंगजेब ने उन्हें हिंडौन और बयाना की फौजदारी का अधिकार दिया।[82]

1699 में विष्णु सिंह की मृत्यु हो गई और उनके पुत्र जय सिंह द्वितीय ने आम्बेर की गद्दी

संभाली। उनके शासनकाल में मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी। 3 मार्च, 1707 को औरंगजेब के मरने के बाद उसके बेटों मुअज्जम और आजम में गद्दी को लेकर लड़ाई शुरू हुई। जय सिंह द्वितीय आजम की ओर से लड़े जबकि उनके छोटे भाई विजय सिंह ने मुअज्जम की तरफ से लड़ाई में हिस्सा लिया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद अजीत सिंह (जोधपुर) ने मुगल सेना को अपने क्षेत्र से बाहर खदेड़ दिया और मेड़ता, सुजात तथा पाली के इलाकों पर कब्जा कर लिया। कुछ समय बाद मुअज्जम ने अजीत सिंह को संदेश भेजा और गद्दी हासिल करने के लिए आजम से हो रही लड़ाई में मदद करने के लिए कहा। अजीत सिंह ने उसके संदेश को नजरअंदाज कर दिया और अपनी रियासत को मजबूत करने पर ध्यान देना शुरू किया। मुअज्जम की जीत हुई और उसने बहादुर शाह के नाम से मुगल बादशाह का ताज पहना।[83]

बहादुर शाह ने अजीत सिंह को जोधपुर का शासन मुगल फौजदार को सौंपने का आदेश दिया। अजीत सिंह ने इस आदेश पर भी कोई ध्यान नहीं दिया और न ही पारंपरिक भेंट प्रस्तुत की। हालांकि यह भी तय था कि यदि अजीत सिंह इस औपचारिकता को पूरा करते तो भी बहादुर शाह अपने साम्राज्य के 27 वर्षों के कब्जे को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता।[84] बहादुर शाह ने दक्कन जाने की तैयारी की और इस बीच जोधपुर तथा आम्बेर के मामलों को सुलझाने के लिए राजपूताना की ओर बढ़ना शुरू किया। जयसिंह को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने राजावत, शेखावत और नरूका वंश के अपने सहयोगियों को संदेश भेजकर एक बड़ी सेना तैयार करना शुरू किया। 2 नवम्बर, 1707 को बहादुर शाह ने यात्रा शुरू की। जोधपुर के फौजदार मेहराब खान को अपना काम शुरू करने के लिए रवाना किया गया। साथ ही, जयसिंह को चेतावनी दी गई कि वे बहादुर शाह के पहुंचने से पहले आम्बेर को खाली कर दें। 4 दिसंबर को हुसैन अली ने सूचना दी कि जयसिंह के लोगों द्वारा नगर खाली करने के बाद मुगल सेना ने आम्बेर पर कब्जा कर लिया।[85]

7 जनवरी, 1708 को बहादुर शाह आम्बेर पहुंचा। 10 जनवरी को बहादुर शाह के आने से पहले शहजादे जहांदार शाह, अजीमुश्शान और जहांशाह ने आम्बेर के किलों का निरीक्षण किया। दोपहर में बहादुर शाह ने किले के अंदर अकबर द्वारा निर्मित मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ी और फिर राजमहल की ओर चल पड़ा। शाम होने पर वह अपने शिविर में लौट गया।[86] इतिहासकारों में इस बात को लेकर मतभेद है कि बहादुर शाह ने आम्बेर का शासन जय सिंह के भाई विजय सिंह को दे दिया या फिर उसे मुगल साम्राज्य के अधीन कर लिया। जदुनाथ सरकार अपनी किताब 'अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर' में लिखते हैं कि 10 जनवरी को आम्बेर पहुंचने के बाद बहादुर शाह ने विजय सिंह को गद्दी सौंप दी।[87] वहीं, वी.एस. भटनागर के अनुसार, ऐसा कोई दस्तावेज नहीं मिलता जिससे यह पता चले कि आम्बेर की गद्दी विजय सिंह को दे दी गई हो।[88]

13 जनवरी, 1708 को बहादुर शाह अजमेर के लिए रवाना हुआ। जय सिंह भी उसके साथ गए। जयसिंह ने बहादुर शाह से कहा कि आम्बेर को मुगल शासन के अधीन किए जाने और देवती सांचेड़ी का शासन विजय सिंह को मिल जाने के बाद उनके पास केवल दौसा

बचता है जो उनके परिवार के लिए पर्याप्त नहीं होगा। उन्होंने बहादुर शाह से मौजाबाद और चाकसू परगनों की मांग की लेकिन बहादुर शाह ने इस मांग को ठुकरा दिया। जयसिंह समझ गए थे कि आम्बेर पर पुन: अधिकार पाने में उन्हें समय लगेगा। उन्होंने अपने आदमी को भेजकर अपनी मां और परिवार के अन्य महिलाओं को दौसा भेजने का प्रबंध किया। जय सिंह की मां अपना पारंपरिक निवास छोड़कर जाने के लिए तैयार नहीं थीं। उन्होंने कहा कि उनकी जान चली जाए तो भी वे आम्बेर से कहीं नहीं जाएंगी। आखिरकार, जयसिंह को खुद उनसे आग्रह करना पड़ा कि इस संकट के टल जाने तक वे आम्बेर से बाहर चली जाएं।[89] 1 मार्च, 1708 को बहादुर शाह ने आम्बेर का नाम बदलकर मोमिनाबाद रखने का आदेश जारी कर दिया।[90]

इसी दौरान बहादुर शाह को सूचना मिली कि उसके छोटे भाई कामबख्श ने खुद को हैदराबाद का शासक घोषित कर दिया है। 24 मार्च को बहादुर शाह ने हैदराबाद पर चढ़ाई के लिए प्रस्थान किया। उसने अपने साथ अजीत सिंह और जय सिंह को भी रख लिया। दोनों राजा इस आशा में बहादुर शाह के साथ बने रहे कि उनकी रियासतें उन्हें वापस मिल जाएंगी। बहादुर शाह की नीयत में कोई बदलाव नहीं आता देखकर 21 अप्रेल को दोनों उसका साथ छोड़कर शिविर से निकल गए और अपनी रियासतों की ओर लौट गए।[91] इसके बाद उदयपुर, जोधपुर और आम्बेर के राजाओं ने मुगल साम्राज्य के खिलाफ एकता का समझौता किया और इसे मजबूत बनाने के लिए पारिवारिक संबंध जोड़ने का फैसला किया। महाराणा अमर सिंह की बहन का विवाह अजीत सिंह से पहले ही हो चुका था; इस मौके पर अमर सिंह ने अपनी बेटी का विवाह जय सिंह के साथ तय किया। उन्होंने यह शर्त रखी कि उनकी बेटी को सबसे ऊंचा दर्जा दिया जाएगा, उनसे पैदा होने वाला पुत्र आम्बेर का उत्तराधिकारी बनेगा और यदि पुत्री हुई तो उसका विवाह मुसलमानों से नहीं किया जाएगा।

दूसरी ओर, जय सिंह और बहादुर शाह के बीच हुए विवाद का लाभ उठाकर मराठों ने राजपूताने में घुसपैठ शुरू कर दी। इसके कारण आम्बेर और उदयपुर की रियासतें बिल्कुल तबाह हो गईं। इसी दौरान इन राजाओं ने यह बातचीत शुरू की कि मुगलों को हिन्दुस्तान से निकालकर महाराणा को बादशाह बनाया जाए लेकिन यह विषय विवादों में ही उलझकर रह गया।[92]

बहादुर शाह की तानाशाही के बाद आम्बेर रियासत में मुगल सरदारों को जय सिंह के समर्थकों का विरोध झेलना पड़ रहा था। लगभग दो वर्षों तक बहादुर शाह हैदराबाद के अभियान में उलझा रहा। इस बीच पूरे राजपूताना में युद्ध छिड़ गया। उदयपुर, जोधपुर और आम्बेर ने एकजुट होकर मुगल सत्ता को उखाड़ फेंकने की मुहिम छेड़ दी। जुलाई, 1708 में जय सिंह और अजीत सिंह ने अपनी-अपनी रियासतों पर पुन: अधिकार कर लिया। इसके बाद मेवात का फौजदार सैयद हुसैन बारहा चूड़ामन जाट के साथ एक बड़ी सेना लेकर आम्बेर पर आक्रमण करने के लिए नारनौल से निकला। जय सिंह की सेना ने उन्हें आम्बेर तक नहीं पहुंचने दिया और सांभर में ही सैयद हुसैन और उसके दो भाइयों को मार डाला। इसके बाद मुगल सेना वापस लौट गई। यह सूचना बहादुर शाह तक पहुंची तो वह चिंतित हो गया। उस

समय वह अपने भाई कामबख्श से भी बदला लेने की तैयारी कर रहा था। ऐसे हालात में उसने जय सिंह और अजीत सिंह को उनका मनसब लौटाकर उन्हें अपने साथ करने की कोशिश की लेकिन तब तक ये राजा अपने क्षेत्र को मुगलों से खाली करने का प्रण ले चुके थे। परिणामस्वरूप लड़ाई जारी रही। नारनौल के नए फौजदार मीर खां ने एक बार फिर चूड़ामन जाट के साथ मिलकर आम्बेर को जीतने की कोशिश की। 13 हजार सैनिकों के साथ वह आम्बेर की तरफ चल पड़ा। जावली पहुंचने के बाद उसकी सेना का सामना गजसिंह नरूका की सेना से हुआ जो जय सिंह के समर्थन में मोर्चा संभाले हुए थे। एक बार फिर मुगल सेना को पराजय का सामना करना पड़ा। आखिरकार बहादुर शाह ने जय सिंह और अजीत सिंह से समझौता करने का फैसला किया। मई, 1710 में उसने दोनों बागी राजाओं को संदेश भेजकर अपने दरबार में बुलाया। 11 जून को वे दोनों बादशाह के दरबार में पहुंचे जहां उन्हें सम्मानित किया गया और उनका राजपाट लौटाकर बेशकीमती तोहफों के साथ विदाई दी गई।[93]

गद्दी पर अधिकार वापस मिलने के बाद जय सिंह ने अपनी रियासत के विस्तार और आधुनिकीकरण पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने अपनी राजधानी के लिए नया नगर बसाने का निश्चय किया। जयपुर का निर्माण आनन-फानन में हुआ। 18 नवम्बर, 1727 (पौष कृष्ण-1, संवत: 1784) को इसकी नींव रखी गई। राजधानी बनाने की मूल रचना में जय सिंह ने एक चित्रोमय, नैसर्गिक और उभरा होने के कारण दैदीप्यमान भूक्षेत्र चुना। साथ ही, यह ध्यान रखा कि इसमें जल निकास की उत्तम व्यवस्था हो, पेयजल पर्याप्त मिले, सीधे-सपाट और प्रशस्त राजमार्ग और गलियां हों, भवन निर्माण सामग्री के लिए भी नगर निवासियों को दूर नहीं जाना पड़े और सार्वजनिक-निजी आवश्यकता के लिए आवासीय व्यवस्था तथा भावी विस्तार और विकास की पूरी गुंजाइश हो। नगर के नौ आयताकार भूखंडों या चौकड़ियों में से जो कुबेर की नौ निधियों के प्रतीक हैं, सात को नागरिकों के लिए; उनके आवासों, दुकानों और बाजारों, मंदिरों-मस्जिदों तथा तत्कालीन आवश्यकता के कारखानों के लिए बनाया गया।

लंबी-चौड़ी और ऊंची प्राचीर से घिरा ऐसा नगर.. जो पहली बार देखने से ही लगता जैसे अरावली पर्वतमाला के कैनवास पर किसी सिद्धहस्त कलाकार ने अपनी तूलिका से यह दृश्यांकन किया है। शिखरांत मंदिरों और झुके हुए झरोखों वाले उत्तंग प्रासादों का नगर, रंग-बिरंगे परिधानों से सुसज्जित नर-नारियों का नगर, आधुनिकता और मध्ययुगीन तौर-तरीकों वाला अद्‌भुत नगर। जय सिंह से खगोल विद्या की प्रगति के बारे में विचार-विमर्श के लिए जयपुर आने वाले ऑस्ट्रेलियाई पादरी जोसफ टिएफेंथेलर ने इस नगर को भारत में सबसे सुंदर बताया।[94] उन्होंने जयपुर की सुंदरता के बारे में कहा, 'जयपुर के पीछे स्थित पहाड़ियों से इस शहर का नजारा दिलकश है। भारत के अन्य प्राचीन नगरों में हर चीज पुरानी हो चुकी है। सड़कें तंग और बेढब हैं। लेकिन जयपुर में एक नयापन है। यहां चौड़ी सड़कें और लंबी गलियां हैं। सांगानेरी गेट से दक्षिणी द्वार तक जाने वाली सड़क इतनी चौड़ी है कि उस पर एक साथ 6-7 गाड़ियां आराम से चल सकती हैं।'[95]

जय सिंह के आश्रय में तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान रत्नाकर भट्ट ने काशी से जयपुर आकर

'जयसिंह कल्पद्रुम' नामक धर्मशास्त्र की रचना की। 25 जुलाई, 1713 को तैयार किए गए 958 पृष्ठों के इस विशाल निबंध ग्रंथ में काल निर्णय, पूजा विधान, कर्मकांड विधि का सांगोपांग वर्णन है। एकादशी निर्णय का ही 150 पृष्ठों में विवेचन किया गया है।[96] संभवत: ऐसे ही कारणों से जयपुर स्थापना के साथ ही छोटी काशी के रूप में मान्यता प्राप्त करने लगा। जय सिंह ने जयपुर के साथ ही दिल्ली, उज्जैन, वाराणसी और मथुरा में वेदशालाएं बनवाईं। उन्होंने 1734 ओर 1741 में दो अश्वमेध यज्ञ भी किए।[97]

जय सिंह के शासनकाल में मुगल साम्राज्य के ह्रास के साथ ही मेवाड़, मारवाड़ और आम्बेर के राजपूत घरानों का भी पतन शुरू हो गया। तीन शताब्दियों तक राजपूत जनता के आदर एवं कृतज्ञता के पात्र रहे थे। साहस, सच्चरित्रता और स्वाभिमान के गुण उनके साथ जुड़-से गए थे। लेकिन अठारहवीं शताब्दी तक यह एक थकी-हारी जाति बन चुकी थी जो लगातार राष्ट्रीय जीवन की पृष्ठभूमि में पहुंचती जा रही थी। राजपूतों की शक्ति क्षीण हो रही थी और जाटों और सिखों के वर्चस्व का उदय होने लगा था। राजस्थान में राजपूत सरदार रियासतों और कबीलों की अपनी पुरानी प्रतिस्पर्धाओं में उलझे रहते थे। समय के साथ उनके मामलों में मराठों और जाटों का हस्तक्षेप बढ़ने लगा।

जय सिंह यह समझ गए थे कि मुगल साम्राज्य अपने पतन की ओर तेजी से बढ़ रहा है। इसलिए उन्होंने बादशाह की हुक्मरानी के बजाय अपनी शक्ति को बढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया। जय सिंह ने झिलाई, अमरसर, भानगढ़, उनियारा, मलारना, बरवाड़ा, फतेहपुर, मनोहरपुर और झुंझुनूं तक अपनी रियासत का विस्तार किया।[98] उन्होंने अपने पड़ोसी राजाओं से भी मजबूत संबंध स्थापित किए ताकि किसी बाहरी आक्रमण का खतरा नहीं रहे। ये राजा भी जय सिंह की शक्ति को पहचानते थे इसलिए उनके साथ दोस्ती बनाए रखना चाहते थे। उदयपुर, कोटा और जोधपुर जैसी रियासतों के शासक भी अपने क्षेत्र की रक्षा के लिए जय सिंह से सहायता मांगते थे।[99]

दूसरी तरफ, दिल्ली में फर्रुखसियर को सैयद बंधुओं की कृपा से राज सिंहासन मिला था, फिर भी वह उनके विरुद्ध षडयंत्र करता रहता था। उसे मालूम था कि सैयद बंधु जयपुर के राजा से खुश नहीं हैं। सैयद बंधुओं ने जाटों के सरदार चूड़ामन सिंह को उत्साहित किया कि वह आम्बेर के कछवाहों की शेखी झाड़ दे। इसलिए उसने सैयदों की पीठ पीछे जय सिंह से चूड़ामन के थून-गढ़ पर आक्रमण करने को कहा। कछवाहों और सिनसिनवारों के बीच खून की नदियां बह चुकी थीं। औरंगजेब ने जाटों को दबाने के लिए राजा विष्णु सिंह का इस्तेमाल किया था। अब जय सिंह को इस काम के लिए लगाया गया। जय सिंह को भरपूर मात्रा में जन, धन और शस्त्रास्त्र दिए गए। कोटा और बूंदी के राजाओं को भी चूड़ामन से शिकायतें थीं, इसलिए उन्होंने जय सिंह का साथ दिया। चूड़ामन ने जय सिंह से मुकाबले के लिए लम्बे युद्ध की तैयारी की। उन्होंने इतना अनाज, नमक, घी, तम्बाकू, कपड़ा और ईंधन इकट्ठा कर लिया कि वह बीस वर्ष के लिए पर्याप्त रहे। जिन लोगों को लड़ाई में भाग नहीं लेना था, उन सबको किले से बाहर भेज दिया गया, जिससे रसद का अनावश्यक व्यय न हो। किले का घेरा बीस महीने तक पड़ा रहा और उसका निर्णायक परिणाम कुछ नहीं निकला।

दिल्ली दरबार में तूरानी और ईरानी गुटों के मध्य चले षडयंत्र चूड़ामन के लिए वरदान साबित हुए। चूड़ामन ने जय सिंह को छोड़कर सैयद बंधुओं से समझौते की बात चलाई और बादशाह को 50 लाख रुपए देने का प्रस्ताव रखा। बादशाह ने इस प्रस्ताव को तुरंत स्वीकार कर लिया। थून के घेरे पर शाही खजाने के दो करोड़ रुपए खर्च हो गए थे; प्राणों और प्रतिष्ठा की जो हानि हुई, वह इससे अलग थी। जय सिंह को घेरा उठा लेने का आदेश दे दिया गया। प्रकटतः क्षुब्ध लेकिन मन-ही-मन प्रसन्न जय सिंह थून से वापस लौट गए।[100]

यद्यपि जय सिंह जाटों का दमन करने के लिए बहुत लालायित थे, फिर भी उन्होंने अपनी पहले की असफलताओं को ध्यान में रखते हुए तब तक कदम आगे बढ़ाना स्वीकार नहीं किया, जब तक कि उन्हें आगरा का राज्यपाल नहीं बना दिया गया। सितम्बर, 1722 को यह काम होते ही उन्होंने 14-15 हजार सवारों की सेना लेकर दिल्ली से प्रस्थान किया। जय सिंह ने जाटों के गढ़ थून पर घेरा डाल दिया और जंगल को काटने और दुर्गरक्षक सेना को सख्ती से घेरने का काम शुरू किया। दो सप्ताह बीत गए। इसी बीच, जाटों में फूट पड़ गई। मोखम सिंह का चचेरा भाई बदन सिंह आकर जय सिंह से मिल गया और जाट पंक्तियों के दुर्बल स्थान जय सिंह को बता दिए। लेकिन मोखम सिंह की स्थिति चिंताजनक हो गई। एक रात उसने मकानों को आग लगा दी, गोला-बारूद उड़ा दिया और जो कुछ भी नकदी और आभूषण उसे मिले, उन्हें लेकर किले से भाग गया और जोधपुर के राजा अजीत सिंह के पास चला गया। विजेता के रूप में जय सिंह ने गढ़ में प्रवेश किया और उसे ढहवाकर भूमिसात कर दिया। घृणा के चिह्न के रूप में वहां गधों से हल भी चलवाया। इस विजय के उपलक्ष में जय सिंह को राजा-ए-राजेश्वर की उपाधि मिली।[101]

जय सिंह ने एक बड़ा काम किया कि जाटों को विरोधी बनाने की बजाय अपने पक्ष में किया। चूड़ामन की गद्दी पर बदन सिंह को बैठाना असाधारण दूरदर्शिता थी। मुगलों की कृपा जय सिंह पर बरस रही थी। जाटों की बहुलता के बावजूद आगरा और मथुरा की सूबेदारी एकाधिक बार आम्बेर राजवंश को दी गई। जय सिंह ने बदन सिंह के जरिए मेवों की उच्छृंखल गतिविधियों को भी दबवाया। मेवों से निपटने में बदन सिंह के किशोर पुत्र सूरजमल की अहम भूमिका रही। सूरजमल के सुसंगत आचरण और साहस से उनके सैनिक बहुत प्रभावित हुए। इस अभियान की सफलता से प्रसन्न जय सिंह ने सूरजमल को न केवल निशान, नगाड़ा और पचरंगा झंडा बल्कि ब्रजराज की उपाधि भी प्रदान की। 2,40,000 रुपए वार्षिक कर लेकर उन्होंने मेवात को बदन सिंह के अधीन कर दिया, जिससे उन्हें निश्चित रूप से 18,00,000 रुपए वार्षिक की आय होती रहती थी। बदन सिंह ने जय सिंह का पूरा विश्वास प्राप्त कर लिया। जय सिंह ने बदन सिंह को आगरा, दिल्ली और जयपुर जाने वाले राजमार्ग पर गश्त करने और इन राजमार्गों का उपयोग करने वालों से पथकर उगाहने का कार्य सौंप दिया।[102] 1720 और 1730 के दशकों में भरतपुर के जाट फूंक-फूंककर पांव रख रहे थे। उनके सरदार बदन सिंह ने किसी की नजर में आए बिना अपनी ताकत को बढ़ाने का प्रयास जारी रखा। बदनसिंह ने सूरजमल के साथ मिलकर लंबा समय अपनी आंतरिक स्थिति को सुदृढ़ करने में लगाया। जो अन्य जाट सरदार इस काम में बाधक बने, उन्हें तुरंत रास्ते से हटा

दिया गया। नादिरशाह के आक्रमण तक वे दिल्ली के शासकों की राह से दूर ही रहे और अपने विशाल भवनों तथा उद्यानों के निर्माण और धन-संचय में लगे रहे। उन्होंने ऐसा कोई काम नहीं किया जिसके दिल्ली की नजर उन पर पड़े। बदन सिंह ने जय सिंह के साथ सम्मानपूर्ण संबंध बनाए रखे। हर साल वे जयपुर आकर जय सिंह से मुलाकात करते थे। हालांकि जय सिंह बहुत औपचारिकता करने वाले व्यक्ति नहीं थे लेकिन वे बदन सिंह के साथ वैसा ही व्यवहार करते थे जैसा किसी राजा के साथ किया जाना चाहिए। जयपुर के जिस उपनगर में बदन सिंह के ठहरने का प्रबंध होता था उसका नाम बदनपुरा रख दिया गया। जय सिंह और बदन सिंह के बीच का यह घनिष्ठ संबंध लोगों से छिपा नहीं रहा और इससे बदन सिंह और सूरजमल को अपने विरोधी जाट-सरदारों से निपटने में सहायता मिली।[103]

जय सिंह के मुगलकालीन महत्व को इससे समझा जा सकता है कि कई नाराजगियों के बावजूद औरंगजेब ने 1699 में उन्हें सवाई की उपाधि दी। मुहम्मद शाह ने 21 अप्रेल, 1721 को सरमद-ए-राजा-ए-हिंद और 2 जून, 1723 को राज राजेश्वर, श्री शांतनुजी और महाराजा सवाई की उपाधियां दीं।[104]

जय सिंह ने जजिया कर को समाप्त करवाने में भी विशेष भूमिका निभाई जिसके परिणामस्वरूप हिन्दुओं की भावनाएं उनके साथ जुड़ने लगीं। 1564 में अकबर ने जजिया को हटाया था लेकिन 1679 में औरंगजेब ने दुबारा इसे लागू कर दिया। जब फर्रूखसियर बादशाह बना तो जय सिंह ने उससे जजिया समाप्त करने की अपील की। फर्रूखसियर ने उनकी बात मान ली। कुछ वर्षों बाद उसके दीवान इनायतुल्लाह ने इसे लागू करने के लिए दबाव बनाना शुरू कर दिया। फर्रूखसियर ने जय सिंह को पत्र लिखकर अपनी मजबूरी बताई और कहा कि कुरान के अनुसार जजिया लगाना अनिवार्य है, इसलिए वे इस विषय में कुछ भी करने में असमर्थ हैं। फर्रूखसियर की मृत्यु के बाद मुहम्मद शाह ने दिल्ली की गद्दी संभाली। जय सिंह ने मुहम्मद शाह से इस विषय पर बात की और सलाह दी कि पूरे हिन्दुस्तान का बादशाह होने के नाते उसे हिन्दू-मुस्लिम में भेद नहीं करना चाहिए। इसके बाद मुहम्मद शाह ने हमेशा के लिए जजिया समाप्त कर दिया।[105]

1736 में पेशवा बाजीराव जयपुर आए, तब उनके सम्मान में जय सिंह ने एक विशाल दरबार का आयोजन किया। दरबार के इन दिनों में जय सिंह ने पेशवा के अनुग्रह जताते रुख को देखकर एक बार बाजीराव से पूछा, 'आप मेरे साथ वैसा ही बर्ताव क्यों नहीं करते, जैसा कि उदयपुर के राणा से करते हैं?' बाजीराव का मुंहतोड़ उत्तर था, 'उदयपुर के राणा तो पद और प्रतिष्ठा में मेरे अपने राज शाह महाराज के समकक्ष हैं, जिन्होंने दिल्ली के मुसलमान बादशाह को कभी अपना स्वामी नहीं माना, परंतु आप तो खाली एक मुगल मनसबदार हैं। ..बाजीराव इतने पर भी नहीं रुके; उन्होंने अपने हुक्के का दम भरा और अपने मेजबान के मुंह पर छोड़ दिया। आतिथ्य की मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए जय सिंह ने कुछ बखेड़ा खड़ा नहीं किया क्योंकि उससे मामला और भी बिगड़ जाता।[106]

जय सिंह ने महाराणा अमर सिंह की बेटी से विवाह करते समय वचन दिया था कि उनसे जन्म लेने वाले पुत्र को ही गद्दी मिलेगी और पिछली रानियों से जन्मे पुत्र इसके लिए अधिकृत

नहीं रह जाएंगे। इस विवाह से जय सिंह को 1738 में एक पुत्र की प्राप्ति हुई जिनका नाम माधो सिंह रखा गया। लेकिन 21 सितम्बर, 1743 में जय सिंह की मृत्यु हो गई तो उनके सबसे बड़े पुत्र ईश्वरी सिंह ने जयपुर की गद्दी संभाल ली। बादशाह मुहम्मद शाह ने ईश्वरी सिंह को दिल्ली बुलाकर अपने हाथ से उनका राजतिलक किया।[107] उधर, उदयपुर में अमर सिंह के पौत्र जगत सिंह गद्दी संभाल चुके थे और बालक माधो सिंह उन्हीं के पास रहते थे। जगत सिंह ने माधो सिंह के लिए टोंक सहित कुछ अन्य परगनों की मांग की जिसे ईश्वरी सिंह ने मान लिया और 1744 के अंत में दोनों पक्षों के बीच समझौता हो गया। लेकिन जगत सिंह इतने से संतुष्ट नहीं थे और मराठा सेना के साथ जयपुर पर आक्रमण की योजना बना रहे थे। ईश्वरी सिंह ने मराठा पेशवा बालाजी बाजीराव को 20 लाख रुपए देकर इस संकट को टाला। इसके बाद जगत सिंह ने मालवा क्षेत्र में पैठ बना रहे मराठा सामंत मल्हार राव होल्कर को प्रलोभन दिया कि यदि वे माधो सिंह को जयपुर से 24 लाख रुपए वार्षिक की जागीर दिलवा देते हैं तो बदले में पेशवा को 20 लाख रुपए दिए जाएंगे।[108]

इस दौरान जाट सरदारों की शक्ति तेजी से बढ़ रही थी। 1739 में दिल्ली पर नादिरशाह के आक्रमण के बाद जो अव्यवस्था फैली, उसका उन्होंने पूरा लाभ उठाया और मुगल क्षेत्र में अपने पांव पसार लिए। सूरजमल की नेतृत्व शक्ति और जाट सेना के पराक्रम की ख्याति बढ़ने लगी और देश के बड़े-बड़े शासक उनसे सैनिक सहायता की मांग करने लगे।[109] सूरजमल ने अपने सरदार बदन सिंह और सवाई जय सिंह के संबंधों को ध्यान में रखते हुए ईश्वरी सिंह के प्रति अपनी वफादारी बनाए रखी। इधर, जगत सिंह के बढ़ते हुए लालच और मराठों के हस्तक्षेप के कारण ईश्वरी सिंह और माधो सिंह के बीच गद्दी को लेकर चल रहा संघर्ष युद्ध के मुहाने पर आकर खड़ा हो गया। ईश्वरी सिंह और माधो सिंह की सेनाओं का सामना 21 अगस्त, 1748 को जयपुर से 18 मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित बगरू में हुआ। ईश्वरी सिंह के विरोधियों की सेना की संख्या सात गुनी थी। माधोसिंह के पक्ष में अनेक प्रसिद्ध और प्रभावशाली योद्धा थे। मल्हारराव होल्कर, गंगाधर तांत्या के अलावा मेवाड़, जोधपुर, कोटा और बूंदी के शासक उनके लिए लड़ रहे थे। ईश्वरी सिंह की ओर केवल सूरजमल की सेना थी। सूरजमल के सैनिक संख्या में अवश्य कम थे लेकिन वे भलीभांति प्रशिक्षित थे और उनके पास एक योग्य सेनापति था।[110]

सीकर के सरदार शिव सिंह ने अग्रभाग का नेतृत्व संभाला। सूरजमल को बीच में रखा गया और ईश्वरी सिंह ने सेना के पिछले भाग का नेतृत्व किया। पहले दिन तोपों की लड़ाई हुई लेकिन उससे कोई निर्णय नहीं हो सका। दूसरे दिन माधो सिंह का पलड़ा भारी रहा। तीसरे दिन अग्रभाग का नेतृत्व सूरजमल को सौंपा गया। सारे दिन भीषण घमासान लड़ाई होती रही। मराठा सरदार मल्हार राव होल्कर ने गंगाधर टाटिया को एक शक्तिशाली सैन्य दल के साथ ईश्वरी सिंह की सेना की सबसे पीछे वाली टुकड़ी पर अचानक धावा बोल देने के लिए भेजा। अपनी उपस्थिति का पता दिए बिना गंगाधर आगे बढ़ता गया और उनियारा के सरदारसिंह नरूका पर टूट पड़ा। गंगाधर ने सेना में तहलका मचा दिया और बड़े जोर-शोर से सेना के मध्य भाग में स्थित तोपखाने की ओर बढ़ चला। तोपचियों को काट डाला गया और तोपों

के छेदों में कील ठोंककर उन्हें बेकार कर दिया गया। पराजय ईश्वरी सिंह के सामने मुंह बाए खड़ी थी। हताश होकर उन्होंने सूरजमल से गंगाधर को रोकने के लिए कहा। सूरजमल ने एक टुकड़ी लेकर माधो सिंह की सेना के पीछे वाले हिस्से पर धावा बोल दिया। दो घंटे तक चले इस भीषण युद्ध के अंत में सूरजमल ने गंगाधर को रोककर पीछे धकेल दिया। सूरजमल ने छिन्न-भिन्न पृष्ठ भाग को फिर व्यवस्थित किया और उसे सरदार सिंह उनियारा के नेतृत्व में छोड़कर दूसरे मोर्चे पर लड़ने के लिए फिर अग्रभाग की ओर कूच किया। सूरजमल की वीरता ने हारती बाजी को बचा लिया और सूरजमल को विख्यात कर दिया।[111]

जगत सिंह ने सेना के बढ़ते हुए खर्च के कारण ईश्वरी सिंह के पास शांति का प्रस्ताव भेजा। बुरी तरह हारने के बाद भी जगत सिंह ने अपना इरादा नहीं बदला। अगली बार जगत सिंह ने होल्कर के बजाय सीधे पेशवा से सहायता मांगी। पेशवा ने ईश्वरी सिंह को संदेश भेजा कि वे जगत सिंह से 15 लाख रुपए लेकर उनकी मांग को स्वीकार कर लें। ईश्वरी सिंह ने पेशवा को जवाब दिया कि एक राजपूत अपनी विरासत किसी को नहीं सौंप सकता, इसलिए इस विषय में वे पेशवा की बात मानने के लिए बाध्य नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि यदि माधो सिंह को और जमीन चाहिए तो उन्हें युद्ध करना होगा क्योंकि यही राजधर्म है। अपनी रियासत से किसी को इतना बड़ा भाग ऐसे ही सौंप देना कायरतापूर्ण कहलाएगा। इसके बाद स्वयं पेशवा ने सेना के साथ आकर जयपुर पर आक्रमण किया और कई किलों-महलों पर कब्जा करके माधो सिंह को दे दिए। जैसे-जैसे मराठा सेना आगे बढ़ रही थी, राजपूत समर्पण करते जा रहे थे और माधो सिंह का प्रभुत्व स्वीकार कर रहे थे। आखिरकार ईश्वरी सिंह को समझौता करना पड़ा और माधो सिंह को पांच परगनों का अधिकार मिल गया।[112]

धीरे-धीरे ईश्वरी सिंह का साम्राज्य कमजोर पड़ने लगा और उनके पास विश्वसनीय तथा अनुभवी लोग कम होने लगे। पेशवा को कर की अदायगी के लिए उनके पास पर्याप्त कोष भी नहीं था। होल्कर ने एक बार फिर दल-बल के साथ जयपुर की ओर बढ़ना शुरू किया। ईश्वरी सिंह ने रास्ते में 2 लाख रुपए भेजे लेकिन होल्कर को संतुष्टि नहीं मिली और उन्होंने सेना को बढ़ते रहने का आदेश दिया। मराठों के भय से ईश्वरी सिंह के दरबार के सदस्यों ने उनका सामना करने से इनकार कर दिया। 12 दिसम्बर, 1750 को ईश्वरी सिंह ने जहर खाकर आत्महत्या कर ली। 29 दिसम्बर, 1750 को माधो सिंह मराठों के शिविर में पहुंचे जहां होल्कर ने 10 लाख रुपए के बदले उन्हें जयपुर का ताज सौंप दिया।[113]

6 जनवरी, 1751 को मराठा सेनापति जयप्पा सिंधिया ने जयपुर आकर होल्कर के समझौते को रद्द कर दिया और माधो सिंह के सामने नई शर्तें रख दीं। आखिरकार तीन परगनों के साथ एक बड़ी धनराशि चुकाकर माधो सिंह ने समझौता किया।[114]

10 जनवरी, 1751 को लगभग 4 हजार मराठा सैनिक जयपुर भ्रमण के लिए पहुंचे। जयपुर के नए राजा उनके मित्र थे, इसलिए वे निश्‍चिंत होकर नवनिर्मित महलों, मंदिरों और बाजारों में घूम रहे थे। लेकिन ईश्वरी सिंह पर हुए अत्याचार के कारण जयपुर की जनता में मराठों के प्रति आक्रोश था। किसी शेखावत ने एक मराठा सैनिक की घोड़ी को छिपा दिया। मराठों ने अपनी घोड़ी को खोजकर वापस अपने पास रख लिया। इसके बाद बात बढ़ी और कुछ

लोगों ने मिलकर मराठों को मार डाला।[115] देखते-देखते भीड़ उग्र हो गई और जयपुर के लोगों ने मराठों पर हमला करना शुरू कर दिया। थोड़ी देर बाद नगर के सभी द्वार बंद कर दिए गए और भागने के लिए कोई जगह नहीं बची। उस दिन सैकड़ों मराठा सैनिक मारे गए और कई घायल हुए। इस घटना के बाद लगभग एक सप्ताह तक रियासत में मराठों का कत्लेआम होता रहा। लोग उनके संदेशवाहकों को देखते ही मार देते थे। आखिरकार, माधो सिंह ने 2 लाख रुपए का मुआवजा देकर इसकी भरपाई की और विश्वास दिलाया कि इस घटना में उनका कोई हाथ नहीं था।[116]

1753 में मुगल वजीर सफदर जंग ने विद्रोह शुरू कर दिल्ली के एक बड़े हिस्से पर कब्जा कर लिया। सूरजमल भी सफदर जंग को समर्थन दे रहे थे। मुगल शासक अहमद शाह ने संकट की घड़ी में माधो सिंह से मदद मांगी। माधो सिंह ने मध्यस्थता कर मामले को शांत किया जिसके बदले में बादशाह ने उन्हें रणथंभौर का किला और आसपास का क्षेत्र भेंट किया। इस क्षेत्र का नाम सवाई माधोपुर रखा गया।[117]

माधोसिंह के शासनकाल में जयपुर पर मराठा आक्रमण जारी रहा। 17 अक्टूबर, 1755 को मराठा सेना ने रात के अंधेरे में हमला कर जयपुर के 700-800 सैनिकों के साथ अनेक घोड़े-ऊंट मार दिए। उन्होंने सैनिकों के शव तक नहीं लौटाए।[118] 10 जुलाई, 1757 को होल्कर से 11 लाख रुपए के बदले समझौता हुआ। मई, 1758 में होल्कर की सेना यह कहते हुए जयपुर पर चढ़ आई कि पहले दिए चारों परगने उसके कब्जे में नहीं आए हैं। माधो सिंह ने 11 लाख रुपए और वे परगने देकर बला टाली।[119] नवम्बर, 1759 में पेशवा ने माधो सिंह से रणथंभौर छीन लेने के लिए गंगाधर तांत्या को जयपुर भेजा। दोनों सेनाओं के मुकाबले में लगभग पांच सौ लोग मारे गए और गंगाधर को घायल होकर भागना पड़ा।[120] इसके बाद होल्कर ने फिर जयपुर पर चढ़ाई की लेकिन तभी दिल्ली पर अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण की सूचना पाकर लौट गया। इस तरह चौतरफा घेराबंदी और युद्ध झेलते हुए 5 मार्च, 1768 को माधो सिंह की मृत्यु हो गई।[121]

इधर, ईस्ट इंडिया कंपनी की आड़ में भारत आए अंग्रेजों ने अलग-अलग क्षेत्रों पर अपना कब्जा जमाना शुरू कर दिया था। व्यापार के नाम पर उन्होंने मद्रास और बम्बई पर परोक्ष रूप से नियंत्रण हासिल कर लिया। धीरे-धीरे उनकी महत्वाकांक्षा बढ़ती गई और परिणामस्वरूप युद्धों का नया दौर शुरू हुआ। 1757 में प्लासी के युद्ध में नवाब सिराजुद्दौला को हराने के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल को अपने अधीन कर लिया और मीर जाफर को वहां का नवाब बना दिया। मीर जाफर को कुछ समय बाद दबाव महसूस होने लगा। उसके प्रशासनिक कार्यों में ब्रिटिश अफसरों का हस्तक्षेप बना रहता था। मीर जाफर कोई भी निर्णय स्वतंत्र रूप से नहीं ले पाता था। एक तरह से वह बंगाल में ब्रिटिश हुकूमत का प्रतिनिधि मात्र था। नवाबों की शान-शौकत और स्वायत्तता का दौर खत्म हो रहा था और मीर जाफर इस बदलती परिस्थिति को स्वीकार नहीं कर पा रहा था। उनकी गतिविधियों से ब्रिटिश हुकूमत को विद्रोह की आशंका हुई और उसने अपने लिए एक नया प्रतिनिधि चुन लिया। मीर जाफर के दामाद मीर कासिम को दीवान का पद देकर बंगाल का पूरा कार्यभार सौंप दिया गया।[122] थोड़े ही

समय बाद मीर कासिम और ब्रिटिश हुकूमत के बीच भी वर्चस्व की लड़ाई शुरू हो गई और सशस्त्र युद्ध की नौबत आ गई। ब्रिटिश हुकूमत ने मीर जाफर को 7 जुलाई, 1763 को दोबारा नवाब बना दिया और मीर कासिम से लड़ने के लिए सेना को भेज दिया। मीर कासिम ने भी ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ मोर्चा खोल दिया। उसने ब्रिटिश सेनापति को संदेश भेजा कि यदि ब्रिटिश सेना आगे बढ़ी तो सभी ब्रिटिश अधिकारियों के सिर काट दिए जाएंगे।[123]

उस समय दिल्ली की गद्दी पर शाह आलम द्वितीय बैठा था। ब्रिटिशों की बढ़ती ताकत को दबाने के लिए उसने मीर कासिम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला* को अपने साथ मिला लिया। तीनों की सेनाओं ने मिलकर ब्रिटिश सेना के साथ मुकाबला करने की योजना बनाई। 1764 में बिहार के बक्सर में भीषण युद्ध हुआ। तीन सेनाओं के मिलकर लड़ने के बावजूद ब्रिटिश सेना ने उन्हें परास्त कर दिया। आखिरकार, शाह आलम को समझौते के लिए झुकना पड़ा। 12 अगस्त, 1765 को इलाहाबाद की संधि हुई जिसके तहत ईस्ट इंडिया कंपनी को बिहार, उड़ीसा तथा बंगाल में दीवानी के अधिकार मिल गए। इसका अर्थ यह था कि इन प्रांतों में कर वसूलने और नागरिक कानून बनाने का अधिकार मुगल दरबार से कंपनी के पास चला गया। इसके एवज में शाह आलम ने 26 लाख रुपए वार्षिक की मांग की जिसे कंपनी ने स्वीकार कर लिया। ईस्ट इंडिया कंपनी के सामने बादशाह का समर्पण देखने के बाद भारत के राजाओं तक यह संदेश पहुंच गया कि मुगल साम्राज्य अपने आखिरी दिन गिन रहा है और जल्दी ही पूरे भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित होने वाला है। ऐसे हालात में मुगल साम्राज्य पर निर्भर रहने वाले राज्यों ने समय रहते ब्रिटिशों का संरक्षण प्राप्त कर लेना ही हितकर समझा। 1772 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने वॉरेन हैस्टिंग्स** को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया। इधर, माधो सिंह की मृत्यु के बाद उनके 5 वर्षीय पुत्र पृथ्वी सिंह को गद्दी पर बैठाया जा चुका था। उनके शासनकाल में ही जयपुर ने पहली बार ब्रिटिश हुकूमत की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया। भारत का इतिहास एक व्यापक परिवर्तन का साक्षी बन रहा था और इसी के साथ जयपुर की कहानी एक निर्णायक मोड़ की ओर बढ़ चली थी।

---

*नवाब शुजाउद्दौला 5 अक्टूबर, 1754 से 26 जनवरी, 1775 तक अवध का नवाब रहा। अवध राज्य औरंगजेब की मृत्यु के बाद से मुगल साम्राज्य के पतन के कारण एक छोटी रियासत बन गया था। छोटा शासक होने के बावजूद शुजाउद्दौला को भारतीय इतिहास के दो प्रमुख युद्धों में भाग लेने के लिए जाना जाता है; पानीपत की तीसरी लड़ाई (14 जनवरी, 1761), जिसने भारत में मराठों का वर्चस्व समाप्त किया और बक्सर की लड़ाई (22 अक्टूबर, 1764), जिसने अंग्रेजों की हुकूमत स्थापित करने में अहम भूमिका निभाई।

**वॉरेन हैस्टिंग्स (6 दिसम्बर, 1732–22 अगस्त, 1818) फोर्ट विलियम प्रेसीडेंसी (बंगाल) का पहला गवर्नर तथा बंगाल की सुप्रीम कौंसिल का अध्यक्ष था और वह 1774 से 1785 तक वह भारत का पहला गवर्नर जनरल रहा।

संदर्भ सूची

1. डॉ. रमेशचंद्र मजूमदार: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 264
2. प्रफुल्लचंद्र राय: द कॉइनेज ऑफ नॉर्दर्न इंडिया, अभिनव पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ 71–73
3. डॉ. रमेशचंद्र मजूमदार: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 335–336
4. डॉ. रतिभानु सिंह नाहर : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, किताब महल, इलाहाबाद, 1974, पृष्ठ 112
5. जयपुर राज की वंशावली (हस्तलिखित), पृष्ठ 6
6. पद्मभूषण पं. बलदेव उपाध्याय: काशी की पांडित्य परंपरा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2016, पृष्ठ 51
7. महाकवि चंद बरदाई: पृथ्वीराज रासो-3, इंस्टीट्यूट ऑफ राजस्थान स्टडीज, साहित्य संस्थान, उदयपुर, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2018, पृष्ठ 373
8. वही, 378–379
9. वही, पृष्ठ 389
10. श्यामलदास: वीर विनोद-3, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2017, पृष्ठ 1269
11. वही, पृष्ठ 1274
12. बाबर: बाबरनामा, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2018, पृष्ठ 317–318
13. वही, पृष्ठ 317–318
14. जदुनाथ सरकार: औरंगजेब, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, 1970, पृष्ठ 140–142
15. बाबर: बाबरनामा, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2018, पृष्ठ 377
16. श्यामलदास: वीर विनोद-1, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2007, पृष्ठ 364
17. वही, पृष्ठ 366
18. वही, पृष्ठ 367
19. गुलबदन बेगम: हुमायूंनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2000, पृष्ठ 198
20. श्यामलदास: वीर विनोद-2, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2007, पृष्ठ 129–130
21. गुलबदन बेगम: हुमायूंनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2000, पृष्ठ 110
22. श्यामलदास: वीर विनोद-2, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2007, पृष्ठ 131–132
23. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 33
24. श्यामलदास: वीर विनोद-3, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2017, पृष्ठ 1275–76
25. औरंगजेबनामा, खेमराज श्री कृष्णदास वैंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, 1909, पृष्ठ 18
26. शेख अबुल फजल: अकबरनामा-1, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ 138–139
27. वही, पृष्ठ 141–142
28. वही, पृष्ठ 142
29. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 34
30. वही, पृष्ठ 35
31. शेख अबुल फजल: अकबरनामा-1, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ 195
32. वही, पृष्ठ 195–196
33. वही, पृष्ठ 196–197
34. जहांगीर: जहांगीरनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1956, पृष्ठ 34
35. शेख अबुल फजल: अकबरनामा-1, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ 281–286
36. शेख अबुल फजल: अकबरनामा-2, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ 399
37. वही, पृष्ठ 401–402
38. वही, पृष्ठ 402
39. वही, पृष्ठ405
40. वही, पृष्ठ 405

41. जहांगीर: जहांगीरनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1956, पृष्ठ 215-216
42. शेख अबुल फजल: अकबरनामा-2, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ 541
43. वही, पृष्ठ 664-665
44. श्यामलदास: वीर विनोद-2, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2007, पृष्ठ 293
45. जहांगीर: जहांगीरनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1956, पृष्ठ 55
46. वही, पृष्ठ 209
47. श्यामलदास: वीर विनोद-2, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2007, पृष्ठ 292
48. जहांगीर: जहांगीरनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1956, पृष्ठ 334-336
49. वही, पृष्ठ 139
50. शेख अबुल फजल: अकबरनामा-2, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ 703
51. जहांगीर: जहांगीरनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1956, पृष्ठ 12
52. वही, पृष्ठ 322-323
53. वही, पृष्ठ 313
54. जदुनाथ सरकार: औरंगजेब, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, 1970, पृष्ठ 77-80
55. वही, पृष्ठ 200
56. औरंगजेबनामा, खेमराज श्री कृष्णदास वैंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, 1909, पृष्ठ 61
57. जदुनाथ सरकार: औरंगजेब, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, 1970, पृष्ठ 200-201
58. वही, पृष्ठ 202
59. वही, पृष्ठ 203
60. वही, पृष्ठ 233
61. वही, पृष्ठ 203
62. वही, पृष्ठ 234-235
63. वही, पृष्ठ 236-237
64. वही, पृष्ठ 205
65. वही, पृष्ठ 206
66. परकाल दास का कल्याण दास को 16 मई, 1666 का पत्र/ शिवाजीज विजिट टू औरंगजेब एट आगरा, हिन्दी प्रेस, पूना, 1963, पृष्ठ 27-29
67. सतीशचंद्र: पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनंदन ग्रंथ, राजस्थान मंच, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 281
68. जदुनाथ सरकार: औरंगजेब, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, 1970, पृष्ठ 207
69. रणजीत देसाई: शिवाजी-द ग्रेट मराठा, थॉमस प्रेस इंडिया लिमिटेड, पृष्ठ 324
70. वही, पृष्ठ 324
71. वही, पृष्ठ 329
72. औरंगजेबनामा, खेमराज श्री कृष्णदास वैंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, 1909, पृष्ठ 67
73. सतीशचंद्र: पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनंदन ग्रंथ, राजस्थान मंच, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 281
74. जदुनाथ सरकार: औरंगजेब, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, 1970, पृष्ठ 237
75. रणजीत देसाई: शिवाजी-द ग्रेट मराठा, हार्पर पेरेनियल, न्यूयॉर्क, 2017, पृष्ठ 354
76. सतीशचंद्र: पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनंदन ग्रंथ, राजस्थान मंच, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 281
77. जदुनाथ सरकार: औरंगजेब, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, 1970, पृष्ठ 210
78. औरंगजेबनामा, खेमराज श्री कृष्णदास वैंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, 1909, पृष्ठ 72
79. जदुनाथ सरकार: औरंगजेब, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, 1970, पृष्ठ 151
80. कलिका रंजन कानूनगो: हिस्ट्री ऑफ द जाट्स-1, एम.सी. सरकार एंड संस, कलकत्ता, 1925, पृष्ठ 342
81. कुंवर नटवर सिंह: महाराजा सूरजमल-जीवन और इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृष्ठ 29
82. वी.एस. भटनागर: लाइफ एंड टाइम्स ऑफ सवाई जय सिंह, इम्पेक्स इंडिया, दिल्ली, 1974, पृष्ठ 14
83. वही, पृष्ठ 47
84. वही, पृष्ठ 47

85. वही, पृष्ठ 47–48
86. वही, पृष्ठ 48–49
87. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 154
88. वी.एस. भटनागर: लाइफ एंड टाइम्स ऑफ सवाई जय सिंह, इम्पेक्स इंडिया, दिल्ली, 1974, पृष्ठ 48–49
89. वही, पृष्ठ 49–50
90. वही, पृष्ठ 49
91. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 154
92. श्यामलदास: वीर विनोद-3, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2017, पृष्ठ 772
93. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 155
94. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 18–19
95. डी.के. टकनेत: जयपुर जेम ऑफ इंडिया, आईआईएमई, जयपुर, 2013, पृष्ठ 70
96. पद्मभूषण पं. बलदेव उपाध्याय: काशी की पांडित्य परंपरा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2016, पृष्ठ 50
97. रजत दत्ता: रीथिंकिंग अ मिलेनियम-पर्सपेक्टिव्स ऑन इंडियन हिस्ट्री फ्रॉम द एट्थ टू द एटींथ सेंचुरी, आकार बुक्स, दिल्ली, 2008, पृष्ठ 232
98. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 209–210
99. वही, पृष्ठ 213
100. कुंवर नटवर सिंह: महाराजा सूरजमल-जीवन और इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृष्ठ 41
101. सतीश चंद्र: पार्टीज एंड पॉलिटिक्स एट द मुगल कोर्ट(1707–1740), पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,1972, पृष्ठ 178–179
102. कुंवर नटवर सिंह: महाराजा सूरजमल-जीवन और इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृष्ठ 47
103. वही, पृष्ठ 58
104. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 164
105. वही, पृष्ठ 214
106. कुंवर नटवर सिंह: महाराजा सूरजमल-जीवन और इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृष्ठ 58–59
107. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 217
108. वही, पृष्ठ 217–218
109. कुंवर नटवर सिंह: महाराजा सूरजमल-जीवन और इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृष्ठ 59
110. वही, पृष्ठ 61
111. वही, पृष्ठ 61–62
112. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 225–226
113. वही, पृष्ठ 228–231
114. श्यामलदास: वीर विनोद-3, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2017, पृष्ठ 1241
115. वही, पृष्ठ 1241
116. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 231
117. वही, पृष्ठ 231
118. वही, पृष्ठ 235
119. श्यामलदास: वीर विनोद-3, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2017, पृष्ठ 1302
120. वही, पृष्ठ 1303
121. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 244
122. जॉन मैल्कम: पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया-2, जॉन मरे, लंदन, 1826, पृष्ठ 6
123. वही, पृष्ठ 11

5

ब्रिटिश अधीनता का दौर

बम्बई से रवाना होने के बाद ही हमको समन्दर तूफानी हालत में मिला। उस तूफान के बर्दाश्त करने के बाद हमको हमारे पूर्वजों की बुद्धिमानी पर आश्चर्य हुआ कि जो समन्दर के सफर से जान-बूझकर बचे रहते थे, लेकिन वे लोग अपने फर्ज को अदा करने के वास्ते अपने बादशाह की रहीमाना फर्मान (दयापूर्ण संदेश) नहीं रखते थे कि जिसकी तामील (पूर्ति) करना हमारी जात के लिए फख्र (गर्व) और खुशी का सबब (कारण) है। हम उपस्थित दरबारियों को यकीन दिलाते हैं कि फर्मानशाही (राजा का आदेश) की तामील और वफादारी जाहिर करने के अतिरिक्त हम किसी और उद्देश्य को लेकर हमारी तकलीफें बर्दाश्त नहीं करते।

–महाराजा माधो सिंह द्वितीय

अम्बावती (आम्बेर) और सांगानेरी (सांगानेर) के बीच एक सुरपुर (देवनगरी) जयपुर आकार ग्रहण करने लगा।* उसके आम्बेर की तरह मोमिनाबाद बना दिए जाने का खतरा नहीं था। सवाई जय सिंह द्वितीय ने शिकार वाले जंगलों और शिकार की ओदी केंद्रित विशाल भूभाग को नौ चौकड़ियों वाले वास्तु सम्मत नगर की रचना के साथ ही नगर को प्रासाद में बदल डाला था। उसे आक्रमणों से सुरक्षित बनाने की लगातार कोशिशें होती रहीं। मध्य में राजमहल थे; उत्तर में नाहरगढ़ और गणेशगढ़ की पहाड़ियां तथा तालकटोरा-राजामल के तालाब थे, जो मगरमच्छों से भरे थे। पूर्व में गलता और लाल डूंगरी की पहाड़ियों से प्राकृतिक सुरक्षा प्राप्त थी। उत्तर-पश्चिम में सुदर्शनगढ़ या नाहरगढ़ बनाकर सुरक्षात्मक प्राचीरों को आम्बेर की रक्षा व्यवस्था से जोड़ा हुआ था। नाहरगढ़, जयगढ़ और आम्बेर का किला आपस में मिलकर धरती के धनुष का स्वरूप लिए हुए थे। आम्बेर की ओर से जयपुर प्रवेश के लिए पतला-सा पहाड़ी रास्ता और कुछ ही फुट दूरी पर गहरी खाई। ऐसे ही जंगलों और पहाड़ियों से घिरा आगरा जाने का रास्ता, उधर भी शेरों और बघेरों की दहाड़ गूंजती रहती। इसके बावजूद टोंक और अजमेर के रास्ते निरापद थे, जो मध्य भारत में उभरने वाली शक्तियों के लिए सुगम थे। दिल्ली में शासन करने वालों के लिए तो कुछ भी कठिन नहीं था क्योंकि उनके हाथों में सर्वोच्च सत्ता थी।

सदियों से मार-काट, सत्ता संघर्ष, फूट और मुगलों की गुलामी के बाद जयपुर के महाराजा

*तत्कालीन प्रसिद्ध कवि बखतराम साह के काव्य पर आधारित।

सुंदर भविष्य का सपना पाल रहे थे। भाग्य उन्हें और उनके साथ नवनिर्मित भव्य नगर के निवासियों को ऐसे भविष्य की ओर ले जा रहा था, जिसमें स्वाभिमान को गिरवी रखकर रोज-रोज अपमानित होने का खतरा नहीं था। इसके बावजूद ऐसी अधीनता के स्वर थे, जिनमें पूर्ण स्वतंत्रता दूर-दूर तक नहीं दिखती थी। यहां के राजा वीरता और बुद्धिमानी का माद्दा रखते हुए आम्बेर के रास्ते जयपुर पहुंचे थे। वे तत्व उनके पास तब भी बरकरार थे। लेकिन पारिवारिक रंजिश और घात-प्रतिघात से मुक्त नहीं थे; जिनसे उन्हें सत्ता तो मिली लेकिन कितने ही अपनों के प्राण गंवाने या लेने पड़े। इसके साथ ही उन्हें बड़ी संख्या में आए उन कुटिल लोगों से बचना था, जो आसपास के क्षेत्रों से आकर जयपुर बसे थे और आला दर्जे का दिमाग भी रखते थे। उसी दौरान 1764 आते-आते जयपुर 'जैनपुरी' तक हो गया। यहां दिगम्बर जैनियों के जितने मंदिर और जितनी जनसंख्या हो गई, उतनी देश के अन्य नगरों में नहीं थी।[1]

5 मार्च, 1768 को महाराजा माधो सिंह प्रथम की मृत्यु के साथ ही मुगल सल्तनत और जयपुर रियासत के संबंधों का अध्याय समाप्त हुआ। इसके बाद 70-75 वर्षों का समय जयपुर राज के लिए बहुत बुरा था। राजमहलों में आए दिन षडयंत्र चलते और पर्दे के पीछे रहने वाली जनानी ड्योढ़ी केन्द्र में रहती। खींचतान के चलते रियासत की शासन व्यवस्था और अर्थतंत्र चौपट हो गए। माजियों और महारानियों के कामदार और दूसरे मुंहलगे लोगों की बन आई और दास-दासियां या बांदियां तक बडारण और राज बडारण बनकर इतनी शक्तिशाली हो गईं कि राजकाज में उनका हस्तक्षेप होने लगा। मुसाहिबों और ठाकुर-जागीरदारों की आपसी कशमकश इस हद तक पहुंच गई कि अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए दिल्ली की शाही फौज तक से खिराज वसूली के लिए हमला करवा देते। चारों ओर अराजकता, अनाचार और स्वार्थ साधन का बोलबाला था। सिलसिलेवार युद्धों के कारण जयपुर रियासत की सैन्य शक्ति भी क्षीण होने लगी।

माधो सिंह की मृत्यु के बाद उनके 5 वर्षीय पुत्र पृथ्वी सिंह द्वितीय जयपुर की राजगद्दी पर बैठे और उनकी सौतेली माता शासन की देखरेख करने लगीं, जिन्हें चूंडावतजी कहा जाता था। उनका नाम चन्द्रावती या कुंदन कंवर था। वे देवगढ़ के रावत जसवंत सिंह की पुत्री थीं। जब चूंडावतजी का प्रभाव बढ़ा तो जसवंत सिंह भी देवगढ़ से जयपुर आ गए। राजकाज में पराए लोगों के दखल ने अन्य सामंतों और जागीरदारों को नाराज कर दिया। एक ओर, चूंडावतजी और उनके पिता मंत्रियों को अपने इशारों पर चलाते तो दूसरी ओर चौमूं-सामोद के नाथावत, झिलाय के राजावत, मनोहरपुर के शेखावत और माचेड़ी के नरूका ठाकुर कभी एक मंत्री को दूसरे के और कभी सबके सब मंत्रियों को जसवंत सिंह के खिलाफ उकसाते। मंत्रियों में खुशालीराम बोहरा और फीरोज फीलवान थे। ये दोनों माधो सिंह के यहां साधारण कर्मचारी रहे हुए थे, इसलिए सरदारों को स्वाभाविक रूप से नापसंद थे। इनके खिलाफ लगातार षडयंत्र चलने लगा।[2]

उस दौरान कछवाहा वंश से ही निकले प्रतापसिंह नरूका ने अपने लोगों के जरिए जयपुर प्रशासन पर जबर्दस्त पकड़ बना ली। उन्होंने जयपुर के राजकाज में जसवंत सिंह का हस्तक्षेप

पूरी तरह खत्म कर दिया। नरूका की ढाई गांव की जागीर में माचेड़ी के अलावा राजगढ़ और आधा रामपुर थे। उन्होंने अपनी ताकत के बल पर उसे रियासत में बदल दिया। पृथ्वी सिंह की खुशी–नाराजगी से गुजरते हुए नरूका ने भरतपुर महाराजा के पुत्र जवाहर सिंह पर हमले में अगुवाई करके राव राजा का खिताब और माचेड़ी के अलावा राजगढ़ में किले बनाने की अनुमति ले ली। नरूका ने 1774 में नवाब मिर्जा नजफ खान से मिलकर भरतपुर की फौज के कब्जे से आगरा को मुक्त करवाया। इससे खुश होकर नवाब की सिफारिश पर मुगल बादशाह शाह आलम ने नरूका को राव राजा का खिताब, पांच हजारी मनसब और माचेड़ी की जागीर देकर सम्मानित किया। नरूका ने 1775 तक मेवात पर कब्जा करना शुरू कर दिया, जिसे आम तौर पर मुगल क्षेत्र के रूप में जाना जाता था। 25 नवम्बर, 1775 को नरूका ने भरतपुर वालों को हराने के साथ अलवर के महत्वपूर्ण किले पर कब्जा कर लिया। इसके साथ ही जयपुर से स्वतंत्र माचेड़ी रियासत की स्थापना हुई।[3]

नरूका की अलग रियासत का उभरना जयपुर राज के लिए बड़ा झटका था। नरूका के मुगल बादशाह के साथ ही शक्तिशाली मराठा शासक महादजी सिंधिया से भी अच्छे संबंध थे। जयपुर के दीवान खुशालीराम बोहरा सहित अनेक प्रमुख सरदार नरूका से प्रगाढ़ता रखते थे। नरूका की ताकत दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी।

ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में जयपुर की ओर से ईस्ट इंडिया कंपनी की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाया गया। इसमें यह ध्यान रखा गया कि मुगल बादशाह भी नाराज नहीं हों। पृथ्वी सिंह ने वॉरेन हैस्टिंग्स को पत्र लिखा जो उन्हें 29 अक्टूबर, 1776 को प्राप्त हुआ। पत्र में लिखा था, 'गवर्नर जनरल तथा अन्य ब्रिटिश सज्जनों की नेकी और मैत्रीपूर्ण विशेषताओं के बारे में जानने के बाद मैं उनके समक्ष दोस्ती का हाथ बढ़ाने में संकोच कर रहा हूं।' उन्होंने गवर्नर जनरल से यह भी निवेदन किया कि वे दिल्ली के अधिकारियों को पत्र लिखकर जयपुर के वकील का परिचय शाह आलम से करवाने और उनकी सहायता करने का निर्देश दें क्योंकि दिल्ली दरबार के सदस्यों का व्यवहार उनके प्रति अच्छा नहीं है। पत्र की समाप्ति इस आशा के साथ की गई थी, 'कंपनी और मेरे परिवार के बीच जो दोस्ती स्थापित हुई है, वह आपके कार्यकाल में और भी मजबूत होती जाएगी।'[4]

वॉरेन हैस्टिंग्स ने इस पत्र का जवाब 15 जनवरी, 1777 को दिया। उसने पृथ्वी सिंह को सलाह दी कि वे ब्रिटिश कौंसिल में अपने प्रतिद्वंद्वी मिर्जा नजफ खान के साथ विवाद को सुलझाकर दोस्ताना संबंध बनाएं क्योंकि वे दोनों ही ब्रिटिशों के मित्र हैं।[5]

16 अप्रेल, 1778 को 15 वर्ष की उम्र में पृथ्वी सिंह की मृत्यु हो गई। एक धारणा यह भी है कि चूंडावतजी ने अपने 13 वर्षीय पुत्र प्रताप सिंह को गद्दी दिलाने के लिए सौतेले पुत्र पृथ्वी सिंह को विष देकर मौत के घाट उतरवा दिया।[6] उस समय पृथ्वी सिंह का छह महीने का पुत्र गद्दी का दावेदार था, जिसका नाम मान सिंह था। लेकिन परिस्थितियां ऐसी बनीं कि जयपुर की गद्दी पृथ्वी सिंह के छोटे भाई प्रताप सिंह को मिल गई। शाह आलम ने 20 लाख रुपए लेकर स्वयं उनका राजतिलक किया।[7] वॉरेन हैस्टिंग्स ने प्रताप सिंह को राज्याभिषेक की बधाई देते हुए उपहार भेजे। प्रताप सिंह ने भी गवर्नर जनरल को कुछ घोड़े और अन्य

उपहार भिजवाए।[8]

रियासत की राजनीतिक सरगर्मी में अनुभवी दीवान खुशालीराम को किसी षडयंत्र की आहट मिली और वे बालक मान सिंह को वहां से निकालकर किशनगढ़ ले गए, जिससे उसकी सुरक्षा पर आंच नहीं आए। खुशालीराम को इसकी कीमत चुकानी पड़ी; उन्हें बंदी बना लिया गया।[9]

प्रतापसिंह नरूका को राजघराने के इस विवाद में एक अच्छा अवसर दिखाई दिया। उन्होंने महादजी सिंधिया को जयपुर के नए महाराजा के खिलाफ भड़काया और मान सिंह को गद्दी दिलवाने की सिफारिश की। सिंधिया को यह प्रस्ताव अपने मन के अनुकूल लगा। जयपुर राज के ऊपर सिंधिया और मुगल बादशाह दोनों की एक बड़ी धनराशि बकाया थी। बादशाह का मुख्य प्रतिनिधि बनाए जाने के बाद सिंधिया ने जयपुर से अतिरिक्त कर की मांग की, लेकिन आर्थिक तंगी से जूझते जयपुर के लिए यह संभव नहीं था। 1782 से 1784 के बीच प्रताप सिंह की ओर से एक रुपए का भी भुगतान नहीं किया गया। इसके बाद सिंधिया ने जयपुर को अपने अधीन करने के प्रयास शुरू कर दिए।[10]

सिंधिया ने जयपुर पर आक्रमण करने के लिए मारवाड़ के विजय सिंह को अपने समर्थन में लिया और मुगल बादशाह तथा ब्रिटिश हुकूमत की मदद पाने की कोशिश शुरू की। सितम्बर, 1785 में सिंधिया ने अपने एक व्यक्ति को लखनऊ भेजकर ब्रिटिश सहायता के बदले 25 लाख लाख रुपए पेश किए।[11]

1786 में महादजी सिंधिया ने शाह आलम को साथ लेकर जयपुर की ओर बढ़ना शुरू किया। जयपुर के नजदीक सांगानेर में बादशाह का शिविर लगा। मान सिंह को भी किशनगढ़ से बुला लिया गया। 6 मार्च को नरूका वहां पहुंच गए। उनके साथ खुशालीराम भी थे।[12]

नरूका को प्रताप सिंह से बात करने के लिए जयपुर भेजा गया। नरूका नहीं चाहते थे कि प्रताप सिंह और बादशाह के बीच शांति स्थापित हो। उन्होंने जयपुर से लौटने के बाद सिंधिया को समझौते की राशि बढ़ाने के लिए उकसाया और यह भी कहा कि यदि खुद हिन्दुस्तान के बादशाह के इतनी दूर चलकर आने के बाद भी 60 लाख रुपए से कम वसूल किए गए तो यह मुगल सल्तनत की शान के खिलाफ होगा। नरूका ने सिंधिया को फिर याद दिलाया कि इतना इंतजार करवाने के बाद यदि प्रताप सिंह इस शर्त को नहीं मानें तो उन्हें हटाकर मान सिंह को जयपुर की गद्दी पर बैठा देना चाहिए। नरूका ने कहा कि वे मान सिंह के संरक्षक बन जाएंगे और इसके बदले में 50 लाख रुपए देने का प्रस्ताव भी रखा।[13]

आखिरकार जयपुर महाराजा से 63 लाख रुपए की मांग की गई, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। इसमें से 11 लाख रुपए तुरंत और 10 लाख रुपए 6 महीने बाद दिए जाने थे। 20 लाख रुपए जमीन द्वारा और अन्य 22 लाख रुपए कर वसूली द्वारा लेना तय हुआ। इसके बाद जयपुर के दीवान दौलतराम हल्दिया को हटाकर खुशालीराम को पदस्थापित कर दिया गया। अपने प्रतिनिधि के रूप में रायाजी पाटिल को जयपुर में छोड़कर शाह आलम और सिंधिया लौट गए।[14]

इसी दौरान प्रताप सिंह ने अपने पुराने दीवान दौलतराम को ब्रिटिश सेना से सहायता मांगने

के लिए लखनऊ भेजा। लेकिन गवर्नर जनरल लॉर्ड कॉर्नवालिस ने स्पष्ट कर दिया कि रियासतों के झगड़े में ब्रिटिश हुकूमत हस्तक्षेप नहीं करेगी। फिर भी कई अन्य अफसरों ने दौलतराम को सहायता का आश्वासन दिया। उस समय कॉर्नवालिस की निगाहें मैसूर पर टिकी हुई थीं। माना जा रहा था कि टीपू सुल्तान की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा के कारण मैसूर रियासत और ब्रिटिश हुकूमत के बीच युद्ध की स्थिति कभी भी बन सकती है। ऐसे में ब्रिटिश हुकूमत के लिए आवश्यक था कि वह हैदराबाद के निजाम और मराठा पेशवा को अपने पक्ष में रखे। इसलिए मराठों को राजपूताना में पूरी छूट दे दी गई थी।[15]

ब्रिटिश अफसरों से दौलतराम को आश्वासन मिलने के बाद प्रताप सिंह ने सिंधिया को चुनौती देने की तैयारी शुरू कर दी। उन्होंने जोधपुर रियासत के साथ अपने संबंध मजबूत किए और अपने सभी सहयोगियों से कह दिया कि वे सिंधिया को कोई भी राशि नहीं चुकाएं। इसके परिणाम स्वरूप दिसम्बर, 1786 में सिंधिया के प्रतिनिधि रायाजी पाटिल ने जयपुर पर आक्रमण किया लेकिन राजपूतों ने मिलकर उनकी सेना को खदेड़ दिया। इस युद्ध में 700 मराठा सैनिक मारे गए।[16]

प्रताप सिंह के इस कदम से बौखलाए महादजी सिंधिया ने जयपुर को तहस-नहस करने का मन बना लिया। इसी बीच प्रताप सिंह ने जोधपुर महाराजा, नागा साधुओं और अपने ठाकुरों के सहयोग से एक विशाल सेना तैयार की। मई, 1787 में मराठा सेना के आने की सूचना मिलने पर जयपुर की सेना ने पहले धावा बोलकर सिंधिया को अपने कदम पीछे खींचने पर मजबूर कर दिया। सिंधिया ने लालसोट में अपना शिविर लगाया और सही मौके का इंतजार करना उचित समझा। उस दौरान मराठा सैनिकों ने तनख्वाह नहीं मिलने के कारण युद्ध करने से मना कर दिया। इधर, प्रताप सिंह ने चुनौतीपूर्ण पत्र भेजकर सिंधिया को ललकारना जारी रखा। 19 जुलाई, 1787 को प्रताप सिंह ने सिंधिया को लिखा, 'आप साम्राज्य के प्रतिनिधि और एक अनुभवी योद्धा हैं। अगर साहस हो तो इन छोटी तोपों के घेरे से निकलकर खुले मैदान में आइए और राजपूतों के साथ युद्ध कीजिए। देखते हैं ईश्वर किसे विजयी करता है।'[17] आखिरकार, सिंधिया ने अपने सैनिकों को पांच लाख रुपए देने की घोषणा की और युद्ध के लिए तैयार किया। मराठा सैनिकों ने अपने हथियार उठाए। इस युद्ध में दोनों पक्षों के हजारों सैनिक मारे गए लेकिन किसी को भी स्पष्ट जीत हासिल नहीं हुई।[18] जून, 1790 में सिंधिया ने दुबारा आक्रमण किया। इस बार सिंधिया ने प्रताप सिंह की सेना को हरा दिया और उनकी संपत्ति पर कब्जा कर लिया।[19] प्रताप सिंह ने एक बार फिर ब्रिटिश सेना से मदद की गुहार लगाई लेकिन कॉर्नवालिस अपनी नीति पर अडिग रहा।

1794 में महादजी सिंधिया की मृत्यु हो गई और जयपुर पर आया संकट अस्थाई रूप से टल गया। इसके बाद प्रताप सिंह ने ब्रिटिश हुकूमत से अपने संबंध मजबूत करने के प्रयास शुरू किए। सबसे पहले उन्होंने फ्रांसीसी कैप्टन जीन पिले के नेतृत्व में 50 हजार घुड़सवार सैनिकों की फौज तैयार की ताकि ब्रिटिश हुकूमत उन्हें एक उपयोगी मित्र समझ सके।[20]

जीन पिले को मराठा अत्याचार से प्रताड़ित राजपूताना के प्रति गहरी सहानुभूति हुई। इस समय तक जॉन शोर भारत का नया गवर्नर जनरल बन चुका था। जीन पिले ने जॉन शोर को

पत्र लिखकर बताया कि प्रताप सिंह को ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ एक रक्षात्मक संधि की आवश्यकता है और वे चाहते हैं कि जयपुर दरबार में एक ब्रिटिश प्रतिनिधि को नियुक्त किया जाए। पिले ने आगे लिखा, 'राजा की तीसरी आवश्यकता है, ईस्ट इंडिया कंपनी के द्वारा हथियारों और सैन्य पोशाकों की आपूर्ति तथा कंपनी या अवध के नवाब वजीर के क्षेत्र में जयपुर की सेना को नियुक्त करने की अनुमति। इतनी सहायता देकर कंपनी अपने एक अच्छे मित्र को इस स्थिति में ला सकती है कि वह अपना उद्देश्य स्वयं पूरा कर सके। कुछ ही दिनों में राजा और उनके मित्रगण 50 हजार घुड़सवार सैनिकों और अपने क्षेत्र के संसाधनों के साथ कंपनी को ही सशक्त कर रहे होंगे और ब्रिटिश वर्चस्व को बढ़ाने में सहायता करेंगे। इन सब के बदले में वे हमसे रक्षात्मक सहयोग के अलावा कुछ नहीं मांगेंगे। इसी दौरान राजा और उनके भाई-बंधु हमारी एक छोटी टुकड़ी के साथ मिलकर इन परदेसियों (मराठों) को अपने क्षेत्र से बाहर खदेड़ देंगे।'[21] लेकिन जॉन शोर को आदेश मिला हुआ था कि वह ब्रिटिश हुकूमत द्वारा संरक्षित अवध के अलावा अन्य किसी रियासत के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करे। उसने जीन पिले को पत्र लिखकर स्पष्ट कर दिया कि इस तरह की संधि की कोई गुंजाइश नहीं है।

जॉन शोर के बाद 1798 में मार्क्वेस वेलेस्ली गवर्नर जनरल बना। फ्रांस का प्रभाव समाप्त करने और पूरे भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से उसने रियासतों के साथ संबंध जोड़ना शुरू किया। मैसूर को जीतने के बाद केवल मराठा साम्राज्य ही था, जो ब्रिटिश हुकूमत को चुनौती दे सकता था। भारत पर पूरा स्वामित्व पाने के लिए मराठों की ताकत को कुचलना आवश्यक था। वेलेस्ली ने सबसे पहले उन रियासतों की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया, जो मराठों के आक्रमण से सबसे अधिक पीड़ित थीं। वह जानता था कि ये रियासतें मराठों से लड़ने में ब्रिटिश सेना को पूरी सहायता भी देंगी और हुकूमत के प्रति कृतज्ञता का भाव भी रखेंगी। प्रताप सिंह ने अपने शासनकाल में रियासत को दुर्दशा से उबारने के लिए कई प्रयास किए। तुंगा की लड़ाई में महादजी सिंधिया को हराकर बड़े योद्धाओं में अपना नाम दर्ज करवाने और 25 वर्षों के शासनकाल में जयपुर को अनेक सुंदर महलों और भव्य देवालयों से सजाने वाले प्रताप सिंह की 1 अगस्त, 1803 को मृत्यु हो गई।

विभिन्न संकटों के बावजूद प्रताप सिंह का काल जयपुर की स्थापत्य कला और निर्माण शैली के विकास को समर्पित था। दीवान-ए-आम का भवन प्रताप सिंह का बनवाया हुआ है। हालांकि इस पर मामूली मतभेद भी हैं और कुछ इसका श्रेय माधो सिंह प्रथम को देते हैं।[22] दिल्ली और आगरा के मुगलकालीन दीवान-ए-आम के मुकाबले जयपुर के इस दरबार की खूबी थी कि संगमरमर के सुघड़ स्तंभ लगाए गए, जिन्हें जयपुर के संगतराशों ने सुंदरतम बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। ये स्तंभ इतने करीने से लगाए गए कि भीतर बैठने वालों को बाहर झांकने में और बाहर वालों को अंदर देखने में कोई अवरोध नहीं होता। इस बुलंद इमारत की ऊंची छत में जो विशाल-झाड़ फानूस लटकाए गए, वे रोशन होते तो स्वप्नलोक-सा दृश्य नजर आता।[23] जैसा स्थापत्य कला में हुआ, चित्रकला में भी जयपुर की कला का जौहर प्रताप सिंह के समय ही उत्कर्ष पर पहुंचा। यद्यपि जयपुर में विकसित शैली में स्वतंत्र

कल्पना का अभाव और प्रतिलिपियों का प्रभाव अधिक रहा। इसके बाद भी उत्तर मुगल काल के उस सांस्कृतिक पुनर्जागरण में यह कलम उत्तरोत्तर मंजती और प्रांजल होती गई, जो अंतत: पुरानी छाया से मुक्त होकर एक स्वतंत्र शैली मानी गई..जयपुर शैली। 1778 में चारों वेदों की संपूर्ण प्रतियां फ्रांसीसी विद्वान ले.क. एन्टोनियो लुई हेनरी पोलियर प्रताप सिंह के पोथीखाने से ही ले गए थे। बाद में उन्होंने यह अमूल्य संग्रह ब्रिटिश म्यूजियम को दे दिया।[24]

प्रताप सिंह की मृत्यु के बाद उनके पुत्र जगत सिंह जयपुर के महाराजा बने। इस बीच, ब्रिटिश सेना ने मराठा साम्राज्य के खिलाफ मोर्चा खोल दिया। 15 अगस्त, 1803 को ब्रिटिश सेना द्वारा अहमदनगर किले के पराभव के बाद दक्षिण भारत में ब्रिटिश हुकूमत और महादजी सिंधिया के उत्तराधिकारी दौलतराव सिंधिया के बीच लड़ाई शुरू हुई। दौलतराव और नागपुर के भोंसला राजा साथ मिलकर लड़ रहे थे। दो सप्ताह बाद, 29 अगस्त को ब्रिटिश सेना के अधिकारी जनरल जेरार्ड लेक ने सिंधिया के फ्रांसीसी सेना प्रमुख पियरे क्यूलियर पेरॉन के अलीगढ़ के पास स्थित शिविर पर कब्जा कर लिया और इसके साथ ही उत्तर भारत में भी युद्ध छिड़ गया। इस घमासान युद्ध में ब्रिटिश सेना को दोनों दिशाओं में लगातार जीत मिली। 4 सितम्बर को अलीगढ़, 11 सितम्बर को दिल्ली, 23 सितम्बर को अस्साये, 18 अक्टूबर को आगरा, 1 नवम्बर को लासवाड़ी और 19 नवम्बर को अरगांव में मिली सफलता के साथ ब्रिटिश सेना ने सिंधिया की शक्ति को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। वर्ष के अंत से पहले ही सिंधिया को समर्पण करना पड़ा; 13 दिसम्बर, 1803 को सर्जी अंजनगांव की संधि हुई।[25]

इसी दौरान जनरल लेक ने जयपुर के वकीलों के साथ समझौते की पहल की। 12 दिसम्बर, 1803 को आगरा प्रांत के सरहिंदी में जगत सिंह की स्वीकृति के बाद सात अनुच्छेदों वाले एक संधिपत्र पर हस्ताक्षर किए गए। संधि की महत्वपूर्ण शर्तों में एक शर्त यह थी कि जयपुर रियासत के प्रशासनिक मामलों में कंपनी किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करेगी और न ही महाराजा से कोई कर मांगेगी। संधि के चौथे अनुच्छेद में लिखा था कि ब्रिटिश अधिकृत भारत में किसी विदेशी शक्ति की घुसपैठ होने पर महाराजा अपने सारे सैनिक ब्रिटिश सेना की सहायता के लिए भेज देंगे। इस समझौते के तहत ईस्ट इंडिया कंपनी को मध्यस्थ बनाया गया और यह स्वीकार किया गया कि यदि किसी रियासत से जयपुर का मतभेद होता है तो सबसे पहले ब्रिटिश हुकूमत को सूचना दी जाएगी। हुकूमत की मध्यस्थता के बावजूद कोई हल नहीं निकलने की स्थिति में जयपुर ब्रिटिश सेना से सहायता मांग सकता है। ऐसी स्थिति में जयपुर को सहायता दी जाएगी लेकिन सेना का पूरा खर्च महाराजा वहन करेंगे। संधि की अंतिम शर्त के अनुसार यह तय हुआ कि जयपुर महाराजा ब्रिटिश हुकूमत की अनुमति के बिना किसी भी विदेशी प्रवासी से कोई संबंध स्थापित नहीं करेंगे और न ही उन्हें अपने दरबार में प्रवेश करने देंगे।[26]

दूसरी ओर, ब्रिटिश हुकूमत और दौलतराव सिंधिया के बीच 13 दिसम्बर, 1803 को हुई संधि के नवें अनुच्छेद में उन रियासतों का उल्लेख था, जो सिंधिया को एक निश्चित राशि चुकाती थीं। इस सूची में जयपुर का नाम भी शामिल था। जयपुर-ब्रिटिश संधि के प्रभावों का उल्लेख करते हुए कॉर्नवालिस ने 13 जुलाई, 1804 को 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' की गुप्त

समिति को पत्र भेजकर बताया, 'इस व्यवस्था के साथ जयनगर (प्राचीन नाम) के राजा को दौलतराव सिंधिया के सामने भेंट प्रस्तुत करने की परंपरा से स्थाई मुक्ति दे दी गई है।'[27]

सिंधिया को निष्क्रिय कर देने के बाद ब्रिटिश हुकूमत का अगला सामना मराठा सामंत जसवंत राव होल्कर से हुआ, जिन्हें मुगल दरबार की ओर से 'महाराजाधिराज राजराजेश्वर' की उपाधि मिली हुई थी। लगातार शक्तिशाली हो रहे होल्कर ने ब्रिटिश हुकूमत के साथ बाहर से मैत्रीपूर्ण रवैया बनाए रखा था लेकिन गुप्त रूप से लोगों को संगठित करना भी जारी रखा ताकि हुकूमत को कड़ी चुनौती दी जा सके। ब्रिटिश हुकूमत भी अपनी पैठ जमाने में लगी हुई थी और किसी भी भारतीय पर पूरी तरह विश्वास नहीं करती थी। जनरल लेक ने अपने सूत्रों के माध्यम से एक ऐसा पत्र खोज लिया, जिससे होल्कर के इरादों का सबूत मिल गया।[28] लेकिन ब्रिटिश हुकूमत ने मामले को शांति से सुलझाकर होल्कर को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया। जनवरी, 1804 में जनरल लेक ने होल्कर के साथ समझौते की पहल की। होल्कर ने रियासतों से चौथ (आय का एक चौथाई) वसूलने का अधिकार और दोआब तथा बुंदेलखंड के 12 सूबों पर कब्जा मांगा। ब्रिटिश हुकूमत होल्कर की इतनी महंगी शर्त को मानने के लिए तैयार नहीं हुई।[29]

युद्ध की आशंका को देखते हुए जनरल लेक ने बयाना में मोर्चा संभाल लिया। यहां रहते हुए उसका ध्यान जयपुर की ओर बढ़ने वाले आक्रमणकारियों और उत्तर भारत में स्थापित हो चुके ब्रिटिश प्रभुत्व को बचाने की नीतियों पर था। फरवरी, 1804 में जयपुर रियासत पर होल्कर के आक्रमण की आशंका बढ़ने लगी। मार्च के अंतिम सप्ताह में बालाहेड़ से एक अन्य अधिकारी कैप्टन स्टरॉक सेना लेकर जयपुर की रक्षा के लिए पहुंचा। 16 अप्रेल, 1804 को जनरल लेक को होल्कर पर आक्रमण करने का आदेश मिल गया।[30] जनरल लेक 17 अप्रेल को बयाना से दौसा पहुंचा। वहां उसने कर्नल मॉनसन को स्थानीय छावनी से तीन सैन्य टुकड़ियों के साथ जयपुर की ओर बढ़ने का निर्देश दिया। जब कर्नल मॉनसन अपनी सेना के साथ जयपुर पहुंचा तो होल्कर ने वहां से अपना शिविर हटा लिया और रामपुरा की ओर कदम बढ़ा लिए। जनरल लेक ने कर्नल पैट्रिक डॉन के नेतृत्व में सेना को रामपुरा भेजा। जिस स्थान पर होल्कर ने शरण ली थी, उसे ध्वस्त कर दिया गया। होल्कर ने वहां से भी बचने का रास्ता खोज निकाला और और चंबल के दक्षिण की ओर अपने क्षेत्र में जाकर डेरा जमा लिया। बार-बार ब्रिटिश सेना के सामने विफल हो जाने के बाद भी होल्कर ने जयपुर पर आक्रमण करना जारी रखा।[31]

उस समय जयपुर की आंतरिक स्थिति अच्छी नहीं थी। युवा महाराजा जगत सिंह का ध्यान रियासत के कामों पर कम और भोग-विलास पर अधिक रहता था। उनके पिता प्रताप सिंह की मृत्यु से कुछ पहले एक दासी को 'राज बडारण' की उपाधि दे दी गई थी। यह पहला मौका था जब जनानी ड्योढ़ी के प्रति इस तरह कृपा का प्रदर्शन किया गया। जगत सिंह ने इस मामले में पिता को भी पीछे छोड़ दिया। जगत सिंह की सर्वप्रिय प्रेयसी थी तवायफ रसकपूर, जिसका रुतबा रानियों से भी बढ़ा-चढ़ा था। जगत सिंह के साथ रसकपूर हाथी के हौदे पर सवार होकर निकलती। सभी सरदारों-जागीरदारों को आदेश दिया गया कि

रसकपूर के प्रति वही सम्मान दिखाया जाए, जो रानियों के प्रति दिखाया जाता है। जगत सिंह ने रसकपूर को आधे आम्बेर की रानी बना दिया। रसकपूर की अवहेलना करने के कारण दूणी के राव चांद सिंह पर उसकी जागीर की चार साल की आय का जुर्माना कर दिया, जो लगभग 2 लाख रुपए होता था। जगत सिंह के सलाहकारों ने समय रहते महाराजा को सचेत करके रसकपूर को ड्योढ़ी के रसविलास से नाहरगढ़ के किले में पहुंचाया, जहां वह उम्रभर कैद रही।[32]

इधर, अपने साम्राज्य को विस्तार देने के प्रयासों में जुटी ब्रिटिश हुकूमत की नीतियों में लगातार परिवर्तन हो रहे थे। 30 जुलाई, 1805 को एक बार फिर कॉर्नवालिस को गवर्नर जनरल बनाया गया। कॉर्नवालिस मराठों को अपने पक्ष में करना चाहता था क्योंकि उनसे लड़ने में संसाधनों की बहुत खपत हो रही थी। 3 अगस्त को उसने जनरल लेक को पत्र लिखकर कहा कि अभी तक जयपुर महाराजा की गतिविधियों से ब्रिटिश हुकूमत के शत्रुओं को ही लाभ हुआ है, इसलिए असुविधा और शर्मिंदगी से बचने के लिए वह इस संधि को समाप्त कर रहा है। उसने लेक को यह सूचना सेनाधिकारी मेजर जोन्स तक पहुंचाने के लिए कहा कि मराठों की ओर से आक्रमण होने पर जयपुर को कोई सैन्य सहायता नहीं दी जाएगी। कॉर्नवालिस ने यह भी उल्लेख किया कि यह कदम अनैतिक है और ब्रिटिश हुकूमत के लिए नुकसानदेह साबित हो सकता है, इसलिए जयपुर में उपस्थित ब्रिटिश रेजीडेंट को इस निर्णय की सूचना देकर कह दिया जाए कि वह किसी भी परिस्थिति में उच्चाधिकारियों से संपर्क स्थापित नहीं करे।[33]

जनरल लेक को यह आदेश पाकर शर्मिंदगी हुई। उसकी नजर में यह जयपुर महाराजा के साथ विश्वासघात था। उसने कॉर्नवालिस को पत्र लिखकर मैत्री और सहयोग के उन वचनों की याद दिलाई, जो ब्रिटिश हुकूमत ने संधि करते समय जयपुर महाराजा को दिए थे। लेक के पत्र को पढ़ने के बाद कॉर्नवालिस ने दुबारा विचार किया और संधि तोड़ने की कार्रवाई पर रोक लगा दी।[34]

1 अक्टूबर, 1805 को जयपुर के रेजीडेंट कैप्टन स्टरॉक ने जनरल लेक को सूचना दी कि होल्कर ने एक बार फिर जयपुर की ओर बढ़ना शुरू कर दिया है और इस परिस्थिति में युद्ध की तैयारी करने की बजाय जगत सिंह अपनी सेना लेकर उदयपुर की राजकुमारी से विवाह करने जा रहे हैं। जनरल लेक ने तुरंत जगत सिंह को पत्र लिखा। उसने जगत सिंह को आगाह किया कि वे पहले भी कई अवसरों पर अपने कर्तव्य के प्रति लापरवाह रहे हैं और इस बार उन्हें मौका मिला है कि वे पूरा सहयोग देकर अपने आप को ब्रिटिश हुकूमत का वफादार मित्र साबित कर पाएं। साथ ही, यह निर्देश दिया कि वे होल्कर से लड़ने के लिए आ रही मेजर जोन्स की सेना को हर तरह से अपना सहयोग दें और उसकी सभी आवश्यकताओं को पूरा करें।[35]

लगभग दो हफ्ते बाद जनरल लेक को जयपुर की ओर से एक अच्छी सूचना मिली। रेजीडेंट ने पत्र लिखकर जगत सिंह से मिले सहयोग के बारे में जानकारी दी। उसने लिखा कि जनरल लेक का पत्र मिलते ही जगत सिंह ने उदयपुर की ओर बढ़ती अपनी सेना को

रोककर मेजर जोन्स की सहायता के लिए रवाना कर दिया। यह सूचना पाकर जयपुर के प्रति सहानुभूति रखने वाले जनरल लेक ने राहत की सांस ली। जगत सिंह के इस कदम के बाद लेक ने निष्कर्ष में लिखा, 'समझौते की शर्तों को पूरी दृढ़ता से निभाते हुए जयपुर महाराजा ने ब्रिटिश हुकूमत का एक विश्वसनीय और घनिष्ठ मित्र होने का अपना दावा सिद्ध कर दिखाया है।'[36]

जयपुर की इस वचनबद्धता का समाचार कॉर्नवालिस तक नहीं पहुंच सका। 5 अक्टूबर को उसकी मृत्यु हो चुकी थी। वह अपने जीवनकाल में यह नहीं देख पाया कि संधि को बनाए रखने का उसका निर्णय आखिरकार सही साबित हुआ। कॉर्नवालिस की मृत्यु के बाद जॉर्ज बार्लो को भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया। बार्लो ने आते ही अपने फैसलों से स्पष्ट कर दिया कि वह शक्तिशाली लोगों को अपना मित्र बनाकर रखना चाहता है और कमजोर राजाओं के साथ उसे कोई सहानुभूति नहीं है। 23 नवम्बर, 1805 को उसने दौलतराव सिंधिया के साथ संधि कर ली और ग्वालियर तथा गोहद का शासन सौंप दिया। इसके ठीक दस दिनों बाद, 3 दिसम्बर को एक आदेश जारी किया गया, जिसके तहत जयपुर के साथ हुई संधि को तोड़कर सिंधिया को खुला समर्थन दे दिया गया। जनरल लेक को जब यह सूचना मिली तो उसने बार्लो को रोकने की कोशिश की लेकिन बार्लो के ऊपर इस बात का कोई असर नहीं हुआ। ब्रिटिश हुकूमत की ओर से जयपुर में नियुक्त रेजीडेंट को आदेश दे दिया गया कि वह औपचारिक रूप से संधि-समाप्ति की घोषणा कर दे।[37]

ब्रिटिश इतिहासकार हॉरेस हेमैन विल्सन ने इस घटना पर टिप्पणी की है, 'राजा का परित्याग कर दिया जाना एक ऐसा निर्णय था, जिसका बचाव नहीं किया जा सकता। जब उन्हें ब्रिटिश हुकूमत से सहायता की आवश्यकता हुई तो उनसे कह दिया गया कि इस संधि का अस्तित्व ही नहीं है और उनके असहयोग के कारण इसे समाप्त कर दिया गया है। राजा का कहना था कि उनकी सेना कर्नल मॉनसन की सहमति और जनरल लेक का आदेश मिलने के बाद ही उनसे अलग हुई थी। उदयपुर जाने के दौरान जब उन्हें संदेश मिला तो उन्होंने अपना निजी काम छोड़कर सेना को मदद के लिए भेजा। यदि हुकूमत को उनके किसी कदम से आपत्ति थी तो उन्हें उसी समय सूचित किया जाना चाहिए था। जब तक ब्रिटिश हुकूमत को आवश्यकता थी, वह सहयोग लेती रही। अब जब उन्हें जयपुर की जरूरत नहीं रही तो वह अपना असंतोष प्रकट कर रही है ताकि अपने दायित्व निभाने में हो रही असुविधा से छुटकारा पा सके। निस्संदेह यह तर्क पूरी तरह राजा के पक्ष में था।'[38] कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने इस संधि को दुबारा स्थापित करने का आदेश तो नहीं दिया क्योंकि ऐसा करने से एक बार फिर मराठों के साथ युद्ध की संभावना बन जाती, लेकिन इसे समाप्त करने की भी अनुमति नहीं दी। बोर्ड ने गवर्नर जनरल बार्लो को चेतावनी दी कि वह भविष्य में ब्रिटिश हुकूमत के सहयोगियों के साथ निष्ठापूर्वक संबंध निभाए।[39] इसके बाद चले घटनाक्रम में मालवा और इंदौर स्थित होल्कर के किलों पर ब्रिटिश हुकूमत का कब्जा हो गया और चौतरफा घेराबंदी के जरिए उसे समर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया गया। 24 दिसम्बर, 1805 को संधि हुई जिसे राजपुर घाट की संधि के नाम से जाना जाता है। इसके तहत हुकूमत ने होल्कर के सभी

अधिकार छीन लिए और टोंक, रामपुरा तथा बूंदी सहित कई क्षेत्रों को उसके कब्जे से बाहर ले लिया।[40]

आने वाले वर्षों में विदेशी लुटेरों ने भारत में तेजी से घुसपैठ शुरू कर दी। 1812 में पिंडारियों ने मिर्जापुर और बिहार के दक्षिणी भागों में जमकर लूटपाट की और आतंक फैलाया। इन लुटेरों को भारत में मराठों और पठानों का भी भरपूर सहयोग मिलता था। उन्हें लगता था कि ब्रिटिश हुकूमत रियासतों की रक्षा के लिए लड़ने नहीं आएगी, इसलिए सबसे पहले रियासतें ही उनके निशाने पर रहती थीं। वे हर वर्ष एक बार भारत आते और रियासतों की संपदा लूटकर चले जाते। ब्रिटिश हुकूमत भी एक साथ कई मोर्चों पर युद्धरत थी। उसे विश्वसनीय और शक्तिशाली मित्रों की जरूरत थी। मार्च, 1816 में तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड हैस्टिंग्स ने ब्रिटिश कौंसिल के सामने जयपुर के साथ नए सिरे से संधि करने का प्रस्ताव रखा। मेजर जनरल जॉन मैल्कम ने भी हैस्टिंग्स को पत्र लिखकर कहा कि ब्रिटिश हुकूमत के लिए जयपुर राजपूताना का सबसे महत्वपूर्ण राज्य है और इसमें दुश्मनों की घुसपैठ ब्रिटिश हुकूमत को भारी पड़ सकती है। इसलिए पुराने संबंधों में सुधार करके जयपुर के साथ संधि करना आवश्यक हो चुका है।[41]

इसी दौरान जसवंत राव होल्कर का पुराना सहयोगी अमीर खान भी जयपुर पर आक्रमण करने के लिए सेना जुटा रहा था। ब्रिटिश हुकूमत इस नतीजे पर पहुंची कि जयपुर एक समृद्ध रियासत है, जो उनके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। दूसरी ओर, जयपुर को भी आक्रमणकारियों से बचने के लिए सैन्य सहयोग की आवश्यकता थी। जयपुर इतना सुदृढ़ और क्षमतावान नहीं था कि ब्रिटिश हुकूमत से संधि का प्रस्ताव ठुकरा सके। ब्रिटिश हुकूमत ने जयपुर की स्थिति का लाभ उठाते हुए इस बार समझौते के बदले में 15 लाख रुपए की मांग कर दी। उस समय तक जयपुर की वार्षिक आय गिरकर 30 लाख रुपए हो चुकी थी, ऐसे में 15 लाख रुपए देना संभव नहीं था। इसलिए इस राशि को कई हिस्सों में बांटने का प्रावधान किया गया। 2 अप्रेल, 1818 को दोनों पक्षों ने संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते में यह स्पष्ट किया गया कि महाराजा और उनके उत्तराधिकारी अपनी प्राचीन प्रथाओं के अनुरूप अपनी रियासत के स्वामी बने रहेंगे और ब्रिटिश हुकूमत उनके प्रशासनिक कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी। साथ ही, यह शर्त रखी गई कि आवश्यकता पड़ने पर जयपुर अपनी क्षमता के अनुसार ब्रिटिश सेना को सहायता देगा। जयपुर को पहले वर्ष में किसी भी तरह की अदायगी से मुक्त रखा गया। दूसरे वर्ष 4 लाख, तीसरे वर्ष 5 लाख, चौथे वर्ष 6 लाख, पांचवे वर्ष 7 लाख और छठे वर्ष 8 लाख रुपए, अर्थात 6 वर्षों में कुल 30 लाख रुपए का भुगतान तय किया गया। इसके बाद हमेशा के लिए 8 लाख रुपए का वार्षिक कर निर्धारित किया गया। एक अतिरिक्त शर्त यह भी रखी गई कि जिस वर्ष रियासत की कुल आय 40 लाख रुपए से अधिक होगी, उस वर्ष इस राशि में पांच आने अर्थात 31.25 प्रतिशत की वृद्धि हो जाएगी।*[42]

---

* जयपुर द्वारा दी गई राशि 1818-19 में 2 लाख, 1820 में 2.54 लाख, 1821 में 2.5 लाख, 1822 में 5.5 लाख, 1823 में 12.5 लाख थी। इस तरह कुल निर्धारित 30 लाख रुपए के बदले 25.04 लाख रुपए दिए गए।

इस तरह एक रक्षात्मक–आक्रामक संधि के साथ जयपुर रियासत और ब्रिटिश हुकूमत के बीच एक मजबूत संबंध स्थापित हुआ। जयपुर ने एक बार फिर सर्वोच्च सत्ता की छत्रछाया में चलना शुरू कर दिया। इसके बावजूद जयपुर राज की समस्याएं पूरी तरह खत्म नहीं हुई थीं। रियासत की आय में लगातार कमी हो रही थी और प्रशासनिक व्यय बढ़ता जा रहा था। संधि होने से जयपुर को सुरक्षा का आश्वासन तो मिल गया लेकिन इसके एवज में रियासत की आय का लगभग एक चौथाई हिस्सा सुरक्षा कर के रूप में ब्रिटिश हुकूमत को देना पड़ रहा था। पिछले 20 वर्षों में शत्रुओं के आक्रमण से बचने के लिए जयपुर ने अपना सैन्य बल कई गुना बढ़ा लिया था लेकिन सैनिकों को वेतन देने के लिए राजकोष में पर्याप्त धन नहीं था।

संधि होने के कुछ महीनों बाद ही जगत सिंह का देहांत हो गया। ऐसी घटनाओं के कारण जयपुर रियासत में ब्रिटिश भूमिका बढ़ने की गुंजाइश बनती गई। जगत सिंह की 1818 में मृत्यु हुई तो उनका कोई उत्तराधिकारी नहीं रहा। उन्हें चार पुत्र हुए थे लेकिन कोई जीवित नहीं रहे। एक अन्य संतान रानी भटियाणी के गर्भ में थी लेकिन यह बात सभी लोग नहीं जानते थे। उसी दौरान यह षडयंत्र हुआ कि नरवर के मोहन सिंह को मान सिंह के नाम से राजा बना दिया जाए। राजपूताना के ए.जी.जी. डेविड ऑक्टरलोनी ने जगत सिंह की मृत्यु होते ही अपना एक मुंशी राजमहल की गतिविधियों पर नजर रखने के लिए भेज दिया और बड़े जागीरदारों की मिलीभगत से मान सिंह को गद्दी पर बैठा दिया। ए.जी.जी. के मुंशी के कारण ब्रिटिश हुकूमत ने भी इसे मंजूरी दे दी। इसके बाद सार्वजनिक रूप से स्पष्ट हुआ कि रानी भटियाणी गर्भवती हैं। सामोद के रावल बैरीसाल ने प्रमुख सरदारों की बैठक बुलाई और रानियों तथा प्रमुख ठकुरानियों की जांच से पता चला कि रानी भटियाणी के गर्भवती होने की सूचना सही है। इसके बाद दस्तावेज तैयार करके उपस्थित सरदारों ने हस्ताक्षर किए कि यदि रानी भटियाणी को पुत्र उत्पन्न हुआ तो वही उनका मालिक और जयपुर का महाराजा होगा।[43]

रानी भटियाणी ने 25 अप्रेल, 1819 को एक पुत्र को जन्म दिया। उसी दिन नवजात बालक का राज्याभिषेक हो गया और नाम रखा गया जयसिंह तृतीय। इस बात की काफी कोशिश की गई कि जब तक जय सिंह बड़े नहीं हो जाएं, नरवर के मान सिंह को ही शासन करने दिया जाए, लेकिन बैरीसाल और चौमूं के ठाकुर कृष्ण सिंह ने ब्रिटिश हुकूमत के सहयोग से ऐसा नहीं होने दिया और मान सिंह को गद्दी से उतार दिया गया। रानी भटियाणी ने झूंथाराम संघी को दीवान बना दिया। बैरीसाल के अधिकार नाममात्र के रह गए। उनसे अधिक बोलबाला रूपा बडारण का था, जो भटियाणी की सलाहकार थी। झूंथाराम और रूपा की मिलीभगत ने रानी भटियाणी को भटकाए रखा। राजकोष का अपव्यय होने लगा और समझौते के तहत ब्रिटिश हुकूमत को दी जाने वाली रकम भी बकाया रहने लगी। बदइंतजामी के कारण रियासत की वार्षिक आय घटकर 20 से 30 लाख रुपए के बीच रह गई।[44]

ब्रिटिश हुकूमत को उस दौरान हस्तक्षेप का एक और मौका मिला, जब ड्योढ़ी में बड़ी माजी राठौड़ जी के एक कामदार की हत्या हो गई। इसके बाद जयपुर में स्थाई रूप से पॉलिटिकल एजेंट या रेजिडेंट रखने का फैसला किया। सवाई जय सिंह की मेवाड़ी रानी के

निवास स्थान 'माजी का बाग' को ब्रिटिश रेजिडेंसी का रूप दे दिया गया और कैप्टन जे. स्टीवर्ट इसमें पहला रेजिडेंट बनकर रहने आया।[45]

बैरीसाल को राजमाता का मंत्री नियुक्त किया गया लेकिन विरोधी सामंतों ने उन्हें अपदस्थ कर दिया। प्रताप सिंह की मृत्यु के बाद से ही सामंतों ने खालसा भूमि पर कब्जा करना शुरू कर दिया था। बैरीसाल उस भूमि को जयपुर दरबार के अधीन करना चाहते थे लेकिन उनके प्रयासों को सामंतों द्वारा विफल कर दिया जाता था। 1821 में ब्रिटिश हुकूमत ने जयपुर की प्रशासनिक व्यवस्था पर नजर रखने के लिए एक पॉलिटिकल एजेंट को नियुक्त किया। 1823 में ऑक्टरलोनी ने जयपुर आकर बैरीसाल को दुबारा पदग्रहण करवाया और उनके खिलाफ षडयंत्र कर रहे पूर्व दीवान झूंथाराम को रियासत से निर्वासित कर दिया।[46]

झूंथाराम को बाहर निकालने के बाद समस्या और भी बढ़ने लगी। झूंथाराम के समर्थकों ने बैरीसाल के प्रशासनिक कार्यों में रुकावट डालना और नए षडयंत्र रचना शुरू कर दिया। बैरीसाल से संतोषजनक परिणाम नहीं मिलने के कारण ऑक्टरलोनी ने 1824 में एक नए मंत्री को नियुक्त किया और झूंथाराम को जयपुर आने की अनुमति दे दी। 1826 में दिल्ली का पॉलिटिकल एजेंट चार्ल्स मेटकाफ जयपुर आया और उसने राजमाता को अपनी कौंसिल के सदस्य चुनने का अधिकार दे दिया। दरबार में आंतरिक गतिरोध कम करने के लिए गवर्नर जनरल ने 1828 में झूंथाराम को ही जयपुर का दीवान नियुक्त कर दिया।[47]

झूंथाराम ने दीवान बनने के बाद जागीरदारों को डरा-धमकाकर धन ऐंठना शुरू कर दिया। रियासत में विद्रोह की भावना उठ रही थी, जिसे ब्रिटिश हुकूमत अपने हथियारों के बल पर दबाए हुए थी। माधोसिंह की मृत्यु के बाद से जयपुर में अधिकतर बालक राजाओं का ही शासन रहा था। सजग नेतृत्व नहीं होने का लाभ उठाते हुए एक तरफ सामंतों में अपना वर्चस्व बढ़ाने की होड़ लगी थी; दूसरी ओर, ब्रिटिश हुकूमत का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा था।

1834 में बसंत पंचमी का दिन था। नगर में महाराजा की सवारी निकली। एक हाथी पर 16 वर्षीय जयसिंह और दूसरे पर खवासी में दूणी के राव जीवन सिंह चल रहे थे। दोनों की नजर मिली तो महाराजा ने राव से कुछ कहा और इतनी-सी बात होते ही झूंथाराम को भय हो गया कि महाराजा अब उसके चंगुल से निकलना चाहते हैं। उसी रात झूंथाराम ने राजमहल के एकांत कमरे में जयसिंह को बुलाकर उनकी हत्या कर दी। पंचमी की सवारी देखे हुए जयपुर के निवासियों ने षष्ठी और सप्तमी को महाराजा को नहीं देखा और न कोई बात सुनी, लेकिन अष्टमी को सारा शहर यह सुनकर हतप्रभ रह गया कि महाराजा मर चुके हैं। संघी के संघ ने सारा काम बड़ी सावधानी से किया था। जनश्रुति है कि जयसिंह को किसी दासी ने जहर दिया और साथ ही शस्त्र प्रहार भी किया गया। खून से लथपथ जयसिंह के शरीर को कनात में लपेटकर एक कोने में खड़ा कर दिया गया और बाद में कहा गया कि किसी गुप्त रोग से महाराजा की मृत्यु हो गई।[48] जयसिंह का दाहसंस्कार भी गेटोर में फौज का घेरा लगाकर किया गया, लेकिन क्रुद्ध भीड़ वहां पहुंच गई और संघी तथा उसके आदमियों पर पत्थरों की बौछार करने लगी। सारा शहर संघी और उसकी पूरी बिरादरी के खिलाफ उठ खड़ा हुआ। अनेक जैन मंदिर तोड़ डाले गए और कइयों में शिवलिंग स्थापित कर दिए गए।[49]

जनता के विरोध के कारण झूंथाराम को अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा। दिवंगत महाराजा के इकलौते पुत्र राम सिंह द्वितीय को गद्दी पर बैठाया गया, जिनकी उम्र केवल 16 महीने थी। जयसिंह की हत्या की सूचना मिलने पर ए.जी.जी. कर्नल ए. लॉकेट अजमेर से जयपुर आया। झूंथाराम को पता चला कि सामोद और चौमूं के सामंतों ने फतहटीबा में आकर डेरा डाल लिया है तो उसने अनुचित रूप से जुटाया हुआ धन-दौलत छकड़ों में भरवाया और भागने की तैयारी करने लगा। बैरीसाल के लोगों ने सारा धन जब्त कर लिया। संघी के माल की तलाशी हुई तो शहर के विभिन्न सेठ-साहूकारों के यहां रखे हुए लाखों रुपए नकद और लाखों के जेवरात जब्त किए गए। जनानी ड्योढ़ी में रूपा बडारण का छिपाया हुआ काफी माल बरामद किया गया। ए.जी.जी. की मंजूरी से झूंथाराम को कुछ दिन नाहरगढ़ में कैद रखा गया फिर दौसा के किले में भेजा। रूपा बडारण को भी पहले पुराने घाट में विद्याधर के बाग में रखा गया और फिर माधोराज के किले में भिजवा दिया गया।

30 जून, 1835 को ए.जी.जी. लॉकेट अपने सहायक ब्लैक और दो सचिवों के साथ बैरीसाल को पूरे अधिकार देने के लिए ड्योढ़ी में पहुंचा। अपना काम करके जब वे लोग वापस आने लगे तो छिपे हुए षडयंत्रकारियों ने चौक पर ही ए.जी.जी. पर तलवार का वार किया, जिससे उसको तीन जगह घाव लगे। ए.जी.जी. के सहायक ब्लैक ने हमलावर को वहीं पकड़ लिया, खून से सनी उसकी तलवार छीन ली और उसके दोनों हाथ पीछे बांधकर जेल भेज दिया। ए.जी.जी. सही सलामत रेजिडेंसी तक पहुंच गया लेकिन ब्लैक पीछे ही रह गया। वह एक हाथी पर सवार होकर निकला तो खून से सनी नंगी तलवार उसके हाथ में ही थी। ड्योढ़ी के आंगन में जो कुछ हुआ, उसके बाद षडयंत्रकारियों ने अफवाह यह फैला दी कि ब्रिटिश अफसरों ने नवजात राम सिंह की हत्या कर दी है। तेजी से आते हाथी और उस पर नंगी तलवार के साथ ब्लैक को देखकर लोगों ने अफवाह को सच माना और रास्ते भर उस पर पत्थरों की बौछार की। ब्लैक के महावत ने शहर से बाहर निकलने की काफी कोशिश की, लेकिन अजमेरी गेट के दरबान हिदायतुल्ला खां ने दरवाजा बंद कर दिया और खोलने से इनकार कर दिया। जो चपरासी हाथी के साथ पैदल भाग रहा था, मारा गया और महावत भी घायल होकर मर गया। एक छड़ीबरदार और दो अन्य चपरासियों की जान चली गई। घबराए हुए ब्लैक ने अपनी जान बचाने के लिए किशनपोल के हर्ष बिहारीजी मंदिर के पास हाथी को खड़ा किया और मंदिर में शरण ली। मंदिर के चौकीदारों ने उसे राजा का हत्यारा समझकर बाजार के बीच ला पटका और मार डाला।[50]

मुकदमा चलाने के बाद झूंथाराम, हुकमचंद, हिदायतुल्ला, साह शिवलाल और माणकचंद को दोषी पाए जाने पर फांसी की सजा सुनाई गई। बख्शी मुन्नालाल सहित कुछ अन्य लोगों को जेल भेजा गया। इस सजा में ब्रिटिश हुकूमत ने फेरबदल किया। अंतिम आदेश के अनुसार अमरचंद और हिदायतुल्ला को फांसी पर लटकाने, झूंथाराम और हुकमचंद को आजीवन कारावास में रखने और अन्य लोगों को विभिन्न अवधि की जेल की सजा दी गई। सजा से पहले ही झूंथाराम ने दम तोड़ दिया और हुकमचंद भी जयपुर की जेल में मर गया। हिदायतुल्ला और अमरचंद को फांसी हो गई। इस हत्याकांड, मुकदमे और दोषियों को सजा

हो जाने से ब्रिटिश हुकूमत का ऐसा दबदबा कायम हुआ कि रियासत की ओर से ब्रिटिश हुकूमत को 26 लाख रुपए तत्काल चुकाना ही उचित समझा गया। इससे रियासत की आर्थिक हालत बदतर हो गई।[51]

सितम्बर, 1838 में गवर्नर जनरल के आदेश से रॉस नामक एक ब्रिटिश अफसर जयपुर की अर्थव्यवस्था की जांच करने और सुधार के उपाय खोजने के लिए जयपुर आया। उस समय जयपुर राज की आमदनी 30 लाख रुपए वार्षिक और खर्च 32 लाख रुपए वार्षिक थे। ब्रिटिश हुकूमत को देने के लिए भी रुपए साहूकारों से उधार लेकर दिए जाते थे। रॉस के सुझाव पर हुकूमत ने ग्वालियर के रेजिडेंट कर्नल सदरलैंड को राजपूताना का ए.जी.जी. बनाकर भेजा और उसे जयपुर की हालत ठीक करने का अधिकार भी दिया। सदरलैंड ने जयपुर में पॉलिटिकल एजेंट और सरदारों की पंचायत की सलाह से राजकाज चलाए। इस मोड़ पर कर्नल सदरलैंड ने माजी चन्द्रावतजी को सूचित किया कि राजकाज में उनकी कोई हिस्सेदारी नहीं रहेगी। इससे वे काफी नाराज हुईं।[52]

रॉस और सरदारों की पंचायत अधिक समय तक सक्रिय नहीं रह सकी। माजी चन्द्रावतजी की शह से झूंथाराम के बचे-खुचे लोगों ने डिग्गी ठाकुर मेघसिंह को भड़काया। रॉस को चिट्ठी देने के बहाने 5 हजार लोगों ने जयपुर की ओर बढ़ना शुरू कर दिया। इस विद्रोह को दबाने के लिए शेखावाटी ब्रिगेड बुलाई गई और दूदू के पास इन्हें तितर-बितर कर दिया गया। इसके बाद जयपुर का रेजिडेंट चार्ल्स थॉर्सबी बना और उसने यहां के अस्त-व्यस्त राज को व्यस्थित करने, खर्च घटाने और जनहित के काम करवाने की बड़ी पहल की। हुकूमत को दिए जाने वाले कर और कर्ज की राशि भी कम की गई। थॉर्सबी आया तो रियासत की आय 23 लाख रुपए और व्यय 32 लाख रुपए था। थॉर्सबी ने 25 से 28 लाख रुपए आय और 20 से 22 लाख रुपए का व्यय अनुमानित किया। 40 लाख रुपए का पुराना बकाया भी खत्म करवाया। राजपूताना के ए.जी.जी. ने जब पुराने बकाया को माफ करने और 8 लाख रुपए की बजाय 4 लाख रुपए ही वसूल करने का आश्वासन देते हुए संदेश भेजा तो 1871 में एक दरबार का आयोजन किया गया। इस अवसर पर सरदारों और जागीरदारों ने बालक महाराजा रामसिंह को नजरें पेश कीं।

माजी चन्द्रावतजी के लिए यह खुशी का मौका था लेकिन यह खुशी ज्यादा समय तक टिकी नहीं रह सकी। 1843 में थॉर्सबी रावल शिवसिंह को साथ लेकर खेतड़ी गया तो जयपुर के सभी दरवाजे बंद हो जाने और लोगों के सो जाने के बाद अचानक जलेब चौक में गोलियों की आवाज सुनाई देने लगीं। शहर के लोग डरकर इधर-उधर भागने लगे। संयोग से रावल शिवसिंह कुछ देर पहले जयपुर लौट आए थे। उन्होंने तत्काल फौज बख्शी लक्ष्मण सिंह को घटनास्थल पर भेजा। लक्ष्मण सिंह गोविंददेवजी की ड्योढ़ी के रास्ते से चन्द्रमहल होते हुए जलेब चौक पहुंचे और काबुली या अफगानी पठानों के समूह को आतंक मचाते देखा। वहां हुए संघर्ष में कुछ उपद्रवी मारे गए, कुछ गिरफ्तार कर लिए गए और उनके दो मुखियाओं को गोली से उड़ा दिया गया।[53] ब्रिटिश हुकूमत ने इस मामले की जांच की तो पता चला कि माजी चन्द्रावतजी के भाई मानसिंह चन्द्रावत ने इन काबुली-अफगानियों को रखा था और

वही इस घटना का षडयंत्रकर्ता था। माजी और बडारणों ने इस घटना के लिए उसे उकसाया था। रेजिडेंट ने नाराज होकर मानसिंह चन्द्रावत को 8 वर्षों के लिए जयपुर से निष्कासित कर दिया और रायचंद नामक एक हरकारे को फांसी पर लटका दिया। बलवा, अफगानी युद्ध या ठोबट्यो की लड़ाई के रूप में मशहूर इस खूनी घटना के बाद राजकाज में जनानी ड्योढ़ी का हस्तक्षेप हमेशा के लिए समाप्त हो गया। जनवरी, 1843 में थॉर्सबी जयपुर से चला गया और उसकी जगह मारवाड़ से आया मेजर लडलो रेजिडेंट बना। मेजर लडलो ने अनेक जनोपयोगी कामों की भूमिका बांधी, जो महाराजा राम सिंह ने आजीवन निभाई।[54]

धीरे-धीरे ब्रिटिश हुकूमत ने जयपुर रियासत के प्रशासनिक कार्यों में भी हस्तक्षेप बढ़ाना शुरू कर दिया। उस समय क्षेत्र की सीमा निर्धारित करने के लिए कोई सर्वमान्य व्यवस्था नहीं थी। इसलिए रियासतों के बीच में सीमा-विवाद अक्सर चलते रहते थे। ब्रिटिश हुकूमत ने इन विवादों के निपटारे में हस्तक्षेप किया और राजाओं को यह बताने लगी कि उनकी रियासत की सीमा कहां तक है। हुकूमत का दखल यहां तक बढ़ गया कि वह फैसला नहीं मानने पर राजाओं के ऊपर जुर्माना भी लगा देती थी। 1855 में जयपुर के उनियारा ठिकाने और टोंक के मध्य भूमि विवाद हुआ, जिसमें ब्रिटिश हुकूमत टोंक को समर्थन दे रही थी। इस विवाद में हुकूमत की सहायता नहीं करने के जुर्म में जयपुर महाराजा पर 5 हजार रुपए का जुर्माना लगाया गया।[55]

1857 का संग्राम जयपुर राज और ब्रिटिश हुकूमत की दोस्ती का एक महत्वपूर्ण परीक्षण साबित हुआ। 24 वर्षीय राम सिंह ने ब्रिटिश सेना को पूरा सहयोग दिया। जब विद्रोह शुरू हुआ तो उन्होंने बिना विलंब किए अपनी सेना को पॉलिटिकल एजेंट मेजर ईडन की सहायता के लिए जाने का आदेश दे दिया। 6 से 7 हजार सैनिक रवाना हुए और राजधानी की रक्षा के लिए केवल 700 सिपाही तथा 1880 पुलिसकर्मी बचे।[56]

राजपूताना के तत्कालीन पॉलिटिकल एजेंट जॉर्ज लॉरेंस ने लिखा है, 'राजपूताना में ब्रिटिश हुकूमत का प्रभुत्व स्थानीय शासकों की वफादारी और निष्ठा पर निर्भर था। मई, 1857 से फरवरी, 1859 के बीच जब भारत में हमारे साम्राज्य की जड़ें हिल गई थीं, ऐसे समय में राजपूताना की 19 रियासतों में किसी ने भी हमारा साथ नहीं छोड़ा और सभी राजा पूरी निष्ठा से ब्रिटिश हुकूमत को अपना समर्थन देते रहे।'[57] इस सहयोग के लिए ब्रिटिश हुकूमत ने राम सिंह को कोटकासिम परगना उपहार स्वरूप दिया, जिसका राजस्व 50 हजार रुपए था। नवम्बर, 1859 में आगरा में आयोजित वायसराय के दरबार में उन्हें सम्मानित किया गया। 1861 में महारानी विक्टोरिया ने 'मोस्ट एक्साल्टेड ऑर्डर ऑफ द स्टार ऑफ इंडिया' की शुरुआत की। इसके तहत भारत के राजाओं को उनके शासन और हुकूमत को दी गई सहायता के आधार पर विभिन्न पदवियों से सम्मानित किया जाना था। 1864 में राम सिंह इस श्रेणी के सम्मानित किए जाने वाले पहले राजपूत शासक बने।[58]

राम सिंह ने अपने 45 वर्ष के शासनकाल में जयपुर को सशक्त और आधुनिक राज्य बनाने के लिए अपने प्रशासनिक ढांचे में कई बदलाव किए। 1854-55 में उन्होंने दीवान के अधिकारों और दायित्व में संशोधन किया। राजस्व और सेना के लिए दो अलग विभाग बनाए

और क्रमश: दीवान एवं बख्शी को इन विभागों का कार्यभार सौंपा। पहले इन दोनों विभागों की निगरानी का दायित्व दीवान का होता था। इसके एक वर्ष बाद उन्होंने अपने लिए एक 'खास दफ्तर' की स्थापना की और प्रशासनिक कार्यों में अपना हस्तक्षेप बढ़ाकर दीवान का अधिकार क्षेत्र और भी सीमित कर दिया। इसके तुरंत बाद उन्होंने चार नए विभागों का गठन किया। पुलिस विभाग का प्रमुख इंस्पेक्टर जनरल को बनाया गया और स्वास्थ्य विभाग का जिम्मा सिविल सर्जन को मिला। इसके अलावा दो और विभागों शिक्षा और सर्वे एवं बंदोबस्त की स्थापना हुई।

राम सिंह ने अपनी रियासत को 5 निजामतों में बांटा और हर निजामत में एक निजाम के अलावा एक कलेक्टर, एक न्यायाधीश और एक पुलिस प्रमुख की नियुक्ति की। उन्होंने निजामत, दीवानी, फौजदारी और पुलिस से जुड़े मामलों के लिए अलग-अलग अदालतों की स्थापना की और उनके अधिकार निर्धारित कर दिए। इन अदालतों में जो सबसे बड़ी अदालत होती थी, उसे कौंसिल का नाम दिया गया। इस कौंसिल के तहत तीन विभाग बनाए गए और तीनों में अलग-अलग कामों के लिए सदस्य नियुक्त किए गए। पहला विभाग रियासत से बाहर के मामलों की सुनवाई करता था। दूसरा विभाग अपील का था, जिसमें एक से अधिक सदस्य दीवानी और फौजदारी के मामलों की सुनवाई करते थे। तीसरा विभाग कलेक्टर के अधीन था और नागरिक मामलों की जांच करता था। इस तरह तीनों विभागों में कुल मिलाकर 8 सदस्य थे। जब कौंसिल के सामने हत्या, संपत्ति विवाद या जागीरदारों और सरदारों से जुड़े मामले आते थे तो सभी सदस्य एक साथ बैठकर मामले की सुनवाई करते थे। यदि मुकदमा महत्वपूर्ण होता तो राम सिंह खुद भी सुनवाई में भाग लेते थे।[59]

राजधानी में पुलिस प्रमुख को कोतवाल का नाम दिया गया, जो फौजदार अथवा मजिस्ट्रेट के निर्देश पर काम करता था। रियासत की न्याय-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से नागरिक और आपराधिक मामलों के लिए अलग-अलग न्यायालय बनाए गए। इसके साथ ही कोर्ट फीस का भी प्रावधान किया गया, जिसके तहत हारने वाले पक्ष को एक निश्चित राशि का भुगतान करना पड़ता था। 3 हजार रुपए से कम के मुकदमों की सुनवाई मुंसिफ अदालत में और इससे अधिक के मामलों की सुनवाई दीवानी अदालत में होती थी। छोटे-मोटे मामलों का निपटारा कोतवाल अपने स्तर पर ही कर देता था।[60]

1867 में राम सिंह ने रियासत की जनगणना करवाई और लोगों तथा क्षेत्रों की जरूरत के मुताबिक विकास का प्रारूप तैयार करवाया। इसी दौरान राजधानी की सड़कों और नालियों को पक्का किया गया तथा स्थाई नगरपालिका समिति का गठन किया गया। दूसरी रियासतों से संपर्क बढ़ाने के लिए रेलमार्ग को विकसित किया गया। सबसे पहले जयपुर को आगरा से जोड़ा गया। इसके अलावा दो और लाइनें तैयार की गईं, पहली लाइन अजमेर और दिल्ली तक तथा दूसरी लाइन अहमदाबाद होते हुए मुंबई तक जाती थी।[61]

1868-69 में भयावह अकाल पड़ा, जिसका प्रभाव लगभग पूरे राजपूताना में था। इस दौरान राम सिंह ने व्यापक स्तर पर राहत कार्य चलवाए। तत्कालीन ए.जी.जी. ने 9 दिसम्बर, 1870 को अपनी अकाल-संबंधी रिपोर्ट में महाराजा राम सिंह की भूमिका का उल्लेख करते

हुए लिखा, 'इस विषय में कोई निर्णय लेने वाले पहले शासक जयपुर के राजा हैं। ऐसा उन्होंने किसी दबाव में आकर नहीं, बल्कि सिर्फ अपनी जनता की भलाई के लिए किया है। उदारता और परोपकार में उनका नाम विशिष्ट है। इस मानवतापूर्ण कार्य में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए भारत सरकार उन्हें धन्यवाद प्रेषित करती है।'[62]

राम सिंह का शासनकाल जयपुर के लिए स्वर्णयुग था। उनके जमाने में सारा शहर सजाया-संवारा गया। शिक्षा व्यवस्था को बेहतर और आधुनिक बनाने पर भी राम सिंह का विशेष जोर रहता था। उन्होंने 1844 में राजधानी के अंदर एक कॉलेज खोला, जिसका पूरा खर्च वे स्वयं वहन करते थे। 1845 में उन्होंने एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना की। लड़कियों के लिए भी अलग विद्यालय खोला, जिसकी कई स्थानीय शाखाएं थीं। राम सिंह के शासनकाल में रियासत द्वारा समर्थित 33 प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना हुई। 1861 में मेडिकल स्कूल खोला गया।[63] इसके साथ ही महाराजा पब्लिक लाईब्रेरी भी कायम हुई। एक तरफ महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स खुला तो दूसरी तरफ रामनिवास बाग में अल्बर्ट हॉल और संग्रहालय की नींव लगी। सवाई जयसिंह और माधो सिंह प्रथम के समय में जैसे जयपुर को दूसरी काशी माना जाता था, वैसे ही राम सिंह के समय में भी जयपुर के ज्ञान और विद्वानों की ख्याति दूर-दूर तक पहुंची। विभिन्न विषयों के अनेक विद्वान यहां आकर अपनी ज्ञानपिपासा शांत करते थे। राम सिंह ने विविध विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखवाए और पोथीखाने की समृद्धि में योग दिया। जय सिंह ने जैसे 'वैदिक वैष्णव सदाचार' ग्रंथ तैयार करवाया था, वैसे ही राम सिंह ने 'सज्जन मनोनुरंजनम्' लिखवाया, जो धर्मशास्त्र का बड़ा शास्त्रीय विवेचन है। रामसिंह जयपुर के पहले शासक थे जिनका ब्रिटिश हुकूमत के साथ नजदीकी संबंध स्थापित हुआ। ब्रिटिश अफसरों से मिलने उनका कलकत्ता और शिमला आना-जाना होता रहता था। राम सिंह ने जब रामप्रकाश नाटकघर बनाया तो संस्कृत नाटकों के ही हिन्दी अनुवाद नहीं करवाए, बल्कि दुनिया भर के नाटक एकत्रित करवा लिए और संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू के नाटकों का एक बड़ा पुस्तकालय तैयार हो गया।[64]

जयपुर राज और ब्रिटिश हुकूमत के बीच राम सिंह के शासनकाल में कई महत्वपूर्ण समझौते हुए। 13 जुलाई, 1868 को हुए समझौते में यह शर्त रखी गई कि यदि जयपुर रियासत के बाहर का कोई निवासी ब्रिटिश अधिकृत भारत में कहीं भी कोई संगीन अपराध करके जयपुर की सीमा में आश्रय ले लेता है तो जयपुर प्रशासन उसे गिरफ्तार करेगा और ब्रिटिश हुकूमत को सौंप देगा। इसी तरह, यदि जयपुर रियासत का कोई निवासी वहां कोई संगीन अपराध करके ब्रिटिश क्षेत्र में छिप जाता है तो ब्रिटिश हुकूमत उसे गिरफ्तार करेगी और मांगे जाने पर जयपुर प्रशासन को सौंप देगी। यह भी स्पष्ट किया गया कि किसी भी स्थिति में कोई भी सरकार किसी अपराधी को सुपुर्द करने के लिए तब तक बाध्य नहीं है, जब तक वह सरकार इसकी मांग नहीं करे जिसके क्षेत्र में अपराध किया गया है। अपराधी की गिरफ्तारी और आगे की कार्रवाई उसी स्थान के कानून के अनुसार होगी जहां वह छिपा हुआ पाया जाएगा।[65]

7 अगस्त, 1869 को राम सिंह और वायसराय के बीच एक और समझौता हुआ। इसके

अंतर्गत ब्रिटिश हुकूमत को सांभर झील के किनारे की भूमि पर नमक बनाने, बेचने, मूल्य तय करने और उस पर कर लगाने का अधिकार मिल गया। हुकूमत ने ढाई आने प्रति मन की दर से जयपुर राज को अधिकतम 1 लाख 72 हजार मन नमक देना स्वीकार किया, जिसे जयपुर राज अपनी ऐच्छिक दर से बेच सकता था। पट्टे के बदले में हुकूमत ने जयपुर राज को कुल 2 लाख 75 हजार रुपए वार्षिक का भुगतान करना स्वीकार किया।[66]

राम सिंह ने राजशाही की पुरातन प्रथाओं से निकलकर प्रशासन की आधुनिक नियमावली को अपनाया। बेहतर प्रबंधन और सजग नेतृत्व के साथ उन्होंने धीरे-धीरे अपनी रियासत को सशक्त बनाया और चरमराई हुई अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ किया। उनकी कार्यशैली ने जनता को भी संतुष्ट किया और ब्रिटिश हुकूमत को भी जयपुर राज का हितैषी बनाए रखा। 1870 में ब्रिटिश हुकूमत ने उन्हें सम्मान देते हुए उनकी सलामी को 17 से बढ़ाकर 19 तोपें कर दिया। प्रिंस ऑफ वेल्स ने 1877 के जयपुर दौरे में उन्हें व्यक्तिगत रूप से जी.सी.एस.आई. की उपाधि प्रदान की।[67]

19 नवम्बर, 1866 को भारत के वायसराय जॉन लॉरेंस ने आगरा दरबार में राजाओं को संबोधित करते हुए कहा, 'ब्रिटिश हुकूमत आप सभी राजाओं का महत्व इस बात से नहीं आंकेगी कि आपका क्षेत्र कितना बड़ा है या आपके पास कितना बाहुबल है। हमारे लिए पैमाना यह होगा कि आपके अंदर सुशासन लाने की कितनी इच्छाशक्ति है। जो राजा अपनी प्रजा को सबसे अधिक खुश रखेगा, वह ब्रिटिश हुकूमत का सबसे अच्छा दोस्त होगा।'[68] उस समय राम सिंह वायसराय के ठीक बगल में बैठे हुए ध्यान से उसकी बातों को सुन रहे थे।[69] कुछ वर्षों बाद प्रख्यात ब्रिटिश वकील सार्जेंट बैलेंटाइन ने अपनी पुस्तक में लिखा, 'जयपुर के महाराजा राम सिंह भारत के योग्यतम व्यक्तियों में से एक तथा ब्रिटिश हुकूमत के सच्चे मित्र सिद्ध होते हैं।'[70]

लगभग 45 वर्षों तक बेहतरीन शासक के रूप में जयपुर की गद्दी संभालने के बाद 17 सितम्बर, 1880 को राम सिंह की मृत्यु हो गई और उनके दत्तक पुत्र माधो सिंह द्वितीय को गद्दी पर बैठाया गया। राम सिंह ने उन्हें ईसरदा घराने से गोद लिया था और उनका पैतृक नाम कायम सिंह था।

महाराजा के रूप में माधो सिंह ने राम सिंह के द्वारा किए गए विकास कार्यों को आगे बढ़ाया और आधुनिक समय की मांगों को देखते हुए योजनाएं तैयार कीं। उन्होंने नई सड़कें बनाने और नए रेलमार्ग बिछाने पर विशेष जोर दिया। 1882 में जयपुर का रेलवे स्टेशन बना। माधो सिंह ने राम सिंह के बनाए हुए महाराजा कॉलेज में बी.ए. और एम.ए. का पाठ्यक्रम शुरू करवाया ताकि उच्च शिक्षा के लिए युवाओं को बाहर नहीं जाना पड़े। उनके शासनकाल में जयपुर रियासत में कई प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय खोले गए तथा शिक्षा को नि:शुल्क कर दिया गया। 1897 में माधो सिंह ने रामगढ़ बांध का निर्माण शुरू करवाया, जो तैयार होने के बाद जयपुर शहर की पेयजल आपूर्ति का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत बना। इसके निर्माण में 5,84,593 रुपए की लागत आई और लगभग 6 वर्ष का समय लगा। राम सिंह के शासनकाल में जयपुर रियासत की वार्षिक आय 30 लाख रुपए से 61 लाख रुपए पहुंच गई

थी। उनके बाद माधो सिंह ने इसे आगे बढ़ाते हुए 1 करोड़ रुपए तक पहुंचा दिया।[71] अपने पूर्वजों की तरह माधो सिंह भी ब्रिटिश हुकूमत के सहयोगी बने रहे। उन्होंने पूर्ण रूप से अपने आपको अंग्रेजों का अनुयायी बना लिया। इसके परिणाम स्वरूप रियासत के सरदारों और पॉलिटिकल एजेंट की राय से ही कायम सिंह यानी माधो सिंह को जयपुर की गद्दी मिली थी।[72]

माधो सिंह के समय महाराजा के व्यक्तिगत अधिकारों पर ब्रिटिश अफसरों ने रोक लगानी शुरू कर दी। चौमूं के ठाकुर गोविंद सिंह जब अपनी दाढ़ी कटवाने लगे तो माधो सिंह ने उनके दरबार में प्रवेश पर रोक लगवा दी। इससे अपमानित होकर गोविंद सिंह ने रेजिडेंट और ए.जी.जी. से शिकायत की। दोनों ने महाराजा को सख्त लहजे में पत्र लिखे। आखिरकार उन्हें पत्र लिखकर गोविंद सिंह से माफी मांगनी पड़ी।[73] इसके बाद गोविंद सिंह के गोद लिए हुए बेटे को माधो सिंह ने मंजूरी नहीं दी। जब उस बेटे की बारात के लिए स्पेशल ट्रेन जाने की बात आई तो माधो सिंह ने उसे जयपुर में रोक लेने का आदेश दे दिया। ब्रिटिश अफसरों ने एक बार फिर उनके ऊपर दबाव डाला। इसके बाद उन्हें इस गोदनामे को मंजूरी देनी पड़ी।[74]

माधोसिंह की असली माता (कैरोट के ठाकुर सरदार सिंह की बेटी और ईसरदा के ठाकुर रघुनाथ सिंह की पत्नी) का देहांत हुआ तो उन्होंने चाहा कि अंत्येष्टि जयपुर की रानी की तरह होनी चाहिए। लेकिन जब शवयात्रा का समय हुआ तो महाराजा राम सिंह की विधवा रानी माजी जोधीजी (जोधपुर के महाराजा तख्त सिंह की पुत्री) ने विवाद पैदा कर दिया। उन्होंने ए.जी.जी. को तार दे दिया। ए.जी.जी. ने रेजिडेंट के नाम तार भेजा कि प्रक्रिया माजी जोधीजी की इच्छा के अनुसार ही होनी चाहिए। परेशान माधो सिंह ने माजी जोधीजी के पैरों में पगड़ी रख दी। तब जाकर माधो सिंह की माता की अंत्येष्टि रानी की तरह जुलूस की सवारी के साथ डोल निकालकर हो सकी।[75]

ब्रिटिश हुकूमत ने राजाओं की बालविवाह और बहुविवाह की प्रथा को भी नियंत्रित करने की कोशिश की। 22 फरवरी, 1888 को ए.जी.जी. कर्नल वाल्टर ने अजमेर में राजपूत हितकारिणी सभा का गठन किया। इस मौके पर सभी रियासतों के उमराव सरदार और चारण सरदार इकट्ठे हुए। तीन दिनों की बहस के बाद तय हुआ कि यदि पत्नी जन्म से रोगी या हमेशा रोगी रहने वाली हो और उसे संतान नहीं हो रही हो तो दूसरी शादी हो सकती है। इसके लिए रियासत की कमेटी से अनुमति लेनी होगी। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि 18 वर्ष के वर के साथ कन्या की उम्र 14 वर्ष निर्धारित की गई है, इसलिए 45 वर्ष के वर के साथ 18 या 20 वर्ष की उम्र की कन्या होनी चाहिए। इससे कम उम्र की कन्या का विवाह ऐसे वर के साथ नहीं किया जा सकता।[76] हालांकि इन शर्तों को लेकर विवाद चलता रहा। खासकर अधिक शादी नहीं करने को लेकर राजा-महाराजाओं की असहमति थी।

1888 में ए.जी.जी. कर्नल वॉल्टर ने ब्रिटिश हुकूमत की तरफ से माधो सिंह को जी.सी.एस.आई. स्टार ऑफ इंडिया दर्जा अव्वल का खिताब दिया। इस मौके पर माधो सिंह ने जयपुर के उमराव सरदारों को इकट्ठा करके बहुत बड़ा जलसा किया और नगर में रोशनी

करवाई। यह बड़ी घटना थी, इसकी जयपुर में काफी खुशी मनाई गई। अफसरों के लिए भोज का आयोजन हुआ। इस मौके पर वॉल्टर ने कहा कि ब्रिटिश हुकूमत ने जयपुर रियासत की वफादारी और दोस्ती के बदले इतना बड़ा खिताब दिया है।[77]

13 फरवरी, 1890 को क्वीन विक्टोरिया के पौत्र अल्बर्ट विक्टर जयपुर स्टेशन पहुंचे तो उनके स्वागत में माधो सिंह अपने दीवान कांतिचंद्र मुखर्जी और ताजीम के आठ सरदारों के साथ मौजूद थे। अल्बर्ट को जुलूस के रूप में मांजी का बाग तक लेकर गए; सड़कों के दोनों ओर रियासत के सरदार और फौज के जवान खड़े थे। अल्बर्ट को स्टेशन, सांगानेरी गेट और मांजी का बाग में तीन बार मिलाकर 93 तोपों की सलामी दी गई। इसके बाद खातीपुरा में शिकार करवाया गया और हाथियों की लड़ाई करवाकर दिखाई गई।[78]

गवर्नर जनरल लैंसडोन 12 नवम्बर, 1891 को जयपुर आया तो स्टेशन और रेजिडेंसी की कोठी पर 31-31 तोपों की सलामी दी गई। जयपुर राज की ओर से ट्रांसपोर्ट कोर के लिए एक हजार टट्टू और चार सौ गाड़ियां दिया जाना तय किया गया। इनके खर्च के लिए 4 लाख रुपए वार्षिक दिया जाना भी निश्चित हुआ। साथ ही, महाराजा की ओर से ब्रिटिश हुकूमत के प्रति वफादारी दोहराई गई। ब्रिटिश हुकूमत से मांग की गई कि जयपुर से सांगानेर, टोंक, माधोपुर होकर चंबल नदी तक जयपुर राज के रुपयों से रेलवे लाइन बनवाकर मालवा लाइन में मिला दी जाए। इससे व्यापार और आमजन को काफी लाभ होगा।[79]

माधो सिंह के शासनकाल में ब्रिटिश रेजिडेंटों का अधिकार और हस्तक्षेप बहुत बढ़ गया। माधो सिंह के पांचवें विवाह के समय दीवानी मामलों और बकाया के मामलों में बंद कैदियों की रिहाई, दुकानदारों से लिया जाने वाला सफाई का खर्चा माफ करने और रामगंज से गलता तक पक्की सड़क बनवाने के बारे में भी रेजिडेंट कर्नल पीकॉक से सलाह लेने का उल्लेख मिलता है।[80] एक बार ब्रिटिश शासन से जुड़े विषयों को लेकर माधो सिंह और कांतिचंद्र ने कलकत्ता जाकर गवर्नर जनरल से मिलने का निश्चय किया तो रेजिडेंट ने रिपोर्ट करके उन्हें जाने से रोक दिया।[81] इसी तरह, जब माधोसिंह ने ईसरदा का ठिकाना हमेशा खालसा रखना चाहा तो पॉलिटिकल एजेंट ने महाराजा को दबाया कि यह ठिकाना खालसा नहीं रह सकता इसलिए किसी निजी हकदार को गद्दी पर बैठा दिया जाना चाहिए। माधो सिंह नहीं माने तो जयपुर रेजिडेंट ने ईसरदा के हकदारों में से आठ लड़के उनके पास भेज दिए और उनमें से एक को ईसरदा का ठाकुर करार देकर खालसा उठाना पड़ा।[82]

ए.जी.जी. कर्नल ट्रेवर 24 दिसम्बर, 1895 को जयपुर आया। माधो सिंह ने रेलवे स्टेशन पर उसका स्वागत किया। ट्रेवर ने कहा कि जोधपुर में दो सरदार और मुआदिब पेशवाई के लिए रवानी तक जाते हैं; वैसा ही जयपुर में होना चाहिए। महाराजा माधो सिंह ने इस पर कुछ कहा जरूर लेकिन तब से दो ताजीमी सरदार और दो अहलकार जयपुर से दो स्टेशनों तक पेशवाई में जाने लगे। लौटते समय ट्रेवर ने महाराजा को नसीहत दी कि सरदारों के साथ उनका व्यवहार ठीक नहीं है और दीवान कांतिचंद्र सरदारों को दबाता है, जिस पर उन्हें नजर रखनी चाहिए।[83]

महाराजा माधो सिंह ने माजी राठौड़जी की बडारणों की तलाशी शुरू करवाई। माजी ने

इसका विरोध किया। इसके अंतर्गत जनाने में आने-जाने वाली महिलाओं को नग्न करके तलाशी देनी पड़ती थी। वहां तैनात रहने वाले नाजिर (नपुंसक प्रहरी) देखते थे कि कोई चोरी करके तो नहीं ले जा रही है या महिला के भेष में कोई पुरुष तो नहीं है। माधो सिंह ने पुराने रिवाज का हवाला दिया लेकिन माजी का तर्क था कि वे माता हैं और उनकी बडारणों की तलाशी नहीं करवा सकते। माजी यह विषय पॉलिटिकल एजेंट तक लेकर गईं। पॉलिटिकल एजेंट के आदेश से माजी की बडारणों की तलाशी लिया जाना बंद हुआ।[84]

17 नवम्बर, 1897 को लॉर्ड एलगिन ने जयपुर का दौरा किया। माधो सिंह ने रेलवे स्टेशन पर पेशवाई की। जयपुर के चार ताजीमी सरदार पांच सौ कदम तक पेशवाई करके लौट गए। इससे नाराज होकर ए.जी.जी. क्रॉथवेट ने माधो सिंह से पूछताछ करवाई। माधो सिंह का जवाब था कि उनके साथ भी लॉर्ड एलगिन की ओर से ऐसा ही व्यवहार किया गया था। इस पर क्रॉथवेट ने दीवान कांतिचंद्र को बुलवाकर धमकाया कि महाराजा और लॉर्ड एलगिन की बराबरी नहीं है। उसने कहा कि अगर माधो सिंह ने लॉर्ड एलगिन से माफी नहीं मांगी तो उनके लिए बहुत बुरा होगा। लाचार होकर माधो सिंह को माफी मांगनी पड़ी।[85]

अफगानिस्तान की सरहद की रक्षा के लिए ब्रिटिश हुकूमत ने राजे-रजवाड़ों से फौज मांगी। वायसराय लॉर्ड डफरिन ने पटियाला में भाषण देकर इसकी आवश्यकता बताई और हर रियासत में ब्रिटिश अफसरों को भेजा। जिन रियासतों ने सबसे अधिक मदद की, उनमें जयपुर भी शामिल था। माधो सिंह ने 1000 टट्टू देना मंजूर किया। ब्रिटिश हुकूमत ने यह शर्त रखी कि ये टट्टू जयपुर में रहेंगे, जिनकी कीमत, खुराक, सामान वगैरह का खर्च जयपुर रियासत देगी। इनकी निगरानी अंग्रेज अफसर के सुपुर्द रहेगी। जयपुर में रहने की हालत में महाराजा इनसे काम ले सकते हैं लेकिन जिस वक्त ब्रिटिश हुकूमत को जरूरत होगी, उस वक्त वह उनका उपयोग करेगी। शर्त के अनुसार इनका खर्च वहन करने की जिम्मेदारी जयपुर रियासत को दी गई।[86]

अन्य राजाओं-महाराजाओं की तरह जयपुर महाराजा की महत्ता वायसराय के दरबारों में बैठने के क्रम, तोपों की सलामी की संख्या, स्टार ऑफ इंडिया-सितारे हिन्द से आंके जाने लगी। हालांकि जयपुर राज इसका मुगल काल से अभ्यस्त था। माधो सिंह 1902 में सम्राट एडवर्ड सप्तम की ताजपोशी के समारोह में इंग्लैंड गए। उन्हें बकिंघम पैलेस में आयोजित दरबार में एक सम्मानित अतिथि के रूप में बुलाया गया था। महाराजा इस निमंत्रण से इतने उत्साहित थे कि उन्होंने 10 अक्टूबर, 1901 को दीवान-ए-आम में दरबार आयोजित किया। ब्रिटिश रेजिडेंट काब ने सार्वजनिक रूप से इंग्लैंड निमंत्रण की खुशखबरी सुनाई। महाराजा की ओर से ब्रिटिश हुकूमत को यकीन दिलाया गया, 'अगले जमाने में जिस गर्मजोशी से मेरे बुजुर्ग अहकामशाही (राजाज्ञा) बजा लाते रहे हैं, उसी तरह मैं भी अपने बादशाह आली मुकाम (सर्वोच्च सम्राट) का हुक्म खुशी और फरहत (आनंद) के साथ बजा लाऊंगा। जिस जश्ने मुबारक (शुभ महोत्सव) में शामिल होने के लिए मुझको हुक्म फरमाया गया है, उसमें मैं अपनी जान-खास से यह दिखलाने की उम्मीद करता हूं कि गवर्नमेंट इंगलीशिया (ब्रिटिश हुकूमत) के साथ रियासत जयपुर की खैरख्वाही (शुभेच्छा) किस आला मरतबे (ऊंचे स्तर) की है।'[87]

जयपुर महाराजा के लिए लंदन जाने का फैसला आसान नहीं था। अस्वस्थ खेतड़ी नरेश अजीत सिंह इलाज के लिए 1897 में विदेश जाने लगे तो जयपुर राज की ओर से कड़ा विरोध किया गया था। अजीत सिंह के वापस लौटने पर भी विरोध जारी रहा।[88]

माधो सिंह बहुत धार्मिक और परंपरावादी व्यक्ति थे। उन्होंने विद्वान पंडितों को बुलाकर पूछा कि इंग्लैंड की यात्रा करना धर्म के अनुकूल होगा अथवा नहीं। मौज मंदिर* के विद्वान पंडितों ने गहरे मंथन के बाद उन्हें बताया कि धर्मशास्त्रों में समुद्र यात्रा वर्जित है लेकिन यदि वे अपने इष्टदेव गोपालजी की प्रतिमा को साथ ले जाएं और केवल उनका प्रसाद ग्रहण करें तथा विदेशी भोजन नहीं करें तो उनके धर्म की हानि नहीं होगी।[89]

माधो सिंह की विदेश यात्रा के लिए एक नया बना हुआ जहाज खोजा गया ताकि उसमें कोई अपवित्रता नहीं हो। अंतर्राष्ट्रीय यात्रा एजेंसी टॉमस कुक एंड संस के नए बने हुए जहाज एस.एस. ओलम्पिया को कई महीनों के लिए किराए पर ले लिया गया। गंगाजल से जहाज के शुद्धिकरण के बाद उसमें गोपालजी के मंदिर की स्थापना की गई। जहाज के अंदर 6 नई रसोइयों का निर्माण किया गया, जिसमें गोपालजी के लिए अलग रसोई थी। जहाज में इतना सामान रखा गया ताकि महाराजा को 6 महीने तक अपने देश का पानी और भोजन मिलता रहे। माधो सिंह स्वयं गंगाजल का उपयोग करते थे, इसलिए उनकी 6 महीने की आवश्यकता के हिसाब से विशाल चांदी के कलशों में गंगाजल रखवाया गया। माधो सिंह के निजी मंदिर के ठाकुर श्री गोपालजी का विग्रह साथ ले जाया गया। उनकी रोजाना की तरह पूजा-सुश्रुषा होती रही। खाने-पीने का सामान जयपुर से गया तथा यह प्रबंध किया गया कि आवश्यक वस्तुएं हर सप्ताह जयपुर से लंदन पहुंचती रहें।[90] हाथ धोने के लिए स्वदेशी मिट्टी भी साथ में रखी गई।[91]

जहाज का किराया डेढ़ लाख रुपए था। यात्रा के प्रबंधक टॉमस कुक एंड संस के पास पन्द्रह लाख रुपए की राशि नकद जमा रखी गई। महाराजा के साथ तीस लाख रुपए के जड़ाऊ जेवर अलग थे। उनके दल के सदस्यों की संख्या पूरी सवा सौ थी। इनमें 103 कर्मचारी और शार्गिद पेशा थे और शेष 22 ताजीमी सरदार या प्रथम श्रेणी के जागीरदार या उच्च अफसर थे। सागर तट पर बिछाए राजसी आसन पर पालथी मारकर बैठे माधो सिंह ने वरुण देव की स्तुतियों के बीच समुद्र पूजा की। ब्राह्मणों ने वेदमंत्रों से वातावरण को झंकृत कर दिया। हजारों लोग किराए की नौकाएं लिए पूजन देखने के लिए जमा थे। महाराजा ने पूजन के बाद शुद्ध सोने और चांदी के कलश, मोतियों की मालाएं और कीमती रेशमी वस्त्र समुद्र को अर्पित किए तो लोग देखते रह गए। इसके बाद महाराजा ने अपने हाथों से वरुण देव की आरती उतारी तो अविस्मरणीय दृश्य उपस्थित हो गया।[92]

12 मई, 1902 को माधो सिंह का जहाज लंदन के लिए रवाना हुआ। 3 जून, 1902 को महाराजा की स्पेशल ट्रेन शाम 6 बजे लंदन के विक्टोरिया स्टेशन पर पहुंची। कैले बंदरगाह

*महाराजा राम सिंह ने मौज मंदिर की व्यवस्था की थी। मौज मंदिर राजकीय पुस्तकालय था और धर्मसभा भी उससे जुड़ी हुई थी। यह रियासत की सर्वोच्च पंडित सभा थी, जो धर्म-कर्म के मामले में निर्णय देती थी और वह निर्णय सबको मान्य होता था। पं. मधुसूदन ओझा मौज मंदिर के प्रमुख प्रबंधक तथा धर्मसभा के प्रधान थे।

पर ट्रेन में बैठना भी माधो सिंह ने तभी स्वीकार किया जब उसकी शुद्धि करवा दी गई थी। वहां उनके स्वागत में लाल कालीन बिछी थी। स्टेशन पर आधा दर्जन ब्रिटिश अफसर उनकी अगुवाई के लिए खड़े थे। ब्रिटिश अखबार माधो सिंह की प्रशंसा से भरे थे। महाराजा और उनके आगे उनके भगवान की जुलूसनुमा यात्रा आकर्षित कर रही थी। मॉर्निंग पोस्ट ने लिखा, 'मुगल सम्राटों के समय भी जयपुर के राजा-महाराजा काफी सम्मानित थे। 1857 के विद्रोह में जयपुर महाराजा ने ब्रिटिश हुकूमत को बहुत सहायता दी थी। आज सभी हिन्दू यह देखकर बड़े प्रसन्न हैं कि हिन्दुस्तान के महाराजा किस प्रकार अपने धर्म का पालन कर सकते हैं।' क्रॉनिकल, ग्रेट थॉट्स की टिप्पणियों में इस बात का भी जिक्र था कि माधो सिंह ने ट्रांसवाल युद्ध के पीड़ितों के लिए एक लाख रुपए की धनराशि प्रदान की है। महाराजा की इस शान शौकत भरी यात्रा के बावजूद वे भारत सचिव से मिलने इंडिया ऑफिस गए तो इमारत की सीढ़ियों से भारत सचिव के कमरे तक लाल कपड़ा जरूर बिछा था लेकिन उसका निजी सचिव और ए.डी.सी. ही अगुवाई के लिए काफी समझे गए। महाराजा लगभग आधे घंटे तक भारत सचिव लॉर्ड हैमिल्टन के साथ रहे, इसके बाद उसने अपने कमरे से ही उनको विदा किया। बाद में रस्म अदायगी के लिए हैमिल्टन महाराजा से मिलने उनके आवास मोरेलॉज गया तो महाराजा स्वागत के लिए पहले से दरवाजे पर खड़े थे और मिलने के बाद दरवाजे तक छोड़ने गए।[93]

13 जून को लेडी दरबार के दौरान बकिंघम पैलेस में माधो सिंह की मुलाकात ब्रिटेन के सम्राट और सम्राज्ञी से हुई। सम्राट एडवर्ड सप्तम ने लंबी यात्रा के बारे में महाराजा से पूछा और साथ ही जयपुर से जुड़ी कुछ पुरानी यादों में खो गए। सम्राट ने याद दिलाया कि 25 साल पहले भारत यात्रा के दौरान जयपुर में महाराजा राम सिंह को हुक्का पीते देखा था। हुक्के की आवाज से जिज्ञासा हुई तो महाराजा ने न केवल हुक्का चखने के लिए कहा, बल्कि अच्छा लगने पर वह हुक्का ही भेंट कर दिया था। सम्राट को खातीपुरा की कोठी, उसके आगे जंगल में चौकड़ी भरते हिरणों के झुंड और उनका शिकार याद थे। सम्राट को बताया गया कि रामनिवास बाग में जिस अल्बर्ट हॉल की नींव उसने लगाई थी वह बनकर तैयार है और जैसी इमारत बनी है, वह सारे जयपुर का गौरव है। सम्राट ने इस इमारत में लगाए गए म्यूजियम की भी जानकारी ली और आम्बेर के महलों, हाथी की सवारी तथा वहां की प्राकृतिक शोभा को याद किया।[94]

माधो सिंह की इंग्लैंड यात्रा का मकसद ब्रिटिश हुकूमत के प्रति अपनी अटूट निष्ठा व्यक्त करना ही था लेकिन इसमें एक व्यवधान आ गया। महाराजा को अचानक पता चला कि सम्राट की एपेन्डिसाइटिस की बीमारी के कारण 26 जून को होने वाला मुख्य समारोह रद्द कर दिया गया है। इसके बाद उन्होंने ब्रिटिश ताज के प्रति अपनी वफादारी और सहानुभूति जताने में कोई कमी नहीं छोड़ी। उनके निजी डॉक्टर रोजाना बकिंघम पैलेस जाकर महाराजा की ओर से चिंता व्यक्त करके आते। समारोह स्थगित होने के बाद अन्य राजा-महाराजा इंग्लैंड में इधर-उधर घूमने निकल गए लेकिन माधो सिंह अपनी वफादारी दिखाने के लिए लंदन में ही जमे रहे। उनका आशय था, 'जब तक बादशाह सलामत को पूरी तरह आराम नहीं हो जाए

और यह चिंता दूर नहीं हो, सैर-तफरीह को मेरा दिल बिल्कुल नहीं चाहता।' माधो सिंह खुद भी बकिंघम पैलेस जाने लगे और विजिटर्स बुक में अपने दस्तखत करके आते ताकि उनके चिंतित होने का रिकॉर्ड दर्ज होता रहे। 2 जुलाई को माधो सिंह की ब्रिटिश सम्राज्ञी से मुलाकात हुई तो भेंट देने के लिए जयपुर की दस्तकारी के बेहतरीन नमूने चुने गए। यह एक तश्तरी और प्याले ही थे, लेकिन पीतल के होने के बावजूद उन पर मीनाकारी का अद्भुत काम और बेहतरीन चमक-दमक थी। सम्राज्ञी ने खुश होकर इस नायाब तोहफे को यह कहते हुए स्वीकार किया, 'रोजाना कॉफी पीने के लिए इन्हें ही इस्तेमाल करूंगी।' विभिन्न कार्यक्रमों में भाग लेते महाराजा अपने दल के साथ दो महीने से अधिक लंदन में रहे। आखिर, 9 अगस्त को सम्राट एडवर्ड सप्तम की ताजपोशी हुई और उस समारोह में माधो सिंह ने पूरी तैयारी और ठसक से भाग लिया।

इस समारोह के प्रति जयपुर महाराजा के आकर्षण और निष्ठा को तत्कालीन विवरण से समझा जा सकता है, 'उस दिन महाराजा अंधेरे में ही उठ गए और समारोह में जाने की तैयारी में लग गए। पोशाकियों ने महाराजा को 'स्टार ऑफ इंडिया' का गाउन धारण करवाया। इस पर जी.सी.एस.आई. के शाही खिताब का तमगा लगाया गया। सिर पर जयपुर की खूंटेदार पाग धारण करवाई गई। कार्यक्रम के लिए वे निर्धारित समय से चार घंटे पहले रवाना हुए।' इस समारोह में भाग लेकर माधो सिंह का खुशीपूर्वक लौटना जयपुर के लिए किसी दीपावली से कम नहीं था। पच्चीस तोपों की दो बार सलामी और 'माधो सिंह महाराजा की जय' के नारों के बीच हजारों लोगों ने उनकी अगवानी की। 6 अक्टूबर को एक बार फिर दीवान-ए-आम का आयोजन हुआ। माधो सिंह ने ब्रिटिश हुकूमत के प्रति अपने समर्पण को दोहराते हुए कहा, 'बम्बई से रवाना होने के बाद ही हमको समन्दर तूफानी हालत में मिला। उस तूफान के बर्दाश्त करने के बाद हमको हमारे पूर्वजों की बुद्धिमानी पर आश्चर्य हुआ कि जो समन्दर के सफर से जान-बूझकर बचे रहते थे, लेकिन वे लोग अपने फर्ज को अदा करने के वास्ते अपने बादशाह की रहीमाना फर्मान नहीं रखते थे कि जिसकी तामील करना हमारी जात के लिए फख्र और खुशी का सबब है। हम उपस्थित दरबारियों को यकीन दिलाते हैं कि फर्मानशाही की तामील और वफादारी जाहिर करने के अतिरिक्त हम किसी और उद्देश्य को लेकर हमारी तकलीफें बर्दाश्त नहीं करते। अपने बादशाह के हुक्म की तामील करने और वफादारी दिखलाने का खयाल हर एक सच्चे राजपूत के दिल को जिन्दा और ताजा करने वाला होता है।'[95]

इस दौरान कुछ और भी महत्वपूर्ण घटनाएं होती रहीं। 3 जनवरी, 1916 को जलेब चौक की कचहरियों के दरवाजों, कौंसिल भवन, नवाब साहब की हवेली और त्रिपोलिया पर पोस्टर चिपकाकर मुसलमानों को ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ हथियार उठाने और तुर्कों की हिमायत करने के लिए उकसाया गया। जयपुर महाराजा और रेजिडेंट ने इस मामले को काफी गंभीरता से लिया। रेजिडेंट ने जयपुर के प्रधानमंत्री नवाब फैयाज अली खां से आशंका प्रकट की कि इन पोस्टरों के पीछे जर्मनी का धन भी हो सकता है। इस मामले की जांच करवाई गई और रामचंद्र दरोगा तथा मकबूल हसन नामक दो व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया।[96]

ब्रिटिश हुकूमत के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाकर जयपुर के शासक अपने वर्चस्व को लेकर चिंतामुक्त थे। इस बीच माधो सिंह के वारिस को लेकर नया विवाद शुरू हो गया। दरअसल, माधो सिंह की दो महारानियों में से एक ने एक पुत्री को जन्म दिया और दूसरी को कोई संतान नहीं हुई। उनकी अनेक पड़दायतों से कई पुत्र हुए थे जिनमें से गोपाल सिंह उनके पसंदीदा थे। लोगों को लगता था कि वे गोपाल सिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते हैं। 1916 में माधो सिंह ने वायसराय लॉर्ड हार्डिंग को एक सीलबंद लिफाफा दिया, जिसमें उन्होंने अपने उत्तराधिकारी का नाम लिख रखा था। ब्रिटिश अफसरों का अनुमान था कि महाराजा ने इसमें गोपाल सिंह का नाम लिखा है। 1920 में अल्पायु में ही गोपाल सिंह की मृत्यु हो गई। इसके बाद माधो सिंह ने ब्रिटिश एजेंट कर्नल बेन से कहा कि वे इस लिफाफे को वापस लेना चाहते हैं क्योंकि उसमें जिस व्यक्ति का नाम लिखा था, वह जीवित नहीं रहा।[97]

कुछ दिनों बाद महाराजा ने वायसराय को ईसरदा के ठाकुर के दो बेटों मोर मुकुट और बहादुर की तस्वीर भेजी। मई, 1920 में कर्नल बेन को अपने एक सूत्र से पता चला कि महाराजा ने ईसरदा ठाकुर के एक पुत्र को चुनने का मन बना लिया है। सूचना देने वाले ने कर्नल बेन को एक संकट की चेतावनी दी। ईसरदा के तत्कालीन ठाकुर स्वयं एक दत्तक पुत्र थे, इसलिए जयपुर में माधो सिंह का विरोध होना स्वाभाविक था। इसके अलावा झिलाय के ठाकुर गोवर्धन सिंह जयपुर की गद्दी पर अपना दावा पेश करने लगे थे, जिनके पूर्वजों के साथ जयपुर के संबंध लगातार कटु ही रहे थे।

झिलाय को हमेशा कछवाहा वंश की वरिष्ठ शाखा माना जाता रहा था। वहां के ठाकुर गोवर्धन सिंह को भी बीकानेर रियासत से गोद लिया गया था और उन्हें बीकानेर में भी जागीर मिली हुई थी। उनकी पत्नी बीकानेर के राजपरिवार से थीं। माधो सिंह को लगता था कि गोवर्धन सिंह उनकी मृत्यु के बाद उनके परिवार की ठीक से देखभाल नहीं करेंगे। उनका यह भी मानना था कि बीकानेर रियासत से उनके घनिष्ठ संबंध जयपुर के हित के लिए ठीक नहीं होंगे। इसके अलावा उनका तर्क था कि झिलाय के एकमात्र प्रतिनिधि को जयपुर की गद्दी दे देने से झिलाय की देखरेख करने वाला कोई नहीं बचेगा। माधो सिंह के उत्तराधिकारी बनने के समय भी झिलाय के स्थान पर ईसरदा को प्राथमिकता दी गई थी क्योंकि उस समय झिलाय के ठाकुर को उनकी विकलांगता और शराब की लत के कारण अयोग्य समझा गया था।[98]

अगस्त, 1920 में माधो सिंह ने अपना निर्णय एक नए लिफाफे में बंद करके वायसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड को भेज दिया। उधर, गोवर्धन सिंह ने ब्रिटिश हुकूमत के सामने यह दावा पेश कर दिया कि माधो सिंह को झिलाय के अलावा किसी और शाखा से उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार नहीं है। बीकानेर के महाराजा गंगा सिंह ने भी उनके समर्थन में एक लंबा पत्र लिखकर उन घटनाओं का उल्लेख किया, जिनमें ब्रिटिश हुकूमत ने महाराजा की अंतिम इच्छा को नजरअंदाज करके नजदीकी संबंधों के आधार पर उत्तराधिकारी चुनने का समर्थन किया था। गंगा सिंह ने लिखा कि हिन्दू धर्म के नियमों और राजपूताना परंपरा से खिलवाड़ होने पर अशांति उत्पन्न होगी और गद्दी पर वैध अधिकार रखने वालों के मन में हीन-भावना जागेगी। ब्रिटिश हुकूमत ने यह जवाब देकर इस मामले से पीछा छुड़ा लिया कि माधो सिंह का निर्णय

अभी गोपनीय है और जो परिस्थिति इस समय तक पैदा ही नहीं हुई है, उस पर चर्चा नहीं की जा सकती।[99]

इसी के साथ जयपुर-ब्रिटिश संबंधों में खींचतान दिखाई देने लगी। जनवरी, 1921 में गंगा सिंह ने लॉर्ड चेम्सफोर्ड को एक और पत्र लिखा। इसमें उन्होंने जयपुर दरबार को द्वेषपूर्ण और धूर्त लोगों से भरा हुआ तंत्र बताया। उन्होंने माधो सिंह पर अपने अवैध पुत्रों के विवाह में बेहिसाब पैसे लुटाने का आरोप भी लगाया। इसके बाद लॉर्ड चेम्सफोर्ड ने माधो सिंह पर शीघ्र निर्णय लेने और सार्वजनिक रूप से अपने उत्तराधिकारी की घोषणा करने का दबाव बनाना शुरू कर दिया। इसी के साथ, गद्दी पर नजर टिकाए बैठे गोवर्धन सिंह ने 25 जागीरदारों के हस्ताक्षर वाला एक पत्र पेश कर दिया, जिसमें लिखा हुआ था कि गद्दी पर पहला अधिकार उनका है। उन्होंने एक और दस्तावेज रखा, जिस पर गद्दी के 55 दावेदारों में से 50 ने उनके नाम पर सहमति जताई थी।[100]

माधो सिंह की चिंता बढ़ती जा रही थी। उन्होंने 12 मार्च, 1921 को एक दरबार का आयोजन किया, जिसमें किसी भी व्यक्ति को आने की अनुमति थी। उस समय माधो सिंह काफी बीमार थे और खड़े होने में भी असमर्थ थे। उन्होंने दरबार में मौजूद लोगों को बताया कि उन्होंने अपने परिवार की परंपरा के अनुसार अपना उत्तराधिकारी चुन लिया है। उन्होंने नाम नहीं बताया, बल्कि एक दस्तावेज सभी के सामने रखा, जिसमें लिखा था कि महाराजा को अपनी इच्छा के अनुसार अपना वारिस चुनने का अधिकार है। माधो सिंह ने दरबार में उपस्थित लोगों से कहा कि किसी के ऊपर हस्ताक्षर करने का दबाव नहीं है और यदि कोई व्यक्ति हस्ताक्षर नहीं करना चाहे तो उसे कोई दंड नहीं दिया जाएगा। यह दरबार तीन दिनों तक चलता रहा। हजारों लोगों ने वहां आकर उस दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए, लेकिन चौमूं और डिग्गी के ठाकुर दरबार में नहीं आए। माधो सिंह ने चौमूं के ठाकुर पर विश्वासघात का आरोप लगाया। तब चौमूं और डिग्गी के ठाकुर ने साथ मिलकर एक पत्र तैयार किया, जिसमें उन्होंने लिखा कि महाराजा ने उनके खिलाफ अभद्र भाषा का इस्तेमाल किया है। इसके बाद माधो सिंह ने चौमूं के ठाकुर को अपनी कौंसिल से बाहर कर दिया और डिग्गी के ठाकुर का महल में प्रवेश प्रतिबंधित कर दिया।[101]

इस पूरे घटनाक्रम से माधो सिंह भी समझ गए कि दरबार लगाने से कोई नतीजा नहीं निकलेगा और उन्हें अपने वारिस को गोद लेने की औपचारिकता पूरी करनी ही होगी। उन्होंने बालक मोर मुकुट को जयपुर लाने का आदेश दिया। मोर मुकुट को रात के अंधेरे में सबसे छिपाकर कोटा से जयपुर लाया गया और सुरक्षा की दृष्टि से राजमहल के जनानखाने में रखा गया। आखिरकार, 24 मार्च को महाराजा माधो सिंह ने मोर मुकुट को गोद लेने की औपचारिकता पूरी की। उस दिन चौमूं और डिग्गी के ठाकुर भी दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार हो गए। एक भव्य समारोह में मोर मुकुट का अभिषेक हुआ और उनका नया नाम रखा गया मान सिंह द्वितीय।[102]

इसके बाद बीकानेर महाराजा ने ब्रिटिश हुकूमत को एक और पत्र लिखा और माधो सिंह की मृत्यु के बाद इस निर्णय की समीक्षा करने की मांग की। उनका कहना था कि माधो सिंह

के सामने कोई भी अपनी राय बताने का साहस नहीं कर पाएगा। उन्होंने लिखा, 'भूतपूर्व वायसरायों ने मिले हुए परामर्श पर अमल नहीं करके जटिल और अन्यायपूर्ण मामलों की एक लंबी सूची बना दी है। ब्रिटिश हुकूमत की प्रतिष्ठा और कठोर एवं निष्पक्ष न्याय के लिए यह आवश्यक है कि इस सूची में एक और नया विषय नहीं जुड़ने दिया जाए। हुकूमत इस प्रतिष्ठा और न्याय के लिए ही हमेशा प्रतिबद्ध रही है।'[103]

वायसराय ने जयपुर के इस पेचीदा मामले को लेकर विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं से परामर्श किया। इसी दौरान माधो सिंह ने खुफिया विभाग के निदेशक चार्ल्स क्लीवलैंड की अध्यक्षता में जयपुर के तीन अन्य सदस्यों के साथ एक समिति का गठन किया। वायसराय को मिल रहे परामर्श का निष्कर्ष यह था कि इस विषय में महाराजा की इच्छा का पालन किया जाना चाहिए। क्लीवलैंड की समिति भी आखिरकार इसी नतीजे पर पहुंची कि महाराजा का निर्णय ही सर्वमान्य होगा। इसी बीच लॉर्ड चेम्सफोर्ड की जगह लॉर्ड रीडिंग भारत के नए वायसराय बन गए। 21 अप्रेल, 1921 को उन्होंने माधो सिंह के पक्ष में अपना निर्णय सुनाया और 10 जून को जयपुर दरबार में पहुंचे, जहां मान सिंह को नजर भेंट करने का समारोह आयोजित किया गया था।[104]

उस समय राजपूताना की राजनीतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। राजपूताने का केन्द्र ब्रिटिश हुकूमत की प्रांतीय राजधानी होने के कारण अजमेर था। वहां रियासतों से कुछ ज्यादा आजादी थी। ब्रिटिश साम्राज्य की सदा यह नीति रही थी कि देसी रियासतों का शासन ब्रिटिश हुकूमत से खराब दिखाई देता रहे ताकि जनता को स्वराज्य से ब्रिटिश राज ज्यादा अच्छा लगे। इस कारण अजमेर-मेरवाड़ा में राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास राजपूताना के दूसरे भागों से कुछ ज्यादा होना स्वाभाविक था। रियासती हिस्से में जयपुर, जोधपुर और उदयपुर रियासतें ही मुख्य मानी जाती थी। तीनों रियासतों की प्रधानता का एक कारण यह भी था कि तीनों के पिछले राजाओं ने हुकूमत में कुछ सुधार किए थे। जयपुर के राम सिंह, जोधपुर के जसवंत सिंह और मेवाड़ के सज्जन सिंह ने अपनी-अपनी रियासतों में कौंसिलें बनाईं, स्कूल-कॉलेज खोले, न्याय के महकमों का इंतजाम किया और सफाई-स्वास्थ्य के महकमे स्थापित किए थे। इसी कारण ये तीनों रियासतें अन्य राजपूताना रियासतों से अधिक उदार और विकासशील समझी जाती थीं। लेकिन माधो सिंह के समय में स्थिति अच्छी नहीं थी। कोई भी ब्रिटिश प्रतिनिधि अपने आपको रियासत के बड़े-बड़े जागीरदार से ऊंचा मानता था। रियासत में हर वर्ष रेजिडेंट और हर तीसरे या पांचवे वर्ष ए.जी.जी. का दौरा होता था। लगभग हर वायसराय अपने कार्यकाल में एक बार जयपुर जरूर आता था। इनके आने से रियासत पर आर्थिक भार पड़ता था और प्राय: उनके स्वागत में भव्य कार्यक्रम आयोजित किए जाते थे। हालांकि कभी-कभी जनता की शिकायतें और समस्याएं भी उन तक पहुंच पाती थीं लेकिन ये दौरे आम तौर पर राजाओं और हुकूमत के बीच सद्भावना के प्रदर्शन के लिए ही आयोजित किए जाते।[105]

1920 का दशक आते-आते राजपूताना में स्वतंत्रता आंदोलन की गूंज तेज होने लगी। जनता न तो ब्रिटिश हुकूमत के अधीन रहना चाहती थी और न ही महाराजाओं की मनमानी सहने के लिए तैयार थी। हर ओर स्वशासन की मांग तेज हो रही थी। इसके बावजूद राजघराने

के हर सुख–दुःख में ब्रिटिश अफसर भाग लेते रहे। 1922 में एक रानी चांदावतजी की मृत्यु होने के बाद महल में शोक दरबार हुआ। उसमें महाराजा की कुर्सी खाली रही और बराबर वाली कुर्सी पर अंग्रेज रेजिडेंट कर्नल बेन आकर बैठा।[106]

बदलती राजनीतिक व्यवस्था की अनिश्चितताओं में माधो सिंह अपनी राजपूताना साख और ब्रिटिश हुकूमत के साथ दोस्ती बचाए रखने के लिए प्रयासरत रहे। बढ़ती उम्र और बिगड़ते स्वास्थ्य के कारण 7 सितम्बर, 1922 को उनकी मृत्यु हो गई। उनके उत्तराधिकारी मान सिंह द्वितीय के अवयस्क होने के कारण जयपुर की गद्दी पर ब्रिटिश हुकूमत का परोक्ष शासन हो गया। 9 वर्षों तक कौंसिल ऑफ रीजेंसी की देखरेख में प्रशासन की बारीकियां सीखने और ब्रिटिश पद्धति के अनुसार शिक्षा ग्रहण करने के बाद 14 मार्च, 1931 को मान सिंह ने महाराजा के सारे अधिकारों के साथ जयपुर की गद्दी संभाली।[107]

संदर्भ सूची

1. भाई रायमल्ल का विवरण/नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 14
2. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 87
3. श्यामलदास: वीर विनोद, खंड-3, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2007, पृष्ठ 1377
4. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 299
5. वही, पृष्ठ 299
6. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका., जयपुर, 1984, पृष्ठ 87
7. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 249-250
8. वही, पृष्ठ 300
9. शैलेन्द्रनाथ सेन: एंग्लो-मराठा रिलेशंस (1785-1796)-2, पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1994, पृष्ठ 126
10. वही, पृष्ठ 126
11. वही, पृष्ठ 126
12. वही, पृष्ठ 126
13. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 257
14. शैलेन्द्रनाथ सेन: एंग्लो-मराठा रिलेशंस (1785-1796)-2, पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1994, पृष्ठ 127
15. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 299-300
16. वही, पृष्ठ 259
17. वही, पृष्ठ 264
18. वही, पृष्ठ 267-269
19. वही, पृष्ठ 281
20. क्वेंटिन क्रू: द लास्ट महाराजा, माइकल जोसफ लिमिटेड, लंदन, 1985, पृष्ठ 43
21. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 301
22. हरनाथ सिंह: जयपुर एंड इट्स एनवायरन्स, पृष्ठ 80/ नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 29
23. भाई रायमल्ल का विवरण/नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 30
24. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 54
25. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 302
26. वही, पृष्ठ 302-303
27. वही, पृष्ठ 303
28. मध्यप्रदेश जिला गजट, इंदौर, जिला गजट विभाग, मध्य प्रदेश, 1971, पृष्ठ 69
29. वही, पृष्ठ 69
30. वही, पृष्ठ 69
31. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 303-304
32. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 98
33. जॉन मैल्कम: पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जॉन मरे, लंदन, 1826, पृष्ठ 351-352
34. वही, पृष्ठ 351
35. वही, पृष्ठ 350-351
36. वही, पृष्ठ 351-352
37. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 307-308
38. हॉरेस हेमैन विल्सन: द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया-1, जेम्स मैडन एंड कंपनी, लंदन, 1845, पृष्ठ 86-88
39. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 309
40. मध्यप्रदेश जिला गजट, इंदौर, जिला गजट विभाग, मध्य प्रदेश, 1971, पृष्ठ 70
41. जॉन मैल्कम: पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जॉन मरे, लंदन, 1826, पृष्ठ 147

42. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 316
43. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 99
44. वही, पृष्ठ 99
45. वही, पृष्ठ 99–100
46. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 316
47. वही, पृष्ठ 317
48. हनुमान शर्मा: नाथावतों का इतिहास, पृष्ठ 261/ नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 101
49. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 101
50. वही, पृष्ठ 103
51. वही, पृष्ठ 104
52. वही, पृष्ठ 104
53. वही, पृष्ठ 104
54. वही, पृष्ठ 105
55. रॉबर्ट डब्ल्यू स्टर्न: द कैट एंड द लॉयन–जयपुर स्टेट इन द ब्रिटिश राज, ई.जे. ब्रिल, लाइडन, नीदरलैंड्स, 1988, पृष्ठ 111
56. जॉन के एवं जॉर्ज ब्रूस मैल्सन: हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी, लॉगमैन्स ग्रीन एंड कंपनी, लंदन, 1898, पृष्ठ 158–159
57. जॉर्ज लॉरेंस: रेमिनिसेन्स ऑफ फोर्टी थ्री ईयर्स इन इंडिया, जॉन मरे, लंदन, 1875, पृष्ठ 279
58. रॉबर्ट डब्ल्यू स्टर्न: द कैट एंड द लॉयन–जयपुर स्टेट इन द ब्रिटिश राज, ई.जे. ब्रिल, लाइडन, नीदरलैंड्स, 1988, पृष्ठ 129
59. फतहसिंह मानव: बारहठ कृष्ण सिंह का जीवन चरित्र और राजपूताना का अपूर्व इतिहास–1, साइंटिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर, 2009, पृष्ठ 209–210
60. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 336
61. वही, पृष्ठ 340–341
62. वही, पृष्ठ 341
63. वही, पृष्ठ 337–338
64. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 51–52
65. श्यामलदास: वीर विनोद–3, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, 2007, पृष्ठ 1346–1348
66. वही, पृष्ठ 1349–1354
67. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 343
68. वही, पृष्ठ 342–343
69. लुइस रॉसलेट: इंडिया एंड इट्स नेटिव प्रिंसेज, बिकर्स एंड सन, लंदन, 1882, पृष्ठ 289
70. सार्जेंट बैलेंटाइन: सम एक्सपीरिएंसेज ऑफ बैरिस्टर्स लाइफ, जे.एम. स्टॉडर्ट, न्यूयॉर्क, 1883, पृष्ठ 244
71. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 348
72. फतहसिंह मानव: बारहठ कृष्ण सिंह का जीवन चरित्र और राजपूताना का अपूर्व इतिहास–2, साइन्टिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर, 2009, पृष्ठ 58
73. वही, पृष्ठ 297
74. वही, पृष्ठ 66
75. फतहसिंह मानव: बारहठ कृष्ण सिंह का जीवन चरित्र और राजपूताना का अपूर्व इतिहास–1, साइन्टिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर, 2009, पृष्ठ 269
76. वही, पृष्ठ 322
77. वही, पृष्ठ 296
78. फतहसिंह मानव: बारहठ कृष्ण सिंह का जीवन चरित्र और राजपूताना का अपूर्व इतिहास–2, साइन्टिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर, 2009, पृष्ठ 94
79. वही, पृष्ठ 134–136
80. वही, पृष्ठ 214
81. फतहसिंह मानव: बारहठ कृष्ण सिंह का जीवन चरित्र और राजपूताना का अपूर्व इतिहास–3, साइन्टिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर, 2009, पृष्ठ 66

82. वही, पृष्ठ 66-67
83. वही, पृष्ठ 64-65
84. वही, पृष्ठ 124-125
85. वही, पृष्ठ 64-65
86. फतह सिंह मानव: बारहठ कृष्ण सिंह का जीवन चरित्र और राजपूताना का अपूर्व इतिहास-1, साइन्टिफिक पब्लिशर्स (इंडिया), जोधपुर, 2009, पृष्ठ 319-320
87. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 217
88. वही, पृष्ठ 216
89. मुंशी शिवनारायण सक्सेना: जयपुर नरेश की इंग्लैंड यात्रा, जेल प्रेस, जयपुर, 1922, पृष्ठ 13
90. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 218
91. मुंशी शिवनारायण सक्सेना: जयपुर नरेश की इंग्लैंड यात्रा, जेल प्रेस, जयपुर, 1922, पृष्ठ 16
92. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 221
93. वही, पृष्ठ 229-230
94. वही, पृष्ठ 232
95. मुंशी शिवनारायण सक्सेना: जयपुर नरेश की इंग्लैंड यात्रा, जेल प्रेस, जयपुर, 1922, पृष्ठ 125-126
96. नंदकिशोर पारीक: राजदरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, 1984, पृष्ठ 82-83
97. क्वेंटिन क्रू: द लास्ट महाराजा, माइकल जोसफ लिमिटेड, लंदन, 1985, पृष्ठ 6
98. वही, पृष्ठ 7
99. वही, पृष्ठ 9
100. वही, पृष्ठ 10
101. वही, पृष्ठ 10-11
102. वही, पृष्ठ 11
103. वही, पृष्ठ 11-12
104. वही, पृष्ठ 12-13
105. रामनारायण चौधरी: आधुनिक राजस्थान का उत्थान-राजस्थान का संस्मरणात्मक इतिहास, बुक सेंटर, अजमेर, 1967, पृष्ठ 10
106. पुरोहित गोपीनाथजी की डायरी (ह.लि.), जयपुर
107. जदुनाथ सरकार: अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 360

भाग: तीन

क्रांति से राजनीति

6

सशस्त्र आंदोलन से शंखनाद

मौजूदा सल्तनत-ए-हिन्द की जालिमाना हुकूमत पर आखिरी हथौड़ा पड़ेगा। शान और प्रतिष्ठा के लिए होने वाली गोलीबारी, मां-बहनों की आबरू पर खतरे, देशभक्तों को जेल यातना-फांसी, नौकरशाही के स्वच्छंद खूनी कारनामे, गुलामी की रोजी-खुशामदी-जीहुजूरी के निर्लज्ज जीवन का खात्मा होगा। भारत के निवासी अपने देश की हुकूमत अपने ही श्रेष्ठ तरीके से करेंगे। देवरम्य भारत गुलामी की जंजीरों से आजाद होकर प्रगति का मनोहर बाना पहनकर उसी गुरुत्व पद प्रतिष्ठा पर आसीन होगा, जिसका वर्णन मुक्त कंठ से हर एक मौके पर होता रहा है।

-पं. अर्जुनलाल सेठी

1857 के संग्राम के दौरान मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर को राजपूताना की रियासतों पर काफी भरोसा था। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर से मुगल साम्राज्य के संबंध पीढ़ियों तक कायम रहे थे। इनमें जयपुर के राजे-महाराजे खासतौर पर उनके अपने थे। जयपुर-आम्बेर के शासकों ने मुगलों के शासन को बढ़ाने और अपनी रियासत को मजबूत करने में पूरे 300 साल लगाए थे। जब 1857 का अघोषित संग्राम शुरू हुआ, उस समय के तत्कालीन मुंशी जीवनलाल के रोजनामचे* के अनुसार 11 मई की सुबह कुछ पैदल और सवारों के मेरठ से आकर लूटपाट करने की सूचना मिली। ब्रिटिश फौज से मुकाबले के लिए 14 मई, 1857 को बादशाह ने जयपुर, जोधपुर और बीकानेर के राजाओं को कहलवाया कि या तो वे खुद आएं या अपनी सेनाएं भेजें।[1] यहां तक कि दिल्ली के जयसिंहपुरा से मेवातियों और गुर्जरों को निकालने की बादशाह ने आज्ञा दी ताकि वहां जयपुर महाराजा का मुख्तार ठहर सके। बादशाह को 21 मई को पहली बार विपरीत खबर मिली कि जयपुर और पटियाला अपने इलाके में ही बागियों को रहने से रोकने के हरसंभव प्रयत्न कर रहे हैं।[2]

बहादुर शाह की उम्मीद को और आघात लगा जब 18 जून को पता चला कि नसीराबाद की रेजिमेंट के अपने अफसरों को मारकर और खजाना, मैगजीन तथा शहर को लूटकर दिल्ली आते समय सिपाहियों को जयपुर महाराजा की ओर से बड़ी मुश्किल से लेकिन रसद दी गई

*मुंशी जीवन लाल के रोजनामचे से ब्रिटिश हुकूमत और बादशाह की अंदरूनी घटनाओं का पता चलता है। जीवन लाल ने 1857 का संघर्ष प्रारम्भ होने के साथ ही किले की खबरें और आंदोलनकारियों की गतिविधियों की सूचना अंग्रेजों तक पहुंचाने की जिम्मेदारी संभाल रखी थी।

और चेतावनी दी गई कि वे लोग दिल्ली नहीं जाएं।[3] उस समय के संस्मरणों में लिखा गया है कि बादशाह ने असद बुर्ज से मोर्चों का निरीक्षण किया और जनरल मुहम्मद बख्त खान ने जयपुर की फौज बुलाने के लिए दो हरकारे भेजे। लेकिन जयपुर महाराजा ब्रिटिश हुकूमत से बंधे रहे। उन्होंने वे संधियां नहीं तोड़ीं, जो पिछली आधी सदी से जयपुर राज और ब्रिटिश संबंधों का वर्तमान थीं। जयपुर महाराजा अपना भविष्य मुगलों में नहीं, बल्कि ब्रिटिश हुकूमत और अपने शासन के लाभ में सुनिश्चित करने की इबारत लिख रहे थे। दिल्ली छावनी में तैनात कर्नल कीथ यंग ने 19 जून, 1857 को अपनी पत्नी को लिखा, 'कल रात जयपुर और भरतपुर के सैन्य दस्ते से कुछ लोग शिविर में आए हैं और आज सरदारों का एक समूह कुछ घुड़सवार सैनिकों के साथ आने वाला है। लेकिन मुख्य टुकड़ी शायद वहीं रहेगी जहां वह इस समय है या उसके आसपास के इलाके में क्योंकि उसे देश को शांत रखना है और दिल्ली फतह हो जाने के बाद विद्रोह को दबाना है। इन दस्तों का उसी जगह पर ठहरे रहना हमारे लिए राजनीतिक रूप से बहुत महत्वपूर्ण है। उनके होने से ग्रामीणों को आश्वासन मिल रहा है और विद्रोहियों तथा दिल्लीवासियों तक यह संदेश पहुंच रहा है कि ये हिन्दू रियासतें तटस्थ बनी हुई हैं और हमारे उद्देश्य के प्रति वफादार हैं।'[4]

बहादुर शाह से जयपुर महाराजा का व्यवहार छिपा नहीं रहा। 19 जुलाई को जयपुर महाराजा के तोपखाने में काम करने वाले पचास कर्मचारी दिल्ली गए और उन्होंने बादशाह को सूचना दी, 'जयपुर महाराजा ने कुछ अंग्रेजों को शरण दे रखी है। पंडित शिवदीन महाराजा को हमेशा बरगलाता है कि वे अंग्रेजों की तरफ रहें जबकि रावल शिवसिंह और तमाम फौज आपकी फौज में शामिल होना चाहती हैं।'[5] पंडित शिवदीन जयपुर के तत्कालीन दीवान थे। रावल शिवसिंह नाथावत पूर्व दीवान थे। कहा जाता है कि शिव सिंह ने राम सिंह को दोहरी चाल चलने की सलाह दी थी।[6]

1857 में जनभावनाएं ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ थीं। लेकिन जयपुर में 1857 की लपटों को घुसने से रोका गया। जयपुर में तैनात कैप्टन विलियम फ्रेड्रिक ईडन ने 3 अगस्त, 1857 को कर्नल कीथ यंग को जयपुर से लिखा, 'यहां हम सब बिल्कुल ठीक हैं और जयपुर में बिना किसी तनाव के मुहर्रम बीत चुका है; मैं इसके बारे में बहुत घबराया हुआ था। जोधपुर की टुकड़ी ने 23 तारीख को विद्रोह कर दिया। कहा जा रहा है कि अधिकारियों और उनके परिवार के सदस्यों को बंदी बनाकर छावनी को लूट लिया गया है। कुछ गुर्जरों की पड़ताल के लिए कर्नल हॉल द्वारा आबू भेजे गए दल ने वहां तैनात अन्य 40 लोगों को उत्तेजित कर दिया। घने कोहरे के बीच उन्होंने एरिनपुरा बैरक और कर्नल हॉल के घर पर गोलीबारी की लेकिन उसके बाद शायद पहाड़ियों की ओर लौट गए। नसीराबाद टुकड़ी में तैनात 150 सैनिकों और बॉम्बे की 12 वीं पैदल टुकड़ी के 200 सैनिकों ने हथियार डाल दिए।'[7] कैप्टन ईडन ने पत्र लिखकर फिर सूचित किया, 'जयपुर में सब कुछ शांतिपूर्ण है और महाराजा हमें सहयोग देने के लिए अपनी तरफ से भरपूर कोशिश कर रहे हैं।'[8] 4 सितम्बर, 1857 को बहादुर शाह ने जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, अलवर और कोटा के महाराजाओं को फिर लिखा कि वे आकर अंग्रेजों को नेस्तनाबूद करें और मुल्क के इंतजाम को अपने हाथ में लें। बादशाह

ने यह भी लिखा, 'अंग्रेजों को मुल्क से निकाल देने के बाद मेरा मकसद हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने का नहीं है। अगर सभी रियासतें दुश्मन को मुल्क से निकालने के लिए तलवार म्यान से निकाल लें तो मैं शाही अख्तियार और ताकत से दस्तबरदार (विरक्त) होने के लिए रजामंद हो जाऊंगा।' लेकिन जयपुर सहित ज्यादातर राजा-महाराजाओं ने अंग्रेजों का साथ दिया। आखिकार बहादुर शाह की हार हुई।[9]

ब्रिटिश हुकूमत द्वारा 1857 का संघर्ष दबा दिए जाने के बाद प्रमुख सेनानायक तांत्या टोपे फिर संगठन खड़ा करने के लिए राजपूताना के विभिन्न क्षेत्रों से होते हुए जयपुर क्षेत्र में सीकर तक गए। ब्रिटिश सेना लगातार उनका पीछा करती रही और टोपे उनकी पकड़ में नहीं आने के लिए लगातार आगे बढ़ते रहे लेकिन जयपुर के कछवाहा वंश से जुड़े रहे नरवर के मानसिंह ने शिवपुरी के पास पाड़ीन के जंगल में धोखा देकर 7 अप्रेल, 1859 की आधी रात को टोपे को गिरफ्तार करवा दिया। 14 अप्रेल, 1859 को टोपे पर सैनिक न्यायालय में मुकदमा चलाया गया कि उन्होंने ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ जनवरी, 1857 और दिसम्बर, 1858 के बीच विशेषत: झांसी और ग्वालियर में युद्ध किया। टोपे पर नृशंस अपराध प्रमाणित मानकर 18 अप्रेल, 1859 को फांसी दे दी गई।[10] न्यायालय ने टोपे को अपने बचाव में सबूत इकट्ठे करने की अनुमति दी लेकिन टोपे ने कहा, 'मैंने अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध किया है और मैं यह भली-भांति जानता हूं कि मुझे आत्माहुति के लिए तैयार रहना चाहिए। मुझे न्यायालय के निर्णय और जांच से कोई सरोकार नहीं है।' फांसी लगाए जाते समय टोपे ने कहा कि हाथ-पैर बांधने की आवश्यकता नहीं है और स्वयं फंदा अपने गले में डाल लिया। स्वतंत्रता संग्राम के उस यज्ञ कुंड में यह आखिरी आहुति थी।[11]

जॉन विलियम ने 'भारत में सिपाही युद्ध' में लिखा, 'वास्तविकता तो यह है कि भारतवर्ष में हमारी बहाली का श्रेय हमारे भारतीय मददगारों के ऊपर है जिनकी वीरता और साहस ने हिन्दुस्तान को अपने देशवासियों से लेकर हमारे सुपुर्द कर दिया।'[12]

1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में ज्यादातर राजा-महाराजाओं द्वारा ब्रिटिश हुकूमत का साथ दिए जाने के कारण आजादी की आगे की लड़ाई के लिए रियासती जनता का जागरण ज्यादा कठिन था। कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई और लाहौर अधिवेशन में 19 दिसम्बर, 1929 को पहली बार पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति का प्रस्ताव पारित किया गया। देश की रियासतों में आश्चर्यजनक रूप से जयपुर के नौजवानों ने पहल की। क्रांतिकारी आंदोलन के प्रथम चरण में ही जयपुर सशस्त्र संघर्ष से जुड़ गया। बीसवीं सदी के पहले दशक में यह जुड़ाव होने तक मोहनदास कर्मचंद गांधी देश की राजनीति में सक्रिय नहीं हुए थे। सशस्त्र क्रांति का संगठित दौर भी दूसरे दशक के प्रारंभ में शुरू हुआ। देश भर में राष्ट्रीयता और देशभक्ति को प्रेरित करने वाले शिक्षण संस्थान भी बाद में खुले, जयपुर ने इस विषय में भी पहले कदम रखा। उस समय जयपुर में राष्ट्रीय भावनाओं का उदय हो रहा था।

जयपुर राज में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ जनजागृति का शुरुआती श्रेय क्रांतिकारी पं. अर्जुनलाल सेठी को है। वे जन्मजात देशभक्त थे। सेठी के स्वतंत्रता सेनानी अयोध्याप्रसाद गोयलीय को बताए संस्मरणों के अनुसार वे जयपुर में 13 वर्ष की उम्र में बच्चों का स्कूल

चलाने लगे, जैन गजट में उनके लेख छपते और हस्तलिखित जैन प्रदीप पत्रिका निकालते। उसी तरुणावस्था में उन्होंने सात साथियों की गुप्त समिति बनाई जिसने भारत माता और जैन समाज की सेवा में प्राण न्योछावर करने का व्रत लिया। सेठी 1902 में बी.ए. की परीक्षा देने लखनऊ गए तो समाज सेवा की भावना और बलवती हो उठी। उसी साल उनके पिता का देहावसान हो गया और वे पिता की जगह चौमूं ठिकाने के कामदार बना दिए गए। उन्हीं दिनों ठिकाने में ब्रिटिश एजेंट (ए.जी.जी.) के आने पर भव्य स्वागत किया गया, जबकि एजेंट ने वहां के लोगों को और उन्हें गंवार बताया। सेठी के अनुसार उनके सीने में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ विद्रोह का यह पहला इंजेक्शन था।[13]

इस घटना के बाद सेठी ने ठिकाने की नौकरी छोड़ दी। कुछ वर्षों तक मथुरा और सहारनपुर में स्कूल मैनेजर की नौकरी की लेकिन 1906 में वापस जयपुर लौट आए। सेठी ने जयपुर आकर जैन शिक्षा प्रचारक समिति की स्थापना की और उसके अंतर्गत जैन वर्धमान विद्यालय, जैन वर्धमान पुस्तकालय और जैन बोर्डिंग का संचालन शुरू किया। सेठी ने वर्धमान विद्यालय को क्रांतिकारियों को प्रशिक्षण देने का केंद्र बना दिया। महाराष्ट्र और कश्मीर जैसे दूरदराज के क्षेत्रों से योग्य नौजवानों को लाकर स्वतंत्रता के आंदोलन के लिए तैयार किया जाने लगा। इस विद्यालय से अनेक युवा क्रांतिकारी निकले जिनका उत्तर भारत के सशस्त्र स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण योगदान रहा। वहां के अध्यापकों में बंगाल की अनुशीलन समिति के सदस्य विष्णु दत्त भी थे। उनके छात्रों में मोतीचंद, माणकचंद, जयचंद और जोरावर सिंह बारहठ जैसे स्वतंत्रता प्रेमी युवा शामिल थे।

सेठी ने इन जीवट वाले युवकों को इकट्ठा किया, उन युवकों के अगुवा मोतीचंद थे। एक बार उनका ऑपरेशन हुआ। डॉक्टर की राय में वह ऑपरेशन इतना गंभीर था कि बिना क्लोरोफॉर्म सुंघाए चीरा लगाना संभव नहीं था। मोतीचंद ने कहा कि उसके होश में रहने के दौरान ही ऑपरेशन किया जाए। आखिर वैसा ही किया गया और मोतीचंद ने उफ्फ तक नहीं की। कहा जाता है कि आरा कांड में उन्हें फांसी लगी तो उनका वजन कई पौंड बढ़ गया था। जयचंद की कहानी और आश्चर्यजनक थी। वे मूलत: कश्मीर में पुंछ ठिकाने के रहने वाले थे। जयचंद की एक लड़के से दोस्ती हो गई। उसी बीच प्लेग फैला तो दोनों दोस्तों ने आपस में वायदा किया कि जो जीवित बचे वह उम्र भर अपने साथी के लिए तपस्या करे, जयचंद जीवित बचे। उन्होंने हरिद्वार जाकर जाड़े में गंगा में खड़े रहकर और गर्मी में बालू रेत पर तपस्या करने लगे। जयचंद को गाने का भी शौक था। एक दिन सेठी का हरिद्वार में भाषण था। उसमें संगीत का भी कार्यक्रम था। सेठी ने जयचंद का गायन सुना तो उनकी पारखी दृष्टि ने जयचंद में छिपी प्रतिभा को पहचान लिया। सेठी जयचंद को अपने साथ जयपुर ले गए। जयचंद इतने निर्भय थे कि कई बार वारंट लेकर आने वाली पुलिस के बीच से भी निकल जाते। चलने में इतने तेज थे कि एक बार घुड़सवार पुलिस से बचते हुए सत्तर मील दूरी तय करके शाम को रामनारायण चौधरी के पास पहुंच गए। उस दौरान स्वतंत्रता संग्राम को सशक्त बनाने के लिए बंगाल के क्रांतिकारियों ने डाके डालकर धन इकट्ठा करना शुरू कर दिया था। 1912-13 में विष्णुदत्त ने भी वर्धमान विद्यालय के चार छात्रों को इस काम के लिए

तैयार किया। मोतीचंद, माणकचंद, जयचंद और जोरावर सिंह ने बिहार के आरा जिले स्थित नीमेज के जैन उपासरे में डाका डाला। वहां हुई मुठभेड़ के दौरान उपासरे के महंत की मृत्यु हो गई। नीमेज कांड में मोतीचंद को फांसी की सजा हुई। यह भी दावा किया जाता है कि लार्ड हार्डिंग पर जोरावर सिंह ने बम फेंका था। इस केस में जोरावर सिंह की गिरफ्तारी का वारंट जारी नहीं हुआ लेकिन जोरावर सिंह फरार हो गए। फरार अवस्था में ही उनका देहांत हुआ।[14]

सशस्त्र क्रांति का दौर शुरू हो चुका था। प्रसिद्ध क्रांतिकारी रासबिहारी बोस और शचीन्द्रनाथ सान्याल से सेठी का संपर्क कायम हो गया। किसी-न-किसी सूत्र के जरिए पूरे देश के क्रांतिकारी आपस में जुड़े हुए थे। राजपूताना सहित आसपास के क्षेत्रों के नेता सेठी ही थे।[15] उनके कारण जयपुर क्रांतिकारियों का ठिकाना बन गया। प्रतापसिंह बारहठ भी सेठी के विद्यालय में पढ़े। पढ़ने के दौरान वे विप्लवी आंदोलन से जुड़ गए। रासबिहारी बोस और सान्याल से जुड़ने के बाद वे जयपुर आते-जाते रहे। जयपुर की खूबसूरत पहाड़ियों से सटे प्रसिद्ध गलता कुंड में प्रताप सिंह घंटों तैरते। तब यह योजना बनी कि राजपूताना के युवकों को दिल्ली लाकर वहां विप्लव को संगठित किया जाए।[16] सान्याल ने प्रताप सिंह के जीवन पर यथेष्ट प्रकाश डाला है:

> 'राजपूताना के जिस युवक के साथ मैं दिल्ली गया, उसका नाम था प्रताप सिंह। वे राजपूताना के चारण वंश के थे। प्रताप सिंह के पिता का नाम सरदार केसरी सिंह था। वे उदयपुर के राणा के विशेष प्रिय थे। प्रताप के पिता या उनके दादा उदयपुर के राणा के मंत्री पद तक पहुंचे थे। इनकी जागीर मेवाड़ के अंतर्गत शाहपुरा राज्य में थी। एक दिन था, जब यही राजपूताना वीरों का लीला-निकेतन कहा जाता था, एक दिन इसी राजपूताना में भीष्म के समान महापुरुषों का भी आविर्भाव हुआ था, बंगाल की कल्पना-दृष्टि में शायद आज भी राजपूताना उसी अतीत युग की शूरता, वीरता और उदारता की प्रतिमूर्ति ही प्रतीत होता है, किंतु पौराणिक युग का वह गौरवमंडित राजपूताना आज नहीं है। तथापि राजपूताना के आज बिल्कुल अधोपतित हो जाने पर भी उस अतीत युग के संस्कार आज भी प्रत्येक राजपूतानावासी के हृदय में अंकित हैं। प्रताप परिवार की कहानी देखकर यह बात मेरे मन में स्वत: जाग उठती है। यह परिवार राजपूताना के गणमान्य समृद्ध जमींदारों में गिना जाता था, किंतु स्वदेश प्रीति और तेजस्विता की खातिर इन्हें अपना घर-बार बर्बाद करना पड़ा।
>
> सबसे पहले दिल्ली षडयंत्र के मामले के संबंध में प्रताप सिंह और उनके बहनोई पकड़े गए। किंतु उनके विरुद्ध कोई विशेष प्रमाण नहीं रहने से उस बार उनको छुटकारा मिल गया। इसके कुछ ही दिन बाद कोटा में ही एक और राजनीतिक मामले में प्रताप के पिता सरदार केसरी सिंह को आजन्म

कालेपानी का दंड मिला और प्रताप के एक सगे चाचा के नाम भी वारंट निकला, संभवत: आज भी वे पकड़े नहीं गए। केसरी सिंह का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहने से उन्हें अंडमान नहीं जाना पड़ा, देश की जेलों में ही रहना पड़ा।

इस मामले के फलस्वरूप सरदार केसरी सिंह और उनके छोटे भाई की संपत्ति तो जब्त हुई ही, इसके अलावा उनके जो भाई राजनीति के पास फटकते भी नहीं थे, उनकी भी सारी संपत्ति जब्त हो गई। इस तरह वे समृद्ध-संपन्न जागीरदार से एकदम रास्ते के भिखारी हो गए। प्रताप सिंह की माता के दु:खों की उस समय सीमा नहीं थी, आज एक संबंधी के पास रहतीं तो कल दूसरी संबंधी के घर जाकर अतिथि बनतीं। अंत में अपने पिता के घर जाकर किसी तरह दिन काटती रहीं। प्रताप सिंह के मामा के घर की हालत भी विशेष अच्छी नहीं थी। विधाता जब किसी के प्रति निर्दयी होते हैं, तब उनकी निष्ठुरता के आगे संसार की सब निष्ठुरता फीकी पड़ जाती है और वे जिनको वीर बनाकर उठाते हैं, उनके वीरत्व के निकट भगवान की निष्ठुरता भी हार मानने को बाध्य होती है। इसी से इतनी विपत्ति में पड़कर भी प्रताप सिंह बराबर विप्लव दल में काम करते रहे। काम करने-करने में भी अंतर है, केवल कर्तव्य ज्ञान से काम करना एक बात है, और काम करके आनंद पाना दूसरी बात; हमारा विचार है कि काम करके आनंद पाया जाए यही हमारा कर्तव्य है; अर्थात जैसा करके मन में किसी तरह का अनुताप-परिताप नहीं हो और सबसे बढ़कर जैसा काम करने से मनुष्य साक्षात् आनंद पाए। प्रताप ने अपनी पारिवारिक अवस्था के भीषण संकट काल में भी विप्लव कार्य में जो योगदान दिया था, उससे उनके दिल के किसी कोने में किसी तरह की ग्लानि अथवा संकोच तो था ही नहीं, बल्कि वे पिता के प्रिय कार्य में अपने को लगा सके, इससे उनका दिल आनंद और गर्व से फूल उठता था। ऐसे बहुत सज्जन देखे गए हैं, जो केवल कर्तव्य की खातिर अथवा बंधुत्व को निबाहने के लिए ही इस विप्लव कार्य में योग देते थे, इसी से उनके कार्य में वैसा उत्साह नहीं देखा जाता था और इसीलिए वे अधिकांश समय मुरझाए से रहते थे। ऐसा भाव देखकर हम उन्हें अधिक दिन यह विडम्बना नहीं भोगने देते और शीघ्र ही निर्विवाद रूप से आनंद भोगने का अवसर दे देते थे, जिससे वे छुटकारा पाकर शांति से दम ले सकें। प्रताप वैसे कर्तव्य की खातिर ही उस कार्य में योग नहीं देते थे। उन जैसे युवक मैंने बहुत ही कम देखे हैं। प्रताप स्वयं तो आनंद में रहते ही थे, उनके साथ रहने वाले भी आनंद पाते थे। बीच-बीच में उनका मन माता-पिता के लिए अधीर भी होता था। माया-मोह का एकदम अभाव होना एक बात है, और माया-मोह में लिप्त नहीं होना दूसरी बात। मनुष्य की दृष्टि से मैं तो उन्हीं को श्रेष्ठ कहूंगा, जिनके स्वभाव में माया-मोह की पूरी सत्ता है, किन्तु जो माया-मोह में लिप्त नहीं होते। इसी

से प्रताप को जब दु:खी देखता तब मेरे प्राणों में बड़ी ही व्यथा होती। किंतु कार्य क्षेत्र में जब देखता प्रताप सिंह किसी से भी पीछे नहीं है, तब फिर वैसा ही आनंद भी प्रतीत होता।

भले-बुरे का द्वंद्व भी प्रताप सिंह के अंत:करण में चरम अवस्था तक जा पहुंचा था। प्रताप सिंह के पकड़े जाने पर पुलिस बहुत दिन तक अनेक प्रकार के प्रलोभन दिखाकर उन्हें सब गुप्त बातें प्रकट कर देने के लिए विशेष तंग करती रही। पुलिस प्रताप सिंह से कहती कि सब गुप्त बातें कह देने पर केवल प्रताप को ही नहीं वरन् उनके पिता को भी छोड़ दिया जाएगा; यही नहीं उसके चाचा पर से भी मुकदमा उठा लिया जाएगा, उनकी सब संपत्ति फिर लौटा दी जाएगी, और इस सबके अलावा और भी कुछ पुरस्कार दिया जाएगा। प्रताप सिंह की माता ने कितना कष्ट पाया है, प्रताप सिंह के भी दंडित हो जाने से माता की अवस्था कैसी शोचनीय हो जाएगी और इस आघात को वे कैसे सह सकेंगी, यह सब बातें पुलिस अपनी स्वभावसिद्ध चतुराई के साथ बार-बार समझाती थी। पहले-पहल तो वे पुलिस के साथ ज्यादा देर ठीक तरह बात ही नहीं करते थे। बाद में उन लोगों के साथ प्रताप सिंह की करीब तीन-चार घंटे बातचीत हुई। हम सब पास की निर्जन कोठरी में बैठे-बैठे दम थामकर जमीन-आसमान की बातें सोचने लगे, संदेह हुआ कि अब की बार प्रताप फूट पड़ेगा। मुकदमा आरंभ होने पर हम सबको इकट्ठा रहने का सुयोग मिला तो मालूम हुआ कि प्रताप का मन बहुत विचलित हो गया था। यहां तक कि अंत में एक दिन प्रताप ने पुलिस से कह दिया कि वे एक दिन और सब बातों पर विचार कर लें फिर कहना होगा तो कह देंगे। किंतु अगले दिन जब पुलिस प्रताप से मिलने आई तो उन्होंने कहा, 'बहुत सोचा-विचारा, अंत में तय किया है कि कोई बात नहीं खोलूंगा। अभी तक तो केवल मेरी ही माता कष्ट पा रही हैं, किंतु यदि मैं गुप्त बातें प्रकट कर दूं तो और भी कितने लोगों की माताएं ठीक मेरी माता के समान दु:ख पाएंगी। एक मां के बदले और कितनी माताओं को तब हाहाकार करना होगा।' मन के एक बार नीचे फिसल पड़ने पर उसे फिर अपनी जगह लौटा लाना कितना कठिन कार्य है, यह चिंताशील व्यक्ति ही समझ सकते हैं।

पता नहीं आज भारत में कितने ऐसे पिता हैं, जो केसरी सिंह की तरह सब जान-बूझकर अपने को और अपनी संतान को इस प्रकार देश के कार्य में बलि दे सकेंगे। भारत का दुर्भाग्य है कि प्रताप जैसा युवक आज इस जगह में नहीं है। बरेली जेल में अंग्रेजों का दंड भोगते-भोगते उसका नश्वर शरीर उस दिव्य आत्मा के साथ नहीं निबाह सका। इसी प्रताप के साथ मैं दिल्ली गया था और कई दिन तक इकट्ठे काम करने का अवसर पाया था। उस समय प्रताप की आयु लगभग बाइस बरस की रही होगी।'[17]

रामनारायण चौधरी स्वतंत्रता संग्राम में तो सक्रिय थे ही; क्रांतिकारियों से भी उनका विशेष संपर्क रहा। वे क्रांतिकारियों में संदेशवाहक की भूमिका निभाते और जरूरत पड़ने पर उनकी यथायोग्य मदद करते। बहुमुखी प्रतिभा के धनी चौधरी ने प्रताप सिंह से जुड़े संस्मरणों का सिलसिलेवार ब्यौरा लिखा है:

> '1915 का साल शुरू हुआ था कि एक दिन अंधेरे-अंधेरे छोटेलाल जैन एक ऐनकधारी युवक को लेकर आए। छोटी-छोटी आंखें, सांवला रंग और ठिगना कद था। उन दिनों हिन्दुस्तानी फौज में गदर की तैयारी की जा रही थी। इसके संयोजक बाबू रासबिहारी बोस थे। उनका केंद्र बनारस था। एक खास काम के लिए उन्होंने शचीन्द्रनाथ सान्याल को दिल्ली भेजा था। प्रताप सिंह उनके साथ थे। इसी खास काम में एक संदेश ले जाने वाले की जरूरत थी। छोटेलाल की सलाह से प्रताप सिंह ने मुझे पसंद किया। दूसरे ही दिन प्रताप सिंह और मैं दिल्ली के लिए रवाना हो गए। बाहर के एक पुराने मकान की पहली मंजिल पर पहुंचे तो एक गठीले जवान ने हमारा स्वागत किया। वे सान्याल थे। एक कोठरी में अखबार बिछे थे। यही उनका बिस्तर था। शाम तक मुझे योजना का पता लग गया। वह यह थी कि भारत सरकार के होम मेम्बर सर रेजिनल्ड कैडक को गोली का निशाना बनाया जाए। यह काम करें जयचंद और मैं, जयचंद को हरिद्वार से बुला लाऊं। संकेत यह था कि जैसे ही कैडक वाली घटना के समाचार प्रकाशित हों, मेरठ वगैरह की भारतीय सेना विद्रोह कर दे। इसलिए मैं रात की गाड़ी से हरिद्वार के लिए चल पड़ा। भारत रक्षा कानून का शिकंजा इतना कड़ा था कि हर जगह पुलिस किसी युवक को देखते ही संदेह करती और उसे पूछताछ किए बिना आगे नहीं बढ़ने देती। लेकिन मेरी मारवाड़ी भेष-भाषा ने अच्छा काम किया। हरिद्वार में उन दिनों कुंभ का मेला था, परंतु काली कमली वाले बाबा का स्थान ढूंढ़ने में विशेष अड़चन नहीं हुई। हमारे जयचंद बाबा के दाहिने हाथ बने बैठे थे। देखते ही लिपट गए। लेकिन मेरे साथ दिल्ली चलने में असमर्थता प्रकट करते हुए बोले, 'यहां एक अच्छा दल तैयार कर लिया है। अभी कल परसों एक सफल डाका डाला है। हाथ में लिया हुआ काम छोड़कर जाना ठीक नहीं। हां, चाहो तो पांच-दस हजार रुपए ले जाओ। डाके का माल भी है और बाबा का भंडार भी भरपूर है।' धन लाने की मुझे आज्ञा नहीं थी। मैं खाली हाथ वापस आ गया। सान्याल और प्रताप को निराशा हुई। जो काम जयचंद्र के जिम्मे होने वाला था वह प्रताप सिंह को सौंपा गया। मगर संयोगवश कैडक उस तारीख को बीमार हो जाने से बाहर नहीं निकला और बच गया। मैं उसी रात को जयपुर लौट आया।'[18]

प्रताप सिंह को बनारस षडयंत्र केस में अभियुक्त बनाए जाने के बाद गिरफ्तारी वारंट जारी हो गए। वे इसके बाद फरार हो गए। रामनारायण चौधरी ने उस समय भी प्रताप तक पहुंचने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रताप के फरार होने और गिरफ्तारी के बारे में चौधरी ने लिखा:

> 'प्रताप सिंह पर बनारस षडयंत्र के सिलसिले में वारंट निकल गए और वे भागकर हैदराबाद (सिंध) में जा छिपे। खुफिया पुलिस तलाश करती हुई जयपुर पहुंची और एक ओसवाल गृहस्थ के पीछे पड़ी। कमजोरी में आकर उन्होंने हैदराबाद तो बता दिया मगर फिर संभलकर सिंध की बजाय निजाम की राजधानी का पता दे दिया। डिप्टी सुपरिंटेंडेंट आगे यह सुराग पाकर दक्षिण की ओर रवाना हुए। इधर, हमारी मंडली को प्रताप सिंह को बचाने की फिक्र हुई। इस बार भी मुझको चुना गया। मारवाड़ी पोशाक में चल पड़ा। मुझे हिदायत थी कि मारवाड़ के मनिमालिया स्टेशन पर उतरकर चारणों के गांव पाचेटिया में पहले तलाश कर लूं। शायद प्रताप सिंह वहां हों। हमारे देहाती समाज में अनजान लोगों से खूब पूछताछ होती है। इससे मेरे काम में बाधा पड़ रही थी। आखिर एक किस्सा गढ़ लिया और जो कोई पूछता उसी को सुनाकर पिण्ड छुड़ाता। गांव के निकट पहुंचते-पहुंचते मालूम हो गया कि जिस घर में प्रताप सिंह ठहरा करते थे, उसे पुलिस ने घेर रखा है। मैं समझ गया कि पंछी अभी पकड़ में नहीं आया है, मैं व्यर्थ में क्यों फंसूं। मैंने सिंध की राह ली। हैदराबाद में पहुंचकर दिन-भर की खोज के बाद प्रताप सिंह से भेंट हुई। उन्होंने एक खानगी दवाखाने में कंपाउंडर की जगह काम शुरू कर दिया था और फुर्सत के समय वाचनालयों में जाने वाले नौजवानों में क्रांतिकारी प्रचार करने में लग गए थे। दूसरे ही दिन हम दोनों बीकानेर के लिए चल पड़े। सोचा यह था कि मैं तो राजधानी में कोई नौकरी कर लूंगा, प्रताप सिंह कहीं देहात में जा बसेंगे और दोनों मिलकर विप्लववादी दल खड़ा करेंगे लेकिन एक गलती ने इस योजना पर पानी फेर दिया। जोधपुर स्टेशन पास आया तो प्रताप सिंह की इच्छा आशानाडा स्टेशन पर उतरकर वहां के स्टेशन मास्टर से मिल लेने की हुई। वह दल का सदस्य था। मगर कुछ दिन पहले उसके यहां बम का पार्सल पकड़ा जा चुका था और अपनी खाल बचाने को पुलिस का मुखबिर बन गया था। इसकी हमें किसी को खबर नहीं थी। तय यह हुआ कि मैं जोधपुर उतरकर शहर देख लूं और दूसरे दिन शाम की गाड़ी से बीकानेर के लिए चल पड़ूं। रास्ते में आशानाडा स्टेशन पर प्रताप सिंह को 'माधो' के नाम से पुकारूं। अगर कोई जवाब नहीं मिले तो समझ लूं कि प्रताप सिंह देहात में घुस गए हैं और मैं बीकानेर पहुंचकर उनका इंतजार करूं। लेकिन प्रताप सिंह तो आशानाडा उतरते ही गिरफ्तार कर लिए गए थे।'[19]

चौधरी के अनुसार, 'जितने विप्लववादी देशभक्तों से मेरा परिचय हुआ, उनमें प्रताप की छाप मुझ पर सबसे अच्छी पड़ी थी। वे बड़े कोमल स्वभाव के निहायत शिष्ट और सदा खुश रहने वाले जीव थे। गीता को उन्होंने जिस रूप में समझा था, उसी के अनुसार उनकी सारी चेष्टाएं होती थीं। धन और स्त्री की इच्छा को उन्होंने खूब जीता था। शरीर इतना सधा हुआ था कि जयपुर में जब वे मेरे पास रहे थे तो एक बार लगातार बहत्तर घंटे जागते रहे और बिना खाए-पिए बराबर काम करते रहे।'[20]

प्रताप को बनारस षडयंत्र केस में गिरफ्तार किया गया और 5 वर्ष के सश्रम कारावास की सजा हुई। बरेली के केंद्रीय कारागार में उन्हें अमानवीय यातनाएं दी गईं ताकि उनके सहयोगियों का नाम पता किया जा सके लेकिन उन्होंने मुंह नहीं खोला। 24 मई, 1918 को जेल में ही अंग्रेजों की कठोर यातनाओं के कारण वे शहीद हो गए।

इससे पहले 23 दिसम्बर, 1912 को दिल्ली के चांदनी चौक में वायसराय लॉर्ड हार्डिंग्स की सवारी पर बम फेंकने, 20 मार्च, 1913 के आरा-नीमेज हत्याकांड और 17 मई, 1913 को हुए लाहौर हत्याकांड सहित कई विप्लवी घटनाओं में शामिल लोगों की तलाश शुरू हुई तो अर्जुनलाल सेठी को गिरफ्तार कर लिया गया। दिल्ली बम कांड से जुड़े षडयंत्र केस में उन पर रासबिहारी और हरदयाल के साथ प्रमुख षडयंत्रकारी होने का आरोप लगाया गया।[21]

तत्कालीन पुलिस जांच रिपोर्ट के अनुसार, 'दिल्ली षडयंत्र केस और लाहौर षडयंत्र केस की जांच प्रक्रिया तब तक बहुत आगे नहीं बढ़ी जब तक यह रहस्योद्घाटन नहीं हुआ कि दोनों घटनाएं वास्तव में एक ही हैं। पुलिस ने गुप्त दल को तीन समूहों में बांटा। दिल्ली समूह में मास्टर अमीरचंद, अवध बिहारी, हनवंत सहाय और जयपुर से कड़ी जोड़ने वाला रामलाल उर्फ छोटेलाल शामिल थे। दीनानाथ, बालमुकुंद और बलराज लाहौर समूह में थे, जिनका संपर्क अवध बिहारी ने दिल्ली से जोड़ा था।'[22] पुलिस रिपोर्ट में कहा गया, 'दिल्ली षडयंत्र केस और लाहौर षडयंत्र केस की जांच के दौरान दिल्ली स्थित मास्टर अमीर चंद के घर से ऐसी सामग्री मिली जिनका इस्तेमाल बम फेंकने के लिए किया जा सकता था; जैसे बम मिदनापुर और भद्रेश्वर में दिसम्बर, 1913 में फेंके गए थे। अवध बिहारी के घर से भी क्रांतिकारी और विद्रोही साहित्य का भंडार मिला। साथ ही, एक बक्सा प्राप्त हुआ जिसमें रासबिहारी बोस का निजी सामान रखा हुआ था। वहां रामलाल नामक 19 वर्षीय युवक भी मिला जो विद्रोह पर लिखी हुई सावरकर की किताब और अरविंद घोष की प्रतिबंधित रचनाओं को अपने हाथ से लिखकर उनका अध्ययन कर रहा था। पुलिस कार्रवाई के दौरान पता चला कि वह जयपुर का निवासी था। रामलाल जैन समुदाय से संबंधित था और उसका असली नाम छोटेलाल था। उसे अर्जुनलाल सेठी नामक व्यक्ति ने बहकाकर घर से दूर भेज दिया था जो युवाओं को दिग्भ्रमित कर रहा था और जिसके राजनीतिक तार मास्टर अमीर चंद से जुड़े हुए थे। माना गया कि रामलाल को किसी राजनीतिक उद्देश्य से दिल्ली में रखा गया था और इसलिए उसे अत्यंत संवेदनशील मामले में शामिल पाया गया। उसे भविष्य में होने वाले किसी राजनीतिक विद्रोह के षडयंत्रकारी के रूप में देखा गया। तलाशी पूरी होने के बाद संदेह के आधार पर अवध बिहारी और रामलाल को गिरफ्तार कर लिया गया।'[23]

दिल्ली में वायसराय पर बम फेंके जाने की घटना की हुकूमत बहुत सख्ती से जांच कर रही थी। इसके संबंध में जब कुछ छात्र पकड़े गए और उनके स्थानों की तलाशी हुई तो हुकूमत को सेठी के छात्रों के नाम भी मालूम हो गए। सेठी तब जयपुर छोड़कर इंदौर रहने लगे थे। कुछ दिनों बाद सेठी के विद्यालय का एक छात्र शिव नारायण मुखबिर बन गया। वास्तव में वह सरकारी जासूस था और इंदौर में सेठी का विश्वासपात्र बन गया था। उसने अधिकारियों को नीमेज कांड का भेद बता दिया। जोरावर सिंह फरार हो गए लेकिन मोतीचंद, माणकचंद और जयचंद पकड़ लिए गए।[24]

21 मई, 1914 से 1 सितम्बर, 1914 तक सत्र न्यायालय में 11 व्यक्तियों के खिलाफ मुकदमा चला। दिल्ली जिला न्यायालय के प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट रह चुके वी. कॉनोली मामले की सुनवाई कर रहे थे। षडयंत्र के आरंभ होने की तारीख 1 अक्टूबर, 1911 बताई गई। यह दलील दी गई कि 1913 तक भारतीय दंड संहिता में धारा 120 बी को नहीं जोड़ा गया था, जिसके कारण यह अपराध संशोधन होने तक दंडनीय नहीं था। बाद में किसी तरह की गलतफहमी से बचने के लिए 11 जुलाई, 1914 को अभियुक्तों के खिलाफ लगाए गए आरोपों को बदल दिया गया। 11 अभियुक्तों पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने एक-दूसरे के साथ और दीनानाथ, सुल्तानचंद, रासबिहारी बोस, हरदयाल, अर्जुनलाल सेठी, हरिराम सेठी तथा अन्य अज्ञात लोगों के साथ हत्या करने को लेकर सहमति जताई थी। दूसरा आरोप यह था कि उनका संबंध उस षडयंत्र से था जिसे अंजाम देने के लिए 17 मई, 1913 को लाहौर में राम पदारथ नामक व्यक्ति की हत्या की गई। इन अभियुक्तों में से दीनानाथ और सुल्तान चंद को सशर्त क्षमादान दे दिया गया, रासबिहारी बोस को फरार पाया गया, हरदयाल लंबे समय से ब्रिटिश भारत से बाहर थे, अर्जुनलाल सेठी और हरिराम सेठी को गिरफ्तार नहीं किया जा सका क्योंकि उनके खिलाफ पर्याप्त सूबत नहीं मिल पाए।[25] वहीं, समकालीन दस्तावेजों के अनुसार सेठी के खिलाफ सबूत नहीं मिलने पर भी उन्हें गिरफ्तार करके जयपुर में रखा गया।

सेठी के विद्यालय में चलने वाली गतिविधियों से ब्रिटिश हुकूमत घबरा उठी। राजपूताना के तत्कालीन ए.जी.जी. ए.सी. आर्मस्ट्रांग ने 7 अगस्त, 1914 को जयपुर के महाराजा माधो सिंह को पत्र लिखकर इस विद्यालय की गतिविधियों पर रोक लगाने की आवश्यकता पर जोर दिया। ए.जी.जी. ने लिखा, 'यह व्यक्ति (अर्जुनलाल सेठी) असाधारण बुद्धि और योग्यता वाला जैनी है। उसने एक समिति की स्थापना कर 'जैन वर्धमान विद्यालय' के नाम से एक स्कूल खोला है। इस विद्यालय के साथ एक बोर्डिंग हाउस भी है जो अब राजद्रोह के प्रशिक्षण का केन्द्र बन गया है। इस बोर्डिंग हाउस के तीन छात्र 1913 में हुए 'आरा हत्याकांड' में लिप्त पाए गए हैं और चौथा रामलाल दिल्ली में अमीर चंद के घर से गिरफ्तार किया गया है जो निस्संदेह दिल्ली षडयंत्र केस से जुड़ा हुआ है। इस संबंध में की गई जांच-पड़ताल से यह जाहिर है कि अर्जुनलाल का उद्देश्य क्रांति लाना ही है। वह अकेला ही इस काम में नहीं लगा है बल्कि दिल्ली के अमीर चंद से तो उसका संपर्क है ही; उसके संबंध राजपूताना के केसरीसिंह बारहठ और विशनदत्त से भी हैं। अर्जुनलाल के संबंध पहले केसरी सिंह से बने

और उसकी मार्फत वह विष्णु दत्त के संपर्क में आया। केसरी सिंह का पुत्र प्रताप सिंह भी जयपुर में अर्जुनलाल के विद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहा है।'

ए.जी.जी ने पत्र में आगे लिखा, 'जैसा कि मैं लिख चुका हूं अर्जुनलाल जैन समाज का एक बहुत ही प्रभावशाली नेता है और इसका प्रभाव पूरे भारत में है। एक धर्म प्रचारक और शिक्षाविद् के रूप में उसकी बहुत ख्याति है। गत कई वर्षों से यह देखा जा रहा है कि सभी महत्वपूर्ण जैन सम्मेलनों में भाषण देने के लिए उसे बुलाया जाता है। जाहिर है कि अर्जुनलाल राजद्रोह की भावना के जो बीज बो रहा है, वे अन्य जैन संस्थाओं जैसे एटा की तत्व प्रकाशिनी सभा तथा होशियारपुर के ब्रह्मचारी आश्रम में भी अपना असर दिखा रहे हैं। आरा हत्याकांड में लिप्तता के आरोप में अर्जुनलाल इस समय बंदी है और इस सिलसिले में उस पर शीघ्र ही जयपुर में मुकदमा चलाया जाएगा।'[26]

सेठी मार्च, 1914 में गिरफ्तार किए गए थे लेकिन गिरफ्तारी का आदेश आर्म स्ट्रॉंग के पत्र के बाद 5 दिसम्बर, 1914 को जयपुर महाराजा ने जारी किया, 'हमारी राय में यह अच्छी तरह साबित होता है कि अर्जुनलाल सेठी राजनीतिक षडयंत्रों में संलग्न है। यह रियासत द्वारा 9 जून, 1909 को जारी नोटिस का उल्लंघन करता है। ऐसे व्यक्ति को खुला रखना खतरनाक है और इसलिए हम यह उचित समझते हैं कि वह कुछ समय तक हिरासत में रहे। अत: आदेश दिया जाता है कि अर्जुनलाल सेठी को 5 वर्ष या जब तक कोई अन्य आदेश नहीं दिया जाए तब तक नजरबंद रखा जाए।'[27]

सेठी को दस महीने इंदौर जेल में रखा गया। इसके बाद जयपुर लाकर कैद किया गया। सेठी की गिरफ्तारी के खिलाफ जगह-जगह आंदोलन शुरू हो गए। इसके बाद उन्हें वेलूर जेल भेज दिया गया। सेठी से जेल में परिजन नहीं मिल सकते थे और पूजा-पाठ की अनुमति नहीं थी। इसके कारण उन्होंने राजनीतिक कैदियों के साथ दुर्व्यवहार के खिलाफ 70 दिनों तक लगातार अनशन किया।[28]

इसी दौरान गांधी का दक्षिण अफ्रीका छोड़कर भारत की सक्रिय राजनीति में प्रवेश हुआ। नवम्बर, 1914 के पहले पखवाड़े में 'इंडियन ओपिनियन' ने सूचना दी कि कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए गांधी का नाम उम्मीदवारों में शामिल है।[29] गांधी उन दिनों बीमार चल रहे थे। इसके बावजूद 9 जनवरी, 1915 को कस्तूरबा के साथ बम्बई के अपोलो बंदरगाह पर उतरे। उन्होंने उसी दिन बॉम्बे क्रॉनिकल और टाइम्स ऑफ इंडिया के पत्रकारों से कहा कि वे गोपालकृष्ण गोखले की सलाह का पालन करेंगे; साथ ही, भारत में कुछ समय तक स्थिति का अवलोकन करेंगे और अध्ययन करेंगे। लेकिन 11 जनवरी को घाटकोपर, बम्बई में हुए स्वागत समारोह से गांधी की नई राजनीतिक यात्रा प्रारंभ हुई जिसने आने वाले तीन दशकों से अधिक समय के लिए पूरे भारत को अपने सम्मोहन में बांध लिया। यह एक नए युग का आगमन था जिसके कारण आखिरकार सशस्त्र क्रांति ने सत्याग्रह का रूप लिया। कांग्रेस सुझाव देने और मांगने वाली संस्था से देश में स्वतंत्रता के लिए प्रतिबद्ध राजनीतिक मंच के रूप में सामने आई। गांधी की कही हर बात देश में ध्यान से सुनी और मानी जाने लगी। सशस्त्र क्रांति की धाराएं आ-जा रही थीं। यहां तक कि अंडमान में काला पानी भुगत रहे

क्रांतिकारी वहां से किसी तरह छूटकर राजनीतिक सुधारों के अवसर का देशहित में लाभ उठाना चाहते थे। क्रांतिकारी यह भी सोचते थे कि ब्रिटिश हुकूमत कभी भी यह मौका नहीं देगी, इसलिए अंततः क्रांति का मार्ग ही ग्रहण करना पड़ेगा।[30]

क्रांतिकारी शचीन्द्रनाथ सान्याल इसी तरह ब्रिटिश हुकूमत के अनुकूल पत्र लिखकर अंडमान से छूटे। विनायक दामोदर सावरकर ने भी ऐसा ही पत्र लिखा लेकिन उन्हें नहीं छोड़ा गया। सान्याल के अनुसार, 'सावरकर और उनके दो-चार साथियों की गिरफ्तारी के बाद महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आंदोलन समाप्त-सा हो गया था। इसलिए सरकार को यह डर था कि यदि उन्हें छोड़ दिया जाए तो ऐसा नहीं कि फिर महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आंदोलन प्रारंभ हो जाए।'[31]

इस तरह, क्रांतिकारी अपने तरीके से मौका पाकर फिर सक्रिय हो जाते थे। बंगाल में अनुशीलन समिति से जुड़े हुए क्रांतिकारी लेखों और पुस्तकों वगैरह से क्रांति की भावना फैलाने की कोशिशें कर रहे थे। सान्याल अंडमान से लौटकर फिर क्रांतिकारी साथियों से मिलने-जुलने लगे। रासबिहारी बोस पंजाब में एक अच्छा संगठन खड़ा कर चुके थे। इसी बीच गांधी के राजनीतिक क्षेत्र में उद्भव से भारत की स्थितियां एकदम बदलीं। राजनीतिक-क्रांतिकारी आंदोलनों से जाग रही जनता को गांधी के रूप में एक शांत लेकिन सशक्त नेतृत्व मिला। बाल गंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले जैसे नेताओं की मृत्यु के बाद मदनमोहन मालवीय, चितरंजन दास, लाला लाजपत राय, मोतीलाल नेहरू, विपिनचंद्र पाल जैसे नेता सक्रिय तो थे और राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावित भी करते थे लेकिन गांधी को सक्रियता ने भारतीय राजनीति का केंद्र बिन्दु बना दिया। गांधी ने क्रांतिकारियों से अपील की कि वे गुप्त मार्ग छोड़कर यदि उनके रास्ते पर आ जाएं तो देश का बहुत कल्याण होगा।[32] क्रांतिकारी कुंदनलाल गुप्त के अनुसार, 'गांधी ने भारत में अहिंसात्मक युद्ध का प्रयोग करने के लिए क्रांतिकारियों से एक वर्ष का समय मांगा। क्रांतिकारियों ने यह समय देने तथा उस बीच हिंसात्मक कार्य नहीं करने का वचन दिया था। यह एक वर्ष कब का बीत चुका था। गांधी का असहयोग आंदोलन असफल हो चुका था और कांग्रेस ने जनता की सीधी लड़ाई छोड़कर विधानसभाओं की कानूनी लड़ाई का रास्ता अपना लिया था। इसलिए बंगाल के क्रांतिकारियों ने फिर से मुक्ति संग्राम की तैयारी शुरू कर दी।'[33]

सेठी की गिरफ्तारी की व्यापक प्रतिक्रिया हुई। 10 फरवरी, 1915 को लीडर में लिखा गया, 'क्या लाट साहब से पं. अर्जुनलाल सेठी के मामले की जांच करके उन पर और उनके द्वारा समस्त जाति पर न्याय करने के लिए हमारी प्रार्थना व्यर्थ जाएगी।' प्रसिद्ध संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी ने प्रताप में लिखा, 'सेठी की हिरासत इसलिए कहीं अधिक भयंकर समझते हैं क्योंकि इसमें महीनों तक इस तरह हिरासत में पड़े रहने पर भी दोष और रिहाई का कुछ भी पता नहीं देना व्यक्तिगत स्वाधीनता को कहीं अधिक पददलित करना है।[34]

1916 की शुरुआत में गांधी ने ब्रिटिश हुकूमत के समक्ष सेठी की गिरफ्तारी के विषय को उठाया। गांधी के अनुसार सेठी के खिलाफ सरकार के पास निश्चित सबूत होने के कारण उनका उत्साह ठंडा पड़ गया।[35] 1917 के कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में अध्यक्ष एनी बेसेंट

की पहल पर प्रस्ताव पारित करके धार्मिक कारणों से वेलूर जेल में आमरण अनशन कर रहे सेठी के प्राण बचाने के लिए हुकूमत से हस्तक्षेप करने की मांग की गई। बेसेंट ने वायसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड से मिलकर सेठी को रिहा करने का आग्रह किया।[36]

गांधी द्वारा चलाए गए चंपारन और खेड़ा जैसे आंदोलनों की सफलता से पैदा हुई क्रांति की लहर जयपुर तक पहुंची। अर्जुनलाल सेठी और उनके समकालीन क्रांतिकारी तथा भारत की राजनीति में भाग लेने वाले लोग गांधी के मार्ग पर चलने को उद्यत हुए। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन का स्वरूप गांधी के प्रभाव के कारण बदलने लगा था। यह प्रभाव जयपुर में भी स्पष्ट रूप से देखने को मिला। यही सोच आगे चलकर जयपुर प्रजामंडल की स्थापना की आधारशिला बनी।

इधर, अर्जुनलाल सेठी एक अनिश्चितकालीन कारावास काट रहे थे। जयपुर महाराजा के 4 दिसम्बर, 1914 के आदेश के अनुसार सेठी को 3 दिसम्बर, 1919 को जेल से रिहा कर दिया जाना चाहिए था; लेकिन वे गिरफ्तारी के लगभग 6 वर्ष बाद 1920 में रिहा किए गए। उनके जेल से निकलने के बाद बालगंगाधर तिलक के नेतृत्व में पूना स्टेशन पर स्वागत समारोह का आयोजन हुआ। सेठी को देखते ही तिलक ने अपना दुपट्टा निकालकर उनके गले में डाल दिया और कहा, 'महाराष्ट्र के लोग सेठीजी को देखकर फूले नहीं समाते। ऐसे देशभक्त और कठोर तपस्वी का स्वागत करते हुए महाराष्ट्र अपने को धन्य समझता है।'[37] इस तरह की क्रांतिकारी सोच के बावजूद जो क्रांतिकारी 1920-21 के बाद जेलों से छूटकर आए तो उन्हें विप्लवी संगठनों की ओर से कोई खुला कार्यक्रम नहीं मिला। इसलिए उनमें से अनेक गांधी के साथ हो गए और देश की आजादी के लिए कांग्रेस के सभी आंदोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे। अर्जुनलाल सेठी के ही एक साथी लाला हनुमंत सहाय दिल्ली षडयंत्र केस की सजा काटकर आए तो दिल्ली कांग्रेस के अध्यक्ष बने। सेठी ने कांग्रेस का अजमेर सूबा संभाला।

एक साल बाद सविनय अवज्ञा आंदोलन में सेठी फिर गिरफ्तार हुए और लगभग एक साल से ज्यादा जेल में रहे। 1921-22 में सागर जेल में रहने के दौरान सेठी को अमानुषिक यातनाएं दी गईं। सेठी के पुत्र ने गांधी को इसकी सूचना दी, 'खबर मिली है कि मेरे पिता के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा है। वे घातक निमोनिया रोग से पीड़ित हैं। बीमारी के बावजूद उनसे चक्की चलवाई गई। उन्हें अंडे खाने और शराब पीने के लिए मजबूर किया जा रहा है।' गांधी ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने लिखा, 'कोई भी यह देख सकता है कि वे इतने कमजोर हैं कि उन्हें चक्की चलाने का काम नहीं दिया जा सकता। किसी रोगी को ब्रांडी या अंडे लेने को मजबूर करना धर्म के विरुद्ध एक अपराध है।' गांधी ने इस बात पर दु:ख व्यक्त किया कि सेठी के हिस्से में जेलों में धार्मिक उत्पीड़न सहना आया है।[38]

सेठी जेल से छूटे तो उनके जयपुर प्रवेश पर पाबंदी लगी हुई थी। इसलिए उन्होंने जयपुर की जगह अजमेर को केंद्र बना लिया। वे फिर कांग्रेस में सक्रिय हुए। 1925 के कानपुर कांग्रेस अधिवेशन के लिए अजमेर सूबे से निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों में उनके सहयोगियों को बहुमत मिला लेकिन कांग्रेस कार्यसमिति ने अजमेर के चुनाव को मान्यता नहीं दी। सेठी के

नेतृत्व में इस फैसले के खिलाफ अधिवेशन स्थल पर सत्याग्रह किया गया तो उन पर लाठियों से हमला हुआ। इस घटना के बाद गांधी अन्य वरिष्ठ नेताओं के साथ सेठी से मिलने आए। गांधी ने दु:ख प्रकट करते हुए प्रायश्चित स्वरूप उपवास पर बैठने की इच्छा प्रकट की लेकिन सेठी ने ऐसा नहीं करने का निवेदन किया। इस प्रकरण के बारे में सेठी ने स्वतंत्रता सेनानी अयोध्या प्रसाद गोयलीय को बताया, 'इस कांड से जनता बहुत क्षुब्ध हो गई थी और एक युवक तो मेरे पांव छूकर महात्मा गांधी की हत्या को उद्यत हो गया था। बड़ी मुश्किल से मैंने उसे रोका।'[39] दूसरी ओर, उनका क्रांतिकारियों से संपर्क बना हुआ था।

1924 में क्रांतिकारी नौजवान शौकत उस्मानी रूस से लौटकर आए तो सेठी ने उन्हें अपने घर में पनाह दी। 1925 में काकोरी कांड के फरार अशफाकउल्लाह खान को भी सेठी ने जयपुर में छिपाकर रखा। क्रांतिकारियों का गुप्त अड्डा अजमेर में आनासागर के किनारे आंतेड़ की पहाड़ियों के नीचे स्थापित किया गया। कोई भी खतरा होने पर यहां आने वाले क्रांतिकारी ब्रिटिश इलाके की सीमा पार करके जयपुर या किशनगढ़ की रियासतों में चले जाते थे।[40]

कई षडयंत्रों के सिलसिले में प्रताप सिंह के नाम वारंट जारी हो चुके थे। इसलिए वे हैदराबाद-सिंध चले गए। वहां उन्होंने एक डॉक्टर की दुकान पर नौकरी कर ली। साथ ही, वे सिंधी नवयुवकों में क्रांतिकारी भावना फैलाने के काम में भी लगे हुए थे। लेकिन हुकूमत को उनके बारे में पता चल गया। इसलिए प्रताप सिंह को हैदराबाद से बीकानेर लाने के लिए रामनारायण चौधरी को भेजा गया। जब ये दोनों हैदराबाद से लौट रहे थे तो जोधपुर के पास आशानाड़ा स्टेशन मास्टर से मिलने चले गए। यह स्टेशन मास्टर क्रांतिदल का पुराना सदस्य था। लेकिन उसने विश्वासघात करके पुलिस को सूचना दे दी और प्रताप सिंह को गिरफ्तार करवा दिया। गिरफ्तार करने के बाद पुलिस उन्हें बनारस ले गई क्योंकि उन्हें बनारस षडयंत्र केस का अभियुक्त बनाया गया था।[41] एक बार अजमेर पुलिस को चंद्रशेखर आजाद के आने का सुराग मिल गया था। पुलिस ने धोखे में किसी अन्य व्यक्ति को गिरफ्तार कर लिया था। सेठी को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने आजाद को अपने संरक्षण में रखा और अजमेर से सुरक्षित रवाना किया।[42]

आजाद के जयपुर आकर छिपे रहने के भी उल्लेख हैं। कहा जाता है कि चांदपोल बाजार के बाबा हरिश्चंद्र मार्ग स्थित शिवनारायण मिश्र की गली में मुक्तिनारायण शुक्ल की हवेली थी, जिसे क्रांतिकारियों के ठहरने और हथियार रखने के लिए उपयोग में लिया जाता था। शुक्ल के पुत्र अवधेश नारायण ने लिखा है कि उनके पिता ने आजाद को अपना रिश्तेदार बताकर लगभग दो महीने तक अपने पास रखा था। ब्रिटिश हुकूमत को आजाद के जयपुर में छिपे होने की जानकारी मिल गई थी। शुक्ल को यह पता चला तो उन्होंने आजाद को अपने 14 वर्षीय पुत्र अवधेश नारायण के साथ साइकिल से रवाना कर दिया। ब्रिटिश अधिकारियों के वहां पहुंचने से पहले गलियों में साइकिल चलाते हुए आजाद कानोता रेलवे स्टेशन पहुंच गए और वहां से आगरा की ट्रेन पकड़कर रवाना हो गए।

सेठी का 1923 से 1933 का काम काफी दु:खदायी रहा। उनके खिलाफ षडयंत्र किए गए और विरोधियों ने जनता की नजरों से गिराने का प्रयत्न किया। भारी विरोध के बावजूद

सेठी 1930 में प्रांतीय डिक्टेटर की हैसियत से जेल गए। 1931 में रिहाई के बाद ब्यावर में उनका भव्य स्वागत हुआ। सितम्बर, 1931 में तेजाजी के मेले के अवसर पर ब्यावर में हुए प्रथम राजपूताना किसान मजदूर सम्मेलन भी सेठी की अध्यक्षता में हुआ। 5 जुलाई, 1934 को गांधी अजमेर आए तो सेठी से मिलने उनके घर गए। उन्होंने सेठी से प्रांतीय राजनीति में फिर सक्रिय होने का आग्रह किया। 9 सितम्बर, 1934 को वे राजपूताना और मध्य भारत प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के प्रांतपति चुने गए। दस साल बाद यह पहला अवसर था जब सेठी के अलावा विजयसिंह पथिक, बाबा नृसिंह दास, हरिभाऊ उपाध्याय, स्वामी कुमारानंद, जयनारायण व्यास जैसे नेता एक साथ मंच पर बैठे। आगे जाकर वह चुनाव भी रद्द घोषित हो गया।[43] प्रांतीय झगड़ों से परेशान सेठी ने अफ्रीका चले जाने का निश्चय किया लेकिन जा नहीं सके। ब्यावर जिले में हड़ताल होने के कारण वे फिर सक्रिय हुए लेकिन वह भी अस्थाई सिद्ध हुआ। इस दौरान वे जैन परिषद के खंडवा अधिवेशन में भी सम्मिलित हुए। उन्होंने अंतिम बार 13 अगस्त, 1939 को ब्यावर में जैनिज्म और सोशलिज्म पर भाषण दिया।[44]

सेठी ने ऐसे समय इस पथ पर पांव रखा, जब वंदेमातरम् बोलना भी अपराध समझा जाता था। लेकिन उन्हें भारत की पराधीनता ने बेचैन किया हुआ था। वे ब्रिटिश शासन को इस देश के लिए अभिशाप समझते थे और हर उचित तरीके से उसका अन्त करना चाहते थे।[45] सेठी का सारा जीवन त्याग, बलिदान, कष्ट और तपस्या का रहा। बड़ी से बड़ी विरोधी शक्ति भी उन्हें कर्मपथ से विचलित नहीं कर सकी। दधीचि का सा त्याग और दृढ़ता लेकर वे जन्मे और उसी दृढ़ता में उन्होंने मृत्यु को गले लगाया। यदि वे जरा भी समझौता कर सकते तो जयपुर के प्राइम मिनिस्टर, कांग्रेस वर्किंग कमेटी के मेम्बर और जैन समाज के सर्वमान्य नेता हो सकते थे।[46] पूरे प्रांत में 22 मार्च, 1942 को सेठी शोक दिवस मनाया। इस दिन शोकसभाएं और शोक जुलूस निकाले गए। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी सेठी के निधन पर शोक प्रस्ताव पारित किया। हालांकि सेठी के निधन के बाद 24 अक्टूबर, 1948 को जयभूमि में एक लेख प्रकाशित हुआ, 'क्या सेठी को जहर देकर मारा गया? क्या उन्होंने इस्लाम ग्रहण कर लिया था? क्या लाला लाजपत राय पर लाठियों से वार करने वाले सांडर्स की हत्या जिस पिस्तौल से की गई थी उसको भगत सिंह से लेकर चन्द्रशेखर आजाद ने दो दिनों तक सेठी के मदारगेट वाले मकान पर पुलिस की आंखों में धूल झोंककर छिपा रखा था?'[47]

22 दिसम्बर, 1941 को सेठी की मृत्यु हुई; उस समय जापान ने लड़ाई छेड़ दी थी। जापानी सेना तेजी से भारत की ओर बढ़ रही थी। उस समय सुभाषचंद्र बोस और जर्मनी तथा जापान में रहने वाले भारतीय क्रांतिकारी अपनी तैयारियों में लगे हुए थे। सरकार को डर था कि सेठी चिंगारी का काम नहीं कर बैठें। मृत्यु से एक दिन पहले सेठी से उनके पुत्र प्रकाशचंद्र ने मुलाकात की, तब सेठी की हालत बिगड़ी हुई नहीं थी। सेठी की मृत्यु की खबर भी तीन दिन बाद दी गई। तत्कालीन उप अधीक्षक मुमताज हुसैन गर्व से कहा करता था कि अजमेर की कांग्रेस उसकी पैंट की जेब में है, उसने सेठी के शव को चुपचाप दफनवा दिया। सेठी

का सामान भी उनके घर वालों को नहीं दिया गया।[48] सेठी की मृत्यु को लेकर संशय बना रहा। जयनारायण व्यास ने जनवरी, 1942 के प्रजासेवक में लिखा, 'सेठी को उन परिस्थितियों में जीवन समाप्त करना पड़ा, जिनमें किसी प्रांतीय नेता के जीवन का अंत प्रांत के लिए गौरव की बात नहीं हो सकती।'

दरअसल, क्रांतिकारी गतिविधियों में सक्रिय रहने के कारण सेठी राजनीतिक षडयंत्र और अर्थाभाव से थक चले थे। वे कष्टमय जीवन बिताते हुए मौत के मुंह में जाते चले गए। सेठी आगे जाकर जयपुर आते रहे लेकिन तब वे बीमार रहने लगे थे। लोग मानते थे कि सेठी सुध-बुध खो रहे हैं। यह एक ऐसे विद्वान क्रांतिकारी की अवसान वेला थी, जो कभी अपने 25 वर्ष के बेटे को मौत के मुंह में छोड़कर आजादी की लड़ाई में भाग लेने बम्बई चले गए थे और एक सभा को संबोधित करने के दौरान बेटे की मृत्यु का तार मिला तो मोड़कर जेब में रख लिया तथा भाषण जारी रखा। वे इतने लोकप्रिय थे कि जब ट्रेन से सिवनी जेल ले जाए जाने लगे तो जनता ट्रेन के आगे लेट गई। सेठी के कहने पर ही लोग वहां से हटे। उन्होंने कांग्रेस की राजनीति में समर्पण से लेकर संघर्ष और राजनीतिक उत्पीड़न से लेकर गरीबी का दौर देखा। वे अनजान परिस्थितियों में मौत का शिकार हुए।

छोटेलाल जैन दिल्ली षडयंत्र केस में निर्दोष साबित हुए। आगे जाकर साबरमती आश्रम में गांधी के सहयोगी के रूप में सक्रिय हुए। उन्होंने चरखा संघ के प्रचार-प्रसार का काम किया। मद्रास में हिन्दी का प्रचार भी किया। साबरमती में ही उनका निधन हो गया। गांधी ने छोटेलाल की मृत्यु पर शोक संदेश लिखा:

> 'साबरमती-सत्याग्रह आश्रम के निवासी और संबंधी कुछ इस तरह बिखरे पड़े हैं कि उन्हें एक-दूसरे की प्रवृत्ति का पता तक नहीं रहता। खास संबंध जोड़ने या उसे यत्नपूर्वक रखने की प्रथा नहीं डाली गई। संबंध केवल सेवा संबंधी रहा है। कहने का यह आशय नहीं कि सब ऐसा ही करते हैं; किन्तु मूक सेवा में मगनलाल गांधी के साथ बराबरी करने वाले आश्रमवासी छोटेलाल जैन का आत्मघात, इन शब्दों को लिखते हुए अंदर से मुझे काट रहा है। छोटेलाल की मूक सेवा का वर्णन भाषाबद्ध नहीं हो सकता। ऐसा करना मेरी शक्ति से बाहर है। छोटेलाल का कोई परिचय देता तो वह भागते थे। उनकी मृत्यु के विषय में उनके सगे-संबंधी भी जानना चाहेंगे। लेकिन आश्रम में आने के बाद छोटेलाल का कभी किसी दिन अपने संबंधियों के पास जाने का या आश्रम में उनके रिश्तेदारों के आने का मुझे स्मरण नहीं आता। उनके नाम व पते-ठिकाने भी नहीं जानता तो भी उनके पास आश्रम की खबर पहुंचाने का तो मेरा कर्तव्य है ही। उनकी खातिर भी इस टिप्पणी का लिखना उचित है और छोटेलाल की मृत्यु संबंधी इस टिप्पणी के साथ भला कौन ईर्ष्या करेगा?
>
> मेरे सौभाग्य से मुझे कुछ ऐसे योग्य साथी मिले हैं कि उनके बिना मैं

अपने को अपंग अनुभव करता हूं। छोटेलाल मेरे ऐसे ही साथ थे। उनकी बुद्धि तीव्र थी। उन्हें कोई भी काम सौंपते मुझे हिचकिचाहट नहीं होती थी। वे भाषाशास्त्री भी थे। राजपूताना निवासी होने से उनकी मातृभाषा हिन्दी थी। पर वे गुजराती, मराठी, बंगाली, तमिल, संस्कृत और अंग्रेजी भी जानते थे। नई भाषा या नया काम हाथ में लेने की उनकी जैसी शक्ति मैंने और किसी में नहीं देखी। आश्रम के स्थापना काल से ही छोटेलाल ने उससे अपना संबंध जोड़ लिया था।

रसोई बनाना, पाखाना साफ करना, कातना, बुनना, हिसाब-किताब रखना, अनुवाद करना, चिट्ठी-पत्री लिखना आदि सब कामों को वह स्वाभाविक रीति से करते और वे उन्हें शोभते थे। मगनलाल के लिखे 'बुनाई शास्त्र' में छोटेलाल का हिस्सा मगनलाल के जितना ही था, यह कहा जा सकता है। चाहे जैसे जोखिम का काम उन्हें सौंपा जाए उसे वह प्रयत्नपूर्वक करते और जब तक वह पूरा न हो जाए, उन्हें शांति नहीं मिलती थी। अविश्रांत रीति से काम करते हुए भी छोटेलाल दूसरा काम लेने को हमेशा तैयार रहते थे। उनके शब्दकोष में 'थकान' के लिए स्थान नहीं था। सेवा करना और दूसरों से सेवा कार्य लेना यह उनका मंत्र था। ग्राम उद्योग संघ स्थापित हुआ तो घानी का काम दाखिल करने वाले छोटेलाल, धान दलने वाले छोटेलाल और मधुमक्खियां पालने वाले भी छोटेलाल। जिस तरह छोटेलाल के बगैर मैं अपंग जैसा हो गया हूं ऐसी ही स्थिति आज उनकी मधुमक्खियों की भी होगी; क्योंकि यह नोट लिखते समय मुझे पता नहीं कि उनके इस परिवार की अब इतनी सार-संभाल कौन रखेगा।

छोटेलाल मधुमक्खियों के पीछे जैसे दीवाने हो गए थे। उनकी शोध में उन्हें हल्के प्रकार के मियादी बुखार (टाइफाइड) ने पकड़ लिया। यह उनके प्राणों का गाहक निकला। मालूम होता है, उन्हें छह-सात दिन अपनी सेवा करवाना भी असह्य लगा। अत: 31 अगस्त, मंगलवार की रात को ग्यारह और दो बजे के बीच में सबको सोता हुआ छोड़कर वह मगनवाड़ी के कुएं में कूद पड़े। आज पहली तारीख को शाम के चार बजे लाश हाथ में आई। मैं सेगांव में बैठा रात के आठ बजे यह लिख रहा हूं। छोटेलाल की देह का इस समय वर्धा में अग्निदाह हो रहा है।

इस आत्मघात के लिए छोटेलाल को दोष देने की मुझ में हिम्मत नहीं। छोटेलाल तो वीर पुरुष थे। उनका नाम 1915 के दिल्ली षडयंत्र केस में आया था; पर उसमें वह बरी हो गए थे। किसी ऑफिसर को मारकर खुद फांसी के तख्ते पर चढ़ने का स्वप्न वह उन दिनों देखते थे। इतने में मेरे लेखों के पाश में आ फंसे। दक्षिण अफ्रीका के मेरे जीवन से उन्होंने परिचय प्राप्त कर लिया था। अपनी तीव्र हिंसक बुद्धि को उन्होंने बदल दिया और अहिंसा के पुजारी

बन गए। जिस तरह सांप केंचुल उतार देता है उसी तरह उन्होंने अपने हिंसक जीवन की खोल उतारकर फेंक दी। इतना होते हुए भी वह अपने मन से क्रोध नहीं जीत सके। उन्हें इस बीमारी में अपनी सेवा लेना असह्य मालूम दिया और गहरी पैठी हुई हिंसा को खुद अपनी बलि दे दी। इसके सिवाय, दूसरा अर्थ मैं इस आत्मघात का नहीं लगा सकता।

छोटेलाल मुझे अपना देनदार बनाकर 45 वर्ष की उम्र में चल बसे। उनसे मैं अनेक आशाएं रखता था। उनकी अपूर्णता मैं सहन नहीं कर सकता था, इससे छोटेलाल ने मेरे बाग्बाण (मेरी बोली के बाण) जितने सहन किए उतने तो शायद मैंने एक-दो को ही सहन कराए होंगे। पर छोटेलाल ने उन्हें सदैव सहन किया। परंतु ऐसे वचन सुनाने का मुझे क्या अधिकार था? मुझे तो उन्हें हिन्दू-मुसलमान की लड़ाई में या हिन्दू धर्म में से अस्पृश्यता रूपी कचरा निकाल बाहर करने में या गोमाता की सेवा में होम कर उनका लहना चुकाना था। ऐसा करने की शक्ति रखने वाले साथियों में छोटेलाल एक ऊंचा स्थान रखते थे। मेरे लिए तो ये सब स्वराज की वेदियां हैं। पर छोटेलाल की मृत्यु का रोना रोकर अब क्या करूं? ऐसे अनेक मूक योद्धाओं की आवश्यकता होगी। रामराज्य रूपी स्वराज लेना आसान नहीं। छोटेलाल के जीवन के इस छोटे-से टुकड़े का परिचय पाकर दूसरे मूक सेवक आगे आएं।'[49]

इस तरह सेठी ने अपने विद्यालय, क्रांतिकारियों और नेताओं से संपर्क और राष्ट्रीय भावना के प्रचार-प्रसार के जरिए जयपुर में जनजागृति की जो लौ जलाई, वह जलती रही।

संदर्भ सूची

1. जीवनलाल: सरगुजिश्ते-देहली, रामपुर रजा लाइब्रेरी, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 23
2. वही, पृष्ठ 36
3. वही, पृष्ठ 84
4. कीथ यंग, हेनरी डब्ल्यू नॉर्मन: दिल्ली-1857, लो प्राइस पब्लिकेशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 69
5. जीवनलाल: सरगुजिश्ते-देहली, रामपुर रजा लाइब्रेरी, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 156
6. के.एस. सक्सेना: द पॉलिटिकल मूवमेंट्स एंड अवेकनिंग इन राजस्थान, एस.चांद एंड कंपनी, नई दिल्ली, पृष्ठ 70-71
7. कीथ यंग, हेनरी डब्ल्यू नॉर्मन: दिल्ली-1857, लो प्राइस पब्लिकेशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 251-252
8. वही, पृष्ठ 276
9. जीवनलाल: सरगुजिश्ते-देहली, रामपुर रजा लाइब्रेरी, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 367
10. सुरेन्द्रनाथ सेन: अठारह सौ सत्तावन, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 446
11. विनायक दामोदर सावरकर: 1857 का स्वातंत्र्य समर, सूर्यभारती प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृष्ठ 150
12. जीवनलाल: सरगुजिश्ते-देहली, रामपुर रजा लाइब्रेरी, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 10-11
13. अयोध्याप्रसाद गोयलीय: क्रांतिकारी सेठीजी का पुण्य स्मरण/ स्वाधीनता सेनानी अर्जुनलाल सेठी, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, 1989, पृष्ठ 53-54
14. रामनारायण चौधरी के संस्मरण/शचीन्द्रनाथ सान्याल: बंदी जीवन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2012, पृष्ठ 379-380
15. शचीन्द्रनाथ सान्याल: बंदी जीवन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2012, पृष्ठ 378
16. वही, पृष्ठ 132
17. वही, पृष्ठ 122-125
18. वही, पृष्ठ 380-381
19. वही, पृष्ठ 381-382
20. वही, पृष्ठ 382
21. रमेशचंद शास्त्री: राजस्थान में राष्ट्रीयता के जन्मदाता अर्जुनलाल सेठी, अर्जुनलाल सेठी राष्ट्रीय ग्रंथमाला, अजमेर, 1948, पृष्ठ 13
22. एचपी-बी, नंबर 137-140, मई, 1914/ हॉर्डिंग बम केस एंड इट्स रेपर्कशन्स, पृष्ठ 174
23. दिल्ली षडयंत्र केस पर दिल्ली के अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक डी. पेट्री का विवरण/ हार्डिंग बम केस एंड इट्स रेपर्कशन्स, पृष्ठ 168-170
24. जुगमंदिर तायल: क्रांतिकारी अर्जुनलाल सेठी/ स्वाधीनता सेनानी अर्जुनलाल सेठी, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, 1989, पृष्ठ 122
25. दिल्ली-लाहौर षडयंत्र केस पर दिल्ली के अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश एम. हैरिसन का फैसला/ एचपी-ए, नंबर 134-137, जनवरी, 1915, हार्डिंग बम केस एंड इट्स रेपर्कशन्स, पृष्ठ 181-182
26. मिलापचंद डंडिया: राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमर पुरोधा पं. अर्जुनलाल सेठी, राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर, पृष्ठ 3-4
27. वही, पृष्ठ 15
28. वही, पृष्ठ 16
29. संपूर्ण गांधी वांगमय-12, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1965, पृष्ठ 655
30. शचीन्द्रनाथ सान्याल: बंदी जीवन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2012, पृष्ठ 233
31. वही, पृष्ठ 233
32. वही, पृष्ठ 238
33. वचनेश त्रिपाठी: क्रांतिकारियों के ऐतिहासिक दस्तावेज, अखिल भारती, दिल्ली, 2007, पृष्ठ 571

34. रमेशचंद शास्त्रीः राजस्थान में राष्ट्रीयता के जन्मदाता अर्जुनलाल सेठी, अर्जुनलाल सेठी राष्ट्रीय ग्रंथमाला, अजमेर, 1948, पृष्ठ 10–11
35. अजित प्रसाद को पत्र, 1 नवम्बर, 1916/ संपूर्ण गांधी वांगमय–13, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1965, पृष्ठ 308–309
36. डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्याः कांग्रेस का इतिहास–1, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958, पृष्ठ 117
37. सुमनेश जोशीः श्री अर्जुनलाल सेठी/ स्वाधीनता सेनानी अर्जुनलाल सेठी, राजस्थान प्रकाशन, पृष्ठ 33
38. संपूर्ण गांधी वांगमय–22, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1967, पृष्ठ 324–325
39. अयोध्याप्रसाद गोयलीयः क्रांतिकारी सेठीजी का पुण्य स्मरण/ स्वाधीनता सेनानी अर्जुनलाल सेठी, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, 1989, पृष्ठ 62–63
40. पृथ्वीसिंह मेहताः सशस्त्र क्रांतिकारी प्रवृत्तियां/ स्वाधीनता सेनानी अर्जुनलाल सेठी, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, 1989, पृष्ठ 24
41. वही, पृष्ठ 22
42. वही, पृष्ठ 24
43. रमेशचंद शास्त्रीः राजस्थान में राष्ट्रीयता के जन्मदाता अर्जुनलाल सेठी, अर्जुनलाल सेठी राष्ट्रीय ग्रंथमाला, अजमेर, 1948, पृष्ठ 17
44. वही, पृष्ठ 24
45. शोभालाल गुप्त का लेख, दैनिक नवज्योति, 5 जनवरी, 1942
46. संपादकीय, विश्ववाणी मासिक, मार्च, 1942
47. रमेशचंद शास्त्रीः राजस्थान में राष्ट्रीयता के जन्मदाता अर्जुनलाल सेठी, अर्जुनलाल सेठी राष्ट्रीय ग्रंथमाला, अजमेर, 1948, पृष्ठ 45
48. वही, पृष्ठ 46
49. महात्मा गांधीः मेरे समकालीन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1951, पृष्ठ 218–220

7

जनजागरण का दौर

हमारी धरती शस्य श्यामला है, हमारा भूगर्भ कुबेर का भंडार है और हमारे किसान कुशल कृषि विज्ञानी हैं। इसके बावजूद अंग्रेज छल-बल का उपयोग करके हमारा धन हमसे छीन रहे हैं और अपना कोष भरे जा रहे हैं। हमें डरा रहे हैं कि हम लोग अशिक्षित और दीन हैं जबकि सत्य यह है कि हम अनुभव से संपन्न, ज्ञान से युक्त और पराक्रमी हैं। इसलिए डरो मत। इस पाशविक तंत्र से निजात पाने के लिए साहसी, संकल्पित और संगठित बनो।

–गोविन्द गुरु

1857 का विद्रोह ब्रिटिश हुकूमत के लिए चेतावनी की तरह था। इस विद्रोह ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को हिला दिया। अपनी कूटनीति और राजाओं के सहयोग से ब्रिटिश हुकूमत इसे दबाने में सफल रही। इसके बाद ब्रिटिश हुकूमत ने भारत पर अपना नियंत्रण मजबूत करने की दिशा में कदम बढ़ाए। इसके लिए देसी रियासतों को ब्रिटिश भारत के साथ जोड़ने की रणनीति पर काम शुरू किया गया ताकि पूरे भारत पर एक इकाई की तरह शासन करना आसान हो जाए और कोई भी क्षेत्र ब्रिटिश हस्तक्षेप की सीमा से बाहर नहीं रहे। देश भर में रेलवे का जाल बिछाया गया जिसमें किसी भी रियासत को निर्माण कार्य में बाधा डालने का अधिकार नहीं था। डाक और तार की व्यवस्था भी सभी स्थानों पर की गई। पूरे भारत में ब्रिटिश सिक्कों का प्रचलन शुरू किया गया। रियासतों में सीमा शुल्क समाप्त करने के लिए राजाओं पर दबाव बनाया गया। मादक पदार्थों को छोड़कर ब्रिटिश भारत का कोई भी सामान रियासतों से गुजर सकता था और राजाओं को उन पर सीमा शुल्क लगाने का अधिकार नहीं था। ब्रिटिश हुकूमत ने नमक उत्पादन संबंधी अधिकार भी अपने पास रख लिए थे।

ब्रिटिश हुकूमत की इन नीतियों से राजपूताना की शासन व्यवस्था प्रभावित हुई। अपने वर्चस्व को बचाने के लिए राजाओं ने ब्रिटिश हुकूमत के आगे समर्पण कर दिया और उसके अनुरूप शासन चलाना शुरू कर दिया। इस तरह राजपूताना की जनता दोहरी यंत्रणा का शिकार होने लगी। राजपूताना के जनजागरण में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती का प्रत्यक्ष-परोक्ष महत्वपूर्ण योगदान है। वे शास्त्रार्थ करने और मूर्ति पूजा खंडन के लिए जाने जाते थे। लेकिन प्रवचनों में स्वदेशी वस्त्रों के उपयोग और भारतीय चिकित्सा पद्धति के महत्व की बात भी करते। उन्होंने उदयपुर में कहा था, 'भारत का पुनरुद्धार एक भाषा, एक धर्म और एक उद्देश्य के बिना नहीं हो सकता। इसलिए भारतीय राजाओं का कर्तव्य है कि वे देश में

एक राष्ट्रीय भावना और एक धर्म के लिए प्रचार करें।' उदयपुर में परोपकारिणी सभा की स्थापना की गई, जिसमें महादेव गोविन्द रानडे, श्यामकृष्ण वर्मा जैसे राष्ट्रीयतावादी सोच के व्यक्तित्व जुड़े हुए थे।[1]

स्वामी दयानंद ने जनजागरण के लिए जातिवाद, छुआछूत, बालविवाह के विरोध वगैरह पर बल दिया, उनसे परोक्ष रूप से राष्ट्रीय भावनाएं बलवती हुईं। राजपूताना में विप्लव की नींव डालने का श्रेय दयानंद के शिष्य श्यामकृष्ण वर्मा को है। वे 1888 में अजमेर में वकालत करने आए तथा बाद में वहां की नगरपालिका में भी कामकाज संभाला। उसके बाद ही एक साथ क्रांतिकारी गतिविधियां बढ़ीं। दिल्ली षडयंत्र केस में फांसी की सजा पाने वाले बालमुकुंद जोधपुर के राजकुमारों के शिक्षक थे, लाला हरदयाल के एक साथी बाबू ब्रजमोहनलाल स्कूल ऑफ आर्ट्स, जयपुर के वाइस प्रिंसिपल थे।[2]

इस दौरान कांग्रेस राष्ट्रीय राजनीति में अपनी पैठ बना रही थी लेकिन वह रियासतों के विषय में हस्तक्षेप नहीं करने की नीति का पालन कर रही थी। इधर, ब्रिटिश हुकूमत के हस्तक्षेप के कारण राजाओं के अधिकार सीमित होते जा रहे थे और वे अपने बचे-खुचे अधिकारों का दुरुपयोग करने लगे थे। अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए राजा-महाराजा अपने जागीरदारों को जनता से मनमानी करने की छूट देने लगे। जागीरदार किसानों के ऊपर अनेक प्रकार के शुल्क थोपने लगे जिससे जनता में प्रशासन के प्रति असंतोष पैदा होने लगा। कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहा राष्ट्रीय आंदोलन व्यापक रूप ले रहा था लेकिन राजपूताना की रियासतें उसके प्रभाव से दूर थीं। जनता तक सूचना पहुंचाने के सभी रास्ते बंद थे और प्रशासन के विरुद्ध उठने वाली हर आवाज को कुचल दिया जाता था। अगस्त, 1885 में अजमेर से दो अखबारों का प्रकाशन शुरू हुआ, अंग्रेजी में राजस्थान टाइम्स और हिंदी में राजस्थान पत्रिका। राजस्थान टाइम्स ने अपने पहले अंक के संपादकीय में लिखा, 'इस समाचार पत्र का उद्देश्य समस्याओं को चिह्नित कर प्रशासन की दृष्टि में लाना है ताकि निष्पक्ष न्याय की भावना के साथ उसका निवारण हो सके।' 12 अगस्त, 1885 को राजस्थान पत्रिका ने झालावाड़ के महाराजा जालिम सिंह द्वारा किए जा रहे अत्याचार की आलोचना करते हुए लिखा, 'प्रशासन अब जनता का दमन करने पर तुला हुआ है। प्रशासन को सूचित किया जाता है कि यदि स्थिति ऐसी ही बनी रही तो परिणाम भयावह और नुकसानदेह साबित होगा।' जयपुर में ब्रिटिश हुकूमत द्वारा स्थापित रीजेंसी कौंसिल के एक सदस्य ने इन अखबारों के संपादक बक्शी लक्ष्मणदास पर झूठा प्रचार करने का आरोप लगाया। इसके बाद दोनों अखबारों के प्रकाशन पर रोक लगा दी गई और बक्शी लक्ष्मणदास को डेढ़ वर्ष का कारावास दे दिया गया।[3]

बीसवीं सदी में तेजी से बढ़ते हुए आंदोलनों को दबाने के लिए ब्रिटिश हुकूमत ने राजाओं का इस्तेमाल किया। 1909 में वायसराय लॉर्ड मिंटो ने राजाओं को संबोधित करते हुए कहा, 'समय आ गया है कि हम अपने लिए हितकारी मानक स्थापित करें और राजद्रोही आंदोलनों को निष्क्रिय करने के लिए नीति तैयार करें।' जयपुर समेत अन्य कई रियासतों के राजा-महाराजा वहां मौजूद थे। उन्होंने अपनी ओर से पूरा सहयोग देने का आश्वासन दिया। इसके बाद पूरे राजपूताना में क्रांतिकारी गतिविधियों को खत्म करने की कवायद शुरू हो गई। जयपुर

महाराजा ने भी राजद्रोह को रोकने के लिए अधिसूचना जारी की, जिसके तहत राष्ट्रमत, काल केसरी, कर्मयोगी, अमृतबाजार पत्रिका और जमींदार सहित कई राष्ट्रवादी समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लगा दिया। यहां तक कि आर्य समाज के साहित्य पर भी रोक लगा दी गई और उसे प्रचारित करने वाले व्यक्तियों को गिरफ्तार किया जाने लगा। इस तरह, ब्रिटिश हुकूमत का विरोध करना अपराध घोषित हो गया।[4]

जनता में ब्रिटिश विरोधी भावना इस तरह बस चुकी थी कि महाराजा के आदेश के बावजूद समाचार पत्रों और अन्य माध्यमों से लोगों ने आवाज उठाना बंद नहीं किया। इसी दौरान राजपूताना में तीन समूहों का उदय हुआ, जो क्रांतिकारियों को साथ मिलाकर ब्रिटिश हुकूमत की जड़ों को कमजोर करने की कोशिश कर रहे थे। पहला समूह अर्जुनलाल सेठी के नेतृत्व में काम करता था, जिसका संचालन जयपुर से होता था। दूसरे समूह की अगुवाई कोटा के केसरीसिंह बारहठ करते थे। क्रांतिकारियों का तीसरा समूह खरवा के राव गोपाल सिंह और अजमेर के दामोदरदास राठी के नेतृत्व में आंदोलन कर रहा था।[5]

राजस्थान की जनता के ऊपर गुलामी की एक से अधिक परतें थोपी गईं। ब्रिटिश हुकूमत तो पूरे भारत को गुलाम बनाकर रखना ही चाहती थी। राजस्थान में उसे राजा-महाराजाओं से मदद मिली, जो हुकूमत के एक इशारे पर अपनी प्रजा से अन्याय करने में नहीं चूकते थे। राजाओं के प्रतिनिधि अपनी अलग मनमानी चलाते थे। जागीरदार और ठिकानेदार अत्याचार का पर्याय बन चुके थे। जनता की स्वतंत्रता कोई मायने नहीं रखती थी। लोगों को निरक्षर और गरीब गुलाम बनाए रखना ही सत्तारूढ़ व्यक्तियों के स्वार्थ को पूरा कर सकता था। नतीजा यह हुआ कि पढ़ाई-लिखाई की बात करने वाला व्यक्ति अपराधी माना जाने लगा। अखबार छापने पर प्रतिबंध लगा दिया गया और टाइपराइटर रखना भी अपराध हो गया। कोई व्यक्ति बाहर से अखबार मंगवाकर पढ़ना चाहे तो उसे सजा मिलती। यदि किसी ने पाठशाला खोलने की कोशिश की तो वह राजद्रोही घोषित हो जाता था। लोगों की जागरूकता से डरने वाले ये रजवाड़े विवाह की कुंकुमपत्रिका में छपे शब्दों की भी जांच करवाने लगे। इन प्रयासों के बावजूद राजस्थान की भावना को बहुत देर तक दबाना संभव नहीं हुआ और ब्रिटिश शासित अजमेर में राष्ट्रीयता प्रधान पत्रकारिता का उदय हुआ।[6]

राजपूताना की जनता जागीरदारों के अत्याचारों से सबसे अधिक पीड़ित थी। जागीरदार किसानों को अनेक प्रकार के शुल्क चुकाने के लिए मजबूर करते थे। टीका, लाग, भेंट जैसे अनुचित कर उनके ऊपर थोप दिए जाते थे जिनका भुगतान नहीं करने पर कठोर दंड दिया जाता था। बेगार प्रथा का भी चलन था जिसमें किसी भी व्यक्ति को जागीरदार या राजा के निजी कामों में लगा दिया जाता था और बदले में कोई मेहनताना नहीं दिया जाता था। 19वीं सदी के अंत तक राजपूताना में तेजी से सामाजिक संगठनों का उदय होने लगा। लोगों ने राजाओं तथा जागीरदारों के विरुद्ध आवाज उठाना शुरू कर दिया लेकिन उनके विद्रोह को शीघ्र ही दबा दिया जाता था। जनता अपने अधिकारों की मांग करने लगे, यह न तो ब्रिटिश हुकूमत और न ही राजाओं को मंजूर था। अन्य प्रशासनिक मामलों में हस्तक्षेप करने वाली ब्रिटिश हुकूमत जनता की आवाज दबाने के लिए राजाओं तथा जागीरदारों को पूरी छूट देती

और उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं करती। कांग्रेस का समर्थन नहीं मिलने के कारण रियासतों के ये आंदोलन छोटे स्तर पर ही समाप्त हो जाते थे।

भील जनजाति के प्रमुख नायक गोविंद गुरु* के नेतृत्व में शुरू हुआ आंदोलन राजपूताना की जनजागृति के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। गोविंद गुरु ने ब्रिटिश हुकूमत द्वारा बनाए गए आपराधिक जनजाति अधिनियम के विरोध में अपनी जनजाति के लोगों को एकजुट किया। दरअसल, 12 अक्टूबर, 1871 को गवर्नर जनरल ने देश की अनेक जनजातियों को जरायम** पेशा जनजातियां घोषित करने के लिए आपराधिक जनजाति अधिनियम 1871 पर हस्ताक्षर किए। अंग्रेज अफसरों ने जाति व्यवस्था में छिपे दुर्गुणों का इस अधिनियम की व्याख्या के लिए दुरुपयोग किया। एक अंग्रेज वकील जेम्स फिट्जेम्स की व्याख्या थी कि जिस प्रकार बढ़ईगिरि, बुनकरगिरि, लुहारगिरि आदि वंशानुगत व्यवसाय हैं, वैसे ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी कुछ जनजातियों में अपराध भी व्यवसाय का हिस्सा हैं। इस वकील का कहना था कि इन जनजातियों में पेशेवर आपराधिक व्यवहार सामाजिक व्यवहार न होकर जैविक गुणों का परिणाम है, इसीलिए इन जनजातियों में जन्म लेने वाले अधिकांश लोग आदतन अपराधी होते हैं। यह सिद्धांत बेहद घृणास्पद था लेकिन इसको आधार बनाकर कानून लागू हो गया।[7]

इस कानून के बनने के बाद अधिसूचित जनजातियों को चिह्नित किया गया और उनकी तथाकथित आपराधिक प्रवृत्तियों की भी सूची बनाई गई। स्थिति यह हो गई कि इन चिह्नित जनजातियों के प्रत्येक वयस्क पुरुष को मजिस्ट्रेट और स्थानीय पुलिस के समक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने के लिए बाध्य किया गया। जगह-जगह पुलिस थाने बनाकर इन जनजातियों के युवकों के उत्पीड़न के असीमित अधिकार उन्हें दे दिए गए। इसके साथ ही समाज में कथा, मेले, यज्ञ और उत्सव मनाने की परंपरा तोड़ने के लिए भारतीय दंड संहिता में धारा 144 को शामिल किया गया। इस धारा के प्रावधानों का हवाला देते हुए कथाओं और यज्ञों में जनसमूहों पर डंडे बरसाए जाने लगे। शासन के आदेश पर भीलों के घर जा-जाकर आदमियों और उनके हथियारों की गणना की गई और उन्हें निहत्था कर दिया गया। सदियों से डूंगरपुर, बांसवाड़ा, पालनपुर, ईडर, सिरोही, प्रतापगढ़ आदि रियासतों के पहाड़ी भू-भाग पर संघर्षमय जीवन जीने वाली भील जनजाति निशाने पर थी।[8]

इस ब्रिटिश आतंक के बावजूद 1890 के दशक में गोविंद गुरु ने भीलों के बीच आंदोलन शुरू किया और 'संप सभा' संगठन बनाया। संप का अर्थ है मेल-मिलाप और बुराइयों का त्याग करना। गोविंद गुरु के नेतृत्व में मेल-मिलाप का कार्य आगे बढ़ा और मानगढ़ इसका केन्द्र बन गया। गोविंद गुरु ने कुछ नियमों के पालन का आह्वान भीलों से किया। ये नियम थे, प्रतिदिन स्नान करना, साफ-सफाई का ध्यान रखना, मांसाहार-मद्यपान नहीं करना, व्यभिचार नहीं करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, बैठ-बेगार का विरोध करना, चोरी-लूटपाट के बजाय मेहनत-मजदूरी करना और अपनी कन्याओं के विवाह में दापा अर्थात कन्या धन

*डूंगरपुर रियासत के बांसियां गांव में 20 दिसम्बर, 1858 को गोवारिया जाति के भील बंजारा परिवार में गोविंद गुरु का जन्म हुआ था। इनका नाम गूगा था और संन्यासी के रूप में गोविंद गिरि हुए।

** जरायम का तात्पर्य है, ऐसा काम जो विधि-विधान के विरुद्ध हो अर्थात अपराध हो।

नहीं लेना। इसके साथ ही विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा आपसी झगड़ों में अंग्रेजी अदालतों का सहारा नहीं लेने की बात भी की गई। गोविंद गुरु के आंदोलन का प्रभाव बांसवाड़ा, डूंगरपुर कुशलगढ़, पोल, सूंठ आदि रियासतों में तेजी से बढ़ रहा था, जहां आधी से अधिक आबादी भील जनजाति की थी। स्थानीय शासकों और ब्रिटिश अफसरों ने गोविंद गुरु के पंथ को रोकने के प्रयास शुरू किए। उनके अनुयायियों पर पंथ से अलग होने के लिए दबाव बनाया जाने लगा। गोविंद गुरु के पंथ के कारण शराब की बिक्री बहुत कम हो गई और रियासत के मुनाफे पर विपरीत प्रभाव पड़ने लगा। पंथ के अनुयायियों को कई प्रकार की यातनाएं दी जाती और शराब पीने के लिए मजबूर किया जाता। पंथ के पवित्र चिह्नों को नष्ट करने और धूणियों को अपमानित करने के बाद गोविंद गुरु को अपना क्षेत्र छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया गया। 1908 में वे डूंगरपुर रियासत छोड़कर चले गए और ईडर तथा सूंठ रियासतों के भीलों को आंदोलन से जोड़ने लगे।[9]

ईडर के पाल पट्टों के भीलों ने गोविंद गुरु के नेतृत्व में बड़ा अहिंसक आंदोलन किया, जिसके कारण 24 फरवरी, 1910 को पट्टा ठिकाने के ठाकुर प्रताप सिंह और भील समाज के मध्य समझौता हुआ जिसमें भील समाज की अनेक मांगें मान ली गईं। यह इस भगत आंदोलन की बड़ी सफलता थी। 1911 में गोविंद गुरु अपने पैतृक गांव में लौट गए। उन्होंने गांव-गांव में धूणे की स्थापना करने, नियमित हवन व सत्संग करने और समाज को संघबद्ध करने का भी संकल्प लिया। उन्होंने सभी धूणियों से आह्वान किया कि एक बार गांव में धूणा स्थापित करने के बाद सभी भक्तों का यह धर्म है कि प्रत्येक धूणे पर पूर्णिमा के दिन इकट्ठे होकर हवन करें। बांसिया, सुरातापाल, मानगढ़, बेणेश्वर, जगमेर, दादपुरी, घोटिया अम्बा, नटवा, बावका, बावड़ी, डोडिया, डोकर, बीलड़ी, छाणी मगरी, बीकाणा पाल, बड़ोदर, भूखिया, कम्बोई आदि गांवों सहित 1751 स्थानों पर धूणे स्थापित हो गए और प्रत्येक धूणे पर कुशल प्रबंध व्यवस्था के लिए धूणी का प्रमुख मेथ और धूणी सहायक कोतवाल नियुक्त कर दिए गए। हर चौबीस धूणों का समूह बनाया गया और उस समूह में शामिल सभी धूणों के कुशल संचालन की सुगमता के लिए 72 धाम स्थापित किए गए।[10]

अप्रेल 1913 में डूंगरपुर रियासत की पुलिस ने गोविंद गुरु और उनके परिवार को हिरासत में ले लिया। तीन दिनों के बाद उन्हें रिहा करके डूंगरपुर से चले जाने का आदेश दिया गया। गोविंद गुरु ईडर रियासत में जाकर रहने लगे। ईडर के राजा ने भी उन्हें गिरफ्तार करने के प्रयास शुरू कर दिए। गोविंद गुरु और उनके समुदाय के साथ हो रहे व्यवहार ने भीलों को विद्रोही बना दिया। गोविंद गुरु के नेतृत्व में भीलों की अलग रियासत बनाने की मुहिम शुरू हुई। अपने अनुयायियों के साथ वे मानगढ़ पहाड़ी पर जाकर रहने लगे, जो बांसवाड़ा और सूंठ रियासतों की सीमा पर स्थित है। दूसरी तरफ, ब्रिटिश हुकूमत भीलों को कुचलने पर उतर आई। क्षेत्र में यह चर्चा होने लगी कि भीलों ने दीपावली के समय सूंठ पर आक्रमण करने की योजना बनाई है। 31 अक्टूबर, 1913 को सूंठ के पुलिस इंस्पेक्टर ने जमादार और कांस्टेबल को मानगढ़ पहाड़ी पर हो रही गतिविधियों के बारे में जानकारी लेने के लिए भेजा। भीलों ने उन्हें पकड़ लिया और पीटना शुरू कर दिया। उनमें से एक की वहीं मौत हो गई

और दूसरे को बंदी बना लिया गया। 1 नवम्बर को कुछ भीलों ने प्रतापगढ़ के किले पर आक्रमण किया, लेकिन असफल होकर लौट गए। आसपास की रियासतों की पुलिस सचेत हो गई और उन्हें रोकने की योजना बनाने लगी। 10 नवम्बर तक मेवाड़ सेना, वेलेस्ली राइफल्स, राजपूताना रेजीमेंट और जाट रेजीमेंट की टुकड़ियां मानगढ़ पहाड़ी में शरण लेकर बैठे भीलों से मुकाबले के लिए मशीनगन के साथ पहुंच गई।[11]

इसके बाद पॉलिटिकल एजेंट मेजर हैमिल्टन और कैप्टन स्टॉकली वहां पहुंचे। गोविंद गुरु ने उन्हें एक पत्र भेजा, जिसमें भीलों के अधिकारों से जुड़े 33 बिंदु लिखे हुए थे। मुख्य मांगें अंग्रेजों और स्थानीय रजवाड़ों द्वारा करवाई जाने वाली बंधुआ मजदूरी, लगाए जाने वाले भारी लगान और गोविंद गुरु के अनुयायियों के उत्पीड़न की मुक्ति से जुड़ी थीं। ब्रिटिश अफसरों ने उनसे मानगढ़ पहाड़ी छोड़कर चले जाने के लिए कहा। लेकिन गोविंद गुरु के अनुयायियों ने इस आदेश को नजरअंदाज कर दिया। हैमिल्टन के साथ गोविंद गुरु के प्रतिनिधिमंडल की बातचीत विफल हुई, गोविंद गुरु ने मांगें मानने तक आदिवासियों के साथ मानगढ़ पर ही जमे रहने का ऐलान किया। गुरु के मुंह से निकला वाक्य 'भूरेटिया नी मानूं रे' अर्थात 'अंग्रेजों नहीं मानूंगा' इस क्रांति का नारा बन गया। आसपास के लोगों ने तय कर लिया कि मानगढ़ धाम उनका युद्धस्थल है तथा इसी पावन धरा से वे पंचों के राज को स्थापित करेंगे। वे लोग मानगढ़ धाम की ओर उमड़ने लगे। 17 नवम्बर, 1913 को 104वीं रायफल्स, गोधरा सैन्य पुलिस, बड़ौदा से पहुंची सैन्य कंपनी और स्थानीय रियासतों की सरदारों की फौजों ने मानगढ़ पहाड़ी पर चढ़ना शुरू किया। पहाड़ी को चारों ओर से घेरकर अंधाधुंध गोलीबारी शुरू कर दी गई। वहां लाशों का ढेर लग गया और लगभग 100 भील मौत के घाट उतार दिए गए। गोविंद गुरु सहित 900 व्यक्तियों को अधिकृत रूप से गिरफ्तार कर लिया गया।[12]

आदिवासी पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण इस घटना का देशव्यापी असर नहीं हुआ लेकिन मेवाड़ और आसपास के क्षेत्रों में ब्रिटिश हुकूमत की इस नृशंस कार्रवाई के खिलाफ जन भावना भड़क उठी।

ब्रिटिश अधिकृत भारत में कांग्रेस का प्रभाव बढ़ रहा था और उसे एक ऐसे दल के रूप में देखा जा रहा था, जो भारत को आजादी दिला सकता था। लेकिन राजपूताना में एक वर्ग ऐसा भी था जो कांग्रेस की नीति में विश्वास नहीं रखता था। इस तबके का मानना था कि वर्ष में एक बार अधिवेशन आयोजित कर प्रस्ताव पारित करने से क्रांति नहीं लाई जा सकती। इस विचारधारा के लोगों ने अन्याय से लड़ने के लिए हथियार उठा लिए। जयपुर के अर्जुनलाल सेठी और कोटा के केसरीसिंह बारहठ के नेतृत्व में युवाओं ने संगठित होकर सशस्त्र क्रांति की शुरुआत की। किसी भी संगठन से जुड़े बिना ये क्रांतिकारी स्वतंत्र रूप से अपनी योजनाओं को अंजाम देते थे। रासबिहारी बोस, शचीन्द्रनाथ सान्याल और अवध बिहारी जैसे क्रांतिकारियों से इनका संपर्क था जो ब्रिटिश हुकूमत की नजर में राजद्रोही थे।[13]

1893 से 1905 तक वायसराय रहे लॉर्ड कर्जन ने रियासतों पर ब्रिटिश प्रभुत्व बढ़ाने की नीति के तहत काम किया। कर्जन का कहना था कि हुकूमत की दृष्टि में किसी भी भारतीय

शासक के पास अपनी रियासत का संपूर्ण स्वामित्व नहीं है। लॉर्ड कर्जन ने 1901 में भारत के कई राजा–महाराजाओं को सम्राट एडवर्ड सप्तम की ताजपोशी में शामिल होने के लिए लंदन भेजा ताकि उन्हें याद रहे कि वे केवल ब्रिटिश सत्ता के निष्ठावान सेवक हैं और सम्राट की शक्ति ही सर्वोच्च है। कर्जन ने सम्राट के प्रभाव को बढ़ाने के लिए 1 जनवरी, 1903 को दिल्ली में एक भव्य दरबार का आयोजन किया। किसी भी ब्रिटिश सम्राट का यह पहला भारत दौरा होने वाला था। कर्जन ने एक पत्र जारी कर राजाओं को आदेश दिया कि वे केवल दर्शक बनकर नहीं आएं, बल्कि कार्यक्रम को सफल बनाने में अपनी भूमिका निभाएं। उसने एक बार फिर याद दिलाया कि 'यह सम्राट का अभिषेक समारोह है और वे हम सभी के सम्राट हैं।'[14] हालांकि सम्राट एडवर्ड ने स्वास्थ्य ठीक नहीं होने के कारण अपने भाई को भारत भेजा।

कर्जन की नीति थी कि रियासतों के शासक ब्रिटिश साम्राज्य से केवल अनुबंधित नहीं रहें, बल्कि उसका एक अंग बनकर उसे विस्तार देने के लिए काम करें। उसे राजाओं के विदेश भ्रमण से भी आपत्ति थी। उसका कहना था कि राजा–महाराजा अपने मनोरंजन के लिए विदेशों में घूमते रहते हैं जिससे धन की बर्बादी होती है और प्रशासन में भी बाधा आती है। उसने अपने कार्यकाल में राजाओं के लिए विदेश जाने से पहले ब्रिटिश हुकूमत की स्वीकृति लेने का प्रावधान कर दिया। इस नियम को बहुत कठोर और दबावपूर्ण बनाकर पूरे देश में लागू कर दिया गया। उदाहरण के लिए, कपूरथला के राजा को यूरोप जाने की अनुमति नहीं दी गई क्योंकि उनके पिछले दौरे को पांच साल नहीं बीते थे। कई ब्रिटिश अधिकारी कर्जन की इस नीति से सहमत नहीं थे। स्टेट सेक्रेटरी ने भी इस पर आपत्ति करते हुए कहा था कि हुकूमत स्कूल मास्टर जैसा रवैया अपना रही है।[15]

अवयस्क राजाओं का शासन ब्रिटिश हुकूमत के लिए उनके दरबार में पैठ जमाने का अच्छा अवसर होता था। ऐसी स्थिति में किसी ब्रिटिश अधिकारी को राजा का मार्गदर्शक बनाकर ब्रिटिश नीतियों के अनुकूल प्रशासन चलाने के लिए भेज दिया जाता था। हुकूमत ही बालक राजा की शिक्षा आदि की व्यवस्था करती थी। उन्हें क्या पढ़ना चाहिए, किन लोगों के बीच रहना चाहिए, यह निर्णय भी हुकूमत का ही होता था। कर्जन के कार्यकाल में ब्रिटिश प्रभाव इतना बढ़ गया कि हुकूमत किसी राजा के प्रशासन से असंतुष्ट होने पर उसे अपदस्थ कर देती थी। जोधपुर के महाराजा सरदार सिंह और बांसवाड़ा के महारावल शंभू सिंह इस नीति का शिकार हुए थे।[16]

प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत होने पर ब्रिटिश हुकूमत की निगाहें राजपूताना पर टिक गईं। राजाओं ने हुकूमत के साथ की गई संधि को निभाते हुए उसे पूरा सहयोग दिया। बीकानेर के महाराजा गंगा सिंह ने आगे बढ़कर ऐलान किया कि उनकी सेना ब्रिटिश हुकूमत को मदद देने के लिए तैयार खड़ी है। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य के लिए लड़ना और सम्राट की सेवा करना उनका परम उद्देश्य है। जयपुर, कोटा, जैसलमेर, भरतपुर समेत कई रियासतों ने अपनी सेना और संसाधन हुकूमत की सेवा में लगा दिए। राजाओं ने युद्ध के दौरान आर्थिक रूप से भी हुकूमत को अपना सहयोग दिया लेकिन इसके लिए उन्होंने अपने राजकोष को खाली नहीं किया, बल्कि जनता से धन की उगाही की। पहले से ही जागीरदारों के कर्ज में डूबी जनता

में इस अतिरिक्त भार के कारण कुंठा और आक्रोश बढ़ने लगा।[17]

ब्रिटिश हुकूमत के स्वार्थों की पूर्ति के लिए राजाओं द्वारा की जा रही मनमानी के विरुद्ध जनता की आवाज उठने लगी। परिणामस्वरूप विभिन्न स्तरों पर कई जन आंदोलनों की शुरुआत हुई। बिजोलिया का किसान आंदोलन राजपूताना में हुई जनजागृति का एक स्वर्णिम अध्याय है। इस आंदोलन ने न केवल जनता को अपने अधिकारों के लिए लड़ना सिखाया, बल्कि पहली बार रियासतों का आंतरिक विषय राष्ट्रीय चर्चा का केंद्र बन गया। 1899-1900 में बाबा सीतारामदास के नेतृत्व में यह आंदोलन शुरू हुआ था।[18] 1920 के दशक में इसने व्यापक रूप ले लिया। बिजोलिया मेवाड़ रियासत का एक महत्वपूर्ण ठिकाना था जहां के जागीरदार राव पृथ्वी सिंह को दीवानी और फौजदारी के स्वतंत्र अधिकार प्राप्त थे। उन्हें पांच वर्ष तक का कारावास और 500 रुपए जुर्माना लगाने का अधिकार मिला हुआ था।[19] बिजोलिया के किसानों से लगान (भूमि कर) के अलावा अन्य कई प्रकार के शुल्क लिए जाते थे। यदि किसी किसान से कोई अपराध हो जाए तो दंडस्वरूप उसके लगान में वृद्धि कर दी जाती या उसे कोई नई लागत देने के लिए बाध्य किया जाता। जमीन छिन जाने अथवा पुलिस की कार्रवाई होने के डर से वे इन लागतों को स्वीकार कर लेते थे।[20]

राव के अत्याचार के विरुद्ध बिजोलिया के किसान संघर्ष कर रहे थे लेकिन उनके पास नेतृत्व और संगठन की कमी थी। ऐसे में विजयसिंह पथिक ने उन्हें न्याय दिलाने की बागडोर संभाली। 1888 में उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर जिले में जन्मे पथिक रासबिहारी बोस के क्रांतिकारी दल में शामिल हो गए थे। बोस ने ही उन्हें क्रांति को आगे बढ़ाने के लिए राजस्थान भेजा था।[21] पथिक ने बिजोलिया के किसानों को संगठित करना शुरू किया। पीढ़ियों से सामंतों का अत्याचार सहन करते आ रहे किसानों को अधिकारों के प्रति जागरूक करना आसान काम नहीं था। लोगों को यह विश्वास दिलाना ही कठिन था कि उन्हें आंदोलन करने का भी अधिकार है। पथिक लागतें देने के विरुद्ध और आंदोलन के समर्थन में गीत लिखते तथा लोगों को देकर सभाओं में गाने के लिए कहते। ये गीत भयभीत किसानों में साहस और आत्मविश्वास भरने लगे। आंदोलन को व्यापक पहचान देने के लिए पथिक ने गणेश शंकर विद्यार्थी से सहायता मांगी। विद्यार्थी ग्वालियर के रहने वाले थे और कानपुर से 'प्रताप' नामक समाचार पत्र निकालते थे। उन्होंने बिजोलिया आंदोलन को समर्थन दिया और प्रताप में उससे संबंधित लेख प्रकाशित करने लगे।[22]

बिजोलिया के किसान आंदोलन ने गांधी का ध्यान अपनी ओर खींचा, जो दक्षिण अफ्रीका छोड़कर भारत को अपनी कर्मभूमि बना चुके थे। फरवरी, 1918 में गांधी ने बिजोलिया की जानकारी लेने के लिए विजयसिंह पथिक को बम्बई बुलाया। पथिक ने उनसे मिलकर किसानों के संघर्ष और साहस की कहानी सुनाई। गांधी ने अपने सहयोगी महादेव देसाई को विषय की जांच करने के लिए बिजोलिया भेजा। उस समय बिजोलिया के किसान अपनी जमीन पड़ती छोड़कर सीमावर्ती रियासतों में जाकर खेती करने लगे थे। ग्वालियर रियासत के फुसरिया गांव में महादेव देसाई ने बिजोलिया के किसानों के बयान लिए। उसके बाद उन्होंने बिजोलिया की जेल का निरीक्षण किया जहां कैदियों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। इसके बाद

कचहरी में ठिकाने के अधिकारियों से बातचीत की। पूरी जांच करके देसाई ने अपनी रिपोर्ट गांधी के समक्ष रख दी। गांधी पथिक की कार्यक्षमता और सूझबूझ से बहुत प्रभावित हुए लेकिन वे उनके भूमिगत रहकर काम करने के पक्ष में नहीं थे। पथिक ने उन्हें बताया कि मेवाड़ की स्थिति को देखते हुए प्रत्यक्ष रूप से कार्य करना संभव नहीं है। पथिक अहिंसा को सिद्धांत के रूप में स्वीकार भी नहीं करते थे। कार्यशैली को लेकर गांधी और पथिक के बीच मतभेद बना रहा। इसके बावजूद गांधी उनसे बहुत प्रभावित थे और उनके काम की प्रशंसा करते थे।[23]

पथिक ने गांधी के सामने यह प्रस्ताव रखा कि राजस्थान में जनजागृति लाने के लिए एक पत्र निकाला जाना चाहिए। गांधी ने इस काम के लिए अपने करीबी जमनालाल बजाज को आवश्यक सहायता देने के लिए कहा। जमनालाल ने प्रेस शुरू करने के लिए 5 हजार रुपए की सहायता दी। पथिक बिजोलिया से वर्धा चले गए और वहां से 'राजस्थान केसरी' निकालना आरंभ किया। केसरीसिंह बारहठ और अर्जुनलाल सेठी भी इस पत्र के लिए लिखते थे।[24]

मेवाड़ रियासत और ब्रिटिश हुकूमत के अधिकारियों ने इस आंदोलन को कुचलने के लिए कठोर दमन का आश्रय लिया। जब दमन से काम नहीं चला और आंदोलन अधिक जोश से आगे बढ़ने लगा तो अधिकारियों ने बातचीत और समझौते का मार्ग अपनाया। किसानों की बहुत सी मांगें मान ली गईं। बेगार और लाग-बाग समाप्त कर दी गई, किसान पंचायतों को स्वीकृति मिली, चारागाह और वन भूमि संबंधी कुछ छूटें भी किसानों को मिलीं। पथिक के नेतृत्व की यह उल्लेखनीय विजय थी, जिसने दूसरे स्थानों पर आंदोलन की प्रेरणा पैदा की। बिजोलिया की इस विजय ने आसपास के किसानों को जागृत कर दिया। भैंसरोडगढ़, बेगू, बस्सी, पारसोली, खरीड़ और जहाजपुर में कृषक आंदोलन शुरू हुए। राजस्थान के अन्य भू-भागों में भी कृषक आंदोलन पूरे वेग से आगे बढ़े। इन स्थानों में शेखावाटी, मारवाड़, बीकानेर, बूंदी और अलवर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।[25]

बिजोलिया आंदोलन के प्रभाव ने राजपूताना की जनता में आत्मविश्वास का संचार किया। क्रांति की लहर अन्य रियासतों तक पहुंचने लगी और जनता ने प्रशासन में सुधार की मांग करना शुरू कर दिया। राजस्थान के स्वाधीनता संग्राम का एक महत्वपूर्ण अध्याय भीलों का आंदोलन है। अंग्रेजों के शासन के प्रारंभ से ही भीलों के उन अधिकारों पर कुठाराघात हुआ जिनका उपयोग वे वर्षों से कर रहे थे। मेवाड़ रियासत में किए गए कुछ प्रशासनिक सुधारों का विपरीत असर जब उन पर हुआ तो 1918 के आसपास वे आंदोलन के रास्ते पर आगे बढ़ चले। उन्होंने सरकारी अधिकारियों के आदेशों का पालन करने से इनकार कर दिया। सिरोही रियासत के वारापाल, असीरगढ़, कोटड़ा, पाली और पाल जैसे पहाड़ी स्थानों के अलावा बांसवाड़ा, डूंगरपुर आदि स्थानों में भीलों ने जोरदार संघर्ष की शुरुआत की। इन भीलों के नेता मोतीलाल तेजावत थे। उनके साथ भोगीलाल पंड्या और हरिदेव जोशी थे। भीलों के इस आंदोलन को, जो 1922 से 1935 तक पूरे वेग पर था, अधिकारियों ने दमन से कुचलने की चेष्टा की। भीलों की मांग टैक्स और बेगार को खत्म करने, पट्टा पद्धति में एकरूपता

स्थापित करने आदि के संबंध में थी। अधिकारियों द्वारा किए गए दमन के फलस्वरूप 325 परिवारों के 1800 स्त्री-पुरुष मारे गए। 640 मकान, 7085 मन अनाज और 600 गाड़ियां या तो नष्ट कर दी गईं या जला दी गईं। तेजावत पर अनेक अत्याचार किए गए पर आंदोलन लगातार आगे बढ़ता गया। भील आंदोलनों से इस पहाड़ी अंचल में जीवन बिताने वाली जाति में भी राष्ट्रीय भावना का उद्वेलन प्रारंभ हो गया।[26]

रियासतों में हस्तक्षेप को लेकर कांग्रेस के भीतर असमंजस की स्थिति बनी हुई थी। 1918 के दिल्ली अधिवेशन में रियासतों से संबंध रखने वाले कई कार्यकर्ताओं ने एक स्वतंत्र संगठन बनाने का प्रस्ताव रखा। इनमें जमनालाल बजाज (सीकर), गणेशशंकर विद्यार्थी (ग्वालियर), गोविंद दास (जबलपुर), चांदकरण शारदा (अजमेर) और स्वामी नरसिंह देव (जयपुर) शामिल थे। 28 दिसम्बर, 1918 को जमनालाल बजाज के नेतृत्व में राजपूताना मध्य भारत सभा का गठन किया गया।[27] उस समय राजाओं की दमनकारी नीतियों के कारण रियासतों में केंद्रित होकर जन-आंदोलन चलाना संभव नहीं था। इसलिए सभा का मुख्यालय ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्र अजमेर में रखा गया। अजमेर तब तक राजपूताना की राजनीतिक गतिविधियों का केंद्र बन चुका था। राजपूताना के सभी मुख्य समाचार पत्रों का प्रकाशन अजमेर से होता था। किसी भी क्रांतिकारी को यदि उसकी रियासत से निर्वासित कर दिया जाता तो वह अजमेर में ही शरण लेता था।

राजपूताना मध्य भारत सभा के मुख्य उद्देश्य थे: रियासतों में सेवा समितियों की स्थापना, जनता को कांग्रेस के कार्यक्रम के बारे में जागरूक करना, दलितों के लिए विद्यालय बनाना, बाहर रहने वाले राजस्थानियों का समर्थन प्राप्त करना और स्थानीय शासकों तथा जागीरदारों के अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह करना।[28]

1920 के नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने सभी राजाओं से अपनी रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन शीघ्र से शीघ्र स्थापित करने की अपील की।[29] कांग्रेस ने स्पष्ट किया कि रियासतों के निवासी कांग्रेस की सदस्यता ले सकते हैं लेकिन उन्हें संगठनात्मक रूप से रियासतों में राजनीतिक गतिविधि करने का अधिकार नहीं होगा। गांधी का मानना था कि अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार रियासत एक स्वतंत्र इकाई है, इसलिए कांग्रेस किसी भी रियासत के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। गांधी ने अधिवेशन में कहा कि कांग्रेस को रियासतों के साथ सहानुभूति है लेकिन वह इस नीति का पालन करने के लिए बाध्य है। गांधी मानते थे कि रियासतों के बाहर से आंदोलन चलाकर वहां की समस्याओं को नहीं सुलझाया जा सकता। इसलिए वे चाहते थे कि रियासतों की जनता अपने अधिकारों के लिए स्वयं लड़ना सीखे।[30]

पथिक ने रियासतों के आंदोलनों की गति बढ़ाने के लिए वर्धा में 'राजस्थान सेवा संघ' की स्थापना की।[31] राजस्थान सेवा संघ ने राजपूताना में जनजागृति लाने के लिए अथक प्रयास किए। जयपुर, बूंदी, जोधपुर और कोटा में भी राजस्थान सेवा संघ की शाखाएं स्थापित की गईं। संघ ने अजमेर से 'नवीन राजस्थान' नामक साप्ताहिक समाचार पत्र निकालना शुरू किया। रामनारायण चौधरी इसके मुख्य संपादक थे और जमनालाल बजाज इसके लिए

आर्थिक सहायता देते थे। कुछ दिनों बाद ब्रिटिश हुकूमत ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया लेकिन जल्द ही 'तरुण राजस्थान' के नाम से दोबारा इसका प्रकाशन शुरू हो गया।[32]

राजपूताना मध्य भारत सभा के गठन के कुछ समय बाद शेखावाटी क्षेत्र में तनाव की स्थिति बनी। चिड़ावा सेवा समिति के कुछ कार्यकर्ता अपने क्षेत्र में सामाजिक कार्य शुरू करने की कोशिश कर रहे थे। खेतड़ी के राव राजा को इसमें कोई षडयंत्र दिखाई दिया और उन्होंने समिति के सदस्यों को गिरफ्तार करने का आदेश दे दिया।[33] समिति के दो सदस्यों मास्टर कालीचरण शर्मा और प्यारेलाल गुप्ता को गिरफ्तार कर चिड़ावा से खेतड़ी तक नंगे पैर चलकर जाने के लिए मजबूर किया गया।[34] इस घटना का समाचार पाकर राजपूताना मध्य भारत सभा के मंत्री चांदकरण शारदा अपने सहयोगियों के साथ चिड़ावा पहुंचे और सभी कार्यकर्ताओं को रिहा करने की मांग की। उनके साथ किए गए व्यवहार से पूरे क्षेत्र में आतंक का माहौल था और कोई भी व्यक्ति इस अन्याय के विरोध में बयान देने के लिए तैयार नहीं था। सभा की ओर से सूचना देने पर विभिन्न सेवा समितियों के सदस्य चिड़ावा में एकत्रित हुए और सत्याग्रह प्रारंभ किया।[35]

राजपूताना मध्य भारत सभा ने चिड़ावा के मामले में जयपुर रियासत के उच्चाधिकारियों से भी संपर्क किया। 5 नवम्बर, 1921 को सभा के अधिवेशन में जमनालाल बजाज ने खेतड़ी नरेश के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए जयपुर के महाराजा माधो सिंह द्वितीय से अनुरोध किया।[36] धीरे-धीरे यह विषय गंभीर होने लगा और कलकत्ता में रहने वाले मारवाड़ियों ने भी आंदोलन को समर्थन देना शुरू कर दिया। कलकत्ता के प्रमुख समाचार पत्रों ने लगातार खेतड़ी को अपने लेखों का मुद्दा बनाया। आखिर, सेवा समिति के सभी सदस्यों को रिहा कर दिया गया।[37] खेतड़ी में मिली राजनीतिक सफलता के बाद राजपूताना मध्य भारत सभा की लोकप्रियता बढ़ने लगी। इसके बाद जमनालाल बजाज ने अपने सहयोगियों के साथ शेखावाटी और उसके आसपास के क्षेत्र में खादी के प्रचार और सेवा समितियों की स्थापना के लिए दौरा शुरू किया। सीकर, लक्ष्मणगढ़, फतेहपुर, बिसाऊ और रामगढ़ आदि स्थानों पर शांतिपूर्वक व्याख्यान हुए। उन्होंने पाठशालाओं और पुस्तकालयों का निरीक्षण भी किया। चूरू पहुंचने के बाद उन्हें बीकानेर के पुलिस प्रमुख ने रोक दिया और बीकानेर रियासत से निकल जाने का हुक्म दिया। जमनालाल बजाज ने उनसे लिखित आदेश की मांग की तो वे चुप हो गए। इसके बाद चूरू में सभा हुई लेकिन पुलिस रात भर पहरा लगाती रही। अगले दिन सभी सदस्य ट्रेन में बैठकर रतनगढ़ के लिए रवाना हुए। रतनगढ़ के स्टेशन पर सैकड़ों लोग उनके स्वागत के लिए उपस्थित थे लेकिन बीकानेर पुलिस ने उनको बेंतों से मारकर स्टेशन से बाहर कर दिया। बजाज और शारदा आदि नेताओं को सिपाहियों ने धक्के देकर गाड़ी में वापस भेज दिया। राजपूताना मध्य भारत सभा ने अपनी रिपोर्ट में टिप्पणी की, 'इस कार्य से महाराजा की नौकरशाही ने अपने ऊपर वह काला धब्बा लगा लिया जिसको वे नहीं धो सकेंगे और जिंदगी भर उन्हें इसका पश्चाताप रहेगा।'[38]

मई, 1925 में अलवर रियासत की नीमूचाणा और थानागाजी तहसीलों में जमीन की बंदोबस्ती की गई और किसानों पर नए कर लगा दिए गए। पहले से ही भारी कर्ज में दबे हुए

किसानों ने इस नीति का विरोध किया। अलवर के महाराजा ने किसानों की बात पर ध्यान नहीं दिया। देखते-देखते आंदोलन तेज होने लगा और किसानों ने विद्रोही रूप धारण कर लिया। महाराजा ने आंदोलन को बलपूर्वक कुचलने का इरादा किया। 14 मई, 1925 को अलवर रियासत की पुलिस ने नीमूचाणा गांव को घेर लिया और बिना चेतावनी दिए गोलीबारी शुरू कर दी। सिपाहियों ने सभी घरों को तहस-नहस कर दिया। उन्होंने जानवरों के बाड़ों में आग लगा दी और गरीब किसानों के घर में जो कुछ मिला, वह लूटकर ले गए। इस नृशंस कांड में 95 लोग मारे गए और 250 से अधिक घायल हुए।[39]

इस हत्याकांड के बारे में जमनालाल बजाज ने कांग्रेस कार्यसमिति की कलकत्ता बैठक में एक प्रस्ताव पेश किया। अन्य सदस्यों ने यह महसूस किया कि रियासतों में हस्तक्षेप से दूर रहने की नीति को भंग करना उचित नहीं होगा। इस वजह से बजाज ने भी अपने प्रस्ताव पर अधिक जोर नहीं दिया। फिर भी गांधी ने कहा कि वे अपने समाचार पत्र के माध्यम से इस विषय को सामने लाएंगे। 'नवजीवन' के 20 जुलाई, 1925 के अंक में गांधी ने 'अलवर हत्याकांड' शीर्षक से इस घटना का उल्लेख किया।[40]

राजपूताना की जनता इस अराजकता से त्रस्त हो चुकी थी और अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाने लगी। आंदोलनों के इस दौर से जयपुर भी अछूता नहीं रहा। जयपुर रियासत की जनता को संगठित करने में सीकर के किसान आंदोलन की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही। सीकर जयपुर रियासत का सबसे बड़ा ठिकाना था। सितम्बर, 1924 में सीकर के किसानों पर नए कर लगा दिए गए। असंतुष्ट किसानों ने इस फैसले का विरोध किया। किसानों के पक्ष में भाषण देने के कारण रामनारायण चौधरी को जयपुर रियासत से निष्कासित कर दिया गया। इसके बाद आंदोलन जोर पकड़ने लगा और इसकी चर्चा ब्रिटिश संसद तक होने लगी।[41] राजपूताना मध्य भारत सभा के संघर्ष के बाद मई, 1925 में ठिकाने और किसानों के बीच समझौता हो गया और किसानों ने पैदावार के अनुपात में भुगतान करना स्वीकार किया। लेकिन यह समझौता अधिक दिनों तक नहीं चला। सीकर ठिकाने ने लगान की राशि दुगुनी कर दी। इसके बाद किसानों ने राजपूताना मध्य भारत सभा के नेतृत्व में फिर से आंदोलन शुरू कर दिया और लगान नहीं चुकाने का फैसला किया।[42]

जयपुर के भौमिया आंदोलन में भी राजपूताना मध्य भारत सभा की भूमिका महत्वपूर्ण रही। जयपुर दरबार ने तंवरावाटी क्षेत्र के भौमियों पर कुछ नए शुल्क लगाने का प्रावधान कर दिया। अधिकारियों ने भौमियों पर अपने जानवर सस्ती कीमत पर बेचने के लिए दबाव बनाया तो भौमियों ने विद्रोह करना शुरू कर दिया। राजपूताना मध्य भारत सभा को इसकी जानकारी मिली तो कन्हैयालाल कलंत्री को मामले की जांच करने और तथ्य जुटाने के लिए भेजा गया। सभा के हस्तक्षेप के बाद जयपुर दरबार और भौमियों के बीच शांति स्थापित हुई।[43] पीसांगन और बिसाऊ के किसान आंदोलन तथा सिरोही के भील आंदोलन में भी राजपूताना मध्य भारत सभा का महत्वपूर्ण योगदान रहा।[44] इस दौरान जयपुर रियासत के और भी कई मुद्दे आंदोलनों की बुनियाद बनने लगे थे। लंबे समय से जयपुर की राजभाषा फारसी हुआ करती थी। ब्रिटिश साम्राज्य के बढ़ते प्रभाव के कारण प्रशासनिक कामों में अंग्रेजी का प्रयोग बढ़ने लगा। इसके

कारण फारसी के जानकार और पढ़े-लिखे लोगों को भी सरकारी नौकरी से वंचित रहना पड़ रहा था। 1922 में हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए कल्याणसिंह खाचरियावास, श्यामलाल वर्मा आदि के नेतृत्व में जयपुर में जोरदार आंदोलन हुआ। अनाज की निकासी को लेकर भी जयपुर शहर में किसानों की हड़तालें हुईं जिनके फलस्वरूप प्रशासन को प्रजा की मांगें मंजूर करनी पड़ीं।[45]

कांग्रेस अब भी रियासतों में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने में संकोच कर रही थी। गांधी का मानना था कि यदि रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाए तो भविष्य में राजा-महाराजा कांग्रेस के लिए मददगार साबित हो सकते हैं।[46] राजपूताना मध्य भारत सभा की लोकप्रियता के बाद जमनालाल बजाज ने जयपुर रियासत की सीमा में पूरी तरह सक्रिय होने का निश्चय किया। तब तक वे गांधी की प्रेरणा से स्थापित 'अखिल भारतीय खादी मंडल' के अध्यक्ष भी बन चुके थे।[47] उन्होंने बलवंत सांवलराम देशपांडे, कपूरचंद पाटनी, केसरलाल कटारिया आदि कार्यकर्ताओं को अपने साथ जोड़कर जयपुर में खादी के प्रचार का काम शुरू किया।[48] गांधी का कहना था, 'राजपूताना में तो चरखे और खादी का खूब प्रचार होना चाहिए। अन्य प्रांतों में जब चरखे का लोप हो रहा था तब राजपूताना में थोड़ा सही चल रहा था। कोई भी घर चरखे से खाली नहीं होना चाहिए, न ही घर में खादी के सिवाय दूसरे कपड़े होने चाहिए।'[49]

जयपुर रियासत की आम जनता गरीबी और बेरोजगारी से परेशान थी। प्रशासन के खिलाफ राजनीतिक गतिविधि करने पर भी पाबंदी थी। जनसभा करने, भाषण देने और अखबार निकालने पर प्रतिबंध लगा हुआ था। प्रशासनिक कार्यों में ब्रिटिश हुकूमत का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा था और जनता के ऊपर कई अन्यायपूर्ण नियम लागू किए जा रहे थे। रियासत में फैली हुई अव्यवस्था से लोगों के मन में गहरा असंतोष था।

संदर्भ सूची

1. त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी: पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनंदन ग्रंथ, राजस्थान मंच, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 580
2. शचीन्द्रनाथ सान्याल: बंदी जीवन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2012, पृष्ठ 378
3. के.एस. सक्सेना: द पॉलिटिकल मूवमेंट्स एंड अवेकनिंग इन राजस्थान, एस.चांद एंड कंपनी, नई दिल्ली, पृष्ठ 118
4. वही, 125-126
5. वही, पृष्ठ 127
6. भंवर सुराणा: झाबरमल्ल शर्मा अभिनंदन ग्रंथ, राजस्थान मंच, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 467
7. विष्णुदत्त शर्मा: भूरेटिया नी मानूं रे, ज्ञान गंगा प्रकाशन, जयपुर, 2013, पृष्ठ 41
8. वही, पृष्ठ 41-42
9. डॉ. बृजकिशोर शर्मा: पीजेन्ट्स मूवमेंट्स इन राजस्थान, पॉइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 1990, पृष्ठ 25
10. विष्णुदत्त शर्मा: भूरेटिया नी मानूं रे, ज्ञान गंगा प्रकाशन, जयपुर, 2013, पृष्ठ 86-88
11. डॉ. बृजकिशोर शर्मा: पीजेन्ट्स मूवमेंट्स इन राजस्थान, पॉइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 1990, पृष्ठ 34
12. वही, पृष्ठ 48
13. डॉ. विष्णु दयाल माथुर: स्टेट्स पीपल्स कांफ्रेंस-ओरिजिन एंड रोल इन राजस्थान, पब्लिशिंग स्कीम, जयपुर, 1984, पृष्ठ 20-21
14. अंजू सूरी: कर्जन एंड ब्रिटिश पारामाउंट्सी-सम सिग्नीफिकेंट एस्पेक्ट्स, प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस-63, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, कलकत्ता, 2003, पृष्ठ 532
15. वही, पृष्ठ 535
16. वही, पृष्ठ 538
17. डॉ. विष्णु दयाल माथुर: स्टेट्स पीपल्स कांफ्रेंस-ओरिजिन एंड रोल इन राजस्थान, पब्लिशिंग स्कीम, जयपुर, 1984, पृष्ठ 18-19
18. डॉ. राम पांडेय: पीपल्स मूवमेंट इन राजस्थान-1, शोधक, जयपुर, 1982, पृष्ठ 53-54
19. शंकर सहाय सक्सेना-डॉ. पद्मजा शर्मा : बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1972, पृष्ठ 10
20. वही, पृष्ठ 34
21. वही, पृष्ठ 60
22. वही, पृष्ठ 83
23. वही, पृष्ठ 108
24. वही, पृष्ठ 112
25. डॉ. रतनलाल मिश्र: चौधरी कुम्भाराम आर्य स्मृति ग्रंथ, चौधरी कुम्भाराम आर्य मेमोरियल ट्रस्ट, जयपुर, 1999, पृष्ठ 16
26. वही, पृष्ठ 16
27. डॉ. राम पांडेय: पीपल्स मूवमेंट इन राजस्थान-1, शोधक, जयपुर, 1982, पृष्ठ 53
28. डॉ. विष्णु दयाल माथुर: स्टेट्स पीपल्स कांफ्रेंस-ओरिजिन एंड रोल इन राजस्थान, पब्लिशिंग स्कीम, जयपुर, 1984, पृष्ठ 24
29. डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्या: कांग्रेस का इतिहास-1, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958, पृष्ठ 162
30. डॉ. विष्णु दयाल माथुर: स्टेट्स पीपल्स कांफ्रेंस-ओरिजिन एंड रोल इन राजस्थान, पब्लिशिंग स्कीम, जयपुर, 1984, पृष्ठ 21
31. शंकर सहाय सक्सेना-डॉ. पद्मजा शर्मा : बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1972, पृष्ठ 115

32. डॉ. विष्णु दयाल माथुर: स्टेट्स पीपल्स कांफ्रेंस-ओरिजिन एंड रोल इन राजस्थान, पब्लिशिंग स्कीम, जयपुर, 1984, पृष्ठ 22
33. डॉ. राम पांडेय: पीपल्स मूवमेंट इन राजस्थान-1, शोधक, जयपुर, 1982, पृष्ठ 71
34. के.एस. सक्सेना: द पॉलिटिकल मूवमेंट्स एंड अवेकनिंग इन राजस्थान, एस.चांद एंड कंपनी, नई दिल्ली, पृष्ठ 188
35. डॉ. राम पांडेय: पीपल्स मूवमेंट इन राजस्थान-1, शोधक, जयपुर, 1982, पृष्ठ 58-59
36. वही, पृष्ठ 71
37. वही, पृष्ठ 59-60
38. वही, पृष्ठ 60-61
39. के.एस. सक्सेना: द पॉलिटिकल मूवमेंट्स एंड अवेकनिंग इन राजस्थान, एस.चांद एंड कंपनी, नई दिल्ली, पृष्ठ 188
40. पांचवे पुत्र को बापू के आशीर्वाद, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1953, पृष्ठ 515
41. के.एस. सक्सेना: द पॉलिटिकल मूवमेंट्स एंड अवेकनिंग इन राजस्थान, एस.चांद एंड कंपनी, नई दिल्ली, पृष्ठ 192
42. वही, पृष्ठ 192-193
43. डॉ. राम पांडेय: पीपल्स मूवमेंट इन राजस्थान-1, शोधक, जयपुर, 1982, पृष्ठ 71
44. डॉ. विष्णु दयाल माथुर: स्टेट्स पीपल्स कांफ्रेंस-ओरिजिन एंड रोल इन राजस्थान, पब्लिशिंग स्कीम, जयपुर, 1984, पृष्ठ 24
45. सुमनेश जोशी: राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, ग्रंथागार, जयपुर, पृष्ठ 548
46. रॉबर्ट डब्ल्यू स्टर्न: द कैट एंड द लायन-जयपुर स्टेट इन ब्रिटिश राज, ई. जे. ब्रिल, लायडन, नीदरलैंड्स, 1988, पृष्ठ 278
47. टी.वी. पार्वते: जमनालाल बजाज, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1960, पृष्ठ 48
48. सुमनेश जोशी: राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, ग्रंथागार, जयपुर, पृष्ठ 548
49. शोभालाल गुप्त: गांधीजी और राजस्थान, राजस्थान राज्य गांधी स्मारक निधि, भीलवाड़ा, 1969, पृष्ठ 59

8

रियासतों पर ऐतिहासिक रार

कांग्रेस सारे हिन्दुस्तान की आजादी चाहती है और इस बात को कभी बर्दाश्त नहीं कर सकती कि उसका एक भाग आजाद हो जाए, जबकि दूसरा गुलाम ही बना रहे। वर्तमान स्थिति में कांग्रेस हिन्दुस्तान के किसी भाग में कोई संघर्ष शुरू नहीं करना चाहती, हालांकि रियासती प्रजा की हलचल के साथ उसकी पूरी हमदर्दी है और उसमें वह हमेशा उसका समर्थन करती रही है। अगर उनमें आंदोलन करने की सामर्थ्य हो तो कांग्रेस उसमें उनकी मदद के लिए तैयार है। रियासतें जिस रूप में आज हैं, उसी रूप में उनका बना रहना तो नामुमकिन ही होता जा रहा है।

–जवाहरलाल नेहरू

मद्रास कांग्रेस अधिवेशन, 1894 में देसी रियासतों में अखबारों की स्वतंत्रता का विषय उठा, जिसका जी. सुब्रमण्यम अय्यर ने जमकर विरोध किया।[1] इस तरह, कांग्रेस की शुरू से यह नीति रही कि वह रियासतों के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी। कांग्रेस के प्रारंभिक विकास से जुड़े नेताओं का कहीं-न-कहीं राजा-महाराजाओं से भी जुड़ाव था। सामान्यतया राजा-महाराजा विभिन्न कारणों से न तो ब्रिटिश हुकूमत से किसी विवाद की स्थिति में रह गए और न वे कांग्रेस जैसी उभरती राजनीतिक संस्था के नेताओं के विरोधी दिखना चाहते थे। हस्तक्षेप नहीं करने की कांग्रेस की अघोषित नीति के मामले में धीरे-धीरे मतभेद सामने आने लगे। इस तरह की शिकायतें आमतौर पर सामने आने लगीं कि कांग्रेस में लोकतांत्रिक मूल्य नहीं हैं और शासन की मनमानी चलती है। राजा-महाराजाओं के साथ ही, उनके यहां प्रमुख पदों पर काम करने वालों द्वारा अत्याचारों की ऐसी घटनाएं सामने आने लगीं जिनसे वहां की जनता पीड़ित थी। जहां जनता की भलाई सोचने वाले दीवान-प्रधानमंत्री और अफसर थे, वहां रियासत के विकास और कुशल प्रबंधन पर ध्यान जरूर दिया जा रहा था लेकिन शासन में प्रजा को किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। ऐसे में कांग्रेस की चुप्पी कई लोगों को खटकने लगी।

पहले मुगलों के अधीन रहकर राजा-महाराजा अपने क्षेत्र में मनमानी चलाते रहे। इसके बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना घेरा कसना शुरू किया। ब्रिटिश हुकूमत ताकत में आई तो उसने देसी रियासतों को अलग तरह से जकड़ दिया। कहने को राजा-महाराजाओं के पास शासन था लेकिन किसी भी रियासत में ब्रिटिश हुकूमत की मर्जी के खिलाफ कोई महत्वपूर्ण

काम नहीं हो सकता था। ब्रिटिश हुकूमत ने राजाओं–महाराजाओं के नि:संतान होने पर उत्तराधिकारी गोद लेने पर प्रतिबंध लगा दिए थे। राजाओं की स्वतंत्रता इस बात पर निर्भर थी कि वे ब्रिटिश हुकूमत को कितना खुश रखते हैं। जो राजा हुकूमत को खुश रखता था, उसे अपनी जनता के साथ मनमानी करने की पूरी छूट मिलती थी लेकिन जिस राजा से हुकूमत नाराज हो जाए, उसे अपनी गद्दी भी गंवानी पड़ सकती थी। जब राजा–महाराजाओं का जनता के खिलाफ उपयोग करना होता था तो ब्रिटिश हुकूमत उन्हें संधियों का हवाला देती थी और जब राजा–महाराजाओं की खिलाफत करनी होती तो वहां की जनता की कुछ नहीं सुनी जाती थी।[2]

ब्रिटिश हुकूमत और राजा–महाराजाओं की मनमानी के बावजूद जनता को दबाया नहीं जा सका। जगह–जगह से प्रतिकार होना शुरू हुआ और प्रजातांत्रिक गतिविधियों की पदचाप शुरू हो गई। ब्रिटिश भारत और देसी रियासतें दोनों इस तरह मिले–जुले थे कि उनमें मामूली तौर पर भी कोई भेद नहीं देख सकता था। भेद शासन पद्धति में था लेकिन जनता में भेद नहीं था। इसलिए जब देश में जागृति आई तो उसका असर रियासतों तक भी पहुंचा। वहां की जनता को अपने शासन में अधिकार पाने की आवश्यकता महसूस होने लगी। इसके लिए स्थानीय लोगों ने विभिन्न संगठन बनाने शुरू कर दिए। त्रावणकोर से कश्मीर तक और काठियावाड़ से मैसूर तक जनता की आवाज उठने लगी। बिजोलिया, मानगढ़, जलियांवाला बाग जैसी घटनाओं ने जनता को आंतरिक रूप से एकजुट कर दिया। जहां ब्रिटिश हुकूमत शासन करती थी वहां तो नरसंहार के लिए सीधे ब्रिटिश अधिकारी ही जिम्मेदार थे लेकिन जहां राजशाही थी वहां भी ब्रिटिश अफसर ही गोलीकांड की अगुवाई करते नजर आते। इन कारणों से रियासतों के लोग ब्रिटिश हुकूमत विरोधी राजनीतिक आंदोलनों में सक्रिय होने लगे।

दिसम्बर, 1920 के नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने नए सिरे से अपना विधान बनाया और भाषाओं के अनुसार कांग्रेसी सूबों का गठन किया। इसके अंतर्गत उसने रियासतों की जनता को अपने पास के कांग्रेसी सूबों की कमेटियों में शामिल होने का अधिकार दे दिया। उदाहरण के लिए जिन रियासतों में गुजराती बोली जाती थी, वहां की जनता को गुजरात प्रांतीय कांग्रेस कमेटी में सदस्य बनने का अधिकार मिला। गुजरात प्रांतीय कमेटी को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के लिए या कांग्रेस अधिवेशन के लिए उतने ही प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिला जितने गुजरात और रियासतों की आबादी के अनुपात से मिलना चाहिए था। यानी गुजरात की आबादी केवल ब्रिटिश हुकूमत वाले गुजरात की ही आबादी नहीं मानी गई, उसके साथ रियासतों वाले गुजरात की आबादी भी जोड़ दी गई। इसी तरह, अजमेर ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्र में आता था। कांग्रेस के विधान के अनुसार वह भी एक सूबा था और उसकी आबादी केवल उस छोटे क्षेत्र की आबादी नहीं मानी गई, बल्कि उसके साथ पूरे राजपूताने की आबादी भी जोड़ दी गई। इसके कारण अजमेर को बहुत अधिक संख्या में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया।[3]

राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, 'कांग्रेस देसी रियासतों के अंदर कमेटियां स्थापित नहीं करना

चाहती थी क्योंकि ऐसा करने से वहां के शासन से मतभेद हो जाता और उनके साथ संघर्ष हो सकता था। कांग्रेस ऐसा नहीं चाहती थी। जब रियासतों की जनता में जागृति होने लगी तो यह मांग हुई कि कांग्रेस अपनी नीतियों को बदलकर रियासतों में भी लोकतंत्र की स्थापना के लिए उसी तरह प्रयत्न करे जिस तरह शेष भारत के लिए करती है। उनकी यह मांग न्याय संगत थी क्योंकि दोनों की जनता में कुछ भेद नहीं था। कांग्रेस भी जनता में भेद नहीं करना चाहती थी लेकिन वह इस झगड़े को भी हाथ में लेकर अपनी कठिनाइयां नहीं बढ़ाना चाहती थी। कांग्रेस का यह भी मानना था कि यदि हम ब्रिटिश हुकूमत वाले भारत में लोकतंत्र स्थापित कर सकेंगे तो रियासतों में भी यह आसानी से हो जाएगा क्योंकि उनकी भी निर्भरता ब्रिटिश हुकूमत की शक्ति पर थी।'[4]

दिसम्बर, 1920 का नागपुर अधिवेशन देसी रियासतों के हिसाब से महत्वपूर्ण रहा। नागपुर में प्रतिनिधियों की संख्या 14,582 थी, जिनमें 1050 मुस्लिम और 169 महिलाएं शामिल थीं। इस अधिवेशन में गांधी का प्रभाव सबसे अधिक था। इससे पहले के कलकत्ता अधिवेशन में गांधी को सिर्फ मोतीलाल नेहरू जैसे बड़े नेता का साथ ही प्राप्त हुआ लेकिन नागपुर में असहयोग संबंधी प्रस्ताव को चितरंजन दास ने प्रस्तुत किया और उसका समर्थन लाला लाजपत राय ने किया। यह गांधी की खुली विजय थी। इस प्रस्ताव के जरिए पदवियां छोड़ देने और करों का भुगतान नहीं करने की बातें शामिल कर ली गईं। व्यापारियों से अनुरोध किया गया कि वे धीरे-धीरे विदेशी व्यापारिक संबंधों को छोड़ें और हाथ की कताई-बुनाई को प्रोत्साहन दें। देश की जनता से अनुरोध किया गया कि वह राष्ट्रीय आंदोलन में अधिक से अधिक त्याग करे। साथ ही, ड्यूक ऑफ कनॉट* के सम्मान में किसी समारोह या उत्सव में भाग नहीं लेने के लिए देश से अनुरोध किया गया।

कांग्रेस ने सभी देशी नरेशों से प्रार्थना की कि वे अपनी-अपनी रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए प्रयत्न करें। इसके साथ ही कांग्रेस का ध्येय 'शांतिमय और उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना' घोषित किया गया।[5]

गांधी का जन्म एक रियासत में हुआ था। वे रियासतों की स्थिति से अच्छी तरह परिचित थे। ब्रिटिश शासित गुजरात रियासतों से इस तरह घिरा हुआ था कि यह कहना कठिन था कि कहां ब्रिटिश भारत है और कौन सा क्षेत्र रियासत में आता है। गांधी का विचार था कि यदि ब्रिटिश भारत से रियासतों का काम शुरू किया जाए तो काम ठीक से नहीं हो सकेगा। वहां की जनता को अपने पैरों पर खड़ा होने का वह सुअवसर भी नहीं मिलेगा जिससे उसमें आवश्यक शक्ति पैदा हो सके। इसलिए वे रियासतों की जनता के साथ सहानुभूति रखते हुए भी यह नहीं चाहते थे कि कांग्रेस वहां ब्रिटिश भारत की तरह सक्रिय रहे। उनका मानना था कि रियासतों की जनता आंदोलन कर सकती है और कांग्रेस की सहानुभूति उसके साथ रहेगी लेकिन वहां के आंदोलन और संगठन का भार कांग्रेस अपने ऊपर लेने की स्थिति में नहीं है। गांधी ने अपने एक वक्तव्य में यह विचार प्रकाशित कर दिया लेकिन रियासतों के मामले में

*ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया ने अपने तीसरे पुत्र प्रिंस आर्थर को ड्यूक ऑफ कनॉट की पदवी दी थी। 1921 में आर्थर का भारत आगमन हुआ था।

कांग्रेस का सीधा हस्तक्षेप चाहने वाले लोगों को इससे संतोष नहीं हुआ। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद ने एक वक्तव्य दिया पर उससे भी लोग संतुष्ट नहीं हुए। अंत में वर्किंग कमेटी को भी एक वक्तव्य जारी करना पड़ा। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने वर्किंग कमेटी के वक्तव्य को मंजूर कर लिया और वह झगड़ा कांग्रेस के अंदर चलता रहा।[6]

कुछ रियासतों ने तत्कालीन राजनीतिक माहौल से प्रभावित होकर शासन में सुधार किया और कहीं-कहीं सिर्फ नाम के लिए बहुत कम अधिकारों के साथ धारा-सभाएं भी कायम हो गईं लेकिन किसी भी रियासत को उतने अधिकार नहीं मिले थे जितने ब्रिटिश भारत में 1920 के विधान के अनुसार प्रांतों को मिले थे। हालांकि बड़ौदा, मैसूर और त्रावणकोर जैसी रियासतों में शिक्षा संबंधी और कुछ ऐसे दूसरे सुधार हुए जो ब्रिटिश भारत से भी आगे थे। लेकिन जनता को शासन के अधिकार वहां भी नहीं मिले थे। रियासतों की जनता जागरूक हो रही थी और ब्रिटिश भारत की तरह अपने क्षेत्र की शासन व्यवस्था में भी सुधार चाहती थी।[7]

1924 में गांधी के अध्यक्ष बनने के बाद से एक बार फिर कांग्रेस में वर्चस्व की लड़ाई तेज हो गई। उस समय गांधी के प्रभाव को चुनौती देने वाला कोई शीर्ष नेता नहीं था। गांधी के नेतृत्व ने उनसे अलग विचारधारा वाले लोगों को या तो उनका समर्थक बना दिया या प्रभावहीन कर दिया। लेकिन इसी कांग्रेस में एक नया चेहरा उभरा और उसने आगे चलकर न केवल गांधी और उनके विचारों को प्रभावित करने की कोशिश की बल्कि भारत की भावी तस्वीर भी कुछ हद तक बदली। वे जवाहरलाल नेहरू थे। नेहरू 1926 में यूरोप गए और 1927 में मद्रास अधिवेशन के समय भारत लौटे। यूरोप के दौरे में वे निश्चित रूप से समाजवादी विचार के हो गए और इन विचारों की छाप कांग्रेस के प्रस्तावों पर पड़ने लगी। गांधी ने नेहरू के बारे में कहा कि वे कुछ ज्यादा ही तेजी से चल रहे हैं। मद्रास के अधिवेशन में उनके प्रयासों से वर्ण स्वतंत्रता प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। कांग्रेस ने पहली बार भावी युद्ध के खतरे की ओर देश का ध्यान आकृष्ट किया और घोषणा की कि भारत ऐसे किसी साम्राज्यवादी युद्ध में सहयोग नहीं करेगा, बल्कि उसका विरोध ही करेगा। नेहरू ने कांग्रेस से किसानों के लिए एक आर्थिक कार्यक्रम भी पास करवाया। इसके पूर्व कराची कांग्रेस से उन्होंने मौलिक अधिकारों का एक प्रस्ताव पास करवाया था। वे मजदूर आंदोलन में रुचि रखते थे और कांग्रेस के द्वारा मजदूरों की हड़तालों को सहायता भी प्रदान करते थे। यह उनकी ही कोशिश का फल था कि लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का ध्येय स्वीकृत किया गया। 1927 में गांधी उनके इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं थे।[8]

30 अगस्त, 1928 को लखनऊ में 'इंडिपेंडेंस फॉर इंडिया लीग' की स्थापना की गई। इसके संस्थापक सदस्यों जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस तथा कांग्रेस के अन्य नेताओं ने ऑल पार्टीज कॉफ्रेंस (सर्वदलीय सम्मेलन) में आजादी के लिए वक्तव्य जारी किया। इसका मुख्य ध्येय पूर्ण स्वराज्य तथा सामाजिक-आर्थिक समानता था। 3 नवम्बर, 1928 को दिल्ली में इसकी पहली बैठक हुई। इसका एस. श्रीनिवास अयंगर को अध्यक्ष चुना गया और जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाष चंद्र बोस महासचिव निर्वाचित हुए। इस लीग को 'लीग अगेंस्ट इम्पीरियलिज्म' के साथ संबद्ध करने का भी निर्णय लिया गया।[9] अगले ही वर्ष लीग

को उसके उद्देश्य में सफलता मिल गई। यह स्पष्ट हो गया था कि साम्राज्यवाद से किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता क्योंकि पूर्ण स्वतंत्रता से ही जनता की समस्याएं हल हो सकती थीं और नया ध्येय स्वीकार होने पर ही क्रांतिकारी कार्य का मार्ग सुगम हो सकता था। नेहरू ने कांग्रेस के कार्यक्रम में भी परिवर्तन करवाया और आर्थिक मांगों के आधार पर जनता को संगठित करने की आवश्यकता पर जोर दिया।

भारत में लोकतांत्रिक शासन की स्थापना के लिए ब्रिटिश हुकूमत पर दबाव बढ़ता जा रहा था। हुकूमत ने भारतीय राजनेताओं तथा रियासतों के शासकों से चर्चा करने के लिए लंदन में गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया ताकि 'भारत सरकार अधिनियम' तैयार किया जा सके। वहां संपूर्ण भारत के लिए विधान बनाने का प्रयत्न किया गया जिसके अंदर ब्रिटिश भारत और देसी रियासतों का समावेश था। गोलमेज परिषद में उपस्थित राजाओं ने मंजूर किया कि यदि संतोषप्रद विधान बना और उनके अधिकार सुरक्षित रहे तो वे भी उस विधान के अंदर अपनी रियासतों को ला सकेंगे। विधान में जो केंद्रीय असेम्बली बनने वाली थी, उसमें दो-तिहाई प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत के और एक-तिहाई प्रतिनिधि देसी रियासतों के रखे जाने वाले थे। लेकिन इसमें एक बहुत बड़ा अंतर यह होता कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि तो वहां की जनता द्वारा चुने जाते लेकिन रियासतों के प्रतिनिधियों को वहां के राजाओं द्वारा मनोनीत किए जाने का प्रावधान होने वाला था। यह बात वहां की जनता के अलावा भारत के राजनेताओं को भी खटकती थी क्योंकि उनका मानना था कि इस तरह से ब्रिटिश हुकूमत कहने के लिए तो केंद्रीय असेम्बली को प्रतिनिधित्व का हक दे रही थी लेकिन वास्तव में उसके एक-तिहाई सदस्यों की नियुक्ति में रेजिडेंटों की मार्फत वह पूरा हस्तक्षेप करने वाली थी। यह भी एक विशेष कारण था कि कांग्रेस पर रियासतों में हस्तक्षेप करने के लिए दबाव बनाया जाने लगा। रियासतों के शासन में सुधार संबंधी मांग पर कांग्रेस की धड़ेबंदी का भी असर पड़ा। 29 से 31 जुलाई, 1935 में वर्धा की कांग्रेस कार्यसमिति में रियासतों के प्रति कांग्रेस के रुख पर निश्चय प्रकट किया गया। तब तक रियासतों की जनता ने अपनी मांग दूसरी गोलमेज परिषद में गांधी के भाषण के आधार पर कायम रखी थी। गांधी ने तब कहा था, 'कांग्रेस ऐसे किसी विधान से संतुष्ट नहीं होगी जिसके द्वारा देसी राज्यों की प्रजा को नागरिकता के अधिकार प्राप्त नहीं हों और वे संघ व्यवस्था मंडल में प्रतिनिधि नहीं भेज सकें।'[10]

29-31 जुलाई, 1935 की वर्धा कार्यसमिति ने और स्पष्ट रूप से रियासतों के शासकों और जनता के प्रति कांग्रेस की नीति के संबंध में प्रस्ताव पास किया:

> 'कांग्रेस स्वीकार करती है कि रियासतों की जनता को भी स्वराज्य का उतना ही अधिकार है जितना ब्रिटिश-भारत की जनता को है। कांग्रेस ने रियासतों में प्रतिनिधित्वपूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना के पक्ष में अपनी राय प्रकट की है और न केवल देसी नरेशों से अपनी रियासतों में उत्तरदायी शासन स्थापित करने और अपनी जनता को सभा करने, भाषण देने और लेख

लिखने के अधिकार देने की अपील की है, बल्कि वहां की जनता को वचन दिया है कि पूर्ण उत्तरदायी शासन की प्राप्ति के लिए उचित और शांतिपूर्ण साधनों से किए गए उनके संघर्ष में कांग्रेस की सहानुभूति होगी। कांग्रेस अपनी उसी घोषणा और उसी प्रतिज्ञा पर दृढ़ है।

हालांकि यह बात समझ लेनी चाहिए कि संघर्ष जारी रखने का दायित्व जनता पर ही है। कांग्रेस रियासतों पर नैतिक और मैत्रीपूर्ण प्रभाव डाल सकती है। मौजूदा परिस्थिति में अन्य किसी प्रकार का सामर्थ्य कांग्रेस के पास नहीं है, यद्यपि भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि से सारे भारतवासी, चाहे वे अंग्रेजों के अधीन हों चाहे देसी राजाओं के और चाहे किसी और सत्ता के, एक हैं और उन्हें अलग नहीं किया जा सकता।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीय नरेशों का सहयोग प्राप्त करने के लिए कांग्रेस जनता के हितों का बलिदान करने का अपराध कभी नहीं करेगी। अपने जन्म से ही कांग्रेस जनता और शासक के हितों में विरोध होने पर सदैव जनता के हितों के लिए ही लड़ती रही है।'[11]

यही वह समय था जब नेहरू ने रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू किया। ऐसा करके वे कहीं-न-कहीं गांधी से अलग नीति स्थापित कर रहे थे और कांग्रेस की राजनीतिक मानसिकता को समय के साथ ढालने का प्रयास कर रहे थे। उन्होंने अपने साथियों को रियासतों संबंधी अपने विचारों से अवगत करवाना शुरू किया। उन्होंने 29 मार्च, 1937 को केरल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के पूर्व सचिव और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्य ईलाकुलम मनक्कल शंकरन ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद को पत्र में लिखा, 'रियासतों का जहां तक सवाल है, सबसे पहले आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि रियासतों और शेष भारत के बीच हमारी नीति में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। फर्क सिर्फ यह है कि रियासतों में काम करने की कठिनाइयां हैं और संघर्ष से हम बचना चाहते हैं। इसलिए सक्रिय संघर्ष को बचाते हुए रियासतों में भी आप और जगहों की तरह काम करें। वहां भी कांग्रेस का गठन नीचे के स्तर तक से कांग्रेस कमेटियां बनाकर ही करना चाहिए।' नेहरू ने आगे लिखा कि त्रावणकोर में कांग्रेस पर लगे प्रतिबंध के खिलाफ दृढ़ता के साथ निरंतर आंदोलन करना चाहिए। कोचीन में शायद प्रतिबंध नहीं है, इसलिए वहां कांग्रेस की नींव डालनी चाहिए।[12] इसी साल नेहरू ने दक्षिणी रियासतों की लोक परिषद को संदेश देकर प्राथमिक अधिकार दिवस मनाने पर प्रसन्नता व्यक्त की। उन्होंने लखनऊ अधिवेशन में की गई घोषणा को दोहराया कि व्यक्तिगत, नागरिक और लोकतांत्रिक स्वतंत्रता के मामले में कांग्रेस रियासतों और शेष भारत के बीच किसी तरह का अंतर स्वीकार नहीं कर सकती। उन्होंने कहा कि जब हम हिन्दुस्तान में आजादी के लिए लड़ रहे हैं, उस समय रियासतों की जनता नागरिकता के प्राथमिक अधिकारों से भी वंचित है। जो सरकार नागरिक स्वतंत्रता को बर्दाश्त नहीं कर सकती और उसको दबाती है, उसे नाकाबिल ही माना जा सकता है। इस मानदंड से रियासतें

इतनी नाकाबिल हैं, जितनी किसी अन्य देश में शायद ही देखने को मिलें।[13]

उदयपुर राज्य द्वारा किसानों की मांगों के अनुसार कानून में संशोधन नहीं करने पर बिजोलिया के किसानों को 1918 से आंदोलन शुरू करना पड़ा था। आंदोलन का जोर इतना बढ़ा कि अधिकारियों को उसे दबाने के लिए सेना बुलानी पड़ी। 1935 में सीकर (जयपुर) के जाट किसानों ने लगान-मालगुजारी में कमी के लिए आंदोलन किया। आंदोलन धीरे-धीरे पड़ोसी राज्य बीकानेर में भी फैला और जल्दी ही जागीरदारों के खिलाफ असंतोष ने जागीरदारी प्रथा के विरुद्ध आंदोलन का रूप ले लिया था। मार्च, 1937 में बीकानेर प्रजामंडल के अध्यक्ष मघाराम, मंत्री लक्ष्मीदास और दो वकीलों सत्यनारायण सराफ तथा मुक्providerाराम को बीकानेर रियासत से निर्वासित कर दिया गया। नेहरू को इस घटना का पता चला तो उन्होंने इलाहाबाद में वक्तव्य जारी किया। नेहरू ने कहा कि बीकानेर के इन लोगों को प्रजामंडल की वैध गतिविधियों में रुकावट डालने के लिए निर्वासित किया गया है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि रियासत में नागरिक स्वतंत्रता नहीं है। पहले भी अनेक शिकायतें आती रही हैं जो जांच करवाने पर निराधार साबित हुईं। बीकानेर रियासत में नागरिक स्वतंत्रता के सर्वथा अभाव के अलावा सामंती तौर-तरीके, कानूनी अवमानना, अफीम की खपत और मौजूद दास प्रथा भी खासतौर पर ध्यान देने लायक है। करों के ढांचे का भार भी सर्वाधिक गरीबों पर ही पड़ता है। ऐसे माहौल में महाराजा के स्वर्ण जयंती समारोह के लिए धन इकट्ठा किया जा रहा है, इसके कारण लोगों की जान पर आफत आ पड़ी है।[14]

नेहरू केवल वक्तव्य देकर नहीं रुके, उन्होंने 24 अप्रेल, 1937 को बीकानेर के प्रधानमंत्री को एक विस्तृत नोट भेजा। इस नोट में उन्होंने बीकानेर रियासत की प्रशासनिक व्यवस्था से जुड़े कई मुद्दों पर सवाल उठाए और उन्हें अनैतिक बताया। उन्होंने बिन्दुवार तरीके से लिखा:

'1. कानूनी असमानता: 150 पट्टेदारों, सरदारों, जागीरदारों के पास राज्य के एक-तिहाई गांवों का स्वामित्व है। इनके खिलाफ रियासत की शासन परिषद की विशेष अनुमति प्राप्त किए बगैर कोई फौजदारी मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। शासन परिषद में सभी सदस्य पट्टेदार ही रहते हैं, बाहरी व्यक्ति कभी-कभार कोई होता है तो अपवाद स्वरूप प्रधानमंत्री ही उसमें रहता है।

2. अफीम की खपत: 1931 के बजट के अनुसार अफीम पर लगे शुल्क से उस वर्ष 3 लाख रुपए की आमदनी हुई। अफीम पर सामान्य दर व्यवस्था के अनुसार प्रति मन 600 रुपए शुल्क लगता है। इस हिसाब से बीकानेर में अफीम की कुल खपत 500 मन हुई। हालांकि हो सकता है इसमें कुछ तस्करी से (चोरी-छिपे) बाहर भी गई हो। बीकानेर रियासत की कुल आबादी लगभग 10 लाख है, जिसके हिसाब से 10 हजार की आबादी पर अफीम की खपत का औसत 6 मन रहा। राष्ट्रसंघ के अनुबंध में स्वीकृत मात्रा 10 हजार व्यक्तियों पर 6 सेर अधिकतम खपत की है जिससे यह खपत 40 गुना बैठती है।

3. दास प्रथा: 1921 की जनगणना में बीकानेर रियासत में दास के रूप में पैदा हुए व्यक्तियों की संख्या 10,904 दी गई है। इन पर महाराजा या उनके सामंतों का स्वामित्व था और उनकी संपत्ति की तरह ही उन्हें रहना पड़ता था। इनका विवाह या तलाक उनकी

इच्छानुसार ही होता था और जिसे चाहें, उसे भेंट के रूप में इन्हें देने का भी उन्हें पूरा हक था।

4. नागरिक स्वतंत्रता: नागरिक स्वतंत्रता तो रियासत में मुश्किल से ही मिलेगी। विचार, भाषण, अखबारों या सभा सम्मेलन की कोई आजादी वहां नहीं है। व्यक्ति स्वातंत्र्य भी निर्बाध नहीं है, जैसा कि निर्वासनों जैसी कार्रवाइयों से स्पष्ट है। निम्न उदाहरण उल्लेखनीय हैं:

(1) 1926 में या उसके आसपास महंत भैरोंगिरी के गांव रामनगर को 30 हजार रुपए की सालाना रकम की अदायगी न होने के नाम पर जब्त कर लिया गया। इस संबंधी इकरारनामे की पुष्टि ए.जी.जी. (एजेंट टू द गवर्नर जनरल) और पॉलिटिकल एजेंट ने की जबकि कहा जाता है कि यह सालाना रकम अदा कभी की ही नहीं गई थी।

(2) बड़ा मंदिर को इसलिए जब्त करके बेच दिया गया क्योंकि महंत ने 26 जनवरी, 1930 को वहां राष्ट्रीय झंडा लहराया था।

(3) सुजानगढ़ के नाथीमल पंडित को इसलिए 3 महीने सख्त कैद की सजा दी गई क्योंकि वह राज्याधिकारियों द्वारा बीकानेर षडयंत्र का मुकदमा चलाने* के विरोध में सभा करना चाहते थे।

(4) 1936 की गर्मियों में बीकानेर रियासत के एक शिक्षक को इसलिए नौकरी से हटा दिया गया क्योंकि उसने कमला नेहरू की स्मृति में दो मिनट का मौन रखने का सुझाव रखा था।

(5) एकमात्र धर्मनिरपेक्ष पत्र 'पुष्करेन्दु' को इसलिए प्रकाशन बंद करना पड़ा कि उसके संपादक से राजनीतिक विषयों पर कुछ नहीं लिखने का वचन देने के लिए कहा गया था।

(6) महात्मा गांधी की पुस्तक 'हिन्द स्वराज' को रियासत में लाने पर प्रतिबंध है।

(7) मार्च, 1937 में प्रजामंडल के मंत्री लक्ष्मीदास और अध्यक्ष मघाराम तथा दो वकीलों सत्यनारायण सराफ और मुक्ताराम को रियासत से निर्वासित कर दिया गया।

5. जेल में व्यवहार: बताया जा रहा है कि प्रेमा नाम के जाट कैदी की जेल में हुई पिटाई से मृत्यु हो गई जिस पर बीकानेर जेल में अक्टूबर, 1936 में कैदियों ने भूख हड़ताल की थी। 1932 में चंदनमल को यंत्रणा दी गई बताते हैं।

बीकानेर जेल की बैरकें 30 फीट×17 फीट नाप की हैं, जिनमें हर एक में 18 से 29 तक कैदी एक साथ रखे जाते हैं। बैरकों की छत नीची है और रोशनी व हवा एक ओर के दो जालीदार दरवाजों से पहुंचती है। अपराधी चाहे पुराने हों या नए, सबको एक साथ रखा जाता है। अल्पव्यस्क या अन्य कैदियों के लिए न तो पुस्तकालय है और न ही जेल का स्कूल।

6. खर्च: (1) प्रिवी पर्स। राजमहल पर रियासत की आय का 12.7 प्रतिशत यानी 1 करोड़ 14 लाख रुपए की आय में से 14 लाख रुपए खर्च होता है। इसके अलावा और भी कई मदों में राजमहल पर काफी रकम खर्च होती है।

(2) शिक्षा पर बजट में रखी जाने वाली रकम का अनुपात कुल बजट राशि का 1.2

*राजद्रोही लेखों और भाषणों के द्वारा बीकानेर राज्य के लोगों में असंतोष फैलाने के अपराध में 1932 में कई व्यक्तियों पर मुकदमा चलाकर उन्हें सजा दी गई थी।

प्रतिशत होता है। इसमें भी काफी बड़ा भाग सरदारों की शिक्षा पर चला जाता है।

(3) अस्पतालों, दवाओं, सफाई आदि पर बजट राशि की कुल 1.5 प्रतिशत रकम खर्च होती है।

7. कर: कर का ढांचा ऐसा है कि राज्य के सबसे गरीब लोगों पर ही सबसे ज्यादा करों का भार पड़ता है। कुछ अनाजों को छोड़कर कोई चीज ऐसी नहीं जिस पर चुंगी न हो। चीनी-चावल जैसे खाद्य पदार्थों पर भी भारी कर लगा हुआ है। पशुओं की चराई की किसानों से फीस ली जाती है जिसके लिए हर ऊंट, भैंस, घोड़े, गाय, भेड़ और बकरी के लिए करों की समान दर है।

रेलवे का मालभाड़ा और यात्रियों का किराया इंडियन रेलवे एक्ट में जितना रखने की छूट है, उस हिसाब से अधिकतम है जो तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिए 4 पाई प्रति मील पड़ता है। रियासत के अधीन 800 मील की रेलवे लाइन है लेकिन उसके प्रतीक्षालयों की तथा अन्य व्यवस्था बहुत ही पुराने ढंग की और पिछड़ी हुई है।

विभिन्न पेशों पर अलग-अलग तरह के कर लगे हुए हैं। जैसे हलवाई पर 10 रुपए, चमार पर 5 रुपए, बढ़ई पर 4 रुपए, दर्जी पर 3 रुपए और कुली पर 2 रुपए।

8. स्वर्ण जयंती: महाराजा की स्वर्ण जयंती पर जिसके सितम्बर, 1937 में किसी समय मनाए जाने की संभावना है, बीकानेर राज्य एक करोड़ रुपए खर्च करने की सोच रहा है। ऐसे इल्जाम भी लगाए जाते हैं कि इसके लिए जबरन चंदा वसूली शुरू की गई है और अमीर-गरीब सभी को चंदा देना पड़ेगा। यहां तक कि गरीब-से-गरीब परिवार से भी एकमुश्त 4 रुपए वसूल करने की आशा की गई है।'[15]

बीकानेर के प्रधानमंत्री को यह नोट भेजने के साथ नेहरू रियासतों के विषय में गहराई से उतर चुके थे। राजपूताना रियासतों की स्थिति के संदर्भ में नेहरू ने कहा, 'राष्ट्रीय समस्याएं एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। भारत को खंडों में विभाजित नहीं किया जा सकता। जब संधियों द्वारा रियासतों में उनके नरेशों की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गई थी, तब से दुनिया बहुत बदल चुकी है। उन संधियों का अब कोई महत्व नहीं रह गया है।'[16]

उस समय जोधपुर रियासत में अकाल पड़ा हुआ था। जोधपुर प्रजामंडल के कार्यकर्ताओं ने अकाल पीड़ितों की सहायता का काम हाथ में लिया तो प्रजामंडल के कुछ कार्यकर्ताओं को एक वर्ष के लिए जेल में डाल दिया गया। नेहरू ने जेल से छूटने वाले कार्यकर्ताओं को बधाई देते हुए उनका आह्वान किया, 'आशा है नए जोश और मनोबल के साथ वे फिर से लोगों की सेवा के काम में जुट जाएंगे और उन्हें कर मुक्त करने की कोशिश करेंगे।'[17] नेहरू ने जोधपुर रियासत को लेकर दु:ख व्यक्त किया कि ऐसी रियासतों ने शासन प्रबंध के लिए अंग्रेज अफसर रखे हैं। इसके कारण रियासत के सामंतवाद और साम्राज्यवाद का गठबंधन हो गया है। नेहरू ने 7 अगस्त, 1937 को इलाहाबाद में वक्तव्य देकर जोधपुर के सामंती साम्राज्यवादी शासन की निंदा की। उन्होंने इस बात पर दु:ख व्यक्त किया कि चारे और पानी के अभाव में बड़ी संख्या में गायें मर गईं। बाजार में तीन आने प्रति घड़े के हिसाब से पानी बिक रहा है। जोधपुर प्रजामंडल के अध्यक्ष अचलेश्वरप्रसाद शर्मा के नेतृत्व में जांच और

सहायता का काम शुरू हुआ तो जोधपुर के प्रधानमंत्री ने इंस्पेक्टर जनरल को पत्र लिखा। उसमें कहा गया कि शर्मा को बुलाकर कह दिया जाए कि प्रजामंडल या नागरिक स्वतंत्रता जैसी किसी अन्य संस्था का सदस्य लोगों में असंतोष फैलाने के लिए जिलों में नहीं जाए। शर्मा को बता दिया जाए कि उनकी और उनके साथियों की खतरनाक हरकतों पर सरकार की ओर से पूरी निगरानी रखी जा रही है। यदि ये हरकतें जारी रहीं तो उनके खिलाफ सख्त कार्रवाई की जाएगी। नेहरू को यह सब पता चला तो उन्होंने जोधपुर के प्रधानमंत्री से इसके बारे में पूछताछ की। उसी दौरान जयनारायण व्यास* रेल में सफर कर रहे थे तो मारवाड़ जंक्शन पर पुलिस वालों ने उन्हें जगाया और तत्काल जोधपुर की सीमा से बाहर चले जाने को कहा। व्यास ने लिखित आदेश देने की मांग की तो जबर्दस्ती बस में बैठाकर जोधपुर की सीमा से दूर ब्यावर भेज दिया गया। नेहरू ने इस पर गहरी नाराजगी व्यक्त की।[18]

उस दौरान ब्रिटिश हुकूमत ने विचार किया कि अजमेर-मेरवाड़ा के कुछ भाग उदयपुर और जोधपुर रियासतों को दे दिए जाएं। नेहरू ने इसका कड़ा विरोध किया। उनका कहना था कि यह सैद्धांतिक तौर पर गलत है कि ब्रिटिश प्रदेश के किसी भाग को रियासतों के सुपुर्द कर दिया जाए, जिनकी हालत ब्रिटिश भारत से भी बदतर है। 19 सितम्बर, 1937 को अजमेर की सभा में नेहरू ने स्पष्ट किया, 'कांग्रेस पूरे हिन्दुस्तान की आजादी चाहती है और इस बात को कभी बर्दाश्त नहीं कर सकती कि उसका एक भाग आजाद हो जाए और दूसरा भाग गुलाम ही बना रहे।' उन्होंने यह भी कहा कि वर्तमान हालात में देश के किसी भाग में कांग्रेस कोई संघर्ष शुरू नहीं करना चाहती लेकिन रियासती जनता की गतिविधियों के साथ उसकी पूरी हमदर्दी है और हमेशा उसका समर्थन करती रही है। नेहरू ने इस बात पर संतोष व्यक्त किया कि बिजोलिया के किसानों को उनकी जमीन और संपत्ति से वंचित कर दिया गया है, फिर भी रियासत के अधिकारियों के दमन और अत्याचार के बावजूद न तो उनकी एकता भंग हुई और न उनके संगठन में दरार पड़ी। नेहरू ने बिजोलिया के किसानों के साथ ही सीकर के जाट किसानों के प्रति भी कांग्रेस की पूर्ण सहानुभूति व्यक्त की। उन्होंने अजमेर नगरपालिका के लिए जनता को दिए गए मताधिकार के बारे में भी बात की। मताधिकार शैक्षिक योग्यता और संपत्ति या आयकर के आधार पर दिया गया था। साथ ही, कमिश्नर को यह अधिकार भी था कि वह किसी मतदाता की हलचलों को सार्वजनिक शांति के लिए खतरनाक माने तो उसका मत देने का अधिकार समाप्त कर दे। नेहरू ने इस व्यवस्था को हास्यास्पद बताया। उन्होंने जनता से आह्वान किया कि अजमेर नगरपालिका मताधिकार में संशोधन के लिए नागरिकों को जोरदार आंदोलन करना चाहिए।[19]

अलवर के रियासती मामलों में भी नेहरू ने हस्तक्षेप किया। उन्होंने 21 अक्टूबर, 1937 को अलवर के प्रधानमंत्री को लिखा:

---

*जयनारायण व्यास (1899-1963): अ.भा. देसी राज्य लोक परिषद के संस्थापक सदस्य और रियासती आंदोलन के प्रमुख नेता। राजस्थान के मुख्यमंत्री (1948 और 1951-54), राजस्थान प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष (1956-57) और राज्यसभा सदस्य (1957-63)।

'मुझे पता चला है कि अलवर में कुछ साल पहले राजद्रोही सभा और प्रकाशन निवारक कानून बनाया गया था, वह अभी भी लागू है। इस कानून के अंतर्गत न केवल सार्वजनिक सभाएं वर्जित हैं बल्कि निजी स्थानों पर और टिकट लगाकर की जाने वाली सभाएं भी नहीं हो सकतीं। इसमें 5 आदमियों का इकट्ठे मिलना ही सार्वजनिक सभा माना जाता है। मैं आशा करता हूं कि आपकी सरकार इस कानून को रद्द करके अलवर के लोगों को सभा-सम्मेलन करने और विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करेगी।'[20]

उसी दौरान विभिन्न विषयों को लेकर गांधी और नेहरू के बीच अन्तर्विरोध पैदा हो गए। उस समय इस टकराव में कोई भी पक्ष झुकने को तैयार नहीं था। गांधी 1938 में होने वाले अधिवेशन के लिए पट्टाभि सीतारामय्या को अध्यक्ष बनाना चाहते थे। उन्होंने 1 अक्टूबर, 1937 को नेहरू को लिखा, 'जहां तक मेरा संबंध है, पट्टाभि का चुनाव अच्छा है। लेकिन मेरा खयाल है कि इस बारे में तुम्हें समिति के सदस्यों की राय भी जान लेनी चाहिए।'[21] लेकिन पट्टाभि पर सहमति नहीं बनाई जा सकी। गांधी के लिए दुविधापूर्ण स्थितियां पैदा होती गईं। वे न तो खुलकर नेहरू का विरोध कर पा रहे थे और न ही अपनी नीतियों के लिए कांग्रेस को पूरी तरह तैयार कर पा रहे थे। उनके व्यक्तिगत विषय पर कांग्रेस साथ थी लेकिन स्थिति वैसी नहीं रह गई थी जिसमें गांधी की हर बात मानी जाए। ऐसे माहौल में सरदार पटेल मजबूती से उनके साथ खड़े थे। गांधी ने अक्टूबर, 1937 के पहले सप्ताह में सेगांव से एक पत्र लिखकर पटेल के सामने दर्द व्यक्त किया:

'इस समय जो तूफानी हवा चल रही है, उस पर यदि हम काबू नहीं पा लेते तो मेरे विचार से बाजी हमारे हाथ से जाती रहेगी। इस पर काबू पाने के लिए हमसे जो बन पड़े, हमें करना चाहिए। यदि लोग हमारी बात नहीं मानते हैं तो हमें पीछे हट ही जाना होगा। थोड़ी-सी जगहों पर थोड़े लोगों का अधिकार होने की जो वर्तमान व्यवस्था है, वह हमारे लिए बेकार है। यदि हमारा समस्त संगठन पर अधिकार होगा तभी काम आगे बढ़ेगा, अन्यथा नहीं। इसके लिए हमसे जो बन सके सो करना होगा।'[22]

दूसरी बार कांग्रेस अध्यक्ष बनने के बाद नेहरू का रियासती मुद्दों पर गांधी से टकराव और तेज होता गया। नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने मैसूर में चल रही लोकतांत्रिक गतिविधियों के लिए अहिंसक संघर्ष का समर्थन करके गांधी की राजनीतिक सोच को सीधी चुनौती दी। कांग्रेस ने 31 अक्टूबर, 1937 को कलकत्ता अधिवेशन में प्रस्ताव पारित किया:

'यह अधिवेशन मैसूर रियासत में विभिन्न प्रतिबंध और निषेधाज्ञाएं जारी कर राजनीतिक मुकदमे चलाए जाने की क्रूर दमन-नीति और साथ ही भाषण

तथा सभा-सम्मेलन के प्राथमिक अधिकार से लोगों को वंचित कर नागरिक अधिकारों एवं स्वतंत्रता का दमन करने पर कड़ा विरोध व्यक्त करता है। यह अधिवेशन मैसूर के लोगों के प्रति मैत्रीपूर्ण शुभकामनाएं व्यक्त करके उनके वैध अहिंसक संघर्ष में उनकी सफलता चाहते हुए भारत की देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के लोगों से अनुरोध करता है कि आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए मैसूर के लोग प्रशासन से जो संघर्ष कर रहे हैं, उसमें वे अपना पूर्ण समर्थन और प्रोत्साहन प्रदान करें।'

यह प्रस्ताव गांधी को पसंद नहीं आया। उन्होंने 1 नवम्बर, 1937 को पटेल को लिखा:

'मैं तो इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि (यदि तुम सभी) हट जाओ तो अच्छा है। अगर सब न भी हटें तो भी तुमको हट जाना चाहिए। जमनालाल तो हटेंगे ही। फिर रहा कौन? राजेन्द्र बाबू? दिवाला ही निकला समझो। भूलाभाई भी हटेंगे। लेकिन यदि वे नहीं हटे तो भी कोई हर्ज नहीं। मौलाना का साथ मिलना ही चाहिए, ऐसा मुझे नहीं लगता। अगर ये नहीं हटे तो अंत में मजबूरन हटने की नौबत आएगी। मैंने देख लिया है कि सुभाष का कोई भरोसा नहीं है। फिर भी उनके सिवा और कोई अध्यक्ष नहीं बन सकता। मैंने तो रात को खूब विचार किया, इस समय भी किया। दूसरे जो चाहें वो करें। मेरा विश्वास है कि तुम्हें तो हट ही जाना चाहिए। यदि हर एक अपना फर्ज नहीं समझे तो कुछ होगा नहीं और सारी बाजी हाथ से चली जाएगी।'[23]

इसी पत्र में गांधी ने पटेल को कांग्रेस कार्यसमिति से अलग होने का तरीका भी बताया। उन्होंने लिखा:

'हटने के कारण साफ हैं। मैसूर-प्रकरण और बढ़ता हुआ मतभेद। ...ऐसे तीव्र मतभेदों के रहते कमेटी में हर्गिज नहीं रहा जा सकता, तुम्हें यह स्पष्ट कर देना चाहिए। पूरा विचार तुम खुद ही अकेले बैठकर कर लेना। इसमें किसी की समझदारी काम नहीं आ सकती। मैं तो बने रहने में तुम्हारा नुकसान ही देखता हूं। मैंने तो सुझाव दिया है कि तुम सबको त्यागपत्र दे देना चाहिए। आज सब इकट्ठे होकर विचार कर लो। आज का काम हर्गिज ठीक नहीं माना जा सकता। और भी जो कुछ हुआ, सब अनुचित है। ये खुशी से अपनी समिति बनाएं। यदि वे विरोध में इस्तीफा दें तो ठीक नहीं होगा। यह भी उनके सामने स्पष्ट कर देना चाहिए।'[24]

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कलकत्ता बैठक में समझौते के तमाम प्रयासों के

बावजूद गांधी मैसूर प्रस्ताव को भूलने को तैयार नहीं हुए। उन्होंने 13 नवम्बर, 1937 के 'हरिजन' में अधिवेशन के प्रस्तावों की आलोचना से शुरुआत की और आखिरकार मैसूर प्रस्ताव को भी निशाने पर लिया। उन्होंने लिखा, 'अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में कांग्रेस के मंत्रिमंडलों की आलोचना का जो प्रस्ताव पास हुआ, वह तो अप्रासंगिक है ही, उस पर हुए भाषण उससे भी ज्यादा अप्रासंगिक थे। जवाहरलाल नेहरू ने अपने विस्तृत वक्तव्य में जो कहा है, उन्हें चाहिए था कि उसका अध्ययन कर उस पर ध्यान देते।'[25] गांधी ने आगे लिखा:

> 'इससे भी कहीं अधिक आपत्तिजनक मेरी राय में मैसूर संबंधी प्रस्ताव था और दु:ख की बात यह है कि किसी के भी सच्चाई पर प्रकाश डाले बिना ही वह मंजूर कर लिया गया। मैसूर का पैरोकार मैं नहीं हूं.. मेरी राय में मैसूर संबंधी प्रस्ताव हस्तक्षेप नहीं करने के हमारे प्रस्ताव की दृष्टि से नियम विरुद्ध था.. प्रस्ताव से सही स्थिति का पता नहीं चलता और जो भाषण हुए, उनमें तथ्यों के बजाय जोश ही ज्यादा था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को चाहिए था कि कोई निर्णय घोषित करने से पहले पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए कोई समिति नियुक्त करती या किसी एक व्यक्ति से ही जांच करवाती।'[26]

हरिजन में गांधी का लेख छपते ही नेहरू ने उन्हें कटाक्ष भरा जवाब दिया। 14 नवम्बर, 1937 को उन्होंने गांधी को पत्र में लिखा:

> 'मैसूर संबंधी प्रस्ताव के बारे में आपने कहा है कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के लिए उसे पास करना अनियमित था। ऐसी बात थी तब तो मुझे उस पर विचार नहीं होने देना चाहिए था और उस पर रोक लगा देनी चाहिए थी। लेकिन मुझे विधान के किसी ऐसे नियम की कोई जानकारी नहीं है जिसके अंतर्गत ऐसे किसी प्रस्ताव को रोका जा सकता है जो सामान्य रूप में पेश किया जाए और जिसका महासमिति का बहुमत समर्थन कर रहा हो। विधान की बात जाने दें तो भी मुझे कांग्रेस या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के किसी ऐसे फैसले की कोई जानकारी नहीं है जिसमें कहा गया हो कि ऐसे मामलों पर विचार नहीं होना चाहिए। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को ऐसे प्रस्ताव पर विचार करने की पूरी आजादी है जो खुद उसके पहले स्वीकृत प्रस्ताव के विपरीत ही क्यों न हो। हमारे बयानों में यह जरूर कहा गया है कि कांग्रेस राज्यों में हस्तक्षेप नहीं करने की नीति का अनुसरण करना चाहती है; लेकिन अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी हस्तक्षेप करना चाहे तो वे बयान उसे ऐसा करने से रोक नहीं सकते। ऐसी हालत में कानूनी शब्द 'नियम विरुद्ध' कैसे लागू किया जा सकता है, यह मैं नहीं समझ सकता।'[27]

नेहरू अपने हर वाक्य के साथ गांधी की आलोचना को गलत ठहरा रहे थे और उनके तर्कों को चुनौती दे रहे थे। उन्होंने गांधी से नीति के बारे में कई सवाल भी किए:

> 'हस्तक्षेप आखिर है क्या? किसी प्रस्ताव में किसी रियासत का उल्लेख मात्र ही क्या हस्तक्षेप है? क्या नागरिक स्वतंत्रता की मांग अथवा दमन की निंदा हस्तक्षेप है? ऐसी बात हो तब तो खुद कांग्रेस ही पिछले दो वर्षों में निश्चित रूप से इसकी दोषी रही है। प्रस्ताव मैसूर में हो रहे दमन की निंदा का था तो क्या भविष्य में किसी रियासत में कैसा भी दमन होने पर हम उसकी निंदा नहीं करेंगे? दमन के दौरान खुद कांग्रेस पर प्रहार किया जाए, हमारे झंडे का अपमान हो अथवा हमारी संस्था पर ही रोक लगा दी जाए तब भी क्या हम खामोश ही रहेंगे? ये सब बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए जिससे हमारे संगठन को निश्चित पता चल जाए कि हमें क्या ढंग अख्तियार करना है।'[28]

गांधी ने मैसूर प्रस्ताव की आलोचना करते हुए लिखा था कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को कम-से-कम दूसरे पक्ष की बात सुने बिना यह प्रस्ताव पास नहीं करना चाहिए था। नेहरू उनकी इस बात से सहमत नहीं थे। उन्होंने लिखा, 'आपके खयाल से क्या हमारे लिए यह संभव है कि हम रियासतों में जाकर जांच करने के लिए समितियां नियुक्त करें? क्या रियासतें इसके लिए सहमत होंगी? मैंने कई मौकों पर उन्हें यह सुझाव दिया है। जांच-समिति की बात तो दूर, मैंने कहा कि वास्तविकता का पता लगाने के लिए कोई व्यक्ति जाकर दोनों पक्षों से बातचीत कर सके तो ठीक होगा। लेकिन इसे उन्होंने हमेशा ठुकराया है। ऐसी हालत में यह कहना सही नहीं है कि किसी की बात सुने बगैर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इकतरफा किसी की निंदा की है।'[29] अपने इस पत्र के अंत में नेहरू ने लिखा, 'यह सब मैं आपको इसलिए लिख रहा हूं क्योंकि हमारी क्या नीति है, इस बारे में खुद अपने दिमाग में मैं कोई अस्पष्टता नहीं रहने देना चाहता। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और मैंने जिस तरह काम किया, उसके लिए आपने हमारी निंदा की है। अभी तक भी मैं यह नहीं समझ पाया कि मैंने कैसे और कहां भूल की है; और, जब तक मैं यह समझ नहीं लेता तब तक और किसी तरह काम करना मुश्किल ही है।'[30]

नेहरू के पत्र की शब्दावली गांधी के लिए अनूठी थी। कांग्रेस में सक्रियता के दौरान इस तरह पहले उन्हें सीधी चुनौती नहीं मिली थी। नेहरू के प्रति शुरू से भावुक रहे गांधी सीधा जवाब तक नहीं लिख सके। गांधी की ओर से पत्र का जवाब देते हुए महादेव देसाई ने नेहरू को 19 नवम्बर, 1937 को लिखा कि गांधी की राय में 'हस्तक्षेप नहीं करने की नीति का स्पष्ट भंग हुआ है... बापू चाहते हैं कि मैं तुम्हें विश्वास दिला दूं कि उनका इरादा तुम्हारी निंदा करने का कभी नहीं था।'[31] उसी दिन नेहरू ने कर्नाटक कांग्रेस के मंत्री आर.एस. हुकेरिकर* को

*हुकेरिकर ने लिखा था, 'महात्मा गांधी ने जो आलोचना की है, उसका नतीजा यह होगा कि कांग्रेस में फूट पड़ जाएगी। इसके फलस्वरूप उनकी सारी हलचलें रुक जाएंगी और जो जेलों में हैं, वे वहीं सड़ते रहेंगे।'

पत्र लिखकर गांधी पर कांग्रेस और मैसूर की जनता के साथ अन्याय करने का आरोप लगाया। नेहरू ने लिखा:

'तथ्यों का पूरी तरह पता लगाए बिना अपनी राय जाहिर करके उन्होंने मैसूर के लोगों, कर्नाटक-प्रांतीय कांग्रेस कमेटी और साथ ही अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रति भी अन्याय किया है। ..मेरे खयाल में आलोचना करके महात्माजी ने ठीक नहीं किया। उनकी आलोचना पढ़ने के फौरन बाद ही मैंने उन्हें पत्र लिखकर स्थिति को स्पष्ट करने का अनुरोध किया है। न तो मेरी ऐसी आदत है और न मैं इसे मुनासिब ही समझता हूं कि इस विषय पर मैं उनके साथ खुली बहस में पड़ूं। इसलिए आपको जो कुछ लिख रहा हूं वह व्यक्तिगत ही है और मैं चाहता हूं कि इस पत्र को प्रकाशित नहीं किया जाए।'[32]

नेहरू सिर्फ ऐसे व्यक्तिगत पत्र लिखकर भावनाएं व्यक्त करने तक सीमित रहने को तैयार नहीं थे। उन्होंने 26 नवम्बर, 1937 को एक वक्तव्य तैयार किया। अगले दिन उन्होंने राजेन्द्र प्रसाद को इस विषय में पत्र लिखा। राजेन्द्र प्रसाद गांधी के नजदीकी नेताओं में थे और गांधी की कांग्रेस से अलग चलने वाली गतिविधियों में भी पूरी तरह से जुड़े हुए थे। नेहरू ने लिखा:

'अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रस्तावों पर, खासकर मैसूर-संबंधी और मसानी के प्रस्ताव* के बारे में गांधीजी की आलोचना आपने पढ़ी होगी। उन्होंने कहा है कि इन प्रस्तावों से सत्य और अहिंसा का उल्लंघन हुआ है और मैसूर संबंधी प्रस्ताव अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के लिए नियम विरुद्ध है। कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से स्वभावत: इसका संबंध मुझसे है और यदि उनकी आलोचना ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि मैंने गलती की है। मैं इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहता हूं और जानना चाहता हूं कि मैंने कहां क्या गलती की। उनकी आलोचना पढ़ने के बाद फौरन ही मैंने उन्हें लिखा लेकिन दुर्भाग्यवश गांधीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं है और मेरे पत्र पर उनकी ओर से जो जवाब आया, उससे मेरा समाधान नहीं हुआ। इस बारे में मेरे पास अनेक पत्र आ रहे हैं जिनमें इस पर मेरी राय पूछी जाती है; लेकिन क्या जवाब दूं, यह समझ में नहीं आता। जब तक मुझे अन्यथा संतुष्ट नहीं कर दिया जाए, मैं अपनी पहले की राय पर ही कायम रह सकता हूं और मौका

---

*अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने मीनू मसानी का एक प्रस्ताव पास किया था जिसमें (1) सुप्रचारित नए विधान के लागू हो जाने पर भी दमन जारी रहने की निंदा की गई थी। (2) इस बात पर अफसोस जाहिर किया गया था कि कांग्रेसी प्रांतों में भी सारे राजनीतिक कैदी नहीं छोड़े गए और दमनकारी कानून बरकरार हैं। (3) सभी राजनीतिक कैदियों और नजरबंदों की तत्काल और बिना शर्त रिहाई तथा सभी दमनकारी कानूनों को रद्द करने की मांग की गई थी। (4) अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से अनुरोध किया गया था कि इस संबंध में चुनाव के समय किए वादों को पूरा कर अन्य प्रांतों के सामने उदाहरण पेश करने के आदेश वह कांग्रेस के मंत्रिमंडलों को दे।

पड़ने पर उसके अनुसार ही काम करूंगा।

इस बारे में मैं बहुत परेशान हूं और एक बार तो अखबारों में वक्तव्य प्रकाशित करने का विचार भी किया। असम जाते हुए रास्ते में उसका मसविदा भी बना लिया था लेकिन बाद में प्रकाशित करवाने का विचार छोड़ दिया। मगर उसकी एक प्रतिलिपि इस पत्र के साथ आपको भेज रहा हूं।'

26 नवम्बर, 1937 को नेहरू ने वक्तव्य तैयार किया, लेकिन उसे प्रकाशित नहीं किया। वह इस प्रकार था:

'महात्मा गांधी के विचारों और उनकी सलाह को हम हमेशा बहुत महत्व देते हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि इतने वर्षों से हम उन्हीं के मार्गदर्शन में काम कर रहे हैं। इसलिए कलकत्ता में हुए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पिछले अधिवेशन की उन्होंने जो आलोचना की, उस पर हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक था और मैंने यह जानने की पूरी कोशिश की कि उसकी अध्यक्षता करते हुए मुझसे कहां क्या गलती हुई। प्रस्ताव के गुण-दोष के बारे में अक्सर विभिन्न मत हो सकते हैं। अध्यक्ष की हैसियत से मुझे उससे कोई मतलब नहीं, हालांकि इस वर्ष के लिए कांग्रेस संगठन का प्रधान प्रशासक होने के कारण मैं उससे अप्रभावित भी नहीं रह सकता। लेकिन अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के किसी प्रस्ताव के गुण-दोष की बहस में मैं नहीं पड़ना चाहता। कांग्रेस के अन्य लोगों की तरह मैं भी तब तक उसके प्रस्तावों से बंधा हुआ हूं जब तक कि उन्हें परिवर्तित या फिर रद्द नहीं कर दिया जाता। लेकिन आलोचना में इस बात पर जोर दिया गया है कि मैसूर के संबंध में जो प्रस्ताव पास किया गया, वह अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के नियमों के विरुद्ध है और उस पर विचार के समय सत्य और अहिंसा का ध्यान नहीं रखा गया। ये आरोप बहुत गंभीर हैं। इन्हें यदि प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया जाता तो मुझे तथा अन्य लोगों को किसी निष्कर्ष पर पहुंचने में मदद मिलती। यह स्पष्ट है कि ऐसा होने पर ही आलोचना से लाभ उठाया जा सकता है। मैं जानना चाहता हूं कि मैंने कहां क्या गलती की, जिससे कि कोई गलती हुई हो तो उसकी पुनरावृत्ति न हो। गलती का पता ही न लगे तो जाहिर है कि मैं दुबारा वैसी गलती कर सकता हूं। अत: गलती को समझने की मैंने पूरी कोशिश की लेकिन कुछ समझ में नहीं आया। हो सकता है कि इस प्रस्ताव पर जो भाषण हुए, उनमें कुछ पहलुओं पर अनावश्यक जोर दिया गया हो। बहस के बीच आमतौर पर ऐसा होता ही है। लेकिन ऐसी कोई बात भी मुझे याद नहीं आती जिसे सत्य और अहिंसा का उल्लंघन कहा जा सके। जहां तक प्रस्ताव की भाषा का संबंध है, मुझे उसमें ऐसा कुछ मालूम नहीं पड़ता जिससे सत्य और अहिंसा

की अवहेलना हुई हो। निस्संदेह यह तो हो सकता है कि प्रस्ताव की भाषा अच्छी नहीं हो या कुछ लोगों को वह अच्छी नहीं लगे। मैसूर के प्रस्ताव को नियम-विरुद्ध बताना तो ऐसा निश्चित आरोप है जिसे सप्रमाण पूरी तरह सिद्ध किया जाना चाहिए। मुझे तो यह सर्वथा निराधार ही लगता है। कांग्रेस के विधान में ऐसे प्रस्ताव का कोई निषेध नहीं है। न मेरी जानकारी में कांग्रेस या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का ही कोई ऐसा प्रस्ताव है जो इसके लिए बाधक हो। मैंने जो कार्यविधि अपनाई, वह मेरे खयाल में बिल्कुल ठीक थी। लेकिन ऐसा नहीं हो तो भी प्रस्ताव नियम विरुद्ध नहीं हो सकता।

गांधीजी की आलोचना को शिरोधार्य करने में मेरे लिए यही कठिनाइयां हैं। जब तक मेरी इन कठिनाइयों का निवारण न हो, मैं जो ठीक समझूं वही कर सकता हूं। दुर्भाग्यवश अभी ढाई महीने और मुझे कांग्रेस की अध्यक्षता करनी है जिसमें ऐसे और भी अवसर आ सकते हैं, तब मुझे अपना मत या निर्देश देना पड़ेगा। इसलिए मैं चाहूंगा कि मुझे अपनी गलती का तसल्लीबख्स अहसास करवा दिया जाए जिससे कि और गलती न हो।'[33]

कांग्रेस महासमिति ने मैसूर को लेकर अचानक प्रस्ताव पास नहीं किया था। मैसूर रियासत में दमन को लेकर कांग्रेस नेताओं में लंबे समय से आक्रोश था। इस सिलसिले में नेहरू का मैसूर के तत्कालीन दीवान मिर्जा इस्माइल से पत्र व्यवहार भी हुआ लेकिन नतीजा कुछ नहीं निकला। नेहरू ने पहली बार 20 फरवरी, 1937 को मैसूर को लेकर प्रतिक्रिया व्यक्त की, '6 मार्च को मैसूर की प्रतिनिधि सभा के लिए चुनाव होने वाले हैं। कांग्रेस ने चुनाव लड़ने का फैसला करके एक बोर्ड बना दिया है। कमलादेवी चट्टोपाध्याय चुनाव को लेकर भाषण देने वाली थीं। पुलिस एक्ट और धारा 144 के अंतर्गत आदेश देकर भाषण देने से रोक दिया गया। उनके लिए होटल में चाय पार्टी भी रोक दी गई। लगता है चुनाव सिर्फ ढकोसला रह गया है।'[34]

28 जून को बैंगलोर के मास अवेकनर्स यूनियन को नेहरू ने लिखा, 'नागरिक स्वतंत्रता पर पाबंदी का विरोध होना चाहिए। हमारे कार्यकर्ता बड़ी तादाद में गिरफ्तार किए जा रहे हैं।'[35] नेहरू ने मैसूर कांग्रेस कमेटी के संस्थापक सदस्य और अध्यक्ष रहे सिद्धलिंगैया को लिखा, 'आप कोई वैध कार्रवाई करना चाहें तो उसमें रुकावट डालने की हमारी कोई इच्छा नहीं है।'[36]

गांधी-नेहरू के विवाद का विषय केवल दो व्यक्तियों के आत्मीय व्यवहार से जुड़ा हुआ नहीं था। उस दौरान की राजनीतिक घटनाओं में एक मुख्य गुत्थी थी कि क्या गांधी सेवा संघ जैसे प्रयोग के जरिए गांधी कोई राजनीतिक दल खड़ा करके कांग्रेस को चुनौती देना चाहते थे? इसका स्पष्ट जवाब दिया जाना संभव नहीं है। यह निश्चित है कि 1935 से बाद के वर्षों में उनका कांग्रेस से विरोध हो चला था और कांग्रेस कार्यसमिति तक दो हिस्सों में बंटी हुई थी। उस दौरान नेहरू -बोस राजनीतिक रूप से साथ थे। देश की नौजवान पीढ़ी इन्हें वर्तमान

एवं भविष्य के नेता के रूप में देख रही थी। आखिर गांधी ने आर–पार का फैसला करने के लिए कदम आगे बढ़ा दिए। 23 जनवरी, 1938 को सुभाषचंद्र बोस विदेश यात्रा से कराची लौटे। गांधी ने उसी दिन बोस को तार भेजकर अपनी इच्छा प्रकट की, 'स्वदेश लौटने पर तुम्हारा स्वागत है। परमात्मा तुम्हें जवाहरलाल की जगह संभालने की शक्ति दे।'[37]

गांधी को एक बार फिर निराशा हुई। बोस की राह और अलग थी। रियासतों के मामले में गांधी–नेहरू विवाद हरिपुरा के कांग्रेस अधिवेशन में और खुलकर सामने आया। चूंकि कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में बोस को कार्यभार संभालना था, इसलिए यह और महत्वपूर्ण हो गया। बोस की नेहरू से नजदीकियां और गांधी की सोच और व्यवहार के प्रति नापसंदगी नई नहीं रह गई थी। कांग्रेस के 1937 के दौरान किए गए कार्यों की रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। अवकाश ग्रहण करने वाले अध्यक्ष उसमें कुछ जोड़ें या अपनी ओर से अलग से बात रखें, ऐसी परंपरा पहले कभी नहीं रही। लेकिन नेहरू ने 16 फरवरी, 1938 को कांग्रेस के अधिवेशन में पहली बार अलग से रिपोर्ट पेश की। उनका कहना था कि उन्हें जिन समस्याओं का सामना करना पड़ा, उसके अहम विषयों पर वे ध्यान आकर्षित करवाना चाहते हैं। इस रिपोर्ट में उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय हालात, भारत पर कथित रूप से मंडरा रहे युद्ध के खोखलेपन के साथ रियासतों के विषय को प्रमुखता से उठाया। इसमें उन्होंने गांधी की मैसूर प्रस्ताव की आलोचना का जवाब दिया। उन्होंने रिपोर्ट में कहा:

> 'भारत की रियासतें अभी भी अपने पुराने तौर–तरीके ही अपनाए हुए हैं और जो सदी बीत चुकी, उसी में बनी रहना चाहती हैं। किसी भी तरह की कोई राजनीतिक गतिविधि वे नहीं होने देना चाहतीं और ऐसा करने की हर कोशिश को वे कुचल डालने की कोशिश करती हैं। मगर रियासती प्रजा देश में आई जागृति से अछूती नहीं रही है और सब जगह उसने अपने आंदोलन शुरू कर दिए हैं। रियासतों के बारे में कांग्रेस का रुख स्पष्ट है। भारत की स्वतंत्रता का जो लक्ष्य उसने अपने सामने रखा है उसमें रियासतों का भी समावेश है क्योंकि कोई वजह नहीं कि रियासतों में रहने वालों को भी वैसी ही स्वतंत्रता न हो जैसी कि भारत के अन्य भागों में रहने वालों को उपलब्ध हो। सभी रियासतों का हमारे स्वतंत्रता संग्राम के क्षेत्र में समावेश है। इस प्रकार हमारा लक्ष्य बिल्कुल स्पष्ट है, अलबत्ता उसके लिए काम करने का तरीका क्या हो, यह संदिग्ध है। कुछ लोगों का विचार है कि रियासतों के बारे में कांग्रेस को अपनी नीति यह रखनी चाहिए कि वहां किए जाने वाले संघर्ष की जिम्मेदारी वहीं के लोगों के ऊपर रहे और उसमें वह हस्तक्षेप न करे। निश्चय ही, उसका भार तो उन्हीं के ऊपर रहना चाहिए लेकिन कांग्रेस उनसे बिल्कुल अलग रहे, यह न तो संभव है और न वांछनीय ही। यह ठीक है कि कांग्रेस का नाम हम उनके आंदोलन से नहीं जुड़ने दें लेकिन इस बात को कैसे दरकिनार किया जा सकता है कि रियासतों में होने वाले स्वतंत्रता के हर आंदोलन में कांग्रेस की पूरी दिलचस्पी है और जहां

संभव हो वहां उसे मदद भी करनी पड़ती है। रियासतें भारत के ऐसे अंधकारपूर्ण और हानिप्रद कोने हैं जिनमें अजीबो-गरीब बातें होती रहती हैं और वहां लोगों को ऐसे गायब कर दिया जाता है कि कुछ पता ही नहीं चलता। पिछले साल ही भारत के एक बहुत प्रगतिशील राज्य मैसूर ने राज्य में उत्तरदायी शासन के लिए चलाए गए आंदोलन को कुचलने की कोशिश करके ऐसी बदनामी हासिल की है जो अवांछित है। यहां तक कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी तक को वहां किए गए दमन की निंदा का प्रस्ताव पास करना पड़ा। गांधी ने इस प्रस्ताव को अ.भा. कांग्रेस कमेटी के लिए अधिकार बाह्य ताकत बताकर इसकी आलोचना जरूर की है, लेकिन मेरे खयाल में कांग्रेस को ऐसा करने का पूरा अधिकार है। मैसूर जैसे राज्य का जब यह हाल है तो अन्य राज्यों के बारे में तो कहना ही क्या!'[38]

गांधी ने उस माहौल में सत्य का एक और प्रयोग करने के लिए निर्णायक कदम बढ़ाए। लेकिन वे अपनी इस रणनीति पर कायम थे कि लड़ाई को फैलाने की बजाय केन्द्रित किया जाए। इसलिए रियासतों में लोकतांत्रित अधिकारों और स्वतंत्रता की मांग को लेकर चल रहे आंदोलन के बीच उन्होंने अपने दो भरोसे के साथियों जमनालाल बजाज और वल्लभभाई पटेल के जरिए जयपुर और राजकोट में सीधा मोर्चा खोला।

उन्होंने गांधी सेवा संघ की डेलांग बैठक के बाद 24 अप्रेल, 1938 को मैसूर राज्य कांग्रेस अध्यक्ष को पत्र लिखा। इस पत्र में ध्वज सत्याग्रह आंदोलन को लेकर कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार किए जाने पर दुख व्यक्त किया। उन्होंने सुझाव दिया कि राज्य कांग्रेस स्पष्ट रूप से घोषणा कर दे कि राष्ट्रीय कांग्रेस ध्वज को फहराने में राज्य कांग्रेस का राज्य ध्वज का अपमान करने का कोई इरादा नहीं था। गांधी ने स्पष्ट किया कि विशेष अवसरों पर राष्ट्रीय ध्वज फहराते समय मैसूर का ध्वज भी फहराया जाना चाहिए। गांधी उस समय मैसूर के दीवान मिर्जा इस्माइल के संपर्क में थे; इसलिए उन्होंने राज्य कांग्रेस अध्यक्ष को लिखा कि यदि उनकी सलाह से रास्ता निकाल सकें तो गिरफ्तार किए गए कार्यकर्ता छोड़ दिए जाएंगे।[39]

इस पत्र में उन्होंने यह सलाह दोहराई, 'मैसूर राज्य-कांग्रेस की सदस्यता को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रारंभिक सदस्यों तक ही सीमित रखना बिलकुल गलत है और यह कि इसके फलस्वरूप राज्य-कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का ही एक संगठन बन जाएगी, फिर चाहे वह उससे असंबद्ध ही क्यों न हो। मेरे विचार से ऐसा करना इस विषय पर हरिपुरा कांग्रेस प्रस्ताव* की भावना के विपरीत है।'

*प्रस्ताव का प्रासंगिक अंश: 'चूंकि रियासतों और शेष भारत की परिस्थितियां भिन्न हैं, इसलिए कांग्रेस की सामान्य नीति प्राय: रियासतों के अनुरूप नहीं होती और इससे किसी रियासत के स्वतंत्रता आंदोलन के विकास में बाधा पड़ सकती है। यदि इन आंदोलनों को रियासत की जनता से ही बल मिले, वे वहां की परिस्थितियों के अनुरूप हों और इन्हें किसी बाह्य सहायता या कांग्रेस के नाम की आवश्यकता नहीं पड़े तो वे और तेजी से बढ़ सकते हैं और इनका आधार और विस्तृत हो सकता है। कांग्रेस ऐसे आंदोलनों का स्वागत करती है, लेकिन जैसा कि स्वाभाविक है और वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए स्वतंत्रता आंदोलन को चलाते रहने की जिम्मेदारी रियासत के लोगों को ही उठानी चाहिए। शांतिपूर्ण और वैध तरीकों से चलाए जाने वाले ऐसे आंदोलनों को कांग्रेस की सद्भावना और सहायता हमेशा उपलब्ध रहेगी लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में वह केवल नैतिक समर्थन और सहानुभूति ही दे सकती

अगले ही दिन गांधी ने एक भावुक पत्र में नेहरू को संबंधों की याद दिलवाई। गांधी ने 25 अप्रेल, 1938 को नेहरू को स्पष्ट रूप से लिखा:

> 'इससे मुझे चोट पहुंचती है कि हमारे इतिहास के इस नाजुक अवसर पर महत्वपूर्ण मामलों में हम सहमत दिखाई नहीं पड़ते। मैं तुम्हें बता नहीं सकता कि यह जानकर मुझे घोर अकेलापन महसूस होता है कि आजकल मैं तुम्हें अपने विचार का नहीं बना सकता। मैं जानता हूं तुम प्रेमवश बहुत कुछ करोगे। लेकिन राजनीतिक मामलों में जब बुद्धि विद्रोह करती हो तो प्रेमवश आत्मसमर्पण नहीं किया जा सकता। तुम्हारी बगावत के कारण तुम्हारे प्रति मेरी भावना में कमी नहीं आई, उलटे ममत्व बढ़ा ही है। इसी वजह से अकेलापन और खलता है।'[41]

नतीजा यह निकला कि 19 मई, 1938 को कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में गांधी द्वारा तैयार किया गया प्रस्ताव पारित हुआ। गांधी ने इस प्रस्ताव में लिखा था:

> 'मैसूर रियासत में विदुराश्वत्थम के समीप निहत्थी भीड़ पर जो गोली चली, उसके बारे में जनता और प्रशासन दोनों के बयान कार्यसमिति ने पढ़े हैं। कार्यसमिति को इस बात का दु:ख है कि राज्याधिकारियों को गोली चलाने की जरूरत महसूस हुई। यह देखते हुए कि मैसूर सरकार ने गोली चलाए जाने के कारणों की जांच करने के लिए एक ट्रिब्यूनल बैठाया है, कार्यसमिति इस हत्याकांड के संबंध में अपनी राय व्यक्त नहीं कर रही है। लेकिन कार्यसमिति का यह विचार है कि महाराजा को अपने राज्य में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करनी चाहिए जिससे कि कानून और व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी; और, अगर जरूरत हो तो गोली चलाने की भी जिम्मेदारी जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार के कंधों पर हो। कार्यसमिति मृतकों के परिवारों को अपनी संवेदना भेजती है और घायलों के साथ सहानुभूति प्रकट करती है।
>
> सरदार वल्लभभाई पटेल और आचार्य कृपलानी ने मैसूर रियासत और मैसूर कांग्रेस में जो समझौता करवाया है, कार्यसमिति उसका अनुमोदन करती है। कार्यसमिति को इस बात का संतोष है कि मैसूर सरकार ने समझौते पर अमल करने के संबंध में एक विज्ञप्ति जारी की है और महाराजा तथा उनके सलाहकार जिस मुस्तैदी के साथ समझौते पर अमल कर रहे हैं, उसके लिए कार्यसमिति उन्हें बधाई देती है। कार्यसमिति आशा करती है कि मैसूर कांग्रेस भी समझौते पर दृढ़ता से अमल करेगी।
>
> राष्ट्रीय ध्वज फहराए जाने के प्रश्न पर कार्यसमिति आशा रखती है कि कांग्रेस ऐसा कोई कार्य नहीं करेगी जिससे रियासत के ध्वज के अपमान का

आभास हो और राज्याधिकारी भी ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिससे राष्ट्रीय ध्वज के अपमान का आभास हो।* राष्ट्रीय ध्वज को अंततः सर्वोच्च दर्जा प्रदान करने की बात उसका बलपूर्वक सम्मान करवाने की शक्ति पर निर्भर नहीं करेगी बल्कि यह तो कांग्रेसियों के शुद्ध आचरण पर और कांग्रेस देश में जो सेवा कार्य करेगी उस पर निर्भर करेगी। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि राष्ट्रीय ध्वज सत्य और अहिंसात्मक साधनों द्वारा स्थापित राष्ट्रीय एकता और अहिंसा का प्रतीक है। यह भी बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि ऐसे कांग्रेसियों की संख्या बढ़ती जा रही है जो मध्य युग के अवशेष इन रियासतों का पूरी तरह से उन्मूलन चाहते हैं, तथापि कांग्रेस की नीति अब तक कुल-मिलाकर रियासतों के प्रति मैत्री की रही है क्योंकि उसे आशा रही है कि वे युग-धर्म को पहचानेंगी और अपनी सीमाओं में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करेंगी और अपने अधिकार क्षेत्र में रहने वाले लोगों की स्वतंत्रता को दूसरी तरह से भी और व्यापक बनाएंगी और उनकी रक्षा करेंगी।'

इसी दौरान देश की विभिन्न रियासतों में लोकजागरण, स्वतंत्रता आंदोलन और जन संगठन बनाने की व्यापक भूमिकाएं तैयार हो गईं। राजपूताना, उड़ीसा, पंजाब, कश्मीर, काठियावाड़, हैदराबाद, त्रावणकोर में आंदोलन खड़े हो गए। कश्मीर में सैकड़ों लोगों को गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। सितम्बर और नवम्बर, 1938 के बीच उड़ीसा की रणपुर रियासत में पुलिस की गोलियों से 17 लोगों की मृत्यु हुई। उड़ीसा के ही ढेंकनाल में अफसरों ने बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया। कुछ रियासतों ने सकारात्मक रुख अख्तियार किया। महाराष्ट्र की एक छोटी रियासत औंध ने उत्तरदायी सरकार की स्वीकृति दे दी। उन्होंने एक संविधान जारी करके औंध को ग्राम गणतंत्रों का एक संघ बना दिया। बनारस और उड़ीसा के हिंडौल में राजनीतिक सुधारों की घोषणा की गई।[42]

बोस के अध्यक्ष बनने के बाद नेहरू की राजे-रजवाड़ों के विरोध की भूमिका में कमी आना तो दूर; वे और खुलकर खड़े हो गए। इलाहाबाद के एक भाषण में उन्होंने कहा कि आधुनिक भारत में रजवाड़े पुराने जमाने के अवशेष रह गए हैं और उन्हें बने रहने का कोई हक नहीं है। ये शासक राजाओं की लंबी और प्राचीन परंपरा के वंशज होने का दावा नहीं कर सकते। इनमें से कितनी ही रियासतों का अस्तित्व मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद का है। अंग्रेजों के आने के बाद कितने ही सरदारों में भूमि का फिर से बंटवारा हुआ। इन सरदारों ने विदेशियों को अपना समर्थन दिया था। नेहरू ने आरोप लगाया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद रियासतों में चल रहे जन आंदोलन के खिलाफ वहां शासकों के जरिए लड़ाई चला रहा है। रियासतों के शासकों को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि अंग्रेज यह लड़ाई उनके लिए लड़

*20 मई, 1938 के हिन्दू में निम्न रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी: 'महात्मा गांधी ने मैसूर के कांग्रेसियों को यह निर्देश दिया है कि मैसूर के महाराजा के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने के चिह्न स्वरूप और कोई झगड़ा-विवाद नहीं हो, इसके लिए वे विशेष अवसरों पर राष्ट्रीय ध्वज फहराने से पहले मैसूर रियासत का ध्वज फहराएं।'[43]

रहे हैं बल्कि सच्चाई तो यह है कि वे साम्राज्यवाद के अस्तित्व के लिए लड़ रहे हैं। ये रियासतें शासकों के अधीन ऐसी इकाइयां हैं, जिनका संरक्षण ब्रिटिश फौजें करती हैं और उनमें से अधिकांश का कोई संविधान नहीं है। राजा-महाराजा, नवाब और सरदार राज्यों की आमदनी को अपना निजी धन समझते हैं और उसे अस्पतालों-स्कूलों वगैरह पर खर्च करने की बजाय अपनी निजी सुख-सुविधाओं पर खर्च करते हैं। नेहरू ने कहा कि यह कहना निकम्मी बात होगी कि रियासतों में जो आंदोलन हो रहे हैं, वे बाहर के प्रभाव के कारण हो रहे हैं। बाहर के मुट्ठीभर लोग किसी भी रियासत में कभी भी जनप्रिय उथल-पुथल नहीं मचा सकते।[44]

यह वह दौर था जब कांग्रेस में राजनीतिक मतभेद गहराते जा रहे थे। गांधी ने उसी दौरान रियासती मामले को हाथ में ले लिया। दूसरी ओर, कांग्रेस की गतिविधियां तब अटक गईं जब कार्यकारिणी गठन को लेकर नहीं मिटने वाले मतभेद उभर आए। सुभाषचंद्र बोस की सोच अलग थी। वे रियासती मामलों में पड़ने के इच्छुक नहीं थे। उन्होंने 10 फरवरी, 1939 को नेहरू को लिखा:

> 'ब्रिटिश सरकार राजाओं के माध्यम से कांग्रेस से झगड़ना चाह रही है, लेकिन हमें उनके जाल में नहीं फंसना है। राज्यों की समस्याओं पर झगड़े हुए राजाओं से अलग, हमें ब्रिटिश सरकार के सामने स्वराज का मुद्दा सीधे-सीधे रखना है। मुझे शंका है कि हम कहीं अपने मुख्य उद्देश्य से इधर-उधर तो नहीं भटक रहे। यदि हम स्वराज्य की बात छोड़कर ब्रिटिश सरकार से झगड़ा करेंगे और वह भी प्रांतीय राजाओं की समस्याओं को लेकर, तो हम भटक जाएंगे।'

लंबे पत्र व्यवहारों के बीच नेहरू ने बोस को 3 अप्रेल, 1939 को इलाहाबाद से बेहद लंबे पत्र में लिखा:

> 'मैं इस खयाल को बिल्कुल पसंद नहीं करता कि गांधीजी ग्वायर* के फैसले का इंतजार करते हुए दिल्ली में टिके रहें। न मैं उनके उपवास या ग्वायर के हवाले की कल्पना ही कर सकता हूं। समझौते की जिन शर्तों पर गांधीजी का उपवास स्थगित हुआ है, उनके बारे में मेरा कोई अच्छा खयाल नहीं है। मैंने उनके उपवास तोड़ने पर खुशी जाहिर की थी, और कुछ नहीं।'

बोस ने गांधी को भी 10 अप्रेल, 1939 को पत्र लिखकर राजकोट जाने पर आपत्ति की। बोस ने झीलगुड़ा से लिखा:

---

*मॉरिस ग्वायर (1878-1852); भारत के चीफ जस्टिस और फेडरल कोर्ट के प्रेसिडेंट। वायसराय के आश्वासन देने पर कि राजकोट के शासक के खिलाफ विश्वासघात के आरोप को भारत के चीफ जस्टिस के पास भेज दिया जाएगा, गांधी ने 7 मार्च, 1939 को उपवास खत्म किया था।

> 'डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने मेरी ओर से बिड़ला हाऊस में टेलीफोन द्वारा सूचित किया था कि मैं आपसे मिलने को कितना उत्सुक हूं। क्योंकि मुझे महसूस हो रहा था कि हमारे पत्राचार से कोई निष्कर्ष नहीं निकल रहा है और आमने-सामने बात होना अति आवश्यक है। फिर मेरे डॉक्टर ने भी बिड़ला हाउस में फोन पर महादेव देसाई से बात की और उन्हें बताया कि आप यहां आने का प्रयत्न अवश्य करें और कम-से-कम 8 तारीख के पूर्व दिल्ली छोड़कर नहीं जाएं, लेकिन खेद है कि राजकोट आपको खींचकर ले गया। मुझे आशा है कि यह राजकोट के लिए वरदान होगा लेकिन कांग्रेस के लिए अभिशाप नहीं बनेगा। यदि आपको अचानक राजकोट नहीं जाना पड़ता, तो आज त्रिपुरी की कथा का इतिहास कुछ और होता। आपमें स्थिति को संभालने की शक्ति है, लेकिन आप वहां उपस्थित नहीं थे। ..वस्तुतः जब आपने ठाकुर साहब (राजकोट) को अल्टीमेटम दिया था, तो स्वाभाविक था कि संपूर्ण भारत आप पर निर्भर था और आपके देशवासियों के एक वर्ग का विचार था, और आज भी है कि आप राजकोट संघर्ष स्थगित कर सकते थे.. कम-से-कम कुछ सप्ताह के लिए, जिससे राजकोट राज्य के लोगों को कोई हानि नहीं होने वाली थी।'[45]

बोस जिस दिन झीलगुड़ा से गांधी को पत्र लिख रहे थे; उसी दिन गांधी ने राजकोट से बोस को लिखा:

> 'मैं कोई कार्यकारिणी तुम पर लादना नहीं चाहता, न ही लादूंगा, तुम्हें भी लदवानी नहीं चाहिए। सदस्यों को स्वयं निर्णय करने दो। यदि तुम्हें मत प्राप्त नहीं होता तो विपक्ष का नेतृत्व करो, जब तक कि बहुमत प्राप्त नहीं कर लो। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि जहां-जहां मेरा प्रभाव है, वहां-वहां मैंने आंदोलन को रोक दिया है। त्रावणकोर और जयपुर इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। राजकोट में, मैं यहां आने से पूर्व में आंदोलन समाप्त कर आया। ..क्या तुम यह महसूस नहीं करते कि हम दोनों व्यक्ति किसी ही एक बात को अलग-अलग दृष्टि से देखते हैं और विरोधी निर्णय पर पहुंचते हैं, तो फिर हम राजनीतिक धरातल पर कैसे मिल सकते हैं..दिल्ली से मैंने तुम्हें तार द्वारा सूचित किया था कि मैं धनबाद पहुंचने में असमर्थ हूं। राजकोट की उपेक्षा करने का साहस मैं नहीं कर सकता था।'[46]

गांधी के स्पष्ट रवैए के बावजूद बोस ने सहमति बनाने की एक और कोशिश की। गांधी का पत्र पाते ही 13 अप्रेल, 1939 को बोस ने लिखा, 'आपका जीवन अपना नहीं है कि जब

चाहें, उसे दांव पर लगा दें। देशवासी राजकोट की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र के लिए आपका निर्देशन और मार्गदर्शन मांग सकते हैं।' साथ ही, आपत्ति दर्ज करवाई, 'आज भी कहता हूं कि राजकोट ने आपकी आत्मा को खरीद लिया है और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को बहुत हानि पहुंचाई।' बोस का मानना था कि राजकोट के लोग यदि अपने बलिदान और प्रयासों के बिना गांधी के आत्म बलिदान द्वारा स्वराज प्राप्त करते हैं, तो वे सदा के लिए राजनीतिक रूप से अविकसित रह जाएंगे और वे उस स्वराज की रक्षा करने में असमर्थ रहेंगे, जो गांधी उन्हें दिलवाएंगे।[47]

गांधी और बोस राजनीतिक दृष्टिकोण और विचारधारा को लेकर विपरीत ध्रुव हो चुके थे। बोस ने लिखा, 'राजकोट के लोगों के हित में संघर्ष करते समय आपने शेष सभी राज्यों के संघर्ष को रोक दिया। भारत में 600 के लगभग प्रांत हैं और राजकोट उनमें से सबसे छोटा प्रांत है। यदि राजकोट संघर्ष को बिच्छू दंश की संज्ञा दी जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मुझ जैसे बहुत-से लोग राजकोट समझौते को उचित नहीं मानते। राष्ट्रीय प्रेस ने इसे एक महान विजय बताया है, लेकिन इससे हमें क्या लाभ पहुंचा है?'[48] गांधी ने तत्काल इस पत्र का जवाब दिया, 'राजकोट की वजह से मैंने अन्य स्थानों पर अवज्ञा आंदोलन को नहीं रोका। लेकिन राजकोट ने मेरी आंखें खोल दीं। उसने मुझे मार्ग दिखाया।' गांधी बोस के नेतृत्व वाली कांग्रेस से निराश हो चुके थे। उन्होंने बोस को पत्र में लिखा, 'मैं बूढ़ा आदमी हूं। शायद अधिक चौकन्ना और भीरू स्वभाव का हूं। तुम जवान हो और जवानी में अनंत आशाएं होती हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि कांग्रेस की आज जो दशा है, वह कोई भला काम नहीं कर सकती और नाम को भी सविनय अवज्ञा आंदोलन नहीं चला सकती।'[49]

इस मोड़ पर रियासतों के मामले में गांधी और नेहरू साथ खड़े दिखाई दिए। नेहरू मानते थे कि सबसे गंभीर समस्या राजकोट और जयपुर की है क्योंकि गांधी उन समस्याओं को हल करने में जुटे थे, इसलिए कार्यकारिणी या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का हस्तक्षेप अवांछित था। बोस ने 28 मई, 1939 को इस पर पत्र लिखकर नेहरू से नाराजगी प्रकट की।[50] बोस का मानना था कि अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का लाभ उठाते हुए ब्रिटिश हुकूमत के सामने राष्ट्रीय मांग यानी स्वराज को अल्टीमेटम के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। बोस ने नेहरू को लिखा, 'राजकोट की अपेक्षा जयपुर कुछ बड़ा शहर है, लेकिन जब ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध देश के संघर्ष का मुद्दा उठता है, तो ये सब बहुत ही छोटे पड़ जाते हैं। यदि हम मुख्य संघर्ष को भूलकर इन छोटी-मोटी टालू नीतियों को अपनाते रहेंगे, तो हमें नागरिक स्वतंत्रता और राज्यों में उत्तरदायी सरकार पाने में कम-से-कम 250 वर्ष लग जाएंगे।'[51]

आखिरकार, बोस इस्तीफा देकर कांग्रेस से अलग हो गए। गांधी के लिए रियासती जनता की समस्याओं का निराकरण तात्कालिक राजनीति से जुड़ा विषय ही नहीं था।

संदर्भ सूची

1. डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्या: कांग्रेस का इतिहास-1, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958, पृष्ठ 79
2. राजेन्द्र प्रसाद: आत्मकथा, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ 612
3. वही, पृष्ठ 614
4. वही, पृष्ठ 614
5. डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्या: कांग्रेस का इतिहास-1, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958, पृष्ठ 162-163
6. राजेन्द्र प्रसाद: आत्मकथा, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ 616
7. रवींद्रचंद्र दत्त: स्टेट इंटरप्राइजेज इन अ डवलपिंग कंट्री, अभिनव पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1990, पृष्ठ 25
8. आचार्य नरेन्द्रदेव वांगमय-2, नेहरू स्मारक एवं पुस्तकालय, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ 212
9. वही, पृष्ठ 212
10. डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्या: कांग्रेस का इतिहास-1, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958, पृष्ठ 484
11. वही, पृष्ठ 484-485
12. जवाहरलाल नेहरू वांगमय-8, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 513
13. इलाहाबाद, 25 जुलाई, 1937 का संदेश/ द बॉम्बे क्रॉनिकल, 27 जुलाई, 1937
14. जवाहरलाल नेहरू वांगमय-8, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 525-526
15. वही, पृष्ठ 526-528
16. साप्ताहिक राजस्थान, झांसी/ अनुवाद : द बॉम्बे क्रॉनिकल, 29 सितम्बर, 1937
17. लखनऊ, 1 अक्टूबर, 1937 का वक्तव्य/ द बॉम्बे क्रॉनिकल, 2 अक्टूबर, 1937
18. जवाहरलाल नेहरू वांगमय-8, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 528-529
19. वही, पृष्ठ 519
20. अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी फाइल नं. पी 9/1937, पृष्ठ 109/ जवाहरलाल नेहरू वांगमय-8, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 521
21. गांधी-नेहरू पेपर्स, 1937, नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय, नई दिल्ली
22. संपूर्ण गांधी वांगमय-66, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 235
23. वही, 320-321
24. वही, पृष्ठ 320
25. जवाहरलाल नेहरू वांगमय-8, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 549
26. 'कुछ पुरानी चिट्ठियां', जवाहरलाल नेहरू पत्र व्यवहार, नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय, नई दिल्ली, पृष्ठ 156-157
27. वही, पृष्ठ 156-157
28. वही, पृष्ठ 156-157
29. वही, पृष्ठ 156-157
30. वही, पृष्ठ 156-157
31. जवाहरलाल नेहरू वांगमय-8, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 551
32. वही, पृष्ठ 552
33. अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी फाइल नं. जी. 88/ 1937-38/ नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय, नई दिल्ली, पृष्ठ 277
34. द हिन्दू, 22 फरवरी, 1937
35. अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी फाइल नं. जी-57/1937, नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय, नई दिल्ली, पृष्ठ 31
36. वही, पृष्ठ 653-654
37. बॉम्बे क्रॉनिकल, 26 जनवरी, 1938/ संपूर्ण गांधी वांगमय-66, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,

नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 387

38. जवाहरलाल नेहरू वांगमय-8, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 738-739
39. संपूर्ण गांधी वांगमय-67, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 50-53
40. वही, पृष्ठ 50-53
41. जवाहरलाल नेहरू वांगमय-8, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 369
42. जवाहरलाल नेहरू वांगमय-8, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 398-399
43. हरिजन, 21 मई, 1938
44. वही, पृष्ठ 403-404
45. नेताजी संपूर्ण वांगमय-9, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ 135-141
46. संपूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ 141-142
47. नेताजी संपूर्ण वांगमय-9, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ 145
48. वही, पृष्ठ 118-124
49. संपूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ 109
50. नेताजी संपूर्ण वांगमय-9, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ 178-179
51. वही, पृष्ठ 170

भाग: चार

गांधी–जयपुर संबंध

9

प्रजामंडल और जमनालाल

1930-34 के सत्याग्रह आंदोलन में देसी राज्यों की प्रजा ने कई स्थानों पर काफी भाग लिया। गुजराती-मारवाड़ी बम्बई-कलकत्ता आदि बड़े नगरों में व्यापार के लिए जाते, वहां आंदोलन बढ़ा तो वे उससे अपने को अलग नहीं रख सके। जब गुजराती-मारवाड़ी बम्बई-कलकत्ता के सत्याग्रह में शरीक हुए, तो वे अपनी रियासतों में भी इस आंदोलन को ले जाना चाहते थे। वे वही अधिकार चाहते थे, जिनके लिए वे ब्रिटिश भारत में कांग्रेस में शामिल होकर लड़ रहे थे। इस तरह कांग्रेस में एक खासा दल तैयार हो गया, जो कांग्रेस की नीति में परिवर्तन करवाना चाहता था।

-राजेन्द्र प्रसाद

1 सितम्बर, 1927*। जयपुर की गलियां देशभक्ति के नारों से गूंज उठीं। अनुचित करों, दमनकारी कानूनों और राजतंत्रीय व्यवस्था का दंश चुपचाप झेलती आ रही जनता का अचानक सड़कों पर निकल आना एक ऐसी अघोषित क्रांति का संकेत था, जो लोगों के मन में दबी हुई थी। इस प्रदर्शन की सूचना मिलते ही पुलिस वहां पहुंच गई और निहत्थे लोगों पर गोलियां चलानी शुरू कर दी। इस बर्बरतापूर्ण कार्रवाई में एक व्यक्ति की मौत हो गई और 37 लोग घायल हुए। गोलीबारी के कारण मची भगदड़ में पांच पुलिसवालों को भी गंभीर चोटें आईं। अगले दिन शाम साढ़े पांच बजे एक जनसभा आयोजित हुई, जिसमें पुलिस की भर्त्सना करते हुए कुल 13 प्रस्ताव पारित किए गए। इनमें घटना की निष्पक्ष जांच करवाने और बेहतर शासन व्यवस्था स्थापित करने की मांग की गई। इसके बाद पूरे शहर में संपूर्ण हड़ताल की घोषणा कर दी गई। प्रशासन की ओर से लोगों को आश्वासन दिया गया कि रेजिडेंट के द्वारा घटना की जांच करवाई जाएगी। इसके बाद हड़ताल वापस ली गई।[1]

इस घटना ने जयपुर प्रशासन की चिंता बढ़ा दी। पुलिस ने सख्त रवैया अपनाना शुरू कर दिया ताकि कोई बड़ा आंदोलन शुरू नहीं हो सके। प्रशासन की कड़ी निगरानी के कारण कोई ऐसा संगठन तैयार भी नहीं हो पा रहा था, जो सत्ता को चुनौती दे सके। रियासत के अंदर तानाशाही इस कदर हावी थी कि लोग प्रशासन के खिलाफ आवाज उठाने से डरते थे। ब्रिटिश

*राजस्थान राज्य अभिलेखागार की वेबसाइट पर जयपुर महकमा खास की गोपनीय फाइलें इस तारीख में 'जनविद्रोह' होने की पुष्टि करती हैं। बस्ता सं. 5 के अंतर्गत कुल 7 फाइलें इस घटना से संबंधित हैं, लेकिन इन सभी फाइलों की सामग्री को सार्वजनिक उपयोग के लिए प्रतिबंधित कर दिया गया है। उस समय के अन्य विवरणों में भी इस घटना के बारे में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती।

हुकूमत का बढ़ता हस्तक्षेप महाराजा के अधिकारों को लगभग नगण्य बना चुका था। वे नाममात्र के शासक रह गए थे और सत्ता पूरी तरह ब्रिटिश अफसरों के द्वारा नियंत्रित हो रही थी। ऐसे में महाराजा के नेतृत्व वाले शासन और ब्रिटिश अधिकारियों ने शुरू होने वाले आंदोलनों को दबाए रखना जरूरी समझा। लेकिन सदियों से दोहरी तानाशाही झेल रही जनता का विद्रोह दिन-ब-दिन प्रचंड होता जा रहा था। लोग अपने अधिकारों की मांग करना सीख रहे थे और संगठन की ताकत को पहचानने लगे थे। जयपुर की जनता को एक ऐसे संगठन की जरूरत थी, जो आमजन की समस्याओं को हल करने की नीयत और ताकत रखता हो।

दिसम्बर, 1927 में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य ब्रिटिश भारत की तरह रियासतों को भी राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ना और वहां के राजाओं की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन स्थापित करना था।[2] इसके बाद जयपुर में भी उत्तरदायी शासन की मांग शुरू हुई। जयपुर के राजनीतिक कार्यकर्ताओं में कपूरचंद पाटनी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पाटनी का जन्म जयपुर के एक प्रतिष्ठित जैन घराने में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा अर्जुनलाल सेठी के वर्धमान जैन विद्यालय में हुई थी। वे सेठी के प्रिय शिष्यों में से एक थे। पाटनी को युवावस्था से ही सार्वजनिक सेवा करने की लगन लगी। वे स्वतंत्र जीविकोपार्जन करते हुए समाजसेवा के कार्यों में लग गए। उनके मार्गदर्शन में पद्मावती पुस्तकालय, वीर सेवक मंडल, समाज सुधारक मंडल, हिन्दू अनाथाश्रम, कन्या शिक्षा प्रचारिणी समिति आदि संस्थाओं का गठन हुआ। जमनालाल बजाज की देखरेख में पाटनी ने राजपूताना और मध्य भारत में खादी का काम संभाला और साथ में हरिजन सेवा का काम भी करते रहे। उन्होंने जैन जगत, समाज-सुधारक आदि पत्रों का संपादन भी किया। 1931 में अनाज पर कर लगाने के विरोध में जयपुर प्रशासन के खिलाफ आंदोलन की शुरुआत हुई, जिसमें उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके साथ ही पाटनी का प्रत्यक्ष राजनीति में उदय हुआ। इसके बाद उन्होंने जयपुर राज्य प्रजामंडल का गठन किया और उत्तरदायी शासन की मांग करने के लिए राजनीतिक कार्यकर्ताओं को संगठित करना शुरू किया।[3]

5 अप्रेल, 1931 को जयपुर के कार्यकर्ताओं ने मोतीलाल दिवस* के कार्यक्रम का आयोजन किया। जयपुर पुलिस ने कार्यक्रम में शामिल गुलाबचंद चौधरी, कुंदन लाल और किशोर सिंह को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें कठोर दंड दिया।[4] प्रशासन की इस दमनकारी नीति से एक बार फिर जनता में भय व्याप्त होने लगा। कार्यकर्ताओं की कमी के कारण जयपुर प्रजामंडल धीरे-धीरे निष्क्रिय होने लगा और आने वाले कई वर्षों तक जयपुर में राजनीतिक सन्नाटा छाया रहा।

भय के इस माहौल में राजनीतिक परिवर्तन चाहने वाले लोगों ने परिस्थिति के अनुसार कदम बढ़ाया और रचनात्मक कार्यक्रमों से शुरुआत की। गांधी के नेतृत्व में उठ रही सत्याग्रह, अहिंसा, चरखे और खादी की लहर इसी दौरान जयपुर पहुंची। अखिल भारतीय खादी मंडल

*भील समुदाय के नेता मोतीलाल तेजावत को अगस्त, 1929 में गिरफ्तार किया गया था। गांधी ने 'नवजीवन' में एक लेख लिखकर उनकी गिरफ्तारी का विरोध किया था। जयपुर के इस कार्यक्रम में तेजावत को रिहा करने की मांग की गई थी।

के अध्यक्ष और सीकर के निवासी जमनालाल बजाज ने खादी प्रचार के लिए चरखा संघ बनाने की पहल की तो जयपुर के कपूरचंद पाटनी, केसरलाल कटारिया, बलवंत सांवलराम देशपांडे उनके साथ आए और रियासत में स्वदेशी की मुहिम छेड़ दी।[5]

इससे जयपुर में एक दीर्घकालीन परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार होने लगी। इस दौरान कई व्यक्तियों ने योगदान किया और सामाजिक जीवन से जुड़ गए। उन्होंने सामाजिक कार्यों को बढ़ावा देने के लिए नए संगठन बनाने के प्रयास शुरू किए। इसके लिए पहल करने वालों में एक प्रमुख व्यक्ति हीरालाल शास्त्री भी थे। जयपुर दरबार की नौकरी कर रहे शास्त्री गांवों के उत्थान के लिए काम करना चाहते थे लेकिन नौकरी छोड़ने को लेकर असमंजस में थे। एक दिन उनकी मुलाकात जयपुर में राष्ट्रीयता की अलख जगाने वाले अर्जुनलाल सेठी से हुई। सेठी ने उनसे कहा कि निश्चय कर ही लिया है तो मैदान में उतर जाइए।[6] सेठी की बातों से शास्त्री को हिम्मत मिली और उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। इसके बाद उन्होंने निवाई तहसील के वनस्थली गांव में एक बालिका विद्यालय की स्थापना की। हालांकि यह पूरी तरह शैक्षणिक संस्थान था, लेकिन शास्त्री ने गांधी आश्रम, हटूंडी (अजमेर) के हरिभाऊ उपाध्याय* और जमनालाल बजाज के साथ मिलकर इस विद्यालय को अपनी राजनीतिक गतिविधियों का केंद्र बना लिया और 'राजस्थान संघ' नामक संस्था का गठन किया।[7]

शास्त्री ने वनस्थली में चरखा संघ के अधीन जीवन कुटीर की स्थापना की। उन्होंने कई स्थानीय कार्यकर्ताओं को इस संस्था से जोड़कर आसपास के गांवों में वस्त्र-स्वावलंबन, खेती सुधार, औषधि वितरण, रात्रि पाठशाला जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने का कार्यक्रम शुरू किया।[8]

1936-37 में बजाज और शास्त्री ने मिलकर जयपुर प्रजामंडल को एक बार फिर सक्रिय करने के प्रयास शुरू किए। 22 अक्टूबर, 1936 को वनस्थली में राजस्थान संघ की बैठक हुई। इस बैठक में जयपुर रियासत के भीतर कांग्रेस की गतिविधियों को बढ़ाने के लिए प्रजामंडल की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव में कहा गया कि राजपूताना की रियासतों में 'राज्य प्रजामंडल' वैसे ही कार्य करेंगे; जैसे ब्रिटिश भारत में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी कर रही है।[9] प्रजामंडल का मुख्य उद्देश्य रियासतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए जनता को जागरूक करके राजनीतिक आंदोलन चलाना था। जयपुर राज्य प्रजामंडल के पहले अध्यक्ष चिरंजीवलाल मिश्र** और महामंत्री शास्त्री बनाए गए। आने वाले समय में हरिश्चंद्र शर्मा, चिरंजीलाल अग्रवाल, हंस डी. राय और लादूराम जोशी भी उनके साथ आ गए और जयपुर राज्य प्रजामंडल सक्रिय रूप से काम करने लगा।[10]

प्रजामंडल ने जयपुर प्रशासन को प्रतिक्रियावादी नीति छोड़कर जनता की मांग पर ध्यान

---

*हरिभाऊ उपाध्याय गांधी के प्रमुख सहयोगियों में थे और कई वर्षों तक राजपूताना से जुड़े हुए कांग्रेस के कार्यक्रमों और गांधी के बीच में सेतु का काम करते रहे। वे तत्कालीन अजमेर राज्य के मुख्यमंत्री रहे। उन्होंने राजस्थान के वित्त और शिक्षामंत्री का काम भी संभाला। वे साहित्यकार भी थे। गांधी साहित्य की रचना में उनका अमूल्य योगदान रहा है।

**चिरंजीवलाल मिश्र उत्तर प्रदेश के फर्रूखाबाद जिले के फतेहगढ़ के मूल निवासी थे। 1916 में लखनऊ में कांग्रेस के सदस्य बने। मिश्र 1920 में जयपुर आ गए। वे कई वर्षों तक जयपुर बार एसोसिएशन के अध्यक्ष रहे। स्वतंत्रता के बाद वे कांग्रेस से अलग हो गए। वे राजस्थान के पहले जनसंघ अध्यक्ष रहे।

देने के लिए कहा और जनसभाओं, भाषणों तथा अखबारों से प्रतिबंध हटाने की मांग की। जयपुर प्रशासन प्रजामंडल की गतिविधियों को रोकना चाहता था। अधिकारियों को भय था कि प्रजामंडल की मौजूदगी से उनके शासन को खतरा हो सकता है। उन्होंने प्रजामंडल की मांगों को ठुकरा दिया और उस पर नीतियां बदलने से लेकर नाम बदलने तक के लिए लगातार दबाव बनाना शुरू कर दिया। इस विषय पर जयपुर रियासत के ब्रिटिश पुलिस महानिरीक्षक एफ.एस. यंग और शास्त्री के बीच कई मुलाकातें हुईं। 24 जुलाई, 1937 को शास्त्री ने यंग को एक पत्र लिखकर प्रजामंडल की विचारधारा और मांगों को स्पष्ट किया। उन्होंने लिखा कि पूरे भारत में आंदोलनों और विकास का दौर चल रहा है और ऐसे में रियासतों की जनता को निष्क्रिय बनाकर नहीं रखा जा सकता। कुछ लोग अपने समाज के कल्याण के लिए काम करना चाहते हैं और प्रशासन से सहयोग की उम्मीद करते हैं। शास्त्री का कहना था कि प्रशासन को अपने ही लोगों से डरने की जरूरत नहीं है और लोगों को सामने आकर अपने मन की बात कहने का मौका दिया जाना चाहिए। उन्होंने यह भी लिखा कि सावधानी से कदम बढ़ाने की नीति भी ठीक है लेकिन जनता की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए।

शास्त्री ने यंग को चेतावनी दी कि लोगों की आवाज दबाने में प्रशासन कुछ देर के लिए सफल हो सकता है लेकिन ऐसा करने से और भी कई लोगों के मन में कड़वाहट पैदा होगी। उसके बाद ऐसी परिस्थिति की शुरुआत हो जाएगी जिसे टालने के लिए प्रशासन अभी व्याकुल है। उनका कहना था कि अधिकारियों को अपनी मानसिकता बदलनी होगी, क्योंकि यदि वे छोटा हृदय रखेंगे और हमेशा आवेश में दिखाई देंगे तो न केवल अपनी प्रतिष्ठा से हाथ धो बैठेंगे, बल्कि जनता का सद्भाव भी उनके प्रति खत्म हो जाएगा।

जयपुर प्रशासन यह तर्क देता आ रहा था कि प्रजामंडल का उद्देश्य राजनीतिक होने के कारण उसे मान्यता नहीं दी जा सकती। शास्त्री ने इसके जवाब में लिखा कि प्रशासन के पास अच्छे-बुरे दोनों काम करने की शक्ति है और उससे अच्छे काम करने की मांग करना राजनीतिक हो सकता है, लेकिन न तो यह बुरी बात है और न ही गैरकानूनी। प्रशासन निस्संदेह शक्तिशाली है; इसके बावजूद, जनता की ताकत भले प्रकट नहीं होती हो लेकिन उसे रोकना कठिन है। उन्होंने यंग को लोगों पर भरोसा करने का सुझाव दिया ताकि लोग भी उन पर भरोसा कर सकें।[11]

यंग ने इस पत्र को पढ़ा और उसी दिन अपना जवाब तैयार करके शास्त्री को भेज दिया। उसने प्रजामंडल से जुड़े उन सभी तथ्यों को बिन्दुवार तरीके से लिखा, जिनसे जयपुर प्रशासन को आपत्ति थी। उसने लिखा:

1. इस नाम से भ्रम पैदा होता है क्योंकि इसी नाम के संगठनों ने जोधपुर, बीकानेर, ग्वालियर और इंदौर रियासतों में प्रशासन के साथ सीधा टकराव शुरू कर दिया है। अमृतसर में इसी नाम के संगठन के सचिव को क्षेत्र से निष्कासित किया गया था और आदेश का उल्लंघन करने पर उसे 6 महीने का कारावास दिया गया था।

2. हाल में इंदौर प्रजामंडल की बैठक में इस प्रस्ताव को स्वीकृति दी गई कि सभी रियासतों के प्रजामंडल अखिल भारतीय देसी राज्य लोक परिषद के अधीन होंगे जिसके

माध्यम से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष के समक्ष संस्थागत प्रतिनिधित्व प्रस्तुत किया जा सकेगा। इस तरह सभी प्रजामंडलों को एक निश्चित राजनीतिक दर्जा प्राप्त हो जाता है।

3. प्रजामंडल के संविधान के तीसरे पैरा की धारा-बी में उल्लेख है कि प्रजामंडल 'समुचित माध्यमों से जनता की समस्याओं का निवारण करने का प्रयत्न करेगा।' इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि प्रजामंडल स्वयं को ग्रामीण उत्थान और सामाजिक कार्यों तक सीमित रखता तो प्रशासन को उसे मान्यता देने में कोई परेशानी नहीं होती। लेकिन प्रजामंडल अथवा किसी भी अन्य तंत्र को यह अधिकार नहीं मिल सकता कि वह जनता की समस्याओं का प्रतिनिधित्व करे।

4. यदि मंडल सामाजिक कार्यों को प्राथमिक महत्व देता है और इसी काम में उसकी समस्त ऊर्जा का निवेश होता है तो स्वाभाविक रूप से वह जनता की दबावपूर्ण आवश्यकताओं और आरोपित समस्याओं से भलीभांति परिचित हो जाएगा। तब उसके लिए बहुत आसान हो जाएगा कि वह इन आवश्यकताओं और समस्याओं में सहयोग कर रहे किसी भी अधिकारी का ध्यान उस तरफ दिलाए और संबंधित विभाग उस विषय में आवश्यक कार्रवाई करे।

5. यह सूचना मिली है कि मंडल अपने उन कार्यकर्ताओं को नियंत्रित करने में असफल रहा है, जो किसानों को लगान नहीं चुकाने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। अनुभव बताता है कि ग्रामीणों और किसानों का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठनों के लिए लोगों में उम्मीद और उत्साह जगाने के बाद उन्हें नियंत्रित कर पाना असंभव हो जाता है। विशेष रूप से राजपूताना के ये अबोध किसान जो मंडल की गतिविधियों के कारण उससे उम्मीदें लगा बैठेंगे और मंडल कार्यकर्ताओं द्वारा किए गए गैर-जिम्मेदार वादे पूरे नहीं होने पर नियंत्रण से बाहर हो जाएंगे।

6. प्रशासन ठीक उन्हीं परिवर्तनों के बारे में विचार कर रहा है, जिनका सुझाव मंडल की ओर से दिया जा रहा है। यदि इन परिवर्तनों को लागू कर दिया जाए तो निश्चित रूप से मंडल इसका श्रेय लेगा और यह प्रचार करेगा कि उसके दबाव के कारण ऐसा हुआ। कोई भी प्रशासन इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता। जो वास्तविक प्रशासन है और जिसकी प्रजामंडल आलोचना करता है वह स्वयं प्रशासनिक परिवर्तन के लिए चिंतित है। भारत की रियासतों में अभी इसका समय नहीं आया है।

7. जब तक इस बात का निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि वर्तमान प्रशासन ग्रामीण उत्थान एवं अन्य सामाजिक कार्यों के लिए तैयार नहीं है, तब तक मंडल द्वारा गांवों में जाकर संगठन बनाना भी अनुचित है और ग्रामीण जनता से एक ऐसे संगठन के लिए चंदा इकट्ठा करना भी न्यायसंगत नहीं है जो उन्हें कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं दे सकता।[12]

हीरालाल शास्त्री ने इस पत्र-व्यवहार की जानकारी प्रजामंडल की आम समिति को दी। 30 जुलाई, 1937 को आम समिति की एक बैठक हुई, जिसमें दो महत्वपूर्ण बिंदुओं पर विचार किया गया; प्रजामंडल का नाम और ग्रामीण क्षेत्र में सदस्यों की नियुक्ति। इस बैठक में कहा गया कि शहर हो अथवा गांव, सदस्यों की नियुक्ति ही किसी भी संगठन का प्राथमिक उद्देश्य होता है। फिर भी प्रशासन की संतुष्टि के लिए समिति प्रजामंडल की सदस्यता यंग द्वारा सुझाए

गए क्षेत्रों तक सीमित रखना स्वीकार करती है। लेकिन शर्त यह है कि प्रजामंडल को ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक-आर्थिक प्रगति के कार्य करने की, वहां के लोगों की आवश्यकताओं का अध्ययन करने की और आवश्यकता पड़ने पर संबंधित अधिकारियों को उसका ध्यान दिलाने की स्वतंत्रता रहेगी।[13]

प्रजामंडल के नाम को लेकर पारित प्रस्ताव में कहा गया कि इस नाम में कोई बुराई नहीं है और केवल इस आधार पर नाम बदलने के लिए कहना कि इस नाम के अन्य संगठन किसी अन्य स्थान पर अवांछित गतिविधि करते हैं, न्यायपूर्ण नहीं है। यह नाम उस समय अपनाया गया था जब जयपुर में अन्य प्रजामंडलों के बारे में कोई जानता भी नहीं था। कई वर्षों से इस संगठन को लोग इसी नाम से जानते हैं और इस समय नाम में किया जाने वाला कोई भी बदलाव उसे मुश्किल स्थिति में डाल देगा। समिति ने उम्मीद जताई कि जहां बाकी सब कुछ ठीक चल रहा है, ऐसे में इस बिंदु को इतना महत्व नहीं दिया जाएगा जो कि मंडल के सदस्यों की भावना से जुड़ा हुआ है। प्रस्ताव के अंत में विश्वास दिलाया गया कि प्रशासन के सहयोग से जनता के हित के लिए काम करना ही प्रजामंडल की सच्ची अभिलाषा है और वह उम्मीद करता है कि उसकी वैधानिक गतिविधियों में प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा कोई भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष बाधा उत्पन्न नहीं की जाएगी।[14]

इसके बाद भी प्रजामंडल और जयपुर प्रशासन के बीच गतिरोध की स्थिति जारी रही। इसी दौरान प्रजामंडल ने अपने पंजीयन के लिए आवेदन कर दिया। उस समय जयपुर में डब्ल्यू. ब्यूचैम्प सेंट जॉन प्रधानमंत्री था। ब्यूचैम्प जयपुर रियासत के अंदर महाराजा और ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ होने वाले हर तरह के आंदोलन का दमन कर देना चाहता था। प्रजामंडल के द्वारा किया जा रहा प्रयास और उसे कांग्रेस से मिल रहा समर्थन जयपुर कौंसिल के लिए चिंताजनक था। पुलिस को ये निर्देश दिए गए थे कि वह रियासत में होने वाली हर तरह की आंदोलनकारी घटनाओं का ब्यौरा रखे और कांग्रेस से संपर्क साधने वाले व्यक्तियों के खिलाफ कार्रवाई करे। 19-20 सितम्बर को जवाहरलाल नेहरू जयपुर स्टेशन से होकर गए। वे अजमेर की एक सभा में शामिल होकर इलाहाबाद लौट रहे थे। उनके पीछे जयपुर पुलिस के खुफिया विभाग का एच.सी. श्याम सुंदर नामक एक व्यक्ति लगा हुआ था, जिसके विवरण के आधार पर पुलिस ने रिपोर्ट तैयार की।[15]

अजमेर की सभा में जयपुर प्रजामंडल के बलवंत सांवलराम देशपांडे और लादूराम जोशी भी नेहरू का भाषण सुनने के लिए मौजूद थे। केसरगंज चौक में शाम सात बजे से साढ़े आठ बजे तक आम सभा आयोजित की गई। नेहरू ने भाषण में कहा कि अजमेर-मेरवाड़ा क्षेत्र राजपूताना रियासतों से घिरा हुआ है और भारत के देसी शासक आने वाले समय में इन रियासतों पर शासन का अधिकार खो देंगे। रियासतों के प्रति कांग्रेस की उदासीनता के बारे में उन्होंने कहा कि कांग्रेस रियासतों की जनता के साथ पूरी सहानुभूति रखती है। उन्होंने बताया कि उन्हें सीकर और बिजोलिया में हो रही गतिविधियों की पूरी जानकारी है और वे इसमें सहायता करने की हरसंभव कोशिश करेंगे। रियासतों में आंदोलन शुरू किए जाने की संभावना को खारिज करते हुए उन्होंने कहा कि राजस्थान के लोग बहुत पीछे हैं और उन्हें

ब्रिटिश भारत के स्तर तक लाने में बहुत समय लगेगा। उन्होंने साफ तौर पर कहा कि कांग्रेस अपना पूरा समय रियासतों को नहीं दे सकती क्योंकि ऐसा करने से ब्रिटिश भारत में मिली सफलताओं को क्षति पहुंचेगी। इसलिए रियासतों को अपनी लड़ाई खुद लड़नी होगी, जिसे कांग्रेस का पूरा समर्थन प्राप्त होगा। सभा समाप्त होने के बाद नेहरू रात नौ बजे की ट्रेन से इलाहाबाद के लिए रवाना हुए। रात लगभग सवा बारह बजे वे जयपुर पहुंचे। उनके स्वागत के लिए जयपुर प्रजामंडल और आर्य समाज के लोगों के अलावा कई वकील, व्यापारी तथा छात्र जयपुर स्टेशन पर जमा हुए थे। लोगों ने नेहरू को मालाएं पहनाईं और उनके समर्थन में नारे लगाए। प्रजामंडल के सदस्यों ने उसी शाम जौहरी बाजार में बैठक करके कमला नेहरू मेमोरियल फंड के तहत धन इकट्ठा किया था। यहां तक कि स्टेशन पहुंचने के बाद भी लोगों से चंदा मांगा जा रहा था। प्रजामंडल के सदस्यों ने नेहरू से आग्रह किया कि वे जयपुर के लिए कोई संदेश दें। उनके आने से पहले प्लेटफॉर्म पर दरी बिछाकर मेज-कुर्सी लगा दी गई थी ताकि लोग उन्हें व्यवस्थित तरीके से सुन सकें। यह प्रबंध चिरंजीवलाल मिश्र, चिरंजीलाल अग्रवाल और कपूरचंद पाटनी द्वारा किया गया था। ये तीनों अपने परिवारों के साथ स्टेशन पहुंचे थे। नेहरू ने प्लेटफॉर्म पर आकर भाषण दिया और कहा कि पूरा भारत एक है, जिसे बांटा नहीं जा सकता। उन्होंने लोगों से कहा कि वे सब एक साथ गुलाम बनाए गए हैं और एक साथ ही आजाद होंगे। भाषण के बाद प्रजामंडल की ओर से नेहरू को चंदे की राशि सौंपी गई और फिर वे अपने डिब्बे में चले गए। ट्रेन रवाना होने तक प्लेटफॉर्म पर खड़ी भीड़ नारे लगाती रही।[16]

खुफिया विभाग ने अपनी रिपोर्ट में कुल 90 व्यक्तियों के नाम लिखे, जो नेहरू से मिलने स्टेशन पहुंचे थे। जयपुर कौंसिल के लिए यह विषय चिंताजनक था, लेकिन एफ.एस. यंग ने गृहमंत्री हरि सिंह को पत्र लिखकर आश्वासन दिया कि जयपुर के लोगों का नेहरू से मिलने जाना किसी खतरे का संकेत नहीं है। उन्होंने लिखा, 'उनके स्वागत के लिए भारी संख्या में लोग पहुंचे, जिनमें रियासत के अफसर भी शामिल थे। लेकिन यह देखते हुए कि कांग्रेस ब्रिटिश भारत के प्रांतों में से आठ प्रांतों पर शासन कर रही है, मुझे नहीं लगता कि एक लोकप्रिय नेता से मिलने जाने वाले लोगों के विरुद्ध कोई कार्रवाई की जानी चाहिए। अधिकतर लोग नेहरू के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर केवल उत्सुकतावश वहां गए थे।'[17]

जयपुर प्रशासन प्रजामंडल की गतिविधियों पर नजर बनाए हुए था, लेकिन उसे मान्यता देने या प्रतिबंधित करने के बारे में कोई भी स्पष्ट निर्णय नहीं ले रहा था। 27 फरवरी, 1938 को हीरालाल शास्त्री ने पत्र लिखकर जमनालाल बजाज को सूचना दी कि जयपुर की स्थिति साफ नहीं हुई है और न ही साफ होने वाली मालूम पड़ती है। उन्होंने लिखा कि यंग हस्तक्षेप नहीं करना चाहता, लेकिन ब्यूचैम्प और अन्य अधिकारियों की मनोदशा नहीं बदली है। उस समय प्रजामंडल के पहले वार्षिक अधिवेशन की तैयारी भी चल रही थी। शास्त्री ने लिखा कि प्रशासन इसमें रुकावट डाल सकता है, फिर भी अधिवेशन हर हाल में आयोजित होना ही चाहिए। उन्होंने बताया कि वे और प्रजामंडल के अन्य सदस्य भी यह चाहते हैं कि अधिवेशन

बजाज के नेतृत्व में हो। शास्त्री ने अप्रेल के पहले सप्ताह में अधिवेशन करने का प्रस्ताव रखा और बजाज की राय मांगी।[18]

आम जनता में प्रजामंडल की बढ़ती लोकप्रियता देखकर जयपुर स्टेट कौंसिल ने 30 मार्च, 1938 को एक आदेश जारी किया जिसमें कहा गया कि प्रशासन की अनुमति के बिना रियासत में किसी भी सार्वजनिक संस्था का गठन नहीं किया जा सकता। इस आदेश के बाद प्रजामंडल के लिए स्थिति चुनौतीपूर्ण हो गई। प्रजामंडल ने भी जयपुर कौंसिल को चुनौती देते हुए रियासत में घोषणा कर दी कि 8-9 मई, 1938 को बजाज के नेतृत्व में जयपुर प्रजामंडल का पहला वार्षिक अधिवेशन आयोजित किया जाएगा।[19]

इसके बाद प्रजामंडल ने जनाधार विकसित करने के लिए अपना प्रचार-साहित्य तैयार किया और लोगों के बीच बांटना शुरू किया। इस साहित्य के माध्यम से लोगों को प्रजामंडल के उद्देश्यों के बारे में जानकारी दी जाती थी और उनसे अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाने की अपील की जाती थी। 7 अप्रेल, 1938 को 'प्रजामंडल की आठ बातें' शीर्षक से पर्चे तैयार करके बांटे गए। ये आठ बातें आम जनता में बहुत लोकप्रिय हुईं। इसमें लिखी हुई पहली बात यह थी कि लोगों को सभा करने, भाषण देने तथा अखबारों में लेख लिखने की आजादी होनी चाहिए तथा प्रशासन को नुक्ताचीनी से घबराने की बजाए ऐसे काम करने चाहिए कि जनता को नुक्ताचीनी करने की जरूरत ही नहीं पड़े। दूसरी बात कि महाराजा की छत्रछाया में जनता द्वारा चुने हुए लोगों की एक सभा होनी चाहिए, जिसे कानून बनाने और बजट मंजूर करने का अधिकार हो और जयपुर शहर तथा अन्य बड़े कस्बों में साफ-सफाई के लिए चुनी हुई नगरपालिकाओं का गठन किया जाए। प्रजामंडल की तीसरी बात रोजगार और आर्थिक विषमता से जुड़ी हुई थी। इसमें कहा गया कि रोजगार देना प्रशासन का कर्तव्य है, जिसे वह खेती, कारीगरी, व्यापार और कला-कौशल को बढ़ावा देकर ही पूरा कर सकता है। साथ ही, यह मांग की गई कि बड़े पदों पर दी जा रही मोटी तनख्वाह को कम करना चाहिए और जिन लोगों को गुजारे लायक तनख्वाह नहीं मिलती है, उन्हें ज्यादा मिलना चाहिए। रियासत के स्थानीय निवासियों को नौकरी में प्राथमिकता देने की भी बात कही गई। चौथे बिंदु में किसानों की बदहाल आर्थिक स्थिति की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा गया कि उनकी कर्जदारी मिटाने और आय बढ़ाने के लिए उपाय किए जाने चाहिए। पांचवीं बात शिक्षा और स्वास्थ्य के संबंध में थी। इसमें कहा गया कि विद्यालयों की संख्या बढ़ाकर उनमें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे छात्रों को रोजगार मिल सके; और जनता के इलाज के लिए ज्यादा दवाखाने होने चाहिए तथा उनमें गरीबों की तरफ अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। छठी बात थी कि पुलिस के पास तथा अदालतों में आमजन की सुनवाई तुरंत होनी चाहिए और सब जगह ऐसा इंतजाम होना चाहिए कि अर्जी देने वालों को परेशान नहीं होना पड़े। प्रशासनिक कार्यों में अंग्रेजी भाषा के बढ़ते प्रयोग पर कहा गया कि राजभाषा वह होनी चाहिए, जो साधारण बोलचाल में काम आती हो और जिसका लिखना-पढ़ना सरल हो। सातवीं बात यह थी कि बेठ-बेगार, लाग-बाग, कौड़ी-चुंगी जैसे कर हटा दिए जाने चाहिए और रिश्वतखोरी को बंद करवाना चाहिए क्योंकि इन बातों से जनता परेशान होती है। इनसे प्रशासन को या ठिकानों को भी विशेष लाभ

नहीं पहुंचता है। प्रजामंडल की अंतिम बात यह थी कि प्रशासन को जनता की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए कानून बनाकर उन्हें बिना भेदभाव के अमल में लाना चाहिए और उन कानूनों को रद्द कर देना चाहिए जो जनता के हितों के लिए ठीक नहीं हैं। ऐसी कोशिश की जानी चाहिए जिससे लोग दिल से यह कह सकें कि जयपुर राज सचमुच अपनी प्रजा की भलाई करता है।[20]

जयपुर प्रजामंडल अपने प्रचार-साहित्य के माध्यम से लोगों को बताता था कि उसका संबंध किसी विशेष जाति या धर्म से नहीं है और वह जनता की भलाई चाहता है। प्रजामंडल ने स्पष्ट किया कि वह कमजोर लोगों की सहायता करना चाहता है, लेकिन किसी को नुकसान पहुंचाने का उसका इरादा नहीं है। 16 अप्रेल, 1938 को प्रजामंडल द्वारा जारी किए गए एक प्रचार पत्र में कहा गया, 'जागीरदार, राजकर्मचारी या किसी को भी यह खयाल नहीं करना चाहिए कि प्रजामंडल उनके खिलाफ है। प्रजामंडल तो सिर्फ यह चाहता है कि जिनके पास कुछ करने की ताकत है, उनको जरा हमदर्दी और दूरंदेशी से काम लेना चाहिए। जो बातें अब तक चलती रहीं, उनका अब नए जमाने में चलना मुश्किल है और उन्हीं बातों को चलाते रहने की जिद रखी गई तो उसका नतीजा अपने आप ही खराब होगा।'[21]

उत्तरदायी शासन क्या होता है और वह जनता के लिए क्यों जरूरी है, इस विषय को भी प्रजामंडल के प्रचार साहित्य में स्पष्ट किया गया। 2 मई, 1938 को हीरालाल शास्त्री ने एक पत्र जारी करके जयपुर की जनता को सीधी-सरल भाषा में लोकतंत्र की बनावट समझाने का प्रयास किया। उन्होंने लिखा कि प्रजामंडल एक ऐसी व्यवस्था चाहता है, जिसमें जयपुर के वयस्क महिला-पुरुषों को अपने-अपने क्षेत्र से सदस्य चुनने का अधिकार हो। जो सदस्य चुने जाएंगे, वे अपने क्षेत्र की जनता के प्रतिनिधि यानी जनता की तरफ से काम करने वाले होंगे। यदि उन प्रतिनिधियों में से कोई ठीक काम नहीं करेगा तो वह लोगों की निगाह में गिर जाएगा और उसे दुबारा नहीं चुना जाएगा। इस तरह चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा में से महाराजा उन सदस्यों को अपने मंत्री बनाएंगे, जिनको ज्यादा से ज्यादा सदस्य पसंद करेंगे। इस तरह बनाए हुए मंत्री यदि कोई ऐसा काम कर बैठें जो ज्यादातर सदस्यों को पसंद नहीं हो, तो उन्हें इस्तीफा देना पड़ेगा जिसे महाराजा मंजूर कर लेंगे। बस इसी का नाम उत्तरदायी शासन है, जिसका मतलब यह है कि जनता अपने चुने हुए सदस्यों से सवाल कर सकती है, उन्हें उलाहना और शाबासी दे सकती है, उन्हें बना सकती है और बिगाड़ सकती है।[22]

संदर्भ सूची

1. के.एस. सक्सेनाः द पॉलिटिकल मूवमेंट्स एंड अवेकनिंग इन राजस्थान, एस.चांद एंड कंपनी, नई दिल्ली, पृष्ठ 196-197
2. डॉ. विष्णुदयाल माथुरः स्टेट्स पीपल्स कांफ्रेंस-ओरिजिन एंड रोल इन राजस्थान, पब्लिशिंग स्कीम, जयपुर, 1984, पृष्ठ 28
3. सुमनेश जोशी: राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, ग्रंथागार, जयपुर, पृष्ठ 552
4. पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 182
5. सुमनेश जोशी: राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, ग्रंथागार, जयपुर, पृष्ठ 548
6. डॉ. महेन्द्र खड़गावतः राजस्थानी स्वतंत्रता संग्राम के साक्षी, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृष्ठ 71
7. एफ.एस. यंग द्वारा ब्यूचैम्प को भेजी गई गोपनीय रिपोर्ट/ पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 274
8. सुमनेश जोशी: राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, ग्रंथागार, जयपुर, 1973, पृष्ठ 289
9. एफ.एस. यंग द्वारा ब्यूचैम्प को भेजी गई गोपनीय रिपोर्ट/ स्रोत-पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 274
10. पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 263
11. हीरालाल शास्त्री: प्रत्यक्षजीवनशास्त्र-1, अनुपम प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 1970, पृष्ठ 342
12. वही, पृष्ठ 353-354
13. वही, पृष्ठ 342-43
14. वही, पृष्ठ 343-344
15. जयपुर महकमा खास दस्तावेज (1937), बस्ता संख्या-1, क्रम संख्या-10, फाइल संख्या-313 (गोपनीय)
16. वही
17. वही
18. हीरालाल शास्त्री: प्रत्यक्षजीवनशास्त्र-1, अनुपम प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 1970, पृष्ठ 405
19. पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 263-264
20. 'प्रजामंडल की आठ बातें'/ पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 295-96
21. 'प्रजामंडल की एक झांकी'/ स्रोत-पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 297
22. पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 298-99

10

गांधी की गिरफ्तारी की तैयारी

1937 में ब्रिटिश हुक्मरानों ने महात्मा गांधी को पकड़ने के लिए उस समय कहा था, जब गांधी जयपुर से होकर जा रहे थे। वहां कुछ गड़बड़ हो गई; या तो दरबार (मान सिंह) को संदेश प्राप्त नहीं हुआ या जहां महात्मा के उतरने की संभावना थी, वहां गाड़ी खड़ी नहीं हुई। सारे मामले का नतीजा कुछ नहीं निकला। महाबलेश्वर में महात्मा ने दरबार का छेड़ने वाले स्वर में स्वागत किया, 'ओह! तो आप ही वे शरारती युवक हैं, जिन्होंने मुझे बंदी बनाने का प्रयत्न किया था! आखिरकार, मैं आपको मिल ही गया'।

–गायत्री देवी

बेरबोई (डेलांग) में गांधी सेवा संघ की बैठक में जयपुर आंदोलन पर मंथन होने के बाद जमनालाल बजाज की गांधी से लगातार मुलाकातें होती रहीं। 18 अप्रेल, 1938 को बजाज की गांधी से सीमित बात ही हो सकी, कोई नतीजा नहीं निकला। अगले दिन सवा घंटे तक बातचीत हुई। बजाज ने प्रजामंडल और खादी प्रदर्शनी के बारे में गांधी से विचार–विमर्श किया।[1] इस लंबी वार्ता के बाद उन्हें गांधी का समर्थन और आशीर्वाद मिल गया। गांधी ने प्रजामंडल के लिए एक संदेश भी तैयार किया। 30 अप्रेल को गांधी और बजाज बम्बई से एक ही ट्रेन से रवाना हुए। गांधी पेशावर जा रहे थे और बजाज जयपुर आ रहे थे। रतलाम स्टेशन आने पर बजाज गांधी के डिब्बे में गए। दोनों के बीच थोड़ी देर तक बातचीत हुई। गांधी ने प्रजामंडल के लिए लिखा अपना संदेश* बजाज को सौंप दिया:

> 'आज हमारे देश में जो कुछ हो रहा है, उसका अध्ययन जो कोई भी व्यक्ति करना चाहेगा, वह देखेगा कि हमारा जो ध्येय है उसे हम तभी प्राप्त कर सकते हैं जब हम शांति मंत्र को, अहिंसा के सिद्धांत को सिद्ध कर लें। अशांति से शांति पैदा नहीं की जा सकती। ऐसा प्रयास तो कांटों से अंगूर चुनने या बबूल से अंजीर चुनने जैसा होगा। जितना ही मैं इस प्रश्न की गहराई में जाता हूं उतनी ही मेरे मन में यह धारणा पक्की होती जाती है कि हमारा प्रथम कर्तव्य इस मूल तथ्य को समझने का है। एक समय था जब मैं इस भ्रम में पड़ा हुआ था कि मैंने उस पाठ को सीखने का गुर हासिल कर लिया है। किन्तु आज

*यह संदेश 'जयपुर प्रजामंडल के नाम संदेश' शीर्षक से 'हरिजन' में प्रकाशित हुआ।

मुझे शंका ने घेर लिया है। मैं नहीं जानता कि सच्ची शांति या अहिंसा प्राप्त करने के लिए मुझमें पर्याप्त शुद्धता है। ऐसी मन:स्थिति में मैं और कुछ नहीं सोच सकता हूं और न ही मैं कोई और बात कर सकता हूं। लेकिन मेरी दशा चाहे जैसी भी हो, मुझे इस बारे में तनिक भी संदेह नहीं कि अहिंसा के बिना स्वराज्य नहीं हो सकता और न ही कोई रचनात्मक कार्य हो सकता है। रचनात्मक कार्य अहिंसा का ही सौम्य रूप है, लेकिन अहिंसा की सच्ची कसौटी इस बात में है कि हम अपने स्वीकृत ध्येय की सेवा करते हुए निस्संकोच भाव से मृत्यु का वरण करने की क्षमता अर्जित करें, ऐसी मृत्यु जो सर्वथा निर्दोष हो। अब प्रश्न यह है कि इस शक्ति को कैसे प्राप्त किया जाए। मैं चाहूंगा कि आप इस पर विचार करें।'[2]

प्रजामंडल के अधिवेशन में लगभग एक सप्ताह का समय बचा था। पहले वार्षिक अधिवेशन की तैयारी जोर-शोर से की जाने लगी। प्रशासन की ओर से इसमें रुकावट डालने की कोशिश जारी थी, लेकिन उत्साही कार्यकर्ता हर चुनौती को स्वीकार करने के लिए तैयार थे। बजाज ने जयपुर पहुंचने के बाद प्रजामंडल के सभी सदस्यों से मिलकर स्थिति को अच्छी तरह समझा। कपूरचंद पाटनी, चिरंजीलाल अग्रवाल, हरिश्चंद्र शर्मा आदि से बात करने के बाद उन्होंने कई मुस्लिम कार्यकर्ताओं और जयपुर के वकीलों से भी मुलाकात की। बजाज कोशिश कर रहे थे कि प्रजामंडल के पहले अधिवेशन को हर सूरत में सफलता मिले और उसमें कोई बाधा नहीं पहुंचे लेकिन बाधाएं हर कदम पर इंतजार कर रही थीं। पूरी तैयारी हो जाने के बाद यंग ने शास्त्री से मुलाकात की और कहा कि अधिवेशन के दौरान शहर के अंदर जुलूस निकालने की अनुमति नहीं दी जाएगी। शास्त्री ने कार्यसमिति के अन्य सदस्यों से इस विषय पर बात की।[3]

उसी दिन यंग ने शास्त्री के नाम एक पत्र भेजकर सरकार की आपत्तियां लिखित रूप में सौंपी और अधिवेशन से संबंधित कुछ अन्य शर्तों का भी उल्लेख किया। यंग ने लिखा, 'आपकी अब तक की बातों से मैं यह समझ रहा हूं कि प्रजामंडल के अधिवेशन के दौरान निम्नलिखित विषयों पर न कोई भाषण होगा और न ही कोई प्रस्ताव पारित किया जाएगा:

1. भू-राजस्व अथवा अन्य वैधानिक कर और महसूल की अदायगी नहीं करने के संबंध में।

2. सीकर के मामले में।

3. महाराजा और प्रशासन के अन्य सदस्यों पर व्यक्तिगत आक्षेप करने वाले विषयों पर।[4]

सरकार की तमाम अड़चनों के बावजूद प्रजामंडल का पहला अधिवेशन जयपुर के लोकतांत्रिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय बन गया। इसमें शामिल होने के लिए कस्तूरबा और उनके पुत्र देवदास जयपुर पहुंचे। 7 मई की सुबह जब उनका आगमन हुआ, तो बजाज के नेतृत्व में एक विशाल जुलूस निकाला गया। इस जुलूस में लगभग 10 हजार नागरिक शामिल हुए। दोपहर में कस्तूरबा ने एक प्रदर्शनी का उदघाटन किया। इस प्रदर्शनी में यंग भी

मौजूद था। जब वहां वंदेमातरम् का गान शुरू हुआ तो यंग भी सम्मान में खड़ा हुआ।[5]

गांधी उस समय तक पेशावर में थे। वे भी अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए जयपुर आने वाले थे, लेकिन जयपुर प्रशासन के रवैये को देखते हुए अंतिम समय में उनका दौरा रद्द करवाना पड़ा। यंग ने अधिवेशन शुरू होने के पहले बजाज से मिलकर गांधी के संभावित दौरे को लेकर देर तक चर्चा की। उसने प्रजामंडल के प्रति पूरी सहानुभूति जताते हुए अपनी मजबूरी बताई। इसके बाद बजाज ने तार भेजकर गांधी को सूचना दी और जयपुर आने से मना करवाया। कांग्रेस नेता जयरामदास को भी जयपुर आने से मना करवाया गया।[6] वल्लभभाई पटेल भी उस अधिवेशन में भाग लेने के लिए जयपुर आने वाले थे, लेकिन व्यस्तता के कारण अंतिम समय में उन्हें भी कार्यक्रम रद्द करना पड़ा। गांधी ने बजाज को तार भेजकर सूचना दी कि वल्लभभाई पटेल को मैसूर जाना है, इसलिए वे जयपुर नहीं आ सकेंगे।[7]

जयपुर महाराजा पर दबाव था कि गांधी को जयपुर पहुंचने पर गिरफ्तार कर लिया जाए। लेकिन प्रशासन और प्रजामंडल में सक्रिय कुछ लोग इस स्थिति को बचाना चाहते थे। महारानी गायत्री देवी ने अपनी आत्मकथा में गांधी और जयपुर राज के संबंधों के बारे में लिखा है:

> 'हम बड़ोदरा वाली बड़ा मां (चिमनाबाई गायकवाड़) के पास गए। वे उस समय महाबलेश्वर में रह रही थीं, जहां वे प्रतिदिन महात्मा गांधी को प्रात: भ्रमण पर मिलती थीं। उन्होंने दरबार (मान सिंह) का महात्मा से परिचय करवाना चाहा। वे नहीं जानती थीं कि यद्यपि दरबार महात्मा से पहले कभी नहीं मिले थे; फिर भी एक बार 1937 में उनको ब्रिटिश हुक्मरानों ने महात्मा को पकड़ने के लिए उस समय कहा था जब गांधी जयपुर से होकर जा रहे थे। वहां कुछ गड़बड़ हो गई; या तो दरबार (मान सिंह) को संदेश प्राप्त नहीं हुआ या फिर जहां महात्मा के उतरने की संभावना थी, वहां गाड़ी खड़ी ही नहीं हुई। खैर, सारे मामले का नतीजा कुछ नहीं निकला। लेकिन अब महात्मा गांधी ने दरबार को छेड़ने वाले स्वर में स्वागत किया, 'ओह! तो आप ही वे शरारती युवक हैं, जिन्होंने मुझे बंदी बनाने का प्रयत्न किया था! आखिरकार मैं आपको मिल ही गया।'[8]

आखिरकार, 8-9 मई को जमनालाल बजाज की अध्यक्षता में जयपुर प्रजामंडल का पहला अधिवेशन आयोजित हुआ। 8 मई की शाम सात बजे से लेकर रात ग्यारह बजे तक अधिवेशन का खुला सत्र चला, जिसमें 7 हजार लोगों ने टिकट खरीदकर भाग लिया।[9] प्रजामंडल के नेताओं ने अपने भाषणों में जयपुर प्रशासन की दमनकारी नीतियों की कठोर आलोचना की और जल्दी-से-जल्दी उत्तरदायी शासन स्थापित करने की अपनी मांग को जयपुर की जनता के बीच खड़े होकर एक बार फिर दोहराया। इस अधिवेशन के लिए बजाज का अध्यक्षीय भाषण भी स्वयं गांधी ने ही तैयार किया था।[10]

कस्तूरबा लगभग एक सप्ताह तक जयपुर रियासत में रहीं। इस दौरान वे 11 मई को सीकर

पहुंचीं और वहां के राजनीतिक हालात के बारे में जानकारी ली। 13 मई को उन्होंने बजाज का पैतृक गांव काशी का बास जाकर देखा। 14 मई को रींगस होते हुए वे दिल्ली लौट गईं।[11]

इसी दौरान सीकर के राव राजा कल्याण सिंह और महाराजा मान सिंह के बीच चल रहे विवाद* ने उग्र रूप ले लिया। जयपुर दरबार की ओर से राव राजा के ऊपर लगाए गए नियमों और प्रतिबंधों ने सीकर की जनता को आक्रोशित किया। कल्याण सिंह के पुत्र हरदयाल सिंह की शिक्षा से जुड़े फैसले भी जयपुर दरबार द्वारा गठित सीकर कौंसिल लेने लगी। हरदयाल सिंह की सगाई ध्रांगध्रा की राजकुमारी से हुई थी और 1938 में उनका विवाह होने वाला था। हरदयाल की शिक्षा अजमेर के मेयो कॉलेज में चल रही थी। मान सिंह ने उन्हें इंग्लैंड भेजने का फैसला किया। कल्याण सिंह इसके लिए तैयार नहीं थे; परिणामस्वरूप विवाद बढ़ने लगा। मान सिंह ने कल्याण सिंह को जयपुर आने के लिए बुलावा भेजा तो उन्होंने आने से इनकार कर दिया। नाराज मान सिंह ने एफ.एस. यंग को सीकर भेजा। यंग ने वहां पहुंचने पर देखा कि बड़ी संख्या में राजपूतों ने सुरक्षा के लिए राव राजा के महल को घेर रखा है। यंग ने कल्याण सिंह से बात की और जयपुर चलने के लिए कहा। कल्याण सिंह के लोगों को संदेह हुआ कि यंग उन्हें गिरफ्तार करना चाह रहा है। उन्होंने यंग को धक्का दिया और कल्याण सिंह को लेकर चले गए। इसके बाद सीकर के सभी नगर-द्वार बंद करवा दिए गए और हड़ताल की घोषणा कर दी गई।[12]

यंग ने जयपुर संदेश भेजकर सेना बुलाई। जयपुर की सेना के पहुंचने से पहले सीकर में तैनात सशस्त्र राजपूतों की संख्या और बढ़ गई। यह सूचना मिलने के बाद प्रजामंडल ने भी हस्तक्षेप शुरू किया। प्रजामंडल के कुछ सदस्यों ने स्थानीय जाटों के साथ मिलकर 'सीकर पब्लिक कमेटी' का गठन किया, जिसका उद्देश्य सीकर और जयपुर के बीच शांति स्थापित करना था। इस बीच ब्यूचैम्प ने सीकर पहुंचकर घोषणा की कि यदि राव राजा जयपुर चलने के लिए तैयार हो जाते हैं और उनके समर्थक शांति से काम लेते हैं तो इस मामले में दोषी पाए गए सभी लोगों के लिए 'आम माफी' जारी कर दी जाएगी और राव राजा के अधिकारों से जुड़े सभी प्रस्तावों पर विचार किया जाएगा। लेकिन साथ ही, ब्यूचैम्प ने यह भी कहा कि परिस्थिति सामान्य होने तक राव राजा को सीकर से बाहर रहना पड़ेगा।[13]

इसके बाद हीरालाल शास्त्री ने कल्याण सिंह के लिए एक पत्र तैयार किया, जो जयपुर महाराजा को भेजा जाना था।** इस पत्र में कल्याण सिंह की ओर से यह स्पष्ट किया गया कि वे महाराजा के साथ शांति स्थापित करना चाहते हैं और पत्नी का स्वास्थ्य ठीक होते ही जयपुर आएंगे। पत्र में आगे लिखा कि सीकर की जनता जयपुर के अधिकारियों का विरोध

---

*सीकर जयपुर रियासत का सबसे बड़ा ठिकाना था, जहां के जागीरदार को 'राव राजा' कहकर संबोधित किया जाता था। इसका क्षेत्रफल जयपुर रियासत के कुल क्षेत्र का लगभग 10 प्रतिशत था। जयपुर रियासत की कुल आय में भी सीकर का योगदान 10 प्रतिशत था। मान सिंह द्वितीय के शासनकाल में सीकर के राव राजा कल्याण सिंह थे, जिन्हें फौजदारी और सेना के कई महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे। अप्रेल, 1937 में ब्यूचैम्प ने दस वर्षों के लिए उनके अधिकार छीन लिए और उन्हें 10 हजार रुपए का वार्षिक भत्ता देने का प्रावधान कर दिया था।[15]

** हीरालाल शास्त्री ने प्रत्यक्षजीवनशास्त्र, भाग-1 के पृष्ठ 234 पर लिखा है कि उन्होंने राव राजा के लिए ड्राफ्ट तैयार किया और यंग को भी दिखाया। यह पूरा पत्र उनकी डायरी में मिलता है।

कर रही है और महाराजा को उनकी गतिविधियों की जांच करनी चाहिए।[14]

बजाज उस समय वर्धा में थे। वे पत्रों के माध्यम से लगातार प्रजामंडल नेताओं के साथ संपर्क बनाए हुए थे। बजाज की धर्मपत्नी जानकी देवी उन दिनों सीकर थीं। उन्होंने संस्मरणों में लिखा है, 'राजपूत, ब्राह्मण, हरिजन, बनिया, मुसलमान सभी ने लड़ने की तैयारी कर ली थी। सीकर में अठारह दिन की जबर्दस्त हड़ताल हुई। बहुत तीव्र उत्तेजना थी। हमारे घर 'कमरा' और राजकोठी के बीच मोर्चा लग रहा था। रेजी की थैलियां जमाई गईं। सिपाही बाहर नसेनी लगाकर छत पर तार बांध रहे थे। डर के कारण रात को भयभीत हुए लोग अपना सामान बैलगाड़ियों पर लादकर चले गए। हालांकि बाद में वे लौट आए। इस आपसी झगड़े को निपटाने के लिए जयपुर और सीकर दोनों के लोगों की तरफ से जमनालालजी के पास अनेक तार और चिट्ठियां गईं। राव राजा का संदेश भी पहुंचा। जमनालालजी ने दोनों पक्षों से यह जानना आवश्यक समझा कि अगर उनका उपयोग हो सके तो वे आएं।[16] इसके बाद बजाज ने गांधी से इस विषय पर बात की। गांधी ने उन्हें सीकर जाकर मामले को सुलझाने की सलाह दी।[17] अंत में बजाज को सीकर जाना पड़ा। एक बार तो जयपुर राज्य और राव राजा में समझौता भी हो गया।[18]

उधर, राजपूताना के ए.जी.जी. आर्थर लोथियन ने सीकर के मामले में हस्तक्षेप किया। उसने देखा कि इस मामले से प्रजामंडल को लोकप्रियता मिल सकती है। उसने मान सिंह को सलाह दी कि वे हरदयाल को इंग्लैंड ले जाने का इरादा बदल दें। मान सिंह ने इसकी घोषणा कर दी, जिसके बाद कल्याण सिंह ने नगर-द्वार खोलने के आदेश दे दिए और खुद जयपुर के लिए रवाना हो गए। लोथियन ने ब्यूचैम्प को सीकर की जांच के लिए आयोग गठित करने के लिए कहा और रिपोर्ट आने से पहले किसी को भी सजा नहीं देने की सलाह दी। कल्याण सिंह ने जयपुर जाकर मान सिंह को नजर पेश की और माफी मांगी। इसके बाद मान सिंह इंग्लैंड चले गए। उनकी अनुपस्थिति में कार्यभार संभाल रहे ब्यूचैम्प ने कोई आयोग नहीं बनाया और अगले ही दिन घोषणा कर दी कि कल्याण सिंह की मानसिक स्थिति ठीक नहीं होने के कारण उनका क्षेत्र उनसे लेकर 'कोर्ट ऑफ वाड्र्स' के अधीन कर दिया गया है।[19]

प्रजामंडल के हस्तक्षेप के बाद सीकर की जनता का विरोध प्रचंड रूप लेने लगा और ब्यूचैम्प को अपना आदेश वापस लेकर एक आयोग का गठन करना पड़ा। कल्याण सिंह इससे संतुष्ट होकर जयपुर दरबार से सुलह करने के लिए तैयार हो गए। अपने राव राजा के अधिकारों का दमन होता देखकर सीकर ठिकाने के राजपूत जयपुर दरबार से नाराज थे। 4 जुलाई, 1938 को 70 सशस्त्र राजपूत ट्रेन से सीकर स्टेशन पर पहुंचे। यंग ने उन्हें चेतावनी दी और लौट जाने के लिए कहा। इसके बाद राजपूतों ने गोलियां चलाना शुरू कर दिया। आधुनिक हथियारों से लैस और संख्या में उनसे कई गुना बड़ी जयपुर पुलिस ने भी जवाबी कार्रवाई की, जिसमें कम-से-कम 5 राजपूतों की मृत्यु हो गई। अन्य को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया।[20]

इस तनाव की सूचना पाकर मान सिंह विदेश से जयपुर लौट आए और मामले को शांत करने का रास्ता तलाशने लगे। इस बीच बजाज दोनों पक्षों के बीच समझौता करवाने की कोशिश में लगे रहे। सीकर पब्लिक कमेटी को तैयार करने के बाद बजाज ने मान सिंह को

संदेश भेजकर कहा कि उन्हें अपने प्रतिनिधि को भेजने की बजाय खुद सीकर आना चाहिए। मान सिंह सीकर पहुंचे तो नगर-द्वार खोल दिए गए और हवेली की चाबी उन्हें सौंप दी गई। कल्याण सिंह ने पुरानी रंजिश को भुलाने के लिए अपनी सभी मांगों का त्याग कर दिया और मान सिंह से माफी मांगकर इस विवाद को समाप्त कर दिया।[21]

सीकर के प्रकरण ने बजाज को एक प्रभावशाली नेता के रूप में स्थापित कर दिया। उनकी मध्यस्थता के बाद मान सिंह का व्यक्तिगत रूप से पहल करना एक महत्वपूर्ण घटना बन गई थी। जिस कुशलता के साथ उन्होंने सीकर की आक्रोशित जनता को सुलह के लिए तैयार किया, उसने एक सशस्त्र युद्ध के संकट को टाल दिया। जयपुर रियासत में प्रजामंडल की लोकप्रियता तेजी से बढ़ने लगी। ब्यूचैम्प इस प्रभाव को खत्म करने के लिए प्रजामंडल को निष्क्रिय करना चाहता था।

जयपुर प्रशासन प्रजामंडल की ताकत को कम करने के लिए कई दांवपेंच अपना रहा था। 21 सितम्बर, 1938 को यंग ने हीरालाल शास्त्री को पत्र लिखकर प्रजामंडल के संविधान की एक धारा का उल्लेख किया, जिसमें लिखा था, 'मंडल का उद्देश्य न्यायपूर्ण और संवैधानिक तरीके से जयपुर रियासत में महाराजा साहब बहादुर की छत्रछाया में जनता के प्रति उत्तरदायी शासन प्राप्त करना है।' यंग ने लिखा कि कौंसिल को इस पर गंभीर आपत्ति हो सकती है, अतः इस वाक्य को बदलकर कुछ ऐसा कर देना चाहिए, 'मंडल का उद्देश्य न्यायपूर्ण और संवैधानिक तरीके से राज्य प्रशासन को समय-समय पर ऐसे परिवर्तनों के लिए सुझाव देना है जो उसे और भी विकासशील और उत्तरदायी बनाएंगे।'[22]

शास्त्री ने यंग का यह पत्र कपूरचंद पाटनी को दिखाया। 22 सितम्बर को पाटनी ने स्वयं एक पत्र यंग को लिखकर इस बात पर हैरानी जताई कि यंग को प्रजामंडल के उद्देश्यों की शब्दावली पर गंभीर आपत्ति है। उन्होंने लिखा, 'हम प्रजामंडल के उद्देश्यों के बारे में इतनी बार बात कर चुके हैं, जिसकी गिनती भी नहीं है। किसी भी मौके पर आपने उद्देश्य की शब्दावली के प्रति थोड़ी-सी भी असहमति नहीं जताई और मैं पहली बार आपके विचार अलग होते देख रहा हूं। आखिर, महाराजा साहब के मार्गदर्शन में एक उत्तरदायी शासन की मांग करने में बुराई ही क्या है? हमारे महाराजा एक प्रबुद्ध शासक हैं और उनके वर्तमान सलाहकार आप और मिस्टर ब्यूचैम्प दोनों ही ऐसे देश से आते हैं जहां लोकतांत्रिक सरकार है। जो आपके लिए अमृत है, वह हमारे लिए जहर नहीं हो सकता।'

पाटनी ने अपने पत्र में यह भी इशारा किया कि जयपुर प्रशासन को हिंसा के द्वारा प्रजामंडल के आंदोलन को कुचलने का विचार त्याग देना चाहिए। उन्होंने 18 सितम्बर, 1938 के हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित गांधी के वक्तव्य का उल्लेख किया, 'रियासतों की जनता ने स्वतंत्रता को एक नए रूप में देखना शुरू कर दिया है। कल तक जो मंजिल उन्हें बहुत दूर मालूम पड़ती थी, अब लगता है कि थोड़े ही दिनों में मिल जाएगी। मेरा विश्वास है कि यदि जनता में आई जागरूकता वास्तविक और व्यापक है तो कोई भी दमन इस मंजिल की ओर बढ़ते हुए उनके कदमों को रोक नहीं सकता।'

पाटनी ने आगे लिखा, 'प्रजामंडल के लिए अपने परम उद्देश्य को बदलना असंभव होगा।

इसलिए उद्देश्य को लेकर कोई सवाल नहीं होना चाहिए। हम इतने समय से यही प्रयास कर रहे हैं कि यथासंभव आपके अनुरूप चलें और कोई विवाद खड़ा नहीं हो। लेकिन यदि इसके बदले में हमें ऐसी अस्वीकार्य शर्तें मिलती हैं और उन्हें नहीं मानने पर हमारा दमन किया जाता है तो मैं दमन को चुनकर उसका स्वागत करूंगा। जयपुर के सैकड़ों निवासी किसी भी दमन से लड़ने के लिए अपने आराम का त्याग करने के लिए तैयार हैं।'[23]

जयपुर में चल रही गतिरोध की स्थिति को बदलने के लिए घनश्यामदास बिड़ला ने भी पहल की। उन्होंने 24 सितम्बर, 1938 को दिल्ली में यंग और गांधी की मुलाकात* करवाई। उस समय कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक दिल्ली के बिड़ला हाउस में चल रही थी और गांधी उसमें भाग लेने आए हुए थे। पहली बैठक खत्म होते ही गांधी ने ग्यारह बजे से डेढ़ बजे तक ढाई घंटे यंग से बातचीत की। यंग ने गांधी को जयपुर की सारी स्थिति बताई और उनकी मदद मांगी। यंग ने साफ तौर पर अपनी कठिनाइयां और अड़चनें बताईं। सीकर के मामले में कुछ लोगों को छोड़े जाने के बारे में उसने कहा कि कौंसिल ने पहले स्वीकार कर लिया था और महाराजा के जन्मदिन पर उन्हें छोड़ने का निश्चय हो गया था। बाद में ए.जी.जी. की तरफ से दबाव पड़ा, इसलिए वह कुछ कर नहीं सका। उसका कहना था कि उसे थोड़ा समय मिले तो वह प्रयत्न करके देखेगा।[24] गांधी ने कहा कि जयपुर के अधिकारियों को यह विश्वास दिलाना होगा कि जमनालाल बजाज और हीरालाल शास्त्री के रूप में उन्हें सत्यनिष्ठ और अहिंसावादी व्यक्ति मिले हैं। जिन लोगों ने शांति के लिए अपने को स्वेच्छा से प्रशासन के हवाले कर दिया है, उन्हें रियासत में रहने देने की बजाय यदि जेल में डाल दिया जाता है तो यह नासमझी का काम होगा। प्रजामंडल पर प्रतिबंध लगाने का अर्थ है संकट को न्यौता देना, जबकि अभी वैसी स्थिति नहीं है। इस पर यंग ने गांधी को विश्वास दिलाया कि किसी को जेल में डालने का प्रश्न ही नहीं है। उसने कहा कि न तो ऐसी स्थिति आई है और न ही भविष्य में आएगी।

गांधी ने जवाब दिया कि यदि ये लोग संवैधानिक रूप से काम कर रहे किसी संगठन के साथ हों तो क्षण भर में वैसी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। गांधी ने कहा कि प्रजामंडल से जुड़े लोग उत्तरदायी शासन के लिए आंदोलन करने के अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकते। अधिकारीगण उनकी मांग को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकते हैं, लेकिन उन्हें उस प्रवृत्ति पर रोक नहीं लगानी चाहिए, जो स्वभावत: शांतिपूर्ण है। शांति बनाए रखने के लिए सभी आवश्यक कदम बेशक उठाए जा सकते हैं।

इसके उत्तर में यंग ने प्रजामंडल में कांग्रेस सदस्यों की नियुक्ति की बात उठाई। उसने कहा कि जयपुर कौंसिल को संदेह है कि कांग्रेस का ही दूसरा नाम प्रजामंडल है और त्रावणकोर तथा मैसूर में हुए उपद्रवों को देखने के बाद अधिकारियों को भय है कि कांग्रेस जयपुर में भी उत्पात करवा सकती है। यंग ने गांधी से पूछा कि क्या प्रजामंडल अपने को कांग्रेस से अलग नहीं रख सकता। गांधी ने जवाब दिया कि सहज आकर्षण पर रोक नहीं लगाई जा सकती,

*घनश्यामदास बिड़ला ने गांधी और यंग की मुलाकात के दौरान हुई बातचीत का विवरण अंग्रेजी में नोट किया था। इस नोट को संपूर्ण गांधी वांगमय में संकलित किया गया है।

लोग कांग्रेस की ओर खिंचे चले आते हैं। जयपुर प्रशासन को शांति बहाल करने में बुद्धिमानी से उनका सहयोग लेना चाहिए।

यंग ने गांधी से पूछा कि यदि प्रजामंडल उपद्रव शुरू कर दे तो क्या होगा। उसने यह भी कहा कि यदि प्रजामंडल का संविधान अलग प्रकार का होता तो उसे स्वीकार करने में कोई दिक्कत नहीं होती, लेकिन इस संविधान के रहते यदि वे कोई उपद्रव करते हैं तो शांति भंग हो सकती है। गांधी ने इसके जवाब में कहा:

> 'आप उनसे यथासंभव अपनी गतिविधियां आपके अनुरूप चलाने का अनुरोध कर सकते हैं। लेकिन यदि आप कहते हैं कि वे उत्तरदायी शासन की मांग भी नहीं कर सकते तो यह उनके मत का गला घोंटना होगा। आपको कांग्रेस का भय त्याग देना चाहिए। आप उनके उद्देश्य में हस्तक्षेप करने के बजाए उनकी गति को नियमित करें। आप उनके कार्यक्रम के प्रदर्शनात्मक हिस्से के लिए नियम बनाएं, उनकी भाषा को नियंत्रित करें। लेकिन उनसे अपना उद्देश्य बदलने के लिए कहना तो किसी व्यक्ति से धर्म परिवर्तन के लिए कहने के समान है।'[25]

गांधी से मुलाकात के बाद यंग ने जयपुर लौटकर कानूनी प्रक्रिया शुरू की। 30 सितम्बर, 1938 को उसने ब्यूचैम्प को एक गोपनीय रिपोर्ट भेजकर प्रजामंडल के पूरे इतिहास की जानकारी दी ताकि प्रजामंडल के उद्देश्यों को समझकर उसे मान्यता देने के बारे में उचित निर्णय लिया जा सके। इस रिपोर्ट में प्रजामंडल की स्थापना की प्रक्रिया, उसके उद्देश्यों का विवरण और सदस्यों की सूची इत्यादि को शामिल किया गया था।[26]

जयपुर प्रशासन प्रजामंडल की गतिविधियों पर रोक लगाने के लिए लगातार प्रयासरत था। उस समय पूरे देश की राजनीतिक परिस्थिति में तेजी से बदलाव आ रहा था। भारत की अन्य रियासतों में भी जनता अपने अधिकारों के लिए लड़ रही थी और शासकों द्वारा आंदोलनों को कुचलने के लिए कई तरह के हथकंडे अपनाए जा रहे थे। कांग्रेस भी हरिपुरा अधिवेशन के दौरान रियासतों के मामले में अपनी नीति बदलकर वहां की जनता को पूर्ण समर्थन देने का ऐलान कर चुकी थी। 15 नवम्बर, 1938 को जवाहरलाल नेहरू ने बम्बई में भाषण के दौरान कहा, 'रियासतों के जन-आंदोलनों को कभी ठंडा नहीं किया जा सकता, वहां की जनता को अपने प्रयत्नों में एकजुट हो जाना चाहिए। रियासतों का संघर्ष किसी व्यक्ति विशेष के विरुद्ध नहीं है। यह संघर्ष उस व्यवस्था के विरुद्ध है, जो उन्हें फलने-फूलने नहीं देती। हम भारत के लिए समग्र रूप से स्वतंत्रता चाहते हैं, किसी एक हिस्से के लिए नहीं। जैसे ब्रिटिश भारत में जागरूकता लाने के लिए कांग्रेस बनी है, रियासतों की जनता में भी वैसी ही जागृति आनी चाहिए ताकि साम्राज्यवाद और निरंकुशता के विरुद्ध सारे देश में एक साथ लड़ाई छेड़ी जा सके।'[27]

5 दिसम्बर, 1938 को कपूरचंद पाटनी ने हीरालाल शास्त्री को पत्र लिखकर चिरंजीवलाल

मिश्र और एफ.एस. यंग के बीच टेलीफोन पर हुई बातचीत के बारे में बताया। मिश्र अपने परिवार को जापान भेज रहे थे, जिसके लिए उन्हें पासपोर्ट की आवश्यकता थी। यंग को भी कुछ दिनों की छुट्टी पर जाना था। इसलिए मिश्र ने उसे फोन किया और जाने से पहले पासपोर्ट की व्यवस्था के लिए कहा। यंग ने पासपोर्ट संबंधी उनकी बात का जवाब दिया। साथ ही, यह भी बताया कि पहले उसका इरादा छुट्टी लेने का था लेकिन अब इरादा बदल गया है। मिश्र बातचीत खत्म करके फोन रखने को ही थे, इतने में यंग ने उनसे पूछा कि प्रजामंडल के बारे में क्या नई खबर है। मिश्र ने कहा, 'वैसे कोई खास खबर तो नहीं है पर सुना है कि स्टेट कौंसिल प्रजामंडल को दबाने का विचार कर रही है। इसका जवाब देने के लिए हम लोगों ने भी आवश्यक तैयारी कर ली है और लड़ाई शुरू होने का इंतजार कर रहे हैं।' मिश्र से यह जवाब सुनकर यंग ने कहा कि यह खबर बिल्कुल गलत है। प्रजामंडल को दबाने या उससे लड़ाई करने का कौंसिल का कोई इरादा नहीं है। इतनी गलत तो दूसरी कोई खबर हो ही नहीं सकती।[28]

मिश्र ने भी बात को आगे बढ़ाते हुए यंग से कहा कि प्रशासन को लगता है कि प्रजामंडल ग्रामीण क्षेत्रों में लगान नहीं चुकाने के लिए प्रचार कर रहा है लेकिन यह बात बिलकुल गलत है। प्रजामंडल इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक पर्चा निकालने पर भी विचार कर रहा है। प्रजामंडल केवल इतना चाहता है कि यदि कहीं पैदावार कम हुई हो तो वहां लगान भी उसी हिसाब से लिया जाए और किसी गरीब पर अत्याचार नहीं हो। उन्होंने यह भी बताया कि शहर में हीरालाल शास्त्री के खिलाफ वारंट निकाले जाने की अफवाह उड़ रही है। यंग ने इस पर कहा कि शास्त्री के लिए ऐसी कोई योजना नहीं बनाई गई है। उसने मिश्र को आश्वासन दिया कि प्रजामंडल के सदस्यों से बात करके सच्चाई जाने बिना कोई भी कार्रवाई नहीं की जाएगी। यंग ने पर्चा निकलवाने के प्रस्ताव को ठीक बताया और कहा कि स्थिति साफ करने के लिए प्रजामंडल को यह काम जरूर कर लेना चाहिए।[29]

1938-39 में जयपुर रियासत में भीषण अकाल पड़ा। बारिश की कमी के कारण खेती पर बुरा असर पड़ा। लगभग पूरी रियासत में खरीफ और रबी दोनों फसलें नष्ट हो गईं। अकाल के कारण पशुओं के चारे की भी कमी हो गई थी। प्रशासन की ओर से पशुओं के परिवहन और चराई को नि:शुल्क कर दिया गया। खालसा क्षेत्र के तहत आने वाले गरीब परिवारों को 5 मन चारा प्रतिमाह नि:शुल्क दिया गया। लगभग 1 लाख पशुओं को चरने के लिए ग्वालियर रियासत के शिवपुर में व्यवस्था की गई। शिवपुर में ही जयपुर राज्य प्रजामंडल ने एक चारा केंद्र खोला। जयपुर प्रशासन ने झांसी और ग्वालियर के जंगली क्षेत्र को पट्टे पर लिया और अपनी रियासत के 3,50,000 से अधिक पशुओं को वहां पहुंचाया।[30]

प्रशासन के साथ स्थानीय व्यक्तियों ने भी अकाल से पीड़ित किसानों की सहायता करने का बीड़ा उठाया। जमनालाल बजाज की भूमिका इसमें महत्वपूर्ण रही। उनकी अध्यक्षता में बम्बई में गठित 'शेखावाटी दुष्काल पीड़ित सहायक मंडल' ने 27,000 रुपए का योगदान किया।[31] प्रजामंडल ने जनता के बीच जाकर राहत कार्यक्रम चलाने की योजना तैयार की। समस्या का विवरण लेने और राहत कार्यों की तैयारी करने के लिए 30 दिसम्बर, 1938 को

प्रजामंडल की बैठक आयोजित की गई, जिसमें बजाज भी आने वाले थे। 16 दिसम्बर, 1938 को जयपुर स्टेट कौंसिल ने बजाज के जयपुर में प्रवेश करने पर प्रतिबंध लगा दिया। बजाज पर प्रतिबंध लगाए जाने के बाद शास्त्री ने उन्हें पत्र लिखकर बताया कि जयपुर के अधिकारियों का रवैया देखकर उनकी आशा खत्म होती जा रही है और अब इसमें कोई संदेह नहीं है कि वे हर तरह से प्रजामंडल को कुचल देना चाहते हैं। वे आगे बढ़कर कोई कार्रवाई करने से बस इसलिए रुके हुए हैं क्योंकि उन्हें डर है कि मामला गंभीर हो जाएगा। उन्होंने बताया कि पुलिस के बढ़ते हस्तक्षेप के कारण प्रजामंडल के साधारण पर्चे बांटना भी मुश्किल होता जा रहा है और जगह-जगह पर लोगों को प्रजामंडल के खिलाफ प्रचार करने के लिए छोड़ दिया गया है।[32]

शास्त्री ने बजाज को सचेत किया कि वे वर्धा में बैठे यह सोचते हैं कि इन अधिकारियों से प्रजामंडल का कुछ नहीं बिगड़ सकता, जबकि सच्चाई यह है कि मंडल को बहुत नुकसान हो रहा है। शास्त्री ने यह भी बताया कि उन्होंने बेहद संयम से काम लिया है, लेकिन प्रशासन की गतिविधियों को बर्दाश्त करते हुए थक गए हैं। उन्होंने लिखा, 'आप धीरज रखने की बात कर रहे हैं, मेरा तो अब धीरज टूटा जा रहा है। मैं तो यह महसूस करता हूं कि हम लोग घाटे में डाले जा रहे हैं।' यंग ने शास्त्री पर यह आरोप लगाया था कि वे किसानों को लगान चुकाने से रोक रहे हैं और उन्हें कर व्यवस्था के खिलाफ भड़का रहे हैं। इसके बारे में शास्त्री ने बजाज को लिखा कि यदि यंग को ऐसा लगता है तो उन्हें तुरंत कानूनी कार्रवाई करने के लिए लिख दीजिए। शास्त्री कई महीनों से जयपुर प्रशासन के इस रवैये के बीच प्रजामंडल को सक्रिय रखने की कोशिश में लगे हुए थे। कठिन गतिरोध के बावजूद प्रजामंडल अपना अस्तित्व बचाए रखने में सफल भी रहा था। लेकिन शास्त्री ने बजाज को लिखे इस पत्र में चिंता जताई कि यदि प्रशासन ने अपना रवैया नहीं बदला तो उनके लिए कुछ महीने तो दूर, कुछ दिन भी टिक पाना मुश्किल होगा। उन्होंने बताया कि सच्चा व्यवहार और धीरज बनाए रखने के बावजूद उनके साथ न्याय नहीं हो रहा है और अंदर से उनके खिलाफ जो यंग का षडयंत्र चल रहा है, उसके बारे में भी उन्हें पूरी जानकारी है। शास्त्री ने बताया कि यंग एक तरफ उन्हें आश्वासन देता रहता है कि जयपुर में सब ठीक है और दूसरी तरफ प्रजामंडल के रास्ते में रुकावट खड़ी करता रहता है। उन्होंने लिखा कि वे आगे होकर लड़ाई नहीं छेड़ना चाहते, लेकिन यदि किसानों पर अत्याचार होंगे तो वे बैठे-बैठे देखते नहीं रहेंगे और प्रशासन के सामने जाकर कहेंगे कि यह अन्याय बंद होना चाहिए। उन्होंने बताया कि प्रजामंडल को कानून के दायरे में भी काम करने की आजादी नहीं मिल रही है, चारों तरफ से उनकी कोशिशें बंद की जा रही हैं और वे केवल असमर्थ होकर देख रहे हैं। पत्र के अंत में उन्होंने बजाज को आश्वस्त किया कि इन हालात में भी प्रजामंडल जल्दबाजी में कोई गलत निर्णय नहीं करेगा। लेकिन जब तक अधिकारियों का रवैया नहीं बदलता, तब तक उनका विश्वास करना मुश्किल है।[33]

बजाज के लिए यह असमंजस की स्थिति थी। एक ओर, उन्हें जयपुर और प्रजामंडल पुकार रहा था और दूसरी ओर वे अपने जीवन के बारे में किसी भी फैसले के लिए पांचवें पुत्र होने के कारण अपने बापू यानी गांधी से जुड़े हुए थे। उनका मन जयपुर प्रजामंडल की

ओर आकृष्ट हो चला था, लेकिन वे संपूर्ण समर्पण से पहले गांधी की अनुमति चाहते थे। 25 दिसम्बर को उन्होंने सेगांव जाकर गांधी से मुलाकात की और उनसे प्रजामंडल के बारे में परामर्श मांगा।[34] अगले दिन गांधी ने बजाज को एक पुर्जे पर संदेश लिखकर भेजा, 'कल कुछ देर बात करेंगे या फिर एक-दो दिन रुक जाओ। तुम्हारे मर्ज का इलाज सरल है। घबराने जैसी कोई बात नहीं। अंततः तुम्हारा विनाश तो है ही नहीं।'[35]

26 दिसम्बर की रात को ही गांधी ने बजाज को एक पत्र लिखकर सुझाव दिया, 'राजनीति में बहुत गंदगी रहती है। इससे निकलने का प्रयास करना चाहिए। अगर रहना भी पड़े तो कड़ी मर्यादा निश्चित करनी चाहिए। अपनी बातों पर रह सको तो केवल मध्य प्रांत के संगठन का कार्य करो। फिर से चरखा संघ में अपनी शक्ति लगाओ। यह सफल हो जाए तो सहज ही पूर्ण स्वराज मिल सकता है। ग्रामोद्योग, अस्पृश्यता निवारण पर भी ध्यान दे सकते हो लेकिन वह तुम्हारी इच्छा पर है।'[36] इससे बजाज का अनिश्चय खत्म नहीं हुआ। गांधी ने उनकी आवश्यकता गैर राजनीतिक कार्यक्रमों में समझी थी और फैसला भी उनके ऊपर छोड़ दिया था। 27 दिसम्बर को सुभाषचंद्र बोस वर्धा आए। वे मद्रास जाने वाले थे, लेकिन बुखार के कारण रुक गए। बजाज ने उनसे भी जयपुर के बारे में चर्चा की। बोस ने उनसे कहा कि गांधी की सलाह बिल्कुल ठीक है। बजाज ने वल्लभभाई पटेल से भी फोन पर इसके बारे में चर्चा की। इन वरिष्ठ लोगों से विचार-विमर्श करने के बाद 28 दिसम्बर को वे जयपुर के लिए रवाना हो गए।[37]

29 दिसम्बर, 1938 को बजाज सवाई माधोपुर स्टेशन पर उतरे तो जयपुर पुलिस के डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल रायबहादुर दीवानचंद ने उन्हें रोका। साथ में पुलिस सुपरिंटेंडेंट डी.एन. चक्रवर्ती, सब इंस्पेक्टर हसन अली और सवाई माधोपुर के तहसीलदार लक्ष्मीनारायण भी मौजूद थे। दीवानचंद ने बजाज को जयपुर कौंसिल का 16 दिसम्बर, 1938 का नोटिस दिखाया, जिसे सेक्रेटरी के आदेश से जारी किया गया था। नोटिस में लिखा था:

> 'वर्धा (मध्य प्रांत) के निवासी सेठ जमनालाल बजाज, चूंकि जयपुर प्रशासन को यह मालूम हुआ है कि जयपुर रियासत में आपकी उपस्थिति और गतिविधियों से शांति भंग होने की संभावना है। इसलिए सार्वजनिक हित और सार्वजनिक शांति के लिए जयपुर रियासत की सीमा में आपके प्रवेश पर प्रतिबंध लगाना आवश्यक मालूम पड़ता है। अतः आपको चाहिए कि जब तक कोई और आदेश नहीं मिले, आप जयपुर रियासत में नहीं आएं।'[38]

थोड़ी देर बाद एफ.एस यंग भी स्टेशन पर पहुंचा। बजाज ने बहुत देर तक उससे बात करके कोई हल निकालने की कोशिश की। यंग ने उन्हें बताया कि महाराजा मान सिंह और प्रधानमंत्री ब्यूचैम्प रियासत से बाहर हैं, इसलिए इस संबंध में तत्काल कुछ भी करना संभव नहीं है। उसने टेलीफोन करने की भी कोशिश की, लेकिन वह मिल नहीं पाया। फिर उसने स्टेशन से तार भेजा। अंत में यंग ने घनश्यामदास बिड़ला के नाम एक पत्र लिखकर बजाज

को सौंपा। उसने अपनी मजबूरी बताते हुए बजाज से दस दिनों का समय मांगा। इसके बाद बजाज ने दिल्ली जाने का फैसला किया। अगले दिन सुबह 6 बजे बजाज दिल्ली पहुंच गए। उन्होंने बिड़ला हाउस जाकर घनश्यामदास, रामेश्वरदास, बद्रीदास गोयनका आदि व्यक्तियों से मिलकर अपने ऊपर लगे प्रतिबंध के बारे में बात की। हीरालाल शास्त्री और हरिभाऊ उपाध्याय भी वहां पहुंच गए। रात 9 बजे तक वहां प्रजामंडल की चिंताजनक स्थिति के बारे में विचार-विमर्श होता रहा। बजाज ने समाचार पत्रों को वक्तव्य दिया। अंत में सभी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ऐसी स्थिति में गांधी ही मार्गदर्शन कर सकते हैं। गांधी एक-दो दिनों में बारडोली जाने वाले थे। बजाज सहित अन्य सभी जयपुर के नेताओं ने 4 जनवरी को बारडोली जाकर गांधी से मिलने का फैसला किया।[39]

गांधी 2 जनवरी को बारडोली पहुंचे। वहां वे वल्लभभाई पटेल और उछरंगराय ढेबर के साथ राजकोट सत्याग्रह की तैयारी में जुटे थे। इस बीच घनश्यामदास ने वायसराय के सलाहकार बर्ट्रेंड ग्लैंसी से मुलाकात की। इस मुलाकात के विवरण से बजाज का संदेह पक्का हो गया कि उनके ऊपर प्रतिबंध लगाने में ब्रिटिश हुकूमत का हाथ है। 2 जनवरी को ही बजाज ने दिल्ली में प्रजामंडल के प्रस्ताव समाचार पत्रों को भेज दिए।[40]

4 जनवरी, 1939 को जमनालाल बजाज, हीरालाल शास्त्री, हरिभाऊ उपाध्याय, हंस. डी. राय सहित प्रजामंडल के और भी कुछ सदस्य बारडोली पहुंचे। सभी नेताओं का कहना था कि प्रशासन से लड़ने के अलावा और कोई रास्ता नहीं है। भोजन के समय गांधी और बजाज की मुलाकात हुई। बजाज ने गांधी को शुरुआत से तब तक की पूरी बात बताई। उन्होंने बताया कि घनश्यामदास और अगाथा हेरिसन वायसराय से संपर्क कर रहे हैं। गांधी ने बजाज की पूरी बात सुनी, लेकिन उस समय कोई विशेष टिप्पणी नहीं की। शाम की प्रार्थना के बाद गांधी ने जयपुर प्रजामंडल के लोगों से लगभग सवा घंटे तक बात की और पूरी स्थिति समझी। वे लोग प्रशासन के खिलाफ लड़ाई छेड़ने के लिए तत्पर थे, लेकिन गांधी जोश में फैसला लेने वाले व्यक्ति नहीं थे। उनकी ओर से ऐसा कोई संकेत नहीं मिलने पर प्रजामंडल के सदस्यों का उत्साह कम हुआ। इसके बाद उन्होंने पटेल के जरिए गांधी को तैयार करने की कोशिश की। उन्होंने पटेल से जोर देकर कहा कि लड़ाई शुरू करने के अलावा उनके पास कोई विकल्प नहीं है और इसके लिए गांधी की अनुमति जरूरी है। उन्होंने पटेल से आग्रह किया कि वे गांधी से अनुमति और आशीर्वाद देने की सिफारिश करें।[41]

अगली सुबह गांधी, पटेल और बजाज बारडोली में एक साथ भ्रमण के लिए निकले। गांधी ने बजाज से पूछा कि राजकोट और जयपुर में चल रहे संघर्ष के बारे में उनका क्या दृष्टिकोण है? राजकोट के बारे में अपना उत्साह और विचार प्रकट करने के बाद जब बजाज जयपुर के विषय पर आए तो उन्होंने हिम्मत करके अपने मन की बात कह दी। बजाज ने गांधी को आग्रह के स्वर में बताया कि वे अपने ऊपर लगे प्रतिबंध का उल्लंघन करना चाहते हैं। उन्होंने इसके पक्ष में कई दलीलें गांधी के सामने रखीं और कहा कि ऐसा करने से उन्हें मानसिक शांति मिलेगी। गांधी देख रहे थे कि बजाज आंदोलन शुरू करने के लिए लालायित थे। बजाज की क्षमता और दृढ़ता से गांधी अच्छी तरह परिचित थे। उन्हें उम्मीद थी कि अगर

वे बजाज को अनुमति देंगे तो जयपुर में सफलतापूर्वक सत्याग्रह चलाया जा सकता है। गांधी को लग रहा था कि राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव से रियासतों को वंचित रखना ठीक नहीं है। इसी विचार से उन्होंने राजकोट के सत्याग्रह में व्यक्तिगत पहल की थी। गांधी ने जयपुर में भी समानांतर रूप से सत्याग्रह शुरू करवाने का फैसला कर लिया।

दोपहर के भोजन के समय गांधी ने बजाज से फिर बात की। इसके बाद वे दो बजे से लेकर साढ़े तीन बजे तक प्रजामंडल के सदस्यों के साथ बैठे। बजाज के ऊपर लगे प्रतिबंध के बारे में गांधी ने अपने हाथ से दो मसविदे तैयार किए।* एक मसविदा उस पत्र का था, जिसे बजाज की ओर से जयपुर कौंसिल को भेजा जाना था। दूसरा मसविदा समाचार पत्रों को दिए जाने वाले वक्तव्य का था। गांधी ने सभी सदस्यों को निर्देश दिया कि वे पटेल से परामर्श करके आगे की योजना तैयार कर लें। इस तरह, प्रजामंडल को जयपुर में आंदोलन शुरू करने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन के सर्वमान्य मार्गदर्शक की ओर से हरी झंडी मिल गई। कार्यकर्ताओं का खोया हुआ उत्साह बापू के आशीर्वाद से लौट आया। सभी नेताओं ने बजाज को अपने नेता के रूप में चुना और यह प्रतिज्ञा ली कि हर तरह का जोखिम उठाकर भी वे इस संघर्ष को जारी रखेंगे।[42]

अगले ही दिन 7 जनवरी को गांधी के हाथों बनाए गए मसविदों को भेजकर जयपुर सत्याग्रह का शुभारंभ कर दिया गया। जयपुर कौंसिल को जो पत्र भेजा गया, वह बजाज की ओर से एक चेतावनी की तरह था। इसमें लिखा था:

> 'संलग्न आदेश, जिस पर 16 दिसम्बर की तारीख दर्ज है, मुझे 29 दिसम्बर को जयपुर जाते समय सवाई माधोपुर में प्राप्त हुआ था। यह आदेश मेरे लिए दु:खद और आश्चर्यजनक है। मैंने स्टेशन पर एक घंटे से भी अधिक देर तक आई.जी.पी. एफ.एस. यंग से बात की, जो मुझे आदेश का उल्लंघन नहीं करने के लिए समझाते रहे। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं थी क्योंकि इसी संबंध में एक वार्ता के दौरान गांधीजी ने मुझसे कहा था कि मैं ऐसी स्थिति में तुरंत नियम न तोड़ूं लेकिन अंतिम निर्णय लेने से पहले उनसे विमर्श करूं। उनके कथनानुसार मैंने अपनी यात्रा तुरंत स्थगित की और दिल्ली के लिए रवाना हो गया। अपने कई मित्रों-सहकर्मियों और अंतत: गांधीजी से संवाद के बाद मैं इस निर्णय पर पहुंचा कि मैं आगामी 1 फरवरी को नियम का उल्लंघन करूंगा, यदि इसके पहले बिना शर्त यह प्रतिबंध हटाया नहीं जाता।
>
> अधिकारियों को इस बात का पता था कि मैंने गत 1 नवम्बर को जयपुर राज्य प्रजामंडल के अध्यक्ष के नाते एक सार्वजनिक अपील जारी की थी कि शेखावाटी और अन्य क्षेत्रों में अकाल का प्रभाव बढ़ चुका है, इसलिए प्रजामंडल अन्य गतिविधियों को छोड़कर राहत कार्यों की बागडोर संभालेगा।

*संपूर्ण गांधी वांगमय, खंड 68, पृष्ठ 310-311 से पता चलता है कि दोनों मसविदे गांधी ने अपने हाथ से लिखे थे। पत्र को भेजने से पहले उन्होंने वार संशोधित किया था। 7 जनवरी को वक्तव्य समाचार पत्रों को और पत्र जयपुर स्टेट कौंसिल को भेज दिया गया।

उन्हें यह भी ज्ञात था कि जयपुर में सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत के संबंध में एक समाचार पत्र में प्रकाशित रिपोर्ट पर मैंने उसका स्पष्ट विरोध किया था। मैं नहीं जानता कि 16 दिसम्बर को या उससे पहले ऐसा क्या हुआ कि मेरे जयपुर राज्य में प्रवेश करने का पूर्वानुमान लगाते हुए यह आदेश जारी कर दिया गया। मैंने ध्यान दिया कि ठीक उसी दिन एक अधिसूचना जारी की गई, 'आपातकालीन स्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण आवश्यक हो गया है कि कुछ निश्चित देनदारियों से अवैध इनकार करने वालों और उन्हें प्रेरित करने वालों के विरुद्ध कदम उठाए जाएं।' दोनों आदेशों के एक ही दिन जारी होने से यही प्रतीत होता है कि उनके अनुसार मेरा संबंध टैक्स भुगतान से इनकार करने वालों के आंदोलन के साथ था। यदि उन्हें इस प्रकार का संदेह था तो वे कम-से-कम इस संबंध में मुझसे बात करके सच जान सकते थे। जितना वे मुझे जानते थे, उन्हें यह पता होना चाहिए था कि मैं उनसे सच्चाई नहीं छुपाता।

निश्चित रूप से उन्हें पता है कि मैंने हाल ही में सीकर में उत्पन्न हुए संकट के दौरान जनता के प्रति अपना दायित्व निभाते हुए उनकी सहायता भी की थी। उन्हें पता है कि मेरे कार्यक्रम शांतिपूर्ण रूप से संचालित होते हैं। इसलिए मेरे आश्चर्य की कल्पना मेरे उल्लेख से बेहतर की जा सकती है, जब मैंने आदेश में पढ़ा, 'आपकी (मेरी) उपस्थिति और गतिविधि से शांति भंग होने की संभावना है। अत: समाज के हित में यह आवश्यक समझा गया है कि जयपुर राज्य में आपके (मेरे) प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया जाए।' मुझे कहने में बिलकुल संकोच नहीं कि इस आदेश ने मेरे पूरे सामाजिक जीवन को झुठला दिया है। मैंने देखा कि मुझे वर्धा के निवासी के रूप में वर्णित किया जा रहा है। मुझे आशा है कि यह एक भूल होगी। जयपुर राज्य के लिए मैं जयपुर का ही हूं। ऐसा नहीं है कि वर्धा या किसी अन्य स्थान में रुचि होने के कारण मैं जयपुर का नहीं रह जाता। मेरे लिए और मेरे सहकर्मियों के लिए यह एक बड़ा प्रश्न बन गया है कि अब राज्य में हमारी स्थिति क्या है।

प्रजामंडल जुलाई, 1931 में शुरू किया गया था और नवम्बर, 1936 में उसका पुनर्गठन हुआ था। उसका अपना एक संविधान है। जयपुर रियासत के बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्ति उसके सदस्य हैं। उसने अपनी गतिविधियां अभी तक जयपुर के कानून की सीमाओं के अंदर ही रखी है और सभाओं व जुलूसों पर लगाए गए कष्टप्रद तथा अनुदार प्रतिबंधों का पालन किया है। परंतु मुझे दिए गए इस आदेश से मंडल की आंखें खुल गई हैं। वह अब इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि यदि नागरिक स्वतंत्रता नहीं मिलती है और ऐसी सभाओं, जुलूसों और संस्थाओं के गठन की यदि बेरोक-टोक अनुमति नहीं मिलती है जिनमें अहिंसा का कड़ाई से पालन होता हो, तो उसे अवश्य सत्याग्रह का सहारा लेना चाहिए।

मैं यह बता दूं कि हमारी गतिविधि का क्षेत्र क्या है। हमारा लक्ष्य बहुत स्पष्ट है। हम महाराजा के संरक्षण में उत्तरदायी शासन चाहते हैं। इसलिए हमें लोगों को यह बताना होगा कि उत्तरदायी शासन क्या होता है और उसके योग्य बनने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। परंतु हमारा इरादा इसके लिए सत्याग्रह करने का नहीं है। लेकिन हमें जनता के सभी वर्गों की शिकायतें दूर करने की कोशिश करनी है; हमें रचनात्मक और शिक्षात्मक गतिविधियां चलानी हैं। फिर भी मंडल की विधियों में, जो मूल रूप से शांतिपूर्ण और जीवन का निर्माण करने वाली है, रियासत का सहयोग मिलता है और स्वीकृत शिकायतों को दूर कराने में सहयोग मिलता है, तो करबंदी का सहारा लेने की कभी जरूरत नहीं पड़ेगी। पर यदि दुर्भाग्य से वह जरूरी हो गया तो मंडल रियासत के अधिकारियों को वैसा करने के अपने इरादे की पर्याप्त सूचना देगा; क्योंकि मंडल खुले, सम्मानित और पूर्णतया अहिंसात्मक तरीकों के पक्ष में है। इसलिए मेरा निवेदन यह है कि मंडल को अपनी पूर्णतया वैध और अहिंसात्मक गतिविधियां बेरोकटोक चलाने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। परंतु यदि यह युक्तियुक्त प्रार्थना इस महीने की 31 तारीख से पहले स्वीकार नहीं की गई तो मैं नहीं चाहते हुए भी इस आदेश के बावजूद रियासत में घुसने का प्रयत्न करने को बाध्य होऊंगा और मंडल अपने को ऐसे कदम उठाने के लिए स्वतंत्र मानेगा जो उसे मानव-गरिमा के अनुरूप अपनी अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक लगते हैं। मेरी ऐसी धारणा है कि इससे कम कुछ करना सामाजिक आत्महत्या होगा। मुझे विश्वास है कि रियासत की परिषद मेरी और मंडल की वफादारी पर असह्य दबाव नहीं डालेगी।'[43]

जयपुर की स्थिति और बजाज पर लगाए गए प्रतिबंध के बारे में समाचार पत्रों को भेजे गए वक्तव्य में लिखा था:

'जयपुर की रियासत में, जो मेरा जन्मस्थान है और पूर्वजों से चला आ रहा घर है, अपने प्रवेश पर प्रतिबंध लगाए जाने के बारे में मैं क्या करने जा रहा हूं, इसके बारे में कई अफवाहें फैल रही हैं। यह प्रतिबंध मुझे तथा मेरे मित्रों को भी आश्चर्य में डालने वाला है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मैंने अपना सारा जीवन शांति के ही कार्यों में लगाया है। कांग्रेस जनों के लिए अहिंसा का और चाहे जो अर्थ हो परन्तु मेरा तो यह धर्म है और मैं यथाशक्ति इसका पालन करने की कोशिश करता हूं। मैं रियासतों का दुश्मन नहीं हूं। मेरा उनके प्रति सदा मित्रता का रुख रहा है। मेरा सदा यह विश्वास रहा है कि भारत में जो नई जागृति आई है, उसके प्रति रियासतों की प्रतिक्रिया अनुकूल हो सकती है। इस प्रतिबंध के पीछे क्या रहस्य छिपा है यह जानने के लिए मैं अब पत्र

व्यवहार कर रहा हूं। आदेश के शब्द किसी भी अर्थ में मुझ पर लागू नहीं होते। मैं जल्दबाजी में कोई काम नहीं करना चाहता। जयपुर रियासत के अधिकारियों को उलझन में डालने की भी मेरी कोई मंशा नहीं है। परन्तु प्रतिबंध हटवाने की दिशा में किया गया प्रत्येक सम्मानजनक प्रयास यदि असफल हो जाता है तो जनता को भरोसा होना चाहिए कि मैं अपने कर्तव्य का पालन करूंगा।

मेरा तात्कालिक उद्देश्य अभी तो जयपुर रियासत में दुर्भिक्ष-पीड़ितों को प्रजामंडल की मार्फत राहत पहुंचाना है। मुझे आशा है कि प्रतिबंध भावी दानकर्ताओं के आड़े नहीं आएगा। मैं सभी संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए प्रबंध कर रहा हूं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरे जयपुर जाने का मुख्य कारण दुर्भिक्ष से राहत दिलाने के उपाय करना था।

मेरी चिंता का दूसरा विषय इस समय यह है कि हाल के संकट के दौरान सीकर में जिन नौ व्यक्तियों को कैद में डाल दिया गया है, उन्हें रिहा करवाने की कोशिश की जाए। उनमें से एक को सजा दी जा चुकी है और बाकी आठ पर अभी मुकदमा चलाया जाएगा। मेरे पास ऐसी आशा करने का खासा आधार था कि उन्हें आम माफी दे दी जाएगी। मैं उन्हें मात्र यही आश्वासन दे सकता हूं कि जब तक मैं स्वतंत्र हूं, मैं उन्हें रिहा करवाने में कोई कसर नहीं रखूंगा।'[44]

इस चुनौती के मिलने पर जयपुर प्रशासन ने भी लड़ाई के लिए कमर कस ली। 9 जनवरी को रामबाग पैलेस में जयपुर स्टेट कौंसिल की बैठक हुई। इस बैठक में यह फैसला किया गया कि अगर जमनालाल बजाज निषेधाज्ञा का उल्लंघन करके जयपुर रियासत की सीमा में प्रवेश करते हैं, तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाएगा।[45]

बजाज इसके बाद गांधी से परामर्श के लिए बारडोली चले गए। 13 जनवरी को बजाज ने गांधी और पटेल से मिलकर अपनी दुविधापूर्ण स्थिति के बारे में बात की। उन्होंने बताया कि वे मानसिक रूप से ठीक नहीं हैं और उन्हें कमजोर होने का आभास हो रहा है। उसी दिन कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने जयपुर के संबंध में एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें बजाज पर लगाए गए प्रतिबंध की निंदा की गई और जयपुर प्रशासन से अपील की गई कि वह इस प्रतिबंध को हटा ले ताकि रियासत के अंदर और बाहर होने वाले आंदोलन को रोका जा सके।[46] उस बैठक में देश के सभी प्रमुख नेता उपस्थित थे।

बारडोली में मकर संक्रांति सूर्य के उत्तरायण प्रवेश के साथ जयपुर सत्याग्रह के लिए बड़ा अवसर बन गई। गांधी, नेहरू और पटेल से जयपुर आंदोलन के बारे में बातचीत के बाद बजाज जयपुर के लिए रवाना होने को तैयार हुए। उसी दिन गांधी ने 'हरिजन' में एक लेख प्रकाशित करके बजाज को खुला समर्थन दे दिया। उन्होंने लिखा:

'दरअसल, जमनालालजी एक ऐसे आदमी हैं जिनकी उपस्थिति से कहीं खतरा होने की कम से कम संभावना है। लोग तो हमेशा शांति करवाने वाले के रूप में ही उन्हें जानते रहे हैं। सरकारी अधिकारियों के साथ उनके संबंध बहुत ही सुखद रहे हैं। उनके इन गुणों की कद्र भी इतनी हुई है कि 1916 या उसके आसपास उन्हें रायबहादुर का खिताब दिया गया था, जिसे असहयोग के दिनों में उन्होंने छोड़ा है। व्यापारी दुनिया में वे एक बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति हैं और बहुत बड़े व्यापारी होने के अलावा बैंकर भी हैं। यों तो वे बड़े उत्साही कांग्रेसवादी हैं, मगर आंदोलनकारी के रूप में कभी मशहूर नहीं हुए। हां, रचनात्मक कार्य और समाज-सुधार में वे सबसे आगे हैं। यह जरूर सच है कि अपनी अंतरात्मा के अनुसार चलने का उनमें साहस है और उसके लिए वे कई बार अपने सर्वस्व की भी बाजी लगा चुके हैं। जेल से वे कभी नहीं डरते। जमनालालजी पर तामील किए गए हुक्म में जो कुछ कहा गया है, स्पष्टत: वह गलत है और उन पर बिलकुल लागू नहीं होता। शायद यह कहा जाए कि हुक्म की शब्दावली तो खाली जाब्ते के लिए है, क्योंकि बिना उसके कानूनन उन पर ऐसा हुक्म तामील नहीं किया जा सकता। अगर ऐसा हो, तो उससे निश्चित रूप से यही साबित होता है कि जमनालालजी जैसे लोगों पर लागू करने की मंशा से यह कानून हर्गिज नहीं बना था। जमनालालजी जैसे व्यक्तियों को जयपुर या देश के किसी अन्य भाग में नहीं आने देने के लिए उसका प्रयोग करना तो कानून का शुद्ध और स्पष्ट दुरुपयोग मात्र है।

और, इसमें भी मजेदार अंश वह है जिसमें जमनालालजी को वर्धा का बताया गया है, क्योंकि दरअसल वे जयपुर राज्य के ही हैं। वहीं उनकी जायदाद है और वहीं उनके माता-पिता व अनेक सगे-संबंधी रहते हैं। ऐसे हुक्म के आगे मेरी ही सलाह पर जमनालालजी ने पूरी तरह सिर झुकाया है। इस बात की बड़ी अफवाह थी कि अगर उन्होंने जयपुर में दाखिल होने की कोशिश की तो शायद उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाएगा। इसलिए इस बारे में उन्होंने मुझसे सलाह ली कि अगर इस तरह का हुक्म उन पर तामील हो तो वे क्या करें। जयपुर के उनके कार्यकर्ताओं का तो यह मत था कि ऐसा कोई हुक्म हो तो वहीं फौरन वे उसको भंग करें। लेकिन मेरा मत इससे भिन्न था। अपनी राय पर पछताने की कोई वजह मुझे मालूम नहीं पड़ती। मैंने अपने मन में सोचा कि ऐसा हुक्म देना तो बड़े पागलपन का काम होगा और जो पागल हैं, उनकी बातों पर ज्यादा ध्यान नहीं देना चाहिए, बल्कि उन्हें शांत होने का मौका दिया जाए। मुझे मालूम हुआ है कि गिरफ्तारी के खयाल से उसके लिए बड़ी-बड़ी तैयारियां भी की गई थीं। अत: जो लोग गिरफ्तार करने के लिए आए थे, उन्हें जरूर एक तरह की निराशा हुई होगी। जल्दबाजी नहीं करने और अधिकारियों को यह समझाने की कोशिश करने में कि उन्होंने जल्दबाजी

में और गलत काम किया है, जमनालालजी का कोई नुकसान नहीं हुआ। जयपुर की प्रजा और एक जिम्मेदार आदमी होने के नाते, शायद यह उनका फर्ज ही था कि वे अधिकारियों को अपने निश्चय पर फिर से विचार करने का मौका दें। फिर भी वे ध्यान न दें और जमनालालजी इस हुक्म को भंग करने का निश्चय करें, जैसा कि उन्हें करना ही होगा, तो वे ऐसा और भी ज्यादा नैतिक शक्ति और प्रतिष्ठान के साथ करेंगे और अहिंसात्मक कार्य में तो नैतिक शक्ति की ही जरूरत भी है।

यह स्मरण रहे कि महाराजा तो अपने उन मंत्रियों के हाथों की कठपुतली मात्र हैं, जो सब बाहरी हैं, बल्कि उनमें से कुछ तो अंग्रेज हैं। वे वहां की प्रजा या वहां के प्रदेश के बारे में कुछ नहीं जानते। वे तो एक तरह से उन पर जबर्दस्ती लदे हुए हैं। जयपुर के पढ़े-लिखे घाटे में हैं, हालांकि बाहरी अधिकारियों के आने से पहले किसी-न-किसी रूप में जयपुर राज्य का काम चल ही रहा था। पिछले सप्ताह मुझे उन दुःखद बातों की चर्चा करनी पड़ी थी जो राजकोट में अंग्रेज दीवान ने अपने बहुत थोड़े कार्यकाल में ही कर डालीं। इसमें कोई शक नहीं कि जयपुर के महकमा खास का, जिसमें सब बाहरी आदमी ही भरे हुए हैं, कम-से-कम यह कृत्य उनकी गैर जिम्मेदारी और अयोग्यता का एक दुःखद प्रदर्शन है। एक आदमी का, फिर वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, निर्वासन नगण्य-सी बात मालूम पड़ेगी। लेकिन घटनाएं शायद यही सिद्ध करेंगी कि यह मामला कम-से-कम मूर्खतापूर्ण और महंगा तो रहा ही है, क्योंकि पाठकों को शायद ही यह पता हो कि जयपुर में प्रजामंडल भी है जो पिछले छह साल से जमनालालजी की प्रेरणा से काम कर रहा है। इस समय जमनालालजी ही उसके अध्यक्ष हैं। मंडल एक शक्तिशाली संस्था है जिसके सदस्य जिम्मेदार आदमी हैं और उसने काफी रचनात्मक कार्य किया है। अगर यह प्रतिबंध नहीं हटा तो मंडल को भी अपना फर्ज अदा करना पड़ेगा। क्योंकि यह प्रतिबंध तो मंडल के रचनात्मक और वैध कार्यों को भी रोकने की पेशबंदी है।

अधिकारीगण ऐसी संस्था के बढ़ते हुए प्रभाव को बर्दाश्त नहीं कर सकते जिसका उद्देश्य महाराजा की छत्रछाया में जयपुर में उत्तरदायी शासन प्राप्त करना है, फिर उसके साधन कितने ही अच्छे क्यों न हों। जमनालालजी पर लगाया गया यह एक अपशकुन है। ऐसा मालूम पड़ता है कि जिन संस्थाओं की किसी भी रूप में कोई राजनीतिक आकांक्षा हो, उनकी हलचलों को रोकने के लिए अख्तियार की जाने वाली सम्मिलित नीति की यह पेशबंदी है। अफवाह तो यह भी है कि राजपूताने की रियासतों द्वारा ग्रहण की जाने वाली यह एक संयुक्त नीति है। यह सिर्फ जयपुर के लिए ही सच हो या अन्य सभी रियासतों के लिए, यह सब पर्याप्त अपशकुन है और जमनालालजी तथा जयपुर की

> जनता के लिए अपनी पूरी शक्ति के साथ इसका मुकाबला करना आवश्यक है। यह जरूर है कि ऐसा सत्य और अहिंसा के कांग्रेसी सिद्धांत के अनुरूप होना चाहिए।'[47]

15 जनवरी, 1939 को गांधी ने सुबह होते ही बजाज से जयपुर के बारे में चर्चा की और बजाज की मन:स्थिति के बारे में भी बात की। उसी दिन सीकर के राव राजा के सलाहकार बैरिस्टर पोपटलाल चूडगर भी बारडोली पहुंच गए। वे जयपुर के ब्रिटिश प्रधानमंत्री ब्यूचैम्प से बजाज पर लगे प्रतिबंध के बारे में बात करके आए थे। उन्होंने ब्यूचैम्प से हुई गंभीर वार्ता का ब्यौरा पत्र के रूप में बजाज को सौंपा। चूडगर ने इस पत्र में लिखा था:

> 'मेरा कर्तव्य है कि मैं आपको जयपुर के प्रधानमंत्री सर ब्यूचैम्प सेंट जॉन के उस साक्षात्कार की जानकारी दूं, जो मैंने गत 9 जनवरी को सुबह 11 बजे उनके बंगले पर किया था। मैंने उनसे जयपुर की परिस्थितियों पर चर्चा की जिसका सार कुछ इस प्रकार है–
>
> मैंने सर ब्यूचैम्प को बताया कि आप पर जयपुर में प्रवेश करने पर लगा प्रतिबंध देश के लाखों लोगों के लिए अत्यंत दु:खद और अप्रत्याशित है क्योंकि आप एक प्रतिष्ठित और शांतिप्रिय व्यक्ति हैं और आपका लक्ष्य जयपुर रियासत के अकालग्रस्त क्षेत्रों में राहत के उपाय करना था। इस पर सर ब्यूचैम्प ने कहा कि वे इस बात से सहमत हैं कि आप एक शांतिप्रिय व्यक्ति हैं लेकिन जयपुर में प्रवेश करने से आपका और आपके साथियों का संपर्क उन अकालग्रस्त क्षेत्रों के लोगों से होता जो राजनीतिक कारणों से उन्हें पसंद नहीं था। मैंने उनसे कहा कि आपसे अनिश्चित समय तक इस आदेश के पालन की उम्मीद नहीं की जा सकती। मैंने आपके द्वारा जारी बयान का उल्लेख करते हुए कहा कि यदि यह प्रतिबंध हटा दिया जाए तो अनावश्यक संकटों को टाला जा सकता है और यही राज्य एवं जनता के हित में होगा। वे अपने निर्णय पर अटल थे और उन्होंने कहा कि आपके द्वारा नियमों का उल्लंघन किए जाने से उत्पन्न होने वाली किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए वे पूरी तरह तैयार हैं। उन्होंने कहा कि कांग्रेस के लोग अहिंसक संघर्ष के जरिए बड़ा आंदोलन चलाना चाहते हैं। उनके अनुसार अहिंसा एक ऐसा हथियार है, जो हिंसा से भी अधिक शक्तिशाली हो सकता है। उन्होंने कहा कि भारत के लोग अंग्रेजों की नस्ल में उपस्थित मानवीय प्रवृत्ति का फायदा उठा रहे हैं। यदि उनकी जगह यहां जापान या हिटलर जैसी शक्ति होती तो भारतीयों का यह अहिंसक संघर्ष सफल नहीं हो पाता।
>
> फिर उन्होंने कहा कि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि अहिंसा चाहे जितनी मर्यादित हो, उसका जवाब हिंसा से दिया जाना चाहिए और जयपुर के

> अहिंसक आंदोलन के लिए उनका उत्तर होगा मशीनगन। मैंने तब उनसे कहा कि न तो सभी अंग्रेज उनकी इस बात से सहमत होंगे और न ही उनकी अंग्रेजी नस्ल। इसके जवाब में उन्होंने कहा कि ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी। परंतु व्यक्तिगत रूप से उनका विचार था कि अहिंसा और हिंसा के बीच कोई अंतर नहीं है और अहिंसा के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करने में कोई बुराई नहीं है।
>
> यदि आप या महात्माजी इस वक्तव्य का प्रयोग करना चाहें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'[48]

उस समय तक वायसराय और जयपुर के महाराजा जयपुर की गतिविधियों को लेकर गांधी के निकटवर्ती लोगों के संपर्क में आ चुके थे। घनश्यामदास बिड़ला की एक महीने पहले वायसराय से बात हो चुकी थी और सर आगा खां महाराजा से चर्चा कर चुके थे। इधर, चूडगर-ब्यूचैम्प वार्ता संबंधी पत्र मिलने के बाद बजाज गांधी सहित कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं से विदाई लेकर आंदोलन के क्रियान्वयन के लिए रवाना हो गए। उन्होंने दोहरी रणनीति अपनाई। एक ओर, राजस्थान से जुड़े प्रमुख प्रवासी लोगों से संपर्क करना, जो किसी-न-किसी रूप से भविष्य में मददगार हो सकते थे; दूसरा, उन सभी नेताओं से समर्थन प्राप्त करने की कोशिश, जो कांग्रेस की राजनीतिक गुटबंदी के कारण विपरीत शिखरों पर खड़े थे। वे सबसे पहले बम्बई पहुंचे। वहां राजस्थान के प्रमुख व्यावसायियों केशवदेव, मदनलाल जालान, श्रीनिवास बगड़का, बद्रीदास गोयनका, पीरामल बगड़का, विश्वम्भर माहेश्वरी, गोविन्दराम सेकसरिया, रामदेव पोद्दार, सुब्रता बहन, शांता बहन से वार्ताओं के लंबे दौर के अलावा स्थानीय हीराबाग में राजा गोविन्दलाल पित्ती की अध्यक्षता में हुई सभा में बजाज ने जयपुर आंदोलन की रूपरेखा रखी। मारवाड़ी सम्मेलन अलग से आयोजित हुआ। बम्बई में बजाज की मौलाना आजाद से भी जयपुर को लेकर चर्चा हो गई। मौलाना आजाद उस समय दुविधा में थे। कांग्रेस की राजनीति गांधी बनाम बोस हो चुकी थी। मौलाना बोस के खिलाफ जाना नहीं चाहते थे और न गांधी को छोड़ सकते थे। गांधी चाहते थे कि मौलाना को बोस के खिलाफ अध्यक्ष पद का प्रत्याशी बनाया जाए लेकिन मौलाना तैयार नहीं हुए। एक दिन पहले मौलाना अपनी सहमति दे चुके थे और बम्बई के लिए रवाना हो चुके थे। अगले दिन बम्बई में मौलाना ने राय बदल दी और अपनी उम्मीदवारी वापस लेने का फैसला किया।[49]

बजाज ने जयपुर आंदोलन के बारे में पहली सार्थक मुलाकात मौलाना से करके और बम्बई में राजस्थानियों के समर्थन के बाद वर्धा में विनोबा भावे से मुलाकात की। गांधी के बाद विनोबा उनके दूसरे आशीर्वाददाता हो गए। विनोबा के कारण उन्हें जयपुर आंदोलन के लिए राधाकृष्ण बजाज जैसा सहयोगी मिल गया। विनोबा के उत्साह ने बजाज की मानसिकता को और मजबूत कर दिया। बजाज के अगले कदम ने पूरे कांग्रेस नेतृत्व को जयपुर आंदोलन के समर्थन में लाकर खड़ा कर दिया। बजाज नागपुर होते हुए कलकत्ता पहुंचे। वहां देवीप्रसाद डालमिया, रामकृष्ण डालमिया, दुर्गाप्रसाद खेतान, लक्ष्मणप्रसाद पोद्दार वगैरह से उनकी

सकारात्मक बातें हुईं; यह भी लगा कि वे लोग आंदोलन के लिए आर्थिक सहायता भी देंगे। इसके बाद सबसे बड़ी घटना कांग्रेस अध्यक्ष बोस का जयपुर आंदोलन को समर्थन प्राप्त होना था। 24 जनवरी को बोस ने न केवल अपनी सहमति दी बल्कि माहेश्वरी भवन में जयपुर आंदोलन को लेकर हुई सभा की अध्यक्षता भी की।[50]

कलकत्ता में बोस की अध्यक्षता में जयपुर आंदोलन के समर्थन में सभा का होना इसलिए अत्यधिक महत्वपूर्ण था क्योंकि उन चौबीस घंटों ने कांग्रेस की राजनीति में उबाल ला रखा था। पटेल उस माहौल में बजाज के संपर्क में बने हुए थे और बजाज कांग्रेस की राजनीति को लेकर भी मौलाना तथा बोस से संपर्क साधे हुए थे। यह बजाज का शुचितापूर्ण कद ही था कि एक व्यवसायी होते हुए भी उन्होंने बोस को समझाने का प्रयत्न किया कि उनके चुनाव में खड़े होने से कांग्रेस और बोस को क्षति पहुंचेगी। उस समय तक फैसला हो गया था कि मौलाना की जगह बोस का मुकाबला पट्टाभि सीतारामय्या करेंगे। बोस ने बजाज को शाम को जवाब देने को कहा लेकिन बोस अपना रास्ता तय कर चुके थे और बजाज राजनीति से ऊपर उठकर जयपुर पर केन्द्रित थे। बजाज उस दिन वर्धा के लिए रवाना हो गए, जहां जयपुर की नवीनतम सूचनाएं लेकर हरिभाऊ उपाध्याय पहले से मौजूद थे। उन्होंने वहां की सभी सरकारी कार्यवाही निपटाई, जो उनके नहीं रहने पर उनसे जुड़े संगठनों और परिवार को प्रभावित कर सकती थीं। 26 जनवरी स्वतंत्रता दिवस लेकर आया, जो उस समय भी देशवासियों के लिए राष्ट्रीयता और जज्बे का प्रतीक बना हुआ था; उसी दिन वर्धा में बजाज को जयपुर के लिए विदाई दी गई।

जयपुर पहुंचने से पहले बजाज एक बार फिर 27 जनवरी को गांधी के पास बारडोली पहुंचे। हीरालाल शास्त्री, चिरंजीवलाल मिश्र भी नांदुबर स्टेशन से साथ हो गए। बारडोली आंदोलन से देश के सरदार के रूप में मशहूर हो चुके पटेल बारडोली स्टेशन पर बजाज को लेने के लिए आए हुए थे। बजाज ने गांधी और पटेल को बोस-मौलाना से हुई अलग-अलग बातचीत का ब्यौरा दिया। साथ ही, गांधी को मुसलमानों और जयपुर सरकार के बीच हुए संघर्ष के बारे में बताया, जिसमें सात व्यक्तियों के गोली लगने से मारे जाने और कई लोगों के घायल होने की सूचना थी। गांधी ने अगले दिन फिर जयपुर और बजाज की मन:स्थिति के बारे में पूछा। उन्होंने मन:स्थिति के बारे में बजाज को और समझाया। बजाज ने गांधी को बताया, 'उत्साह का विश्वास तो होता है।' गांधी ने शुद्ध सत्याग्रह के उदाहरण दिए। साथ ही, वक्तव्य बनाकर दिए। इस आशीर्वाद के साथ बजाज जयपुर के लिए रवाना हो गए।[51]

संदर्भ सूची

1. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 161
2. हरिजन, 4 जून, 1938
3. हीरालाल शास्त्री: प्रत्यक्षजीवनशास्त्र-1, अनुपम प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 1970, पृष्ठ 235
4. वही, पृष्ठ 354
5. एम.वी. कामत: गांधी'ज कुली-लाइफ एंड टाइम्स ऑफ रामकृष्ण बजाज, अलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 41-42
6. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 168
7. संपूर्ण गांधी वांगमय-67, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 67
8. गायत्री देवी: मेरी स्मृतियां, क्लासिक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1994, पृष्ठ 117
9. एम.वी. कामत: गांधी'ज कुली-लाइफ एंड टाइम्स ऑफ रामकृष्ण बजाज, अलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 41-42
10. संपूर्ण गांधी वांगमय-67, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 47
11. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 169-170
12. क्वेंटिन क्रू: द लास्ट महाराजा, माइकल जोसफ लिमिटेड, लंदन, 1985, पृष्ठ 117
13. हीरालाल शास्त्री: प्रत्यक्षजीवनशास्त्र-1, अनुपम प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 1970, पृष्ठ 349
14. वही, पृष्ठ 350-352
15. क्वेंटिन क्रू: द लास्ट महाराजा, माइकल जोसफ लिमिटेड, लंदन, 1985, पृष्ठ 115
16. जानकी देवी बजाज: मेरी जीवन यात्रा, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 109
17. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 165
18. जानकी देवी बजाज: मेरी जीवन यात्रा, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 109
19. क्वेंटिन क्रू: द लास्ट महाराजा, माइकल जोसफ लिमिटेड, लंदन, 1985, पृष्ठ 120-121
20. वही, पृष्ठ 122
21. वही, पृष्ठ 123
22. हीरालाल शास्त्री: प्रत्यक्षजीवनशास्त्र-1, अनुपम प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 1970, पृष्ठ 355
23. वही, पृष्ठ 347-348
24. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 226
25. संपूर्ण गांधी वांगमय-67, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 417-418
26. पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 273-279
27. द हिन्दू, 19 नवम्बर, 1938
28. हीरालाल शास्त्री: प्रत्यक्षजीवनशास्त्र-1, अनुपम प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 1970, पृष्ठ 426
29. वही, पृष्ठ 427
30. डॉ. ओ.पी. कछवाहा: फैमिन इन राजस्थान, हिन्दी साहित्य मंदिर, जोधपुर, पृष्ठ 213-214
31. वही, पृष्ठ 217
32. हीरालाल शास्त्री: प्रत्यक्षजीवनशास्त्र-1, अनुपम प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 1970, पृष्ठ 406
33. वही, पृष्ठ 406-407
34. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 262
35. संपूर्ण गांधी वांगमय-68, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 274
36. वही, पृष्ठ 275
37. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 263-264
38. वही, पृष्ठ 266
39. वही, पृष्ठ 264-265

40. वही, पृष्ठ 268
41. वही, पृष्ठ 269
42. वही, पृष्ठ 269-270
43. हरिजन, 21 जनवरी, 1939
44. संपूर्ण गांधी वांगमय-68, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 310-311
45. पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 282
46. रामकृष्ण बजाज: बापू स्मरण, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1963, पृष्ठ 165
47. हरिजन, 14 जनवरी, 1939
48. वही, 11 फरवरी, 1939
49. डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्या: कांग्रेस का इतिहास-2, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958, पृष्ठ 107
50. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 277
51. वही, पृष्ठ 280

गांधी के जयपुर को सप्त संदेश

- शांति मंत्र, अहिंसा का सिद्धांत आवश्यक
- अशांति से शांति संभव नहीं
- पर्याप्त शुद्धता के लिए अहिंसा जरूरी
- अहिंसा के बिना स्वराज्य नहीं
- अहिंसा का सौम्य रूप रचनात्मक कार्य
- अहिंसा की सच्ची कसौटी ध्येय की सेवा
- सर्वथा निर्दोष मृत्यु की क्षमता आवश्यक

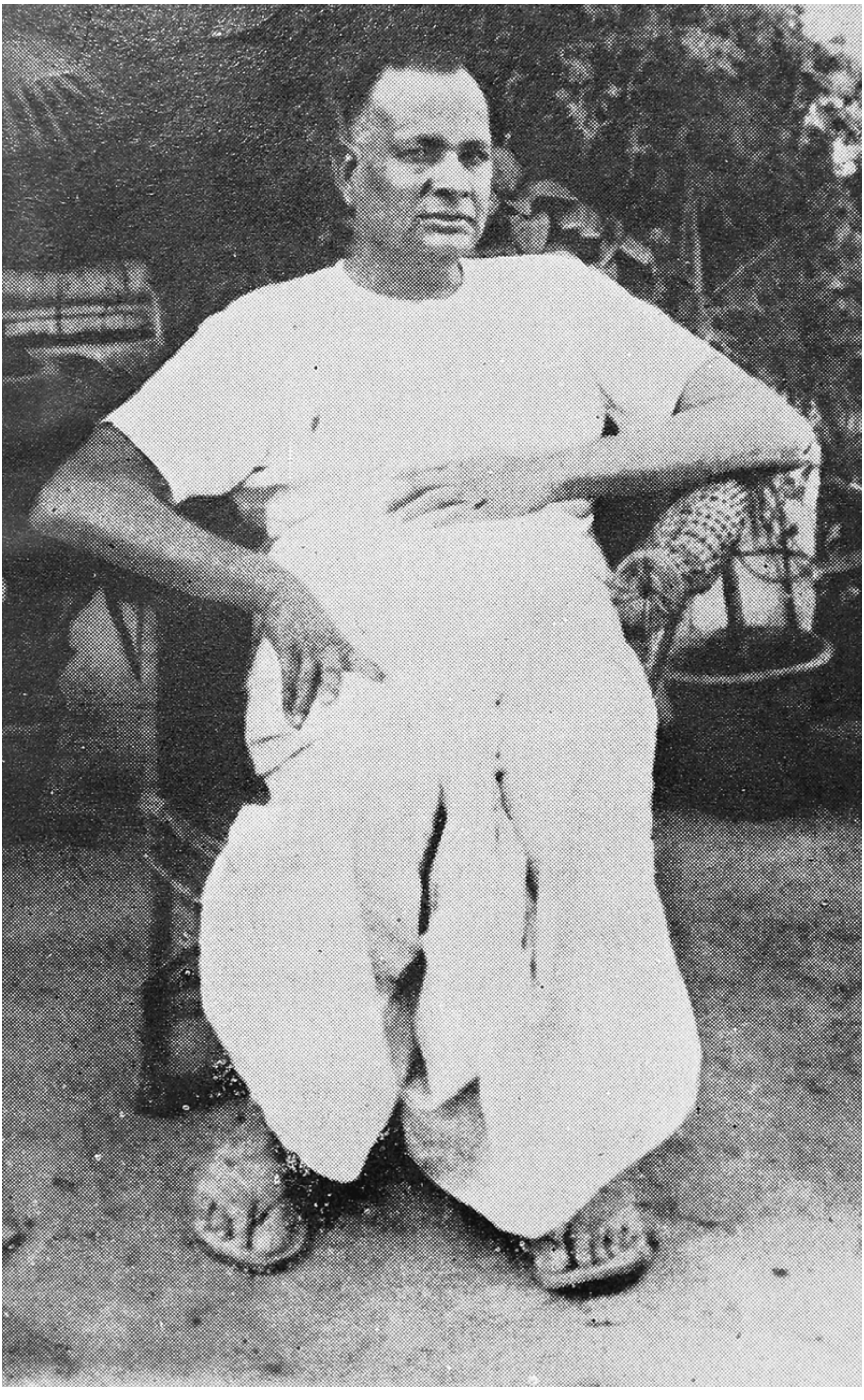

चिकसाना कस्टम नाका पर पुलिस बल प्रयोग से घायल जमनालाल बजाज, 7 फरवरी, 1939

गांधी–बजाज में मसविदे पर चर्चा, 1939

जमनालाल बजाज की जेल से रिहाई के बाद जयपुर में जुलूस, 10 अगस्त, 1939

आम जनता में गांधी और आजादी के प्रति दीवानगी का माहौल

गांधी के आह्वान पर सत्याग्रह के लिए निकल पड़ी महिलाएं

जयपुर स्टेशन पर अगवानी में उपस्थित महाराजा माधो सिंह द्वितीय

दिल्ली दरबार: लालकिले पर जॉर्ज पंचम और क्वीन मैरी के चोंगे उठाकर चलते रियासतों के राजकुमार, 13 दिसम्बर, 1911

जयपुर में सवाई मान सिंह द्वितीय और ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ एलेक्जेंड्रा मैरी, 24 जनवरी, 1961

स्वातंत्र्य समर स्मृति संस्थान के भारत छोड़ो दिवस समारोह, 2014 में जयपुर के स्वतंत्रता सेनानी लक्ष्मीचंद बजाज,
गोविंदनारायण खादीवाले, अमरनारायण माथुर, भंवरलाल खिलौनेवाले और लक्ष्मीनारायण झरवाल

11

मशीनगन से मुकाबला

जयपुर की जनता को मानसिक और नैतिक भूख से मरने के लिए छोड़ा नहीं जा सकता। विशेष रूप से उस समय, जब उसे एक मूलभूत अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और ब्रिटिश साम्राज्य इस नीति का समर्थन कर रहा है। यदि प्रधानमंत्री अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जाकर निर्णय ले रहे हैं, तो उनको वापस भेजने का समय आ गया है।

–मोहनदास करमचंद गांधी

मोहनदास करमचंद गांधी को जयपुर के ब्रिटिश प्रधानमंत्री डब्ल्यू. ब्यूचैम्प सेंट जॉन की धमकी ने हतप्रभ कर दिया। शासन में सुधार की मांग और प्रतिबंध के बावजूद जमनालाल बजाज के जयपुर प्रवेश पर प्रतिबंध के विषय में ब्यूचैम्प ने धमकी दी कि अहिंसा चाहे कितनी मर्यादित हो.. जयपुर के अहिंसक आंदोलन का जवाब मशीनगन से दिया जाएगा। गांधी के लिए यह समझना कठिन नहीं था कि संदेश बैरिस्टर पोपटलाल चूडगर के जरिए बजाज को नहीं, बल्कि परोक्ष रूप से उनको दिया गया है। उनकी अहिंसा पर प्रश्नचिह्न खड़ा करते हुए उन पर बदनीयती का आरोप लगाया गया है। गांधी की भारत में 24 वर्ष की तपस्या और करोड़ों भारतीयों के आजादी के संघर्ष को जयपुर के प्रधानमंत्री ने एक साथ तीन ठोकरें मारी थीं: (1) भारत के लोग अंगेजों की मानवीय प्रवृत्ति का फायदा उठा रहे हैं। (2) जापान या हिटलर जैसी शक्ति होती तो भारतीयों का अहिंसक आंदोलन सफल नहीं हो पाता। (3) जयपुर के अहिंसक आंदोलन का जवाब मशीनगन से दिया जाएगा।

चूडगर के पत्र में लिखी बातें पढ़कर गांधी का मन उद्वेलित हो उठा। उन्हें उस रियासत की जनता की चिंता होने लगी, जहां एक ऊंचे पद पर बैठे हुए व्यक्ति को हिंसा और अहिंसा के बीच कोई अंतर दिखाई नहीं दे रहा था। गांधी समझ नहीं पा रहे थे कि शांतिपूर्ण तरीके से विरोध प्रकट कर रहे लोगों पर मशीनगन चलाने की बात किसी को तर्कसंगत कैसे लग सकती है। वे बेचैन थे और इस ब्रिटिश अफसर के अहंकारी बयान को सबके सामने लाना चाहते थे। इसके पहले उन्होंने एक पत्र लिखकर ब्यूचैम्प से स्पष्टीकरण मांगने का फैसला किया। 18 जनवरी, 1939 को बारडोली से गांधी ने ब्यूचैम्प को लिखा:

‘पहले मेरा विचार था कि साथ का यह पत्र प्रकाशित कर दूं, जिसमें सेठ जमनालाल के जयपुर-रियासत में प्रवेश पर प्रतिबंध संबंधी आपके रुख का

स्पष्टीकरण किया गया है। लेकिन दूसरी बार विचार करने पर मुझे लगा कि चूडगर के पत्र की प्रति आपको भेजकर उस पर आपकी राय जानने से मेरा प्रयोजन अधिक सिद्ध होगा। मेरा उद्देश्य राजा-महाराजाओं और उन लोगों के बीच सद्भावना बढ़ाना है, जिन्हें ऐसे मामलों के सिलसिले में, जिनमें मैत्रीपूर्ण वार्ता के जरिए न्याय दिलवाना संभव हो, किसी-न-किसी तरह उनके संपर्क में आना पड़ता है। और अब चूंकि मुझे आपके साथ पत्र-व्यवहार करना ही पड़ रहा है, इसलिए चूडगर के पत्र के बारे में आपकी राय जो भी हो, मैं आपको यह सुझाव देना चाहूंगा कि आपको सेठ जमनालाल और उनके संगठन पर से प्रतिबंध हटा लेना चाहिए। इससे जयपुर रियासत में शांति को खतरा नहीं होगा। सच तो यह है कि मैं ऐसा मानता हूं कि प्रतिबंधों से निश्चय ही शांति को खतरा है।'[1]

20 जनवरी को ब्यूचैम्प ने गांधी के पत्र का जवाब दिया। उसने चूडगर द्वारा दिए गए विवरण को गलत बताते हुए लिखा:

'आपका 18 तारीख का कृपापूर्ण पत्र प्राप्त हुआ। साथ ही चूडगर के उस पत्र की नकल भी मिली, जो उन्होंने सेठ जमनालाल बजाज को लिखा था। उस पत्र में जो कुछ लिखा है, उसकी सच्चाई की जांच करने से पहले आपने उसे प्रकाशित करने में झिझक दिखाई। यह बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य था, जिसकी मैं निजी तौर पर इसलिए बहुत कद्र करता हूं क्योंकि अब मैं आपको यह बता सकता हूं कि इस पत्र में दिया हुआ मेरे विचारों का बयान बिलकुल गलत है। समझ में नहीं आता कि चूडगर मेरे कथन को इतना गलत कैसे समझे। इस घटना से भविष्य में ऐसी मुलाकातें देने के संबंध में मेरी झिझक और पक्की हो गई है। अब चूंकि हकीकत आपको मालूम हो गई है, इसलिए मुझे विश्वास है कि ऐसे पत्र को प्रकाशित करने की आपकी अनिच्छा और पुष्ट हो जाएगी। लेकिन अगर आप विपरीत निर्णय पर पहुंचे, तो जितनी जल्दी हो सके कृपया मुझे उसकी खबर दे दें ताकि मैं उचित कार्रवाई कर सकूं। आपने मेरे ऊपर जो कृपा दिखाई, उसके लिए पुन: धन्यवाद।'[2]

ब्यूचैम्प ने चूडगर की कही गई बातों को सिरे से खारिज कर दिया, लेकिन यह नहीं बताया कि वास्तव में उनके बीच क्या बात हुई थी। उसके पत्र से गांधी को संतुष्टि नहीं हो सकी। उन्होंने 22 जनवरी को एक और पत्र लिखा:

'मेरे 18 तारीख के पत्र का तुरंत उत्तर देने के लिए आपको धन्यवाद। भेंट के बारे में यदि आप चूडगर के विवरण को नहीं मानते तो मुझे आशा थी

कि आप अपना विवरण मुझे भेजेंगे। यह मामला इतना महत्वपूर्ण है कि मैं इसे यों ही छोड़ नहीं सकता। यदि आप चाहें तो चूडगर द्वारा दिए गए विवरण के साथ मैं आपका विवरण भी खुशी से छाप दूंगा।'[3]

गांधी के दूसरे पत्र का जवाब ब्यूचैम्प ने 25 जनवरी को दिया:

'आपके इसी 22 तारीख के पत्र के लिए अनेक धन्यवाद। मुझे विश्वास है कि निजी तथा व्यक्तिगत समझी जाने वाली मुलाकात को कलमबंद करने में मेरी स्वाभाविक हिचकिचाहट के प्रति आप सहानुभूति दिखाएंगे। खासकर जबकि मुलाकात लेने वाला गलत रिपोर्ट प्रकाशित करने की धमकी दे चुका है। मुझे विश्वास है कि आप मेरी इस बात से सहमत होंगे कि ऐसी कार्रवाई से केवल कटुता ही बढ़ेगी; और जहां तक मैं देखता हूं, इससे कोई उपयोगी हेतु पूरा नहीं होगा। लेकिन अगर चूडगर अपनी गलत रिपोर्ट प्रकाशित कर देना उचित ही समझें तो मुझे विश्वास है कि आप मुझे आगाह कर देंगे ताकि मैं, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, इस संबंध में उचित कार्रवाई कर सकूं।'[4]

ब्यूचैम्प ने चूडगर के कथन को सर्वथा गलत बताया, लेकिन न तो मुलाकात का खंडन किया और न ही वास्तविक बातचीत का ब्यौरा देने में कोई रुचि दिखाई। गांधी ने उसे एकाधिक बार पत्र लिखकर विषय की गंभीरता के प्रति सजग किया और इन हालात में विवरण को प्रकाशित करने की बात भी कही। इसके बावजूद ब्यूचैम्प ने गांधी के पत्र व्यवहार और उनकी मंशा के प्रति संजीदगी दिखाने की बजाय धमकी की भाषा का इस्तेमाल किया। ब्यूचैम्प सीधा जवाब नहीं देकर हर बार केवल 'उचित कार्रवाई' की बात कर रहा था। उसके पत्रों की भाषा चुनौतीपूर्ण थी और यह चुनौती गांधी को ही दी जा रही थी। उस दौरान बारडोली में ही मौजूद गांधी ने चूडगर के पत्र को प्रकाशित करने का फैसला कर लिया। इसके पहले 27 जनवरी को उन्होंने ब्यूचैम्प को एक पत्र भेजकर इसकी सूचना दे दी। इसमें उन्होंने लिखा:

'इसी माह की 25 तारीख के आपके पत्र के लिए धन्यवाद।

मुझे डर है कि आपकी हिचकिचाहट से मेरी कोई हमदर्दी नहीं है। चूडगर ने जो रिपोर्ट भेजी है, वह इतनी महत्वपूर्ण है कि अवश्य छपनी चाहिए। मुझे चिंता केवल यह थी कि मैं ऐसी रिपोर्ट न छापूं, जिसकी सच्चाई पर कोई अंगुली उठा सके। मेरा चूडगर से पत्र-व्यवहार जारी है और अगर वे सेठ जमनालाल को दी गई अपनी रिपोर्ट पर जमे रहते हैं, तो मुझे जयपुर की जनता के हित में उसे प्रकाशित करना पड़ सकता है।

> चूडगर के विवरण को प्रकाशित करने पर आप जो 'उचित कार्रवाई' करने वाले हैं, उसका अर्थ मेरी समझ में नहीं आया।'[5]

गांधी ने ब्यूचैम्प से पत्र व्यवहार करने के दौरान जयपुर के मुद्दे सार्वजनिक रूप से उठाने शुरू कर दिए। अपनी तमाम राजनीतिक व्यस्तताओं के बीच गांधी जयपुर के मुद्दे पर लगातार पत्र और लेख लिख रहे थे। 21 जनवरी के 'हरिजन' में उन्होंने 'जयपुर' शीर्षक से एक विस्तृत आलेख लिखकर जयपुर प्रशासन की भर्त्सना की। उन्होंने लिखा:

> 'जयपुर के प्रशासक तब तक प्रसन्न नहीं होंगे, जब तक वे यहां के देशभक्तों को होश में नहीं ले आते। अब उन्होंने जयपुर राज्य प्रजा मंडल को प्रतिबंधित कर दिया है, जिसके अध्यक्ष जमनालालजी हैं। जमनालालजी ने जयपुर राज्य परिषद के अध्यक्ष को लिखा अपना पत्र प्रकाशित होने के लिए जारी किया है। इस पत्र के कारण उन पर लगा प्रतिबंध हटाया जा सकता है। मैंने पिछले सप्ताह के लेख में भूलवश जयपुर परिषद को बाहरी लोगों से भरा हुआ बता दिया था, लेकिन मैं समझता हूं कि इसमें राज्य से भी चार सदस्य शामिल हैं। निस्संदेह यह परिषद सामाजिक और मानवतावादी कार्यों के अलावा जमनालालजी एवं उनके साथियों से संबंधित गतिविधियों को पूरी तरह समाप्त करने का मन बना चुकी है।
>
> यह उन व्यक्तियों से निपटने का सबसे नया तरीका है, जिन्हें राज्य के प्रशासक पसंद नहीं करते। जयपुर प्रशासन एक राष्ट्रीय संकट को गति देकर स्वयं संकुचित होकर नहीं रह जाएगा, मैं केवल ऐसी आशा कर सकता हूं। तीन कारण हैं, जो जयपुर को अपनी कार्यशैली पर सवाल उठाने के लिए मजबूर करेंगे। जमनालालजी अपने आप में एक संस्था हैं। इससे बढ़कर, वे कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के सदस्य और कोषाध्यक्ष हैं। जयपुर में अपनाया गया तरीका विसंगतियों से भरा हुआ है और यह कई संघर्षों को जन्म देगा। अगर इसे चुनौती नहीं दी गई तो इसका सीधा अर्थ होगा उन सभी गतिविधियों का नाश, जो जनता की वैध राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए चल रही हैं।
>
> जयपुर के बारे में सबसे अजीब बात यह है कि यहां के असली शासक ऊंचे ओहदे वाले अंग्रेज हैं, न कि महाराजा। क्या यह हो सकता है कि वे केंद्रीय नेतृत्व के विचारों के प्रतिनिधि हों? अगर ऐसा है तो हाल में की गई घोषणाओं का क्या होगा? और अगर ऐसा नहीं है तो क्या कोई अंग्रेज दीवान ऐसी नीतियों के साथ पहल कर सकता है, जो अंतत: राज्य के लिए स्वयं ही संकट बन जाएं? मैं समझता हूं कि जयपुर का राजकोष पूरी तरह से भरा हुआ है। सबसे बुरी स्थिति में यह खजाना एक दीर्घकालीन जनविद्रोह को नियंत्रित

करने के लिए पर्याप्त हो सकता है, यह देखते हुए कि आधुनिक हथियारों के बल पर जनभावना को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। समय आ गया है कि राजा और केंद्र सरकार मिलकर एक साझा कार्यनीति का निर्माण करें। या फिर जयपुर की नीति ही वह साझा नीति होने वाली है, जैसा कई लोग कह रहे हैं? मैं केवल आशा कर सकता हूं कि ऐसा नहीं होगा।'[6]

गांधी की ओर से हो रहे लगातार प्रहार ने जयपुर को एक राष्ट्रीय स्तर का मुद्दा बना दिया। भारत की 600 से अधिक रियासतों में से एक जयपुर को इतना अधिक महत्व मिलना समाचार पत्रों के लिए आश्चर्यजनक था। 24 जनवरी, 1939 को टाइम्स ऑफ इंडिया के प्रतिनिधि ने बारडोली में गांधी का साक्षात्कार किया। इसका पहला सवाल ही जयपुर से जुड़ा हुआ था। उसने हरिजन के इस वाक्य 'जमनालाल बजाज को रियासत में प्रवेश नहीं करने दिया गया तो अखिल भारतीय संकट खड़ा हो जाएगा' का हवाला देते हुए गांधी से पूछा कि इस वाक्य से उनका क्या अभिप्राय है। गांधी ने जवाब दिया:

'सेठ जमनालाल जयपुर की प्रजा होते हुए भी अखिल भारतीय स्तर के आदमी हैं। वे कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य भी हैं और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि वे मूलत: एक शांतिप्रिय व्यक्ति हैं। वे उस संगठन के प्रधान हैं, जो पिछले कुछ सालों से जयपुर में कार्य करता आ रहा है और जिसे काम करने की अनुमति भी दी गई है। इसकी गतिविधियों में कभी कुछ भी गुप्त नहीं रहा है। इस संगठन में गंभीर प्रकृति के प्रसिद्ध कार्यकर्ता हैं, जिन्होंने पुरुषों और महिलाओं दोनों के बीच काफी ज्यादा रचनात्मक कार्य किया है। जयपुर में शासन तंत्र की बागडोर एक प्रसिद्ध राजनीतिक, सैनिक अधिकारी के हाथ में है; जमनालाल और उनके संघ अर्थात जयपुर राज्य प्रजामंडल के विरुद्ध घोषित प्रतिबंध के बारे में रियासत की नीति का निर्धारण और संचालन वही कर रहे हैं। मैं यह मानता हूं कि जयपुर के प्रधानमंत्री इस संबंध में जो भी कर रहे हैं, केंद्रीय सत्ता की कम-से-कम मौन स्वीकृति के बिना नहीं कर रहे होंगे, क्योंकि उसकी अनुमति के बिना वह जयपुर जैसी महत्वपूर्ण रियासत के प्रधानमंत्री भी नहीं बन सकते हैं।

यदि जयपुर के अधिकारियों की कार्यवाही से एकाएक प्रथम श्रेणी का संकट पैदा हो जाए तो ऐसा नहीं हो सकता कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और सारा भारत उदासीन भाव से चुपचाप देखता रहे और वहां जमनालाल बिना किसी अपराध के जेल में बंद कर दिए जाएं और प्रजामंडल के सदस्यों से भी ऐसा ही व्यवहार किया जाए। ताकत होते हुए भी कांग्रेस यदि इसका उपयोग नहीं करती और जयपुर की जनता को इस प्रकार अपने समर्थन के लाभ से वंचित करके उनकी भावना का दमन होने देती है तो वह अपने कर्तव्य

की अवहेलना करेगी। मेरे इस कथन का कि जयपुर या राजकोट में जो कुछ हो रहा है, उससे अखिल भारतीय संकट पैदा हो सकता है, यही अर्थ है।

मेरी राय यह है कि कांग्रेस द्वारा हस्तक्षेप नहीं करने की नीति तब तक राजनीतिमत्ता का श्रेष्ठ उदाहरण मानी जा सकती थी, जब तक रियासतों के लोगों के जागृति नहीं आई थी। लेकिन इस समय जब रियासतों के लोगों में चहुंमुखी जागृति है और अपने न्यायसंगत अधिकारों को स्थापित करने के लिए वे लंबी अवधि तक कष्ट सहने को तैयार हैं तो अब वह नीति कायरता की द्योतक होगी। यदि एक बार यह चीज समझ ली जाए तो सारे भारत में जहां भी कहीं स्वतंत्रता के लिए संघर्ष होता है, यह सारे भारत का संघर्ष माना जाएगा। जहां कहीं कांग्रेस ऐसा समझती है कि उसका हस्तक्षेप करना उपयोगी होगा, वहां इसे हस्तक्षेप अवश्य करना चाहिए।'[7]

ब्यूचैम्प की धमकी भरी भाषा के बारे में गांधी ने वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो को भी पत्र लिखकर कार्रवाई की मांग की। 26 जनवरी, 1939 के इस पत्र में गांधी ने लिखा:

'जयपुर के अंग्रेज प्रधानमंत्री ने, कहते हैं, सुप्रसिद्ध बैंकर, परोपकारी और समाज-सुधारक सेठ जमनालाल बजाज को और उस सामाजिक-राजनीतिक संगठन को, जिसके कि वे प्रधान हैं, कुचल डालने की प्रतिज्ञा की है। उनका अपराध यही है कि वे महाराजा के अधीन उत्तरदायी सरकार चाहते हैं। मैं ऐसा समझता हूं कि यदि यह जानकारी विश्वसनीय है तो केंद्रीय सरकार उसकी जिम्मेदारी से बच नहीं सकती। इसका अर्थ यह है कि रियासत के लोगों को केवल अपने शासकों से ही नहीं लड़ना है, जो स्वयं अपनी प्रजा का प्रतिरोध करने में असमर्थ हैं, बल्कि उन्हें केंद्रीय सरकार के अदृश्य और अति शक्तिशाली हस्तक्षेप से भी लड़ना है।

इस भयानक समस्या को मैं आपके आगे रखने का दुस्साहस कर रहा हूं। भयानक मैं इसे इसलिए कहता हूं क्योंकि मुझे नहीं मालूम कि यह केंद्रीय सरकार और कांग्रेस दोनों को कहां तक उलझाएगी; उस कांग्रेस को, जिसका रियासत के लोगों के प्रति एक नैतिक कर्तव्य है। मैं यह बात समझ सकता हूं कि सर्वोच्च सत्ता पर रियासतों को बाहरी खतरे और भीतरी अराजकता से बचाने के संधिजन्य दायित्व हैं। परंतु क्या इसी से जुड़ी हुई यह बात भी उतनी ही सत्य नहीं है कि यदि रियासतें अपनी प्रजा का दमन करती हैं तो सर्वोच्च सत्ता को उसकी भी रक्षा करनी चाहिए? क्या कोई रियासत भाषण, सभाओं और इसी तरह की अन्य स्वतंत्रताओं का दमन कर सकती है? और इसके बावजूद वह सर्वोच्च सत्ता से यह अपेक्षा रख सकती है कि यदि उसकी प्रजा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता के लिए, जिसका कि किसी भी अच्छे समाज में

हर मानव प्राणी को अधिकार होता है, अहिंसात्मक संघर्ष करे तो उसके दमन में वह उसकी सहायता करेगी?'[8]

जनवरी का महीना खत्म होने के साथ-साथ गांधी ने जयपुर आंदोलन की बागडोर पूरी तरह से अपने हाथ में ले ली। उनके सीधे हस्तक्षेप के कारण इस लड़ाई का स्वरूप बदलने लगा। इधर, 1 फरवरी, 1939 को बजाज निषेधाज्ञा भंग करने के लिए जयपुर पहुंच गए। जयपुर स्टेशन पर कपूरचंद पाटनी, चिरंजीवलाल मिश्र, चिरंजीलाल अग्रवाल और अन्य कार्यकर्ताओं ने उनका स्वागत किया। बजाज ने स्टेशन पर ही भाषण दिया और कहा कि ब्यूचैम्प जयपुर को जालियांवाला बाग बनाना चाहता है।[9] उन्होंने समाचार पत्रों के लिए गांधी का तैयार किया हुआ अपना वक्तव्य भी जारी कर दिया। इस वक्तव्य में उन्होंने कहा:

'ऐसा पता चला है कि जयपुर के प्रधानमंत्री ने जयपुर राज्य प्रजामंडल को और मुझे कुचल डालने की प्रतिज्ञा की है। उस नीति का अनुसरण करते हुए अपने विचार से उन्होंने मेरे लिए ऐसा प्रबंध किया है जिससे उनके लिए कोई खतरा नहीं रह जाए। शीघ्र ही मंडल के सदस्यों के साथ भी यही होना है। परन्तु यदि हम अपने प्रति और उस दायित्व के प्रति जो हमने स्वयं अपने ऊपर लिया है, सच्चे हैं तो चाहे हमारे शरीर बंदी हो जाएं या किसी और तरह आहत हो जाएं, पर हमारी आत्मा स्वतंत्र रहेगी।

अब जब मेरी आवाज जबर्दस्ती बंद की जाने वाली है, मैं एक बार फिर यह बता दूं कि हम किसलिए लड़ रहे हैं। हमारा लक्ष्य महाराजा के अधीन उत्तरदायी सरकार की स्थापना है परन्तु सविनय अवज्ञा हमने इसलिए शुरू नहीं की है कि दरबार पर उत्तरदायी सरकार देने के लिए दबाव डाला जाए। सविनय अवज्ञा का उद्देश्य तो अहिंसा के दायरे में रहते हुए बोलने, लिखने, सभाएं करने, जुलूस निकालने, संगठन बनाने आदि की स्वतंत्रता सहित उस मूल अधिकार पर जोर देना है, जो सभी समाजों को प्राप्त है। हम सविनय अवज्ञा करने को इसलिए बाध्य हुए हैं कि यह मूल अधिकार हमसे छीन लिया गया है। जैसे ही यह अधिकार वापस मिल जाएगा, सविनय अवज्ञा बंद कर दी जााएगी। इसलिए सामूहिक सविनय अवज्ञा या करबंदी आंदोलन का अभी कोई सवाल नहीं है।

इस चीज को देखते हुए कि मंडल को एक तरह से अवैध संस्था घोषित कर दिया गया है, हमें अपने मौजूदा रजिस्टर को रद्द ही मानना चाहिए। यदि संभव हो तो रियासत के अंदर और यदि आवश्यक हो तो रियासत के बाहर एक नया रजिस्टर खोला जाना चाहिए। जो लोग यह जानते हैं कि आज मंडल का सदस्य बनने तक में खतरा है, केवल वही अब सदस्य बनेंगे। फिर भी, आशा है कि रियासत के अंदर या बाहर रहने वाले जयपुरिये बड़ी संख्या में

> मंडल के सदस्य बनेंगे और कम-से-कम इसी तरह इस प्रतिबंध के प्रति अपने विरोध का प्रदर्शन करेंगे।'[10]

जयपुर स्टेशन से बाहर निकलते ही बजाज ने सरकारी मोटर के साथ यंग को खड़ा पाया। रेलवे के अधिकारियों ने बजाज को गिरफ्तार करके डी.आई.जी. के पास भेज दिया। पूरी रात मोटर में बैठाकर 350 मील यात्रा करवाने के बाद डी.आई.जी. ने बजाज को मथुरा ले जाकर छोड़ दिया।[11]

मथुरा से बजाज आगरा पहुंचे। उन्होंने वहां अपने मित्रों और सहयोगियों से विमर्श किया और अगले दिन फिर सीमा में प्रवेश करने की बात कही। साथ ही, प्रजामंडल के अन्य सदस्यों से बात करके जल्दी ही गिरफ्तारी देने के लिए कहा। देर रात तक बजाज कई व्यक्तियों को टेलीफोन करते रहे। घनश्यामदास बिड़ला से जब उनकी बात हुई तो उन्होंने बजाज को कुछ दिन रुकने का सुझाव दिया और कहा कि उन्हें एक बार फिर जयपुर कौंसिल को पत्र लिखना चाहिए।[12] बजाज उनके सुझाव को मानना नहीं चाहते थे। उन्होंने गांधी को तार भेजकर इस बारे में बताया। उसी दिन गांधी का जवाब आ गया, 'अपनी योजना पर डटे रहो, मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है और तुम्हारी सफलता निश्चित है।'[13]

गांधी ने घनश्याम दास बिड़ला को भी यह निर्देश दिया कि वे बजाज को जयपुर जाने से नहीं रोकें। उन्होंने लिखा, 'अधिकारी जब तक लिखित रूप में ऐसी प्रार्थना नहीं करें, जमनालाल को प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। मैं इस आशय का वक्तव्य दे चुका हूं कि जयपुर सरकार की विज्ञप्ति सर्वथा असंतोषजनक है।'[14]

इसके बाद गांधी के निकटतम सहयोगी और सचिव महादेव देसाई ने भी गांधी को तार भेजकर बजाज के कार्यक्रम को कुछ दिनों के लिए स्थगित करने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने लिखा, 'जमनालालजी की निगरानी करने वाले पुलिस अधिकारी ने उनसे जुबानी यह प्रार्थना की है कि वे अधिकारियों को पुनर्विचार के लिए कुछ समय दें। इसलिए क्या मैं जमनालालजी से यह कह सकता हूं कि अधिकारियों को एक पत्र लिखें, जिसमें पुलिस अधिकारी की प्रार्थना का उल्लेख हो, विज्ञप्ति की असंगति दिखाई जाए और उन्हें 8 तक का समय दे दिया जाए? पत्र के लिए उपयुक्त मसविदा मैं उन्हें भेज रहा हूं। यदि आप सहमत हों तो उन्हें पत्र भेजने की सलाह दे दें।'[15] गांधी इसके लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने देसाई को जवाब दिया, 'हालांकि पूरी बात नहीं जानने के कारण तुम्हारा सुझाव मुझे नहीं जंचता, तो भी मैं जमनालालजी को सलाह दे रहा हूं कि वे तुम्हारी हिदायतों पर चलें।'[16] इसके बाद गांधी ने बजाज को भी तार भेजकर देसाई के सुझावों का पालन करने के लिए कहा।[17]

आगरा में एक आदमी महादेव देसाई का पत्र लेकर बजाज के पास आया। बजाज अपने कदम पीछे नहीं खींचना चाहते थे। पत्र पढ़कर वे थोड़े दु:खी हुए, लेकिन फिर योजना को आगे बढ़ाने के लिए वरिष्ठ नेताओं से संपर्क करने लगे। उन्होंने जवाहरलाल नेहरू, गोविंदवल्लभ पंत, कैलाशनाथ काटजू, घनश्यामदास बिड़ला और महादेव देसाई से टेलीफोन पर बात की। आखिर, गांधी से उन्हें यह संदेश मिल गया कि वे अपने विवेक के अनुसार

फैसला कर सकते हैं।[18]

अगले दिन 4 फरवरी को गांधी ने हरिजन में लिखा:

> 'अगर मुझे मिली हुई खबर सही है तो जयपुर के ब्रिटिश प्रधानमंत्री इस बात पर तुले हुए हैं कि उत्तरदायी शासन की भावना को लोगों में फैलाने का कोई भी आंदोलन नहीं चलने दिया जाए। इसलिए जयपुर में सत्याग्रह उत्तरदायी शासन के लिए नहीं बल्कि प्रजामंडल और उसके अध्यक्ष जमनालाल बजाज पर लगाए गए प्रतिबंध को हटाने के लिए किया जा रहा है। मेरी राय में वायसराय का कर्तव्य है कि जयपुर के प्रधानमंत्री से पाबंदी हटा लेने के लिए कहें। वायसराय के ऐसा करने से किसी हालत में यह नहीं समझा जा सकता कि उन्होंने रियासतों के मामले में अनावश्यक हस्तक्षेप किया।'[19]

4 फरवरी की ही रात बजाज आगरा से सीकर जाने के लिए ट्रेन से रवाना हुए। उनकी योजना जानने के बाद जवाहरलाल नेहरू को थोड़ी चिंता हुई। उन्होंने गोविंदवल्लभ पंत को पत्र में लिखा:

> 'आज रात को जमनालालजी फिर जयपुर जा रहे हैं। पिछली बार जयपुर की पुलिस ने उनके साथ ब्रिटिश सीमा में प्रवेश किया था। वह उनके ऊपर राजाओं की सुरक्षा का कानून लागू करेगी और उन्हें उस स्टेशन पर गिरफ्तार कर लेगी जो ब्रिटिश क्षेत्र में है। मैं नहीं जानता कि इसमें प्रांतीय सरकार का दखल कहां तक है लेकिन मैं समझता हूं कि इस पर बहुत बारीकी से ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि भारत सरकार या जयपुर के अधिकारी कोई अनुचित लाभ नहीं उठा सकें। जमनालालजी ने मुझे यह भी बताया है कि उन्होंने आगरा में एक कार्यालय खोला है। उन्होंने उम्मीद जताई है कि वहां के अधिकारी उनके काम में बाधा नहीं डालेंगे।'[20]

जयपुर से हीरालाल शास्त्री, कपूरचंद पाटनी और हरिश्चंद्र शर्मा भी फुलेरा तक बजाज के साथ गए। बजाज को गिरफ्तार करने के लिए हथियारबंद पुलिस व मिलिट्री के साथ एक स्पेशल ट्रेन जयपुर से ठीकरिया बावड़ी गई। ठीकरिया बावड़ी में जयपुर पुलिस के डी.आई.जी. ने उन्हें उतरकर स्पेशल ट्रेन में बैठने के लिए कहा। बजाज वहीं पर उतर गए और बोले, 'मुझे तो सीकर जाना है, आप चाहें तो मुझे बलपूर्वक डिब्बे में डाल सकते हैं।' इस पर डी.आई.जी. और दूसरे अधिकारियों ने कहा कि इस बार उन्हें जयपुर के बाहर जाने की नौबत नहीं आएगी और उनका मुकदमा आज नहीं तो जल्दी ही हो जाएगा। बजाज के साथियों ने भी कहा कि

जब अधिकारीगण इतना आग्रह कर रहे हैं तो उन्हें मान लेना चाहिए। बजाज डिब्बे में चढ़ गए लेकिन ट्रेन चलने के बाद डी.आई.जी. ने बातचीत का ढंग बदलना शुरू कर दिया।[21]

जयपुर वेस्ट स्टेशन आने पर बजाज के डिब्बे में आई.जी. एफ.एस. यंग पहुंचा। बजाज ने उससे कहा कि उन्हें जयपुर से बाहर नहीं भेजा जाना चाहिए और उनकी स्थिति के बारे उनके मित्रों और परिवार को सूचित कर दिया जाना चाहिए। यंग ने इसे स्वीकार किया और ब्यूचैम्प से इस विषय पर बात करने का आश्वासन देकर वहां से चला गया। इसके बाद बजाज को छापरवाड़ा ले जाया गया। छापरवाड़ा में यंग ने बजाज को बताया कि ब्यूचैम्प ने उनकी दोनों बातों को मानने से इनकार कर दिया और उन्हें उसी समय वहां से बाहर भेजने का आदेश दे दिया। बजाज ने वहां से जाने से इनकार किया और कहा कि पुलिस चाहे तो बल प्रयोग करके ले जा सकती है। आखिरकार उन्हें बलपूर्वक मोटर में डाला गया। उन्हें चोट भी आई। बजाज को जयपुर लाकर कहा गया कि उन्हें अलवर, गुड़गांव या दिल्ली में छोड़ने का आदेश मिला है। बजाज ने इस पर कहा कि वे जयपुर के बाहर अपनी खुशी से मोटर से नहीं उतरेंगे। देर तक विचार करने के बाद उन्हें वापस जयपुर की सीमा में स्थित इस्माइलपुर चौकी पर लाकर बैठा दिया गया। वहां डी.आई.जी. ने बताया कि अब उन्हें जयपुर मे ही रखने का हुक्म मिला है लेकिन जयपुर का रास्ता डेढ़-दो घंटे का है। दोपहर पौने तीन बजे रवाना होकर रात में साढ़े आठ बजे वे लोग भाड़ौती पहुंचे और आराम करने के लिए वहीं रुके। [22]

रात को लगभग 2 बजे डी.आई.जी. ने बजाज को उठाया और कहा कि उन्हें अभी यहां से ले जाने का आदेश आया है। बजाज के मना करने पर उन्हें फिर बल-प्रयोग करके मोटर में डाला गया। रास्ते में डी.आई.जी. ने उन्हें आदेश पढ़कर सुनाया। बजाज ने उसकी नकल देने के लिए कहा तो उन्होंने पहले स्वीकार किया लेकिन बाद में मना कर दिया। भरतपुर और आगरा की सीमा पर स्थित चिकसाना कस्टम नाके पर उन्हें बलपूर्वक गाड़ी से नीचे उतार दिया गया। इसके कारण उनके शरीर पर रगड़ व बाएं हाथ की अंगुली में चोट आई, जिससे खून भी निकला। धोती और कपड़ों पर खून के छींटे लगे। इसके बाद वे चिकसाना फ्लैग स्टेशन से ट्रेन में बैठकर आगरा पहुंचे।[23]

बजाज के साथ हुए इस बर्बरतापूर्ण व्यवहार की सूचना गांधी को टेलीफोन से मिली। उन्होंने एक वक्तव्य तैयार करके समाचार पत्रों को भेज दिया, जिसमें उन्होंने जयपुर प्रशासन पर कड़ा प्रहार किया और इस नीति को गुंडागर्दी बताया। उन्होंने लिखा:

> 'जमनालाल बजाज के बारे में निम्नलिखित टेलीफोन रिपोर्ट मिली है। जमनालालजी जब दोबारा कैद किए गए तब उनका पुत्र, उनका सचिव और एक नौकर उनके साथ थे।
>
> जमनालालजी को जयपुर से 50 मील दूर अजमेर रोड स्टेशन पर हिरासत में लेने के बाद वहां के डाक बंगले में रखा गया था। श्री यंग स्वयं जमनालालजी के पास गए और उन्हें अपनी गाड़ी में बैठने को कहा।

जमनालालजी ने यह कहकर मना कर दिया, 'आप मुझे जयपुर राज्य की सीमा के बाहर रखना चाहते हैं। मैं आपके साथ नहीं आऊंगा।' तब श्री यंग ने कहा, 'हम आपको जयपुर ही लेकर जा रहे हैं, हमारे साथ आइए।' जमनालालजी ने जवाब दिया, 'मैं आपकी बातों पर विश्वास नहीं कर सकता।' श्री यंग ने कहा, 'मेरे पास आदेश हैं, आपको मेरे साथ आना ही होगा।' जमनालालजी ने उन्हें आदेश-पत्र दिखाने को कहा जो संभवत: उनके पास था ही नहीं। थोड़ी देर बाद श्री यंग ने उनसे फिर कहा, 'आप हमारे साथ आइए, हम आपको जयपुर लेकर जाना चाहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता है तो आप अखबारों में प्रकाशित करवा सकते हैं कि हम जयपुर ले जाने का वादा करने के बाद आपको किसी दूसरे स्थान पर ले गए।' जमनालालजी उनकी किसी भी बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने कहा, 'मैं अपनी इच्छा से तो आपके साथ नहीं आने वाला हूं। यदि आप चाहें तो मुझे बलपूर्वक लेकर जा सकते हैं।'

लगभग एक घंटे तक यह बातचीत चलती रही। अंतत: पांच व्यक्तियों ने जमनालालजी को बलपूर्वक गाड़ी में बिठाया और उन्हें लेकर वहां से रवाना हो गए। इस क्रम में जमनालालजी की बायीं आंख के नीचे चोट लगी। उन्हें अलवर राज्य में ले जाया गया। जमनालालजी ने वहां कहा, 'आप इस तरह नहीं कर सकते। आपको कोई अधिकार नहीं कि आप मुझे किसी दूसरे राज्य में लाकर बंदी बनाएं। यदि आप ऐसा करते हैं तो मैं आपके खिलाफ मुकदमा करूंगा।' इसके बाद श्री यंग जमनालालजी को वापस जयपुर राज्य में लेकर आ गए लेकिन इस समय हमें पता नहीं है कि वे कहां हैं।

यह एक बर्बरतापूर्ण व्यवहार है। व्यक्ति की पवित्रता, कानूनी प्रक्रिया और स्वतंत्रता की कोई परवाह नहीं की गई। एक ब्रिटिश पुलिस महानिरीक्षक द्वारा छल का प्रयोग किया जाना और गिरफ्तार व्यक्ति को शारीरिक चोट पहुंचाना संगठित गुंडागर्दी है। परंतु मैं जानता हूं कि कोई भी घटना जमनालालजी की इच्छाशक्ति को नहीं तोड़ सकती। चाहे एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में या किसी बंधक की तरह, वे जयपुर में प्रवेश जरूर करेंगे।'[24]

इस घटना के बाद जवाहरलाल नेहरू ने भी रियासतों की जनता को संदेश देते हुए आंदोलन को तेज करने का आह्वान कर दिया। उन्होंने कहा:

'सबसे बड़ी समस्या रियासतों की है, जहां की जनता ने निरंकुशता और कुशासन के सामने सिर झुका दिया है। लेकिन अब लोग जाग उठे हैं और उस स्वतंत्रता की ओर बढ़ रहे हैं, जिससे उन्हें अरसे से वंचित रखा गया है। जयपुर ने साम्राज्यवाद की चुनौती स्वीकार कर ली है और भारत के सच्चे सेवक

> जमनालाल बजाज जेल की दीवारों के पीछे गुम हो गए हैं। भारत के मर्दों और औरतों! कूच का वक्त नजदीक आ रहा है, खड़े हो जाओ।'[25]

गांधी ने 5–6 फरवरी की घटना में जयपुर प्रशासन द्वारा किए गए 'बर्बरतापूर्ण व्यवहार' की निंदा करते हुए एफ.एस. यंग पर छल करने का आरोप लगाया तो बजाज ने उन्हें पत्र लिखकर बताया कि उनसे विषय को समझने में भूल हुई है। बजाज से पूरी जानकारी मिलने के बाद गांधी ने एक वक्तव्य जारी करके स्पष्ट किया कि यंग ने बजाज से ऐसा कोई वादा नहीं किया था कि उन्हें रियासत के बाहर नहीं निकाला जाएगा। वे केवल अपने उच्चाधिकारियों से मिले आदेश का पालन करते हुए एक दुखद कर्तव्य निभा रहे थे। इसलिए यह कहना गलत है कि उन्होंने छल किया। गांधी ने लिखा, 'मैं श्री यंग से बिना शर्त क्षमा याचना करता हूं और आगे से टेलीफोन के संदेशों के इस्तेमाल में अधिक सावधानी बरतूंगा।'[26] यंग पर लगाए आरोप को गांधी ने विनम्रता के साथ वापस ले लिया और उनसे क्षमा भी मांगी। लेकिन पुलिस ने जो व्यवहार बजाज के साथ किया था, वह उनके लिए नजरअंदाज करने लायक नहीं था। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि कौंसिल को बार-बार नोटिस देने की जरूरत नहीं है और बजाज अपनी मर्जी से फैसला करने के लिए स्वतंत्र हैं। उन्होंने घनश्यामदास बिड़ला को तार देकर कहा, 'मैं समझता हूं कि सबसे अच्छा यही होगा कि जमनालालजी के मन को जो ठीक लगे, उन्हें करने दिया जाए। नोटिस भेजना मैं अच्छा नहीं समझता। यदि अनिवार्य हो तो हम उन्हें कष्ट उठाने दें।'[27]

बजाज की गिरफ्तारी के विषय में 10 फरवरी, 1939 को एक बार फिर जयपुर स्टेट कौंसिल की बैठक हुई। बैठक में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि यदि बजाज जयपुर प्रशासन के आदेश की अवहेलना करके रियासत की सीमा में प्रवेश करें तो उन्हें गिरफ्तार करके सबसे पहले मोहनपुरा जेल भेज दिया जाएगा। इसके बाद उन्हें किसी अन्य स्थान पर भेजा जाएगा, जो बाद में निर्धारित होगा। उनके ऊपर जयपुर के कानून के तहत मुकदमा चलाया जाए अथवा महाराजा की अनुमति लेकर उन्हें राजकीय बंदी बना लिया जाए, इसके बारे में आदेश बाद में जारी किए जाएंगे। प्रस्ताव में कहा गया कि जेल पहुंचने पर बजाज के स्वास्थ्य की जांच की जाएगी और इसके बाद नियमित रूप से अधिकृत स्वास्थ्यकर्मियों द्वारा उनके स्वास्थ्य की जांच होती रहेगी। जहां तक उनको दी जाने वाली सुविधाओं का प्रश्न है, तो उन्हें कौन सी सुविधाएं मिलें और कब मिलें, इसके बारे में आदेश बाद में पारित किए जाएंगे; लेकिन कौंसिल की अनुमति के बिना उन्हें किसी से भी संपर्क नहीं करने दिया जाएगा।[28]

अगले दिन गांधी ने चूडगर और ब्यूचैम्प के साथ हुआ अपना पत्र-व्यवहार 'हरिजन' में प्रकाशित करते हुए ब्यूचैम्प का सीधा बहिष्कार कर दिया और कांग्रेस से जयपुर की जनता को समर्थन देने का आह्वान किया। 'जयपुर' शीर्षक से प्रकाशित इस लेख में गांधी ने पाठकों को राजकोट और जयपुर में चल रहे आंदोलनों के अंतर के बारे में बताया और फिर चूडगर के पत्र से शुरू करके ब्यूचैम्प के अस्पष्ट तथा धमकी भरे जवाबों तक का खुलासा कर दिया। उन्होंने लिखा:

'पाठकों को जयपुर और राजकोट में हुए संघर्षों के बीच अंतर पता होना चाहिए। राजकोट का संघर्ष राज्य में एक जिम्मेवार सरकार के गठन के लिए था और अब शासक द्वारा किए गए वादों की पूर्ति के लिए है। राजकोट का हर व्यक्ति, चाहे वह महिला हो या पुरुष, अपनी अंतिम सांस तक ब्रिटिश हुकूमत के असम्मानजनक रवैये का विरोध करता रहेगा।

जयपुर में हो रहा संघर्ष अपेक्षाकृत बहुत छोटे विषय पर आधारित है। जयपुर के एक राजनीतिक संगठन को एक जिम्मेवार सरकार का संकल्प लेने के अपराध में अवैध घोषित कर दिया गया। संगठन के अध्यक्ष पर प्रतिबंध लगा दिया गया है, जो स्वयं भी जयपुर के निवासी हैं। जैसे ही सभी प्रतिबंध हटा लिए जाते हैं और संगठन बनाने एवं सभा आयोजित करने की आजादी मिल जाती है, सविनय अवज्ञा आंदोलन समाप्त कर दिया जाएगा।'

चूडगर और ब्यूचैम्प का पूरा पत्र व्यवहार पाठकों के सामने रखने के बाद गांधी ने आगे लिखा, 'मैंने इस पत्र व्यवहार की सूचना श्री चूडगर को दी और उन्होंने मुझे यह पत्र भेजा जो उन्होंने जमनालालजी को लिखा था:

'मैंने महात्माजी और सर ब्यूचैम्प के बीच हुए पत्र व्यवहार को पढ़ा जिसकी समाप्ति 27 तारीख को महात्माजी की ओर से भेजे गए पत्र के साथ हुई है। उसके बाद मैंने ध्यानपूर्वक वह पत्र दोबारा पढ़ा जो मैंने आपको 15 तारीख को भेजा था। मैं कह सकता हूं कि उस पत्र में मैंने आपको जो भी बताया था, वह मेरे और सर ब्यूचैम्प के बीच हुई बातचीत का बिल्कुल सही विवरण है।'

प्रधानमंत्री के पत्रों में लिखी बातें अजीब हैं। मेरे सवाल कुछ और थे, उनके जवाब कुछ और। प्रधानमंत्री मुझे क्षमा करें, लेकिन यदि वे अपना पक्ष स्पष्ट नहीं करते तो मैं श्री चूडगर के पक्ष को सत्य मानूंगा। केवल आरोप को नकारने और धमकी देने से कुछ सिद्ध नहीं होता।

कांग्रेस पार्टी के पास शक्ति है, वह हाथ बांधे हुए यह सब नहीं देख सकती। जयपुर की जनता को मानसिक और नैतिक भूख से मरने के लिए छोड़ा नहीं जा सकता। विशेष रूप से उस समय, जब उसे एक मूलभूत अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और ब्रिटिश साम्राज्य इस नीति का समर्थन कर रहा है। यदि प्रधानमंत्री अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जाकर निर्णय ले रहे हैं, तो उनको वापस भेजने का समय आ गया है।'[29]

गांधी के इस कठोर प्रहार के बीच बजाज ने एक बार फिर जयपुर की सीमा में प्रवेश

करने की तैयारी की। 11 फरवरी की ही रात लगभग 10.20 बजे वे आगरा से निकल पड़े। चिरंजीवलाल मिश्र, चन्द्रभाल जौहरी और राममनोहर लोहिया* सहित कई अन्य नेता भी उनके साथ थे। दो मोटरों में वे आगरा, मथुरा और अलवर होते हुए विराटनगर पहुंचे। सुबह करीब साढ़े तीन बजे (12 फरवरी) बजाज को गिरफ्तार कर लिया गया। पिछले दो हफ्तों में यह उनकी तीसरी गिरफ्तारी थी। यंग ने बजाज से कहा कि इस बार उन्हें रियासत के अंदर ही रखा जाएगा। यंग ने उन्हें अपनी मोटर में बैठाया और रामगढ़ के जंगली रास्ते से दौसा-लालसोट होते हुए 100 मील से अधिक की दूरी तय करके सुबह लगभग 11.30 बजे मोरांसागर पहुंचे।[30] बजाज को राज्यबंदी के तौर पर रखा गया और उन्हें किसी को भी अपने साथ रखने की अनुमति नहीं दी गई। 11 फरवरी को ही हीरालाल शास्त्री, कपूरचंद पाटनी, हरिश्चंद्र शर्मा, चिरंजीलाल अग्रवाल और हंस डी. राय को भी गिरफ्तार करके मोहनपुरा गांव में नजरबंद कर दिया गया।[31] बजाज की गिरफ्तारी की सूचना मिलने के बाद गांधी ने हरिजन में लिखा:

> 'आखिरकार जयपुर दरबार को सेठ जमनालालजी को गिरफ्तार करना ही पड़ा। कहते हैं कि उनके रहने का इंतजाम अच्छा है लेकिन उन्हें अलग-अलग जगह पर रखा गया है और उन पर कड़ा पहरा है। हर बात को रहस्य बनाकर रखा जा रहा है। मेरा निवेदन यह है कि अधिकारियों को उनका पता-ठिकाना, उन्हें दी जाने वाली सुविधाएं तथा उनके साथ पत्र व्यवहार और मुलाकात करने संबंधी पाबंदियां प्रकाशित कर देनी चाहिए। क्या उन्हें डॉक्टरी सहायता सुलभ है? राज्य की ओर से तफसीलवार खबरें प्रकाशित नहीं होने से जनता अखबारों में आने वाली तरह-तरह की खबरों को ही सत्य मानेगी।'[32]

मोरांसागर जयपुर से 40 मील की दूरी पर एक कम आबादी वाला स्थान था। बजाज को आसपास के इलाके में घूमने की अनुमति दी गई थी। उनकी देखरेख के लिए सब इंस्पेक्टर ठाकुर कुशल सिंह को इंचार्ज नियुक्त किया गया था। बजाज अपनी डायरी में लिखते हैं कि उन्हें कई प्रकार की कठिनाइयां थीं लेकिन सिपाहियों का व्यवहार उनके प्रति सम्मानजनक था। जंगली जानवरों की मौजूदगी और संसाधनों के अभाव के बीच भी बजाज मोरांसागर में बंदी जीवन काट रहे थे। इस दौरान वे किताबें पढ़ते और कभी मीलों लंबी सैर पर निकल जाते। गांधी के साथ रहने का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा था और वे हताश होने की बजाय अपने विचारों को दृढ़ बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

इस बीच 9 मार्च, 1939 को ब्यूचैम्प ने स्टेट कौंसिल की ओर से एक अधिसूचना जारी की, जिसमें सामाजिक संगठनों को मान्यता देने के लिए रखी गई शर्तों का उल्लेख था। इस

---

*दिग्गज समाजवादी नेता राममनोहर लोहिया उन दिनों कांग्रेस में थे तथा जमनालाल बजाज के सहयोगियों में शामिल थे।

अधिसूचना में कहा गया कि सभी संगठनों को आसानी से पंजीकृत कर दिया जाएगा यदि उनका नाम आपत्तिजनक नहीं हो और उनके संविधान में यह उल्लेख हो कि जयपुर रियासत के बाहर सक्रिय किसी संगठन के साथ उनका कोई संबंध नहीं रहेगा। साथ ही, यह आदेश जारी किया गया कि स्थानीय संगठनों का कोई भी पदाधिकारी जयपुर से बाहर के संगठन में किसी पद पर नहीं रह सकता है और संगठनों की सदस्यता केवल जयपुर रियासत के स्थाई निवासियों के लिए सीमित रहेगी।[33]

इस अधिसूचना में रखी गई शर्तें प्रजामंडल को ही अपना निशाना बना रही थीं। बजाज कांग्रेस कार्यसमिति से जुड़े हुए थे, इसलिए इस शर्त के मुताबिक वे प्रजामंडल की सदस्यता नहीं ले सकते थे। इसके अलावा स्थाई निवासी होने की शर्त रखी गई थी, क्योंकि बजाज का जन्मस्थान जयपुर रियासत में था, लेकिन उनका स्थाई निवास वर्धा में था। 10 मार्च को बजाज से मिलने एफ.एस. यंग मोरांसागर पहुंचा। उसने बजाज को बताया कि वह लांबा जेल में बंद प्रजामंडल के नेताओं से मिलकर आ रहा है। जयपुर कौंसिल में गृह मंत्री के रूप में नियुक्त अचरोल के ठाकुर हरि सिंह ने भी बजाज से बात की और कौंसिल की गतिविधियों के बारे में सूचना दी। उन्होंने बताया कि समझौते का माहौल बन रहा है। इसी मौके पर बजाज को जयपुर स्थानांतरित किए जाने पर भी बातचीत हुई। बजाज ने जयपुर जाने को लेकर अपनी सहमति व्यक्त की। लेकिन अगली बार मिलने पर यंग ने उन्हें बताया कि ब्यूचैम्प की मंशा उन्हें मोरांसागर में ही रखने की है।[34]

12 मार्च को आयोजित जयपुर दिवस पर पूरे राज्य में जगह-जगह हड़ताल हुई। जयपुर के आम जन सड़कों पर निकल पड़े। पुलिस ने अहिंसक सत्याग्रहियों को रोकने के लिए उनके ऊपर लाठीचार्ज किया। कुछ जगह सत्याग्रहियों को पीटा गया और गिरफ्तार कर लिया गया। लगभग 20 हजार नागरिक जयपुर के चांदपोल बाजार में इकट्ठे हुए। तिरंगी टोपी लगाए प्रजामंडल के स्वयंसेवक भीड़ की व्यवस्था कर रहे थे। प्रातः 9 बजे पहला जत्था चांदपोल दरवाजे की ओर से जुलूस के रूप में रवाना हुआ। ये सत्याग्रही ग्रामीण वेश में राष्ट्रीय और प्रजामंडल के नारे लगाते हुए आ रहे थे और जनता राष्ट्रीय नारों से इनका स्वागत कर रही थी। पुलिस ने इन्हें गिरफ्तार कर लिया। इसके बाद सत्याग्रहियों के कई और जत्थे आसपास के स्थानों से आते दिखाई दिए। पुलिस ने सभी सत्याग्रहियों को गिरफ्तार कर लिया और उनको दो लारियों में बैठाकर ले गई। इनमें से ग्यारह किसानों को जयपुर सेंट्रल जेल में रखा गया। इसी दिन दोपहर में महिलाओं के सत्याग्रह का कार्यक्रम था। जौहरी बाजार में दोपहर डेढ़ बजे हजारों नागरिक एकत्रित हुए। इनकी संख्या पच्चीस हजार मानी गई। काफी तादाद में पुलिस तैनात थी। ठीक दो बजे महिलाओं का जत्था तांगों से उतरा और उपस्थित जनसमूह ने वंदेमातरम् के गगनभेदी नारों से उनका स्वागत किया। सभी महिलाएं केसरिया साड़ी पहने थीं, कुछ के साथ उनके बच्चे भी थे। जयपुर शहर के बाहर भी कई स्थानों पर व्यापक आंदोलन हुए। हिंडौन में टोलियां बनाकर जुलूस निकाल रहे लोगों पर लाठीचार्ज किया गया, जिसमें लगभग 200 नागरिक घायल हुए। 'जयप्रजा' के अनुसार रियासत में विभिन्न स्थानों पर 146 लोगों को गिरफ्तार किया गया, जिनमें 14 महिलाएं शामिल थीं। ये सभी महिलाएं

जयपुर शहर की रहने वाली थीं। जयपुर में रमादेवी देशपांडे के नेतृत्व में निकले सत्याग्रहियों ने गिरफ्तारी दी। इनमें इंदिरा देवी, सुमित्रा देवी, विद्या देवी, सुशीला देवी, शारदा देवी, जमना देवी, सरस्वती देवी, भारती देवी, कमला देवी, धापो देवी, दुर्गा देवी, सुशीला देवी, शमा देवी, दीपचंद बख्शी, गोपीराम जोशी, मथुरा प्रसाद, माधो प्रसाद, लक्ष्मी प्रसाद, किशोरी लाल और भगवान दास शामिल थे। जयपुर दिवस से शुरू हुआ सत्याग्रह लगभग एक सप्ताह तक चलता रहा।[35]

बजाज की गिरफ्तारी को लेकर राजपूताना की विभिन्न रियासतों में बने प्रजामंडलों, कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और आम जनता में गुस्सा फैला हुआ था। उधर, राजकोट में अनशन खत्म करने के बाद गांधी 13 मार्च, 1939 को ट्रेन से दिल्ली के लिए रवाना हुए। हरिभाऊ उपाध्याय और कुछ अन्य कार्यकर्ता ट्रेन में गांधी से मिले और उनसे जयपुर की स्थिति पर चर्चा की। उपाध्याय के अनुसार, 'हम सोजत रेलवे स्टेशन पर मिले। हमने सुना था कि बापू ने राजकोट का सत्याग्रह इसलिए बंद करवा दिया कि उसमें सत्याग्रह के नियमों का ठीक-ठीक पालन नहीं हो रहा है। हमें डर लगा कि बापू कहीं जयपुर का सत्याग्रह भी स्थगित नहीं करवा दें। बापू ने पूछा, तुम्हारा सत्याग्रह तो ठीक-ठीक चल रहा है न? कोई गड़बड़ी तो नहीं हो रही है? मैंने कहा, 'बापूजी कह तो नहीं सकते कि सब ठीक-ठाक चल रहा है, गलतियां तो हो रही हैं पर हम लोग पूरी-पूरी कोशिश कर रहे हैं कि गलतियां रुकें और आगे नहीं हो पाएं।' बापू गंभीर हो गए और राजकोट सत्याग्रह की एक त्रुटि बताने लगे ताकि हम अपनी जिम्मेदारी अच्छी तरह समझ लें।'[36] जयपुर में गतिरोध की एक स्थिति पैदा हो चुकी थी। जयपुर के लोग चाहते थे कि यदि संभव हो तो सत्याग्रह को प्रचंड रूप दे देना चाहिए। उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनने के बाद गांधी ने प्रचंडीकरण के बारे में अपने विचार रखे। गांधी ने स्वीकार किया कि उन लोगों ने जयपुर में सत्याग्रह की शुरुआत के साथ बिल्कुल ताजा मिट्टी में बीज डाले थे। सत्याग्रह को जो लोकप्रियता हासिल हुई, वह उनकी आशा से बढ़कर थी लेकिन घोड़े को दौड़ाते हुए उसकी जान ले लेना कोई अच्छे घुड़सवार की पहचान नहीं है।[37]

गांधी ने उन लोगों से कहा कि आंदोलन को बड़े क्षेत्र में विस्तार देने के प्रयास के बजाय उन्हें इसकी बुनियाद को मजबूत करने की दिशा में काम करना चाहिए। गांधी ने प्रस्ताव रखा कि सत्याग्रह में भाग लेने वालों के लिए कड़ी परीक्षा और प्रारंभिक प्रशिक्षण को अनिवार्य कर देना चाहिए। जब तक ये शर्तें पूरी नहीं होतीं, तब तक सत्याग्रह के एक भाग नागरिक अवज्ञा को स्थगित कर दिया जाए। इसका अर्थ यह नहीं होगा कि सत्याग्रह ही रोक दिया गया है। अंत में गांधी ने कार्यकर्ताओं से कहा कि यदि आवश्यक हो तो वे आगे की बातचीत के लिए दिल्ली आमंत्रित हैं।[38]

इसी यात्रा के दौरान 14-15 मार्च की रात गांधी जयपुर स्टेशन से होकर दिल्ली गए। आधी रात को भी हजारों लोग उनके दर्शन के लिए स्टेशन पर जुटे हुए थे। हिन्दुस्तान टाइम्स के आधार पर *जय-प्रजा* में प्रकाशित खबर के अनुसार, 'महात्माजी जयपुर होकर गुजरे, हजारों आदमियों की भीड़ स्टेशन पर लगभग 2 घंटे शांतिपूर्ण बैठी रही। वह पत्थर फेंकने की बजाय राम नाम की महिमा उच्च स्वर में गाती रही। उसके इस व्यवहार से मालूम पड़ता

है जनता में संपूर्ण अनुशासन है।' तत्कालीन साक्ष्यों के अनुसार मंगलवार–बुधवार रात को 2 बजे जयपुर स्टेशन पहुंचे गांधी से खादी के प्रचार–प्रसार में जुटे बलवंतराय देशपांडे ने प्रार्थना की कि जयपुर स्टेशन पर लोगों को दर्शन दीजिए। गांधी ने स्टेशन पर एकत्रित हजारों लोगों को शांतिपूर्ण और सुव्यवस्थित देखा तो कहा:

> 'भीड़ की परवाह नहीं, लाखों की हो, मुझे डर नहीं है वह शांत और सुव्यवस्थित होनी चाहिए। हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जिस दिन भीड़ पर हमारा इतना अधिकार हो जाए कि हमारे प्रत्येक इशारे का पालन करने लगे, उसी दिन हमारी पूरी विजय हो गई। यह काबू दिन–प्रतिदिन अधिक कड़ाई रखने से ही आ सकता है। यह खुशी की बात है कि जयपुर के कार्यकर्तागण तरह–तरह के अच्छे आदेशों का प्रचार करके भीड़ को नियंत्रण में रखने का पूरा प्रयत्न कर रहे हैं। आशा है, अन्य केन्द्रों के व्यवस्थापक भी उनका अनुसरण करके भीड़ पर काबू करने का प्रयत्न करेंगे।'

इसके बाद गांधी ने खिड़की पर खड़े होकर जनता का अभिवादन स्वीकार किया। गांधी ने इस अवसर पर जयपुरवासियों के नाम एक संदेश भी दिया:

> 'सुनता हूं कि जयपुर निवासियों ने सत्याग्रह में शांति का पालन किया है। सब लोग याद रखें कि जो व्यक्ति या समुदाय अपने कार्य के लिए सत्य और अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करते हैं, उनकी सदा विजय होती है।'[39]

गांधी के जयपुर से होकर जाने के बाद जयपुर सत्याग्रह और तेज हो गया। उसी दिन जौहरी बाजार में रामनारायण, हरिनारायण, भंवरलाल गोयल और जयसिंह के नेतृत्व में चार जत्थों ने सत्याग्रह किया। *जय–प्रजा* के 18 मार्च, 1939 के अंक के अनुसार एक दिन में 26 सत्याग्रहियों की गिरफ्तारी हुई और उन पर लाठीचार्ज किया गया। इसके विरोध में जनता की ओर से इस्तीफों और हड़ताल की घोषणा की गई।

15 मार्च की सुबह गांधी दिल्ली पहुंचे। उन्होंने दोपहर से पहले वायसराय से मिलकर लगभग 2 घंटे बात की। गांधी इस बात को लेकर दृढ़ होते जा रहे थे कि उनके सुझाव पर स्थगित किया गया आंदोलन हल्के मन से दोबारा शुरू नहीं किया जाना चाहिए।[40] वे कहते थे कि सत्याग्रह नागरिक अवज्ञा से शुरू नहीं होता और न ही उस पर समाप्त होता है। इसलिए अभी इसे स्थगित करने से आंदोलन को नुकसान नहीं पहुंचेगा। बल्कि जब आंदोलनकारी कोई प्रतिक्रिया नहीं करेंगे तो उनके विरोधियों को उनकी ऊर्जा खत्म होती हुई मालूम पड़ेगी। गांधी का मानना था कि प्रशासन की नीतियों का सामना शांत दिमाग से किया जाना चाहिए, भले ही लोग कितना भी उकसाएं या कायर ही क्यों न कहें। उनकी बातों की परवाह करने

की जरूरत नहीं, बस हमारे अंदर कायरता नहीं होनी चाहिए। आखिरकार इसी कायरता को एक साहसिक काम के रूप में याद रखा जाएगा।[41]

गांधी ने सत्याग्रहियों को युद्ध की नीति समझाते हुए कहा कि एक योग्य सेनापति हमेशा युद्ध को अपने अनुसार चलाता है, अपने अनुकूल समय पर और अपनी पसंद के मैदान में। वह कभी भी यह अवसर अपने शत्रु के हाथ में नहीं जाने देता। इसी तरह, सत्याग्रह आंदोलन में हर अगला कदम परिस्थिति के अनुसार निर्धारित किया जाता है। कब आगे कदम बढ़ाना है, कब पीछे हटना है, सब कुछ परिस्थिति पर निर्भर होता है। एक सत्याग्रही को किसी भी बताई गई योजना के साथ चलने को प्रतिबद्ध रहना चाहिए, न तो उत्तेजित होकर और न ही निराश होकर। सत्याग्रही का केवल एक लक्ष्य हो सकता है, किसी भी परिस्थिति में अपने कर्तव्य को पूरा करते हुए जीवन बिता देना। यही उसके लिए सर्वोच्च उपलब्धि है। जिस प्रयोजन के साथ ऐसे बहुमूल्य सत्याग्रही जुड़े हों, उसे कभी भी निष्फल नहीं किया जा सकता।[42]

16 मार्च, 1939 को गांधी ने मोरांसागर में कैद बजाज को पत्र भेजकर सुझाव दिया कि उन्हें जयपुर प्रशासन के सामने अपनी मांगों में वृद्धि नहीं करनी चाहिए। उन्होंने लिखा, 'यदि प्रजामंडल को बिना शर्त मान्यता और नागरिक स्वतंत्रता दे दी जाए तो हम सविनय अवज्ञा आंदोलन समाप्त कर देंगे। अलबत्ता, कैदियों को तो उसे छोड़ना ही चाहिए।' राजनीतिक परामर्शदाता होने के साथ गांधी बजाज के लिए पितातुल्य छवि भी रखते थे। उन्होंने बजाज के स्वास्थ्य के बारे में पूछा और खान-पान का ध्यान रखने की सलाह दी। उन्होंने पूछा, 'क्या तुम कुछ पढ़ते हो? कातते हो? तुम्हारा वजन कितना है। तुम्हें फल वगैरह तो खाने ही चाहिए। इसमें हठ करना मोह है। हम स्वाद के लिए भले न खाएं, लेकिन शरीर जो मांगे, वह उसे औषधि के रूप में दिया जाना चाहिए।'[43]

गांधी इस आंदोलन को कुछ समय के लिए स्थगित करना जरूरी समझ रहे थे। 19 मार्च को उन्होंने जयपुर सत्याग्रह परिषद को पत्र भेजकर निर्देश दिया, 'मेरा अभिप्राय है कि जब तक मैं दूसरा निर्णय नहीं दूं, तब तक सत्याग्रह जत्था को जयपुर भेजना स्थगित कर दिया जाए।'[44]

जयपुर के कई कार्यकर्ता 20 मार्च को गांधी से मिलने दिल्ली पहुंचे। गांधी ने उनसे लंबी बातचीत की और सत्याग्रह के स्वरूप तथा उद्देश्य को और भी स्पष्ट किया। गांधी ने कहा कि लाठीचार्ज की स्थिति पैदा करना और साहस प्रदर्शन की भावना के साथ शरीर पर लाठियां खाना सत्याग्रह नहीं है। सत्याग्रह का सही अर्थ है, अपने कर्तव्य पर अडिग रहना और इस क्रम में यदि प्रहार हो तो उसे सहने के लिए तैयार रहना। उन्होंने कहा कि भ्रष्टाचार, झूठ, पाखंड तथा छल भी हिंसा की ही श्रेणी में आते हैं और इस तरह देश के वातावरण में हिंसा की दुर्गंध फैल रही है। यदि इस वातावरण में रहना है तो अहिंसावादियों को अपने प्रति और कठोर होना होगा। गांधी ने स्पष्ट किया कि सबसे पवित्र और मासूम लोग ही जेल तक पहुंच सकें। यदि उन्हें पूरा जीवन जेल के अंदर बिताना पड़े तो भी परवाह नहीं करनी चाहिए। उनका यह त्याग जेल की चारदीवारी को एक मीठी सुगंध से भर देगा जिसका प्रभाव बाहर तक फैलेगा और

धीरे-धीरे पूरे वातावरण में परिवर्तन होगा। वे न तो अपनी रिहाई का इंतजार करेंगे और न ही यह संदेह करेंगे कि उनका समर्पण व्यर्थ हो रहा है। उन्हें आभास होगा कि केवल शारीरिक गतिविधियों की तुलना में एक पवित्र संकल्प अधिक प्रभावशाली है। वे जेल में रहकर जो अनुशासन सीखेंगे, उससे बाहर के अहिंसावादी संगठनों को प्रेरणा मिलेगी और उनके अंदर निडरता का भाव पैदा होगा। जेल में बंद लोगों के बारे में बात करने के बाद गांधी ने बाहर रहने वाले लोगों के कर्तव्य का उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि बाहर वालों को रचनात्मक कार्यों को अहिंसा के मुख्य सिद्धांत के रूप में अपनाना चाहिए। यदि ये कार्य उन्हें प्रभावशाली नहीं लगते हैं तो स्पष्ट है कि उनके मन में अहिंसा के प्रति विश्वास नहीं है। गांधी ने सत्याग्रह में व्यक्ति की अंतरात्मा की भूमिका के बारे में भी बात की। उन्होंने कहा कि सत्याग्रह करने वालों को ईश्वर में आस्था बनाए रखनी चाहिए। किसी बाहरी सहायता पर निर्भर रहे बिना अपनी बागडोर पूरी तरह ईश्वर के हाथों में सौंप देने का भाव रखना चाहिए। यदि एक भी सत्याग्रही इस भावना के साथ जीता है तो वह अन्य सभी लोगों के लिए उदाहरण बन सकता है और अपने विरोधी का भी ह्रदय परिवर्तन कर सकता है। ऐसे व्यक्ति का शत्रु भी भयमुक्त हो जाएगा और उसके सरल स्वभाव एवं विश्वास का सम्मान करेगा। इस वार्ता के निष्कर्ष के रूप में जयपुर सत्याग्रह को अनिश्चित समय के लिए स्थगित करने का निर्णय ले लिया गया।[45]

सत्याग्रह रोके जाने की खबर सुनने के बाद कार्यकर्ताओं और आम जनता में असंतोष बढ़ने लगा। गांधी इस बात को समझते थे और वे अपने वक्तव्यों तथा लेखों में लगातार इस विषय पर प्रकाश डाल रहे थे तथा लोगों को सत्याग्रह की परिभाषा समझाने का प्रयास कर रहे थे। गांधी का कहना था कि यदि लोगों के मन में चरखा एवं खादी जैसे रचनात्मक कार्यक्रम को लेकर वैसा उत्साह नहीं रहा जैसा लड़ाई के लिए था, तो इससे सिद्ध होता है कि सत्याग्रह को स्थगित करना ही उचित निर्णय था। इन कार्यक्रमों के प्रति लोगों की उदासीनता देखकर गांधी निराश थे। उन्होंने यह चिंता जताई कि लोगों के मन में अहिंसा के प्रति आदर भाव नहीं है और इस भावना के बिना उनका विरोध भी हिंसा की श्रेणी में पहुंच जाएगा।[46] उसी दौरान, हरिजन में गांधी ने लिखा, 'देश अभी अहिंसा के माध्यम से सत्ता चलाने के लिए तैयार नहीं है। हमें रियासतों में कोई अहिंसा का छल करके स्वराज प्राप्त नहीं करना है। स्वराज आएगा मजबूत इरादों वाले लोगों की अहिंसा से, कठिन परिश्रम से, सहनशील और मौन संघर्ष से, गरीबों और समाज के हाशिए पर जी रहे लोगों की सेवा से और स्वेच्छा के साथ राज्य एवं समाज के नियमों का पालन करने से। जब तक अहिंसा की एक सशक्त भावना विकसित नहीं हो जाती, तब तक हमें स्वराज के लिए सत्याग्रह का विचार छोड़ देना चाहिए, राज्यों में भी और ब्रिटिश भारत में भी।'[47]

गांधी को यह आभास हो रहा था कि सत्याग्रहियों में अनुशासन और विनम्रता की कमी है। इसलिए उन्होंने घोषणा कर दी कि वे भविष्य में आने वाले हर सत्याग्रही के लिए नियमित रूप से चरखा चलाने और खादी के उपयोग के नियम पर दृढ़ हैं। उन्होंने कहा कि यदि जयपुर के सत्याग्रही भविष्य में होने वाले किसी आंदोलन से जुड़ना चाहें तो वे अहिंसा के मार्ग पर

चलने की कठिनाइयों को भलीभांति समझ लें और इन आसान सी शर्तों को पूरा करने का दृढ़ संकल्प लेकर उत्साह के साथ आगे आएं। उन्हें यह भी स्मरण रहे कि जो नियम उनके लिए हैं, वे भविष्य में आंदोलन से जुड़ने वाले हर सत्याग्रही के लिए बने रहेंगे।[48]

गांधी का कहना था, 'मैं इतना बूढ़ा नहीं हुआ कि जीवन के नए पाठ सीख नहीं पाऊं। ईश्वर की उपस्थिति का अहसास हो तो मन हमेशा युवा रहता है, सत्य भी तो ईश्वर का ही रूप है। यदि आने वाले समय में सत्याग्रह एक सर्वप्रिय भावना बन सका तो मैं आशा करता हूं कि ईश्वर की कृपा से यह अधिक प्रभावी रूप में सामने आएगा और हमारी इस यात्रा को असीम गति प्रदान करेगा।'

उन्हें यह चिंता सताने लगी थी कि इतने लंबे समय से आंदोलन से जुड़े हुए कार्यकर्ता अभी तक उनकी अहिंसा की नीति और सत्याग्रह के अर्थ को समझ नहीं पाए हैं। वे इस बात से दुखी थे और लोगों को सत्याग्रह का सही अर्थ समझाना चाहते थे। हरिजन के ही एक अन्य कॉलम में उन्होंने लिखा:

> 'सत्याग्रह में निराशा या रोष जैसी कोई भावना नहीं होती। लक्ष्य प्राप्ति तक किसी न किसी रूप में संघर्ष निरंतर चलता रहता है। मेरा अभी तक का अनुभव कहता है कि जब भी कोई संघर्ष स्थगित किया जाता है तो उसके बाद लोग बेहतर तैयारी के साथ मैदान में उतरते हैं और हिंसक शक्तियों के ऊपर उनका नियंत्रण बढ़ जाता है। इसलिए सत्याग्रह स्थगित करने की बात करते समय मेरे मन में यह भय नहीं है कि इससे लोगों को निराशा होगी या वे कर्तव्य से विमुख हो जाएंगे। यदि ऐसा होता भी है तो मुझे इस बात का दु:ख नहीं होगा। यदि कोई व्यक्ति मैदान छोड़कर भागता है तो मैं समझता हूं कि उसे सत्याग्रह का अर्थ पता ही नहीं। आंदोलन को ऐसे व्यक्तियों से कोई लाभ नहीं होगा जिन्हें पता ही नहीं है कि वे क्या कर रहे हैं।'[49]

आंदोलन स्थगित करने की घोषणा के बाद जयपुर में गिरफ्तार की गई महिला सत्याग्रहियों को छोड़ दिया गया। 26 मार्च, 1939 के समाचार पत्रों से जयपुर की महिला सत्याग्रहियों की रिहाई का पता चलता है।[50]

इसी दौरान जौहरी बाजार स्थित जामी मस्जिद में हुई गोलीबारी* की निष्पक्ष जांच की मांग करते हुए जयपुर के मुसलमानों ने पलायन शुरू कर दिया। यह स्थिति तब पैदा हुई, जब

*जयपुर की रोशनी बेगम ने 1867 में मस्जिद बनाने के लिए 22 हजार रुपए का अनुदान दिया था। उनके बच्चों ने जौहरी बाजार में दुकानें खरीदीं और उनके ऊपर बने घर को मस्जिद के रूप में इस्तेमाल करने लगे। मुस्लिम समुदाय इस मस्जिद की सीढ़ियों को चौड़ा बनाना चाहता था, लेकिन जयपुर महाराजा ने इसकी अनुमति नहीं दी। 27 नवम्बर, 1938 को जुम्मे की नमाज के दौरान कुछ लोगों ने रेलिंग को तोड़ना शुरू कर दिया। इसके बाद जयपुर पुलिस ने वहां पहुंचकर गोलीबारी की, जिसमें 22 मुसलमान मारे गए और 84 घायल हुए। इस घटना की जांच के लिए जवाहरलाल नेहरू ने एक शिष्टमंडल को जयपुर भेजा। मुस्लिम लीग के गुलाम भीक नैरंग ने भी एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार की, जिसके प्रकाशित होने के बाद ब्यूचैम्प ने रियासत में कई समाचार-पत्रों पर प्रतिबंध लगा दिया।[51]

मस्जिद में हुई गोलीबारी के लगभग चार महीने बाद ब्यूचैम्प ने एक आधिकारिक बयान में कहा कि सबूतों को ध्यान से परखने के बाद महाराजा मान सिंह इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि गलती पुलिस की नहीं, बल्कि मुसलमानों की थी। ब्यूचैम्प ने घोषणा की कि महाराजा ने मस्जिद की सीढ़ियों को चौड़ा करने और घायलों तथा उनके आश्रितों को मुआवजा देने के फैसले के साथ यह भी स्वीकार किया है कि जौहरी बाजार के बाहर रियासत के खर्च से एक विशाल मस्जिद का निर्माण किया जाएगा। इस घोषणा के द्वारा ब्यूचैम्प ने जयपुर की तनावपूर्ण स्थिति को शांत करने की कोशिश की थी, लेकिन परिणाम ठीक उल्टा हुआ; मुसलमानों ने महाराजा का प्रस्ताव ठुकरा दिया। मुसलमानों के लिए वह मस्जिद उनके भाइयों की शहादत की जगह बन गई। उनके लिए अब यह प्रतिष्ठा का विषय हो गया। 1 अप्रेल को उन्होंने रेजिडेंट को एक सामूहिक हस्ताक्षर वाले पत्र में लिखा, 'हम प्रशासन के प्रति वफादार हैं लेकिन निष्पक्ष जांच की हमारी मांग नामंजूर हो जाने के बाद हम जयपुर छोड़कर ब्रिटिश हुकूमत की पनाह में जाने के लिए मजबूर हैं।' 4 अप्रेल, 1939 को लगभग तीन हजार मुसलमान हाथों में काले झंडे लिए रेलवे स्टेशन पहुंचे। वहां सात बोगियों वाली एक स्पेशल ट्रेन खड़ी थी, जिस पर उर्दू में लिखे नारों वाले काले बैनर लगाए गए थे। सभी उस ट्रेन में बैठकर दिल्ली के लिए रवाना हुए।[52]

इधर, मोरांसागर में रहते हुए बजाज का स्वास्थ्य लगातार बिगड़ता जा रहा था। वहां की जलवायु स्वास्थ्य के लिए अच्छी नहीं थी। बजाज की देखरेख के लिए नियुक्त इंस्पेक्टर कुशल सिंह ने यंग को सूचना दी कि गर्मियों में तालाब के पूरी तरह सूख जाने के कारण कुओं का पानी दूषित हो गया है और उसे पीकर सभी का हाजमा बिगड़ गया है। तबीयत ठीक नहीं होने के कारण बजाज भी दिन में केवल एक बार भोजन कर पा रहे हैं। कुशल सिंह ने बताया कि मोरांसागर में रहते हुए खुद उनका स्वास्थ्य भी गिरता जा रहा है और वे छुट्टी लेने के लिए मजबूर हैं। इसके बाद यंग ने ब्यूचैम्प को इसकी जानकारी दी और बताया कि ऐसी परिस्थितियों में बजाज को किसी अन्य स्थान पर भेजने के बारे में विचार करना आवश्यक हो गया है। ब्यूचैम्प ने इस संबंध में कोई कार्रवाई नहीं की और बजाज को उसी दूषित पानी वाले इलाके में कैद रखा गया।[53]

मोरांसागर इलाके में हिंसक जानवरों का बसेरा था। बजाज ने वहां रहते हुए लिखी अपनी डायरी में जानवरों द्वारा किए गए हमलों का उल्लेख किया है। उन्हें वहां पहुंचे एक पखवाड़ा ही बीता था कि पास में एक बाघ ने गाय को मार डाला। बजाज एक आदमी को साथ लेकर गए तो तराई में बाघ की गुफा दिखाई दी। एक अन्य गुफा में बाघ के ताजा पदचिह्न दिखाई दिए। खतरा भांपकर वे वहां से लौट आए। एक अन्य घटना में एक स्थानीय लड़के पर एक बाघ कूद गया, जिससे उसको चोट लगी। बजाज ने अपनी डायरी में मोनू गुर्जर नामक उस लड़के की बहादुरी का जिक्र किया है जो हमेशा बघेरे से कुश्ती को तैयार रहता था। एक दिन एक बाघ ने दोपहर में एक मुस्लिम युवक पर हमला कर दिया और उसे खा गया। कुछ ही दिनों बाद पास के अस्पताल में दो लोग लाए गए, जिन पर बघेरों ने हमला कर दिया था। बजाज ने एक अन्य घटना में रात 3 बजे के करीब एक बाघ द्वारा गाय को खाने का हवाला

दिया है। कभी किसी बाघ के द्वारा खूंटी समेत गाय या बछड़ा उठा ले जाने की खबर मिलती, तो कभी पास की पहाड़ी से किसी जानवर के शिकार और संघर्ष की आवाज सुनाई देती। शाम होने के बाद इलाके में बाघों का आतंक शुरू हो जाता था।

बजाज के अन्य साथियों को गिरफ्तार करके मोहनपुरा जेल में बंद किया गया था। स्टेट कौंसिल ने बजाज को भी मोहनपुरा जेल में ही रखने का निर्णय किया था लेकिन उन्हें राज्यबंदी के तौर पर मोरांसागर भेज दिया गया था। मोहनपुरा जेल की अव्यवस्था के विरुद्ध कैदियों की हड़ताल के परिणामस्वरूप हीरालाल शास्त्री, चिरंजीवलाल मिश्र, चिरंजीलाल अग्रवाल, कपूरचंद जैन, हरिश्चंद्र शर्मा, हंस डी. राय, सरदारमल गोलेछा और रूपचंद सोगानी को लांबा जेल में स्थानांतरित कर दिया गया।* जब वे लांबा जेल पहुंचे तो वहां जहरीले सांपों का वर्चस्व था लेकिन बार-बार शिकायत करने पर भी उनकी सुनवाई नहीं हो रही थी।

राजनीतिक कैदियों के साथ हो रहे इस अमानवीय व्यवहार को भी गांधी ने अपने लेख में मुद्दा बनाया। उन्होंने लिखा:

> ‘जमनालालजी को यह एकांतवास का दंड क्यों? क्या वे कोई खतरनाक व्यक्ति या षडयंत्रकारी हैं? प्रशासन को पता है कि वे एक आदर्शवादी कैदी हैं। उन्हें बाहरी दुनिया से अलग कर देना निर्दयतापूर्ण है। कैदियों को सबसे अधिक आवश्यकता ऐसे साथियों की होती है, जो विचार, व्यवहार और संस्कार में उनकी तरह हों। मेरा सुझाव है कि उन्हें किसी ऐसे स्थान पर लाया जाए जहां से उनकी जानकारी मिल सके, जहां वे स्वस्थ रहें और उन्हें लोगों से मिलने की अनुमति हो। लांबा में कैदियों को रखने के लिए चुना गया स्थान सांपों से भरा हुआ एक पुराना किला है। लेकिन प्रशासन की दलील है कि वहां अब तक किसी व्यक्ति को सांप ने नहीं काटा। क्या जयपुर प्रशासन कोई कदम उठाने के लिए उस दिन की प्रतीक्षा करेगा जब किसी को सांप काटे? मेरे कहने पर जयपुर में सत्याग्रह रोक दिया गया है। यह रोक हमेशा के लिए नहीं रहेगी। मैं जयपुर प्रशासन को सुझाव देना चाहता हूं कि वह सत्याग्रह बंद होने के बावजूद इससे जुड़े लोगों को कैद रखकर अन्याय के रास्ते पर चल रहा है। जमनालालजी समेत अन्य सभी कैदियों के साथ हो रहा अमानवीय व्यवहार तुरंत बंद किया जाना चाहिए।’[54]

15 अप्रेल, 1939 को विवादों से घिरे ब्यूचैम्प को अपदस्थ कर दिया गया और भरतपुर रियासत के पॉलिटिकल एजेंट जॉन टॉड ने जयपुर के दीवान का कार्यभार संभाल लिया।[55] 4 मई को जॉन टॉड ने मोरांसागर में बजाज से मुलाकात की। दोनों ने दो घंटे से भी अधिक देर तक बात की। बजाज ने टॉड को पूरी परिस्थिति से अवगत कराया। उन्होंने जयपुर के

*21 फरवरी, 1939 को जयपुर स्टेट कौंसिल ने 8 कैदियों के स्थानांतरण का आदेश जारी किया और उनके लिए विशेष आहार की व्यवस्था की, बशर्ते उसका खर्च 7 आना प्रति व्यक्ति से अधिक नहीं हो।[56]

अधिकारियों के बारे में बात की और सीकर की परिस्थिति को सुलझाने में अपने योगदान के बारे में भी बताया। टॉड ने बजाज की स्थिति को देखते हुए उनसे आग्रह किया कि वे कम से कम दो महीने के लिए बाहर जाएं। बजाज ने जवाब दिया कि उनका इस तरह बाहर जाना असंभव है और यह जनता तथा प्रशासन दोनों के लिए हानिकारक होगा। टॉड ने यह भी परामर्श दिया कि जयपुर रियासत से बाहर की संस्थाओं से जुड़े लोगों को प्रजामंडल में शामिल नहीं होना चाहिए। इस पर बजाज ने कहा कि प्रजामंडल को बाहर की संस्था के साथ संबद्ध नहीं रखा जाएगा लेकिन महाराजा के प्रति वफादारी तभी रखी जा सकती है, जब वे भी जनता की सेवा और उनके साथ न्याय करने की प्रतिज्ञा करें। उन्होंने कहा कि बाहर की संस्था से तो खासकर उनका ही संबंध है, अतः उनके लिए यह शर्त नहीं मानी जा सकती है। टॉड ने जाते-जाते उन्हें ईश्वर का वास्ता देकर शर्त मान लेने के लिए कहा। इस पर बजाज ने कहा कि अगर वे इतना नुकसान पहुंचाने वाले हैं तो उन्हें अकेले ही कैद रखकर औरों को रिहा कर दिया जाए।[57]

टॉड के साथ हुई मुलाकातों से जयपुर कौंसिल और प्रजामंडल के बीच समझौता होने के आसार दिखाई देने लगे। मई की शुरुआत में जयपुर प्रशासन ने धीरे-धीरे सत्याग्रहियों को रिहा करना शुरू कर दिया। 10 मई, 1939 को जयपुर प्रशासन ने बजाज को मोरांसागर से जयपुर स्थानांतरित करने का आदेश जारी कर दिया। 11 मई को उन्हें जयपुर लाकर कर्णावतों का बाग में रखा गया।[58] गांधी को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने बजाज को लिखा, 'तुम्हारे जयपुर लाए जाने का समाचार मिला। तबीयत अच्छी तरह सुधार लेना। वजन ज्यादा नहीं घटना चाहिए। फल बराबर खाने ही चाहिए। सामान्य भोजन के सिवा और कुछ मत खाना। यदि वैद्य की दवा खानी हो तो खाना।'[59]

जयपुर दरबार से संबंधित एक व्यक्ति ने बजाज को बताया कि टॉड को उनसे मिलकर खुशी हुई है और उनकी इच्छा प्रशासन में सुधार लाने की है। बजाज ने उनके हाथों एक लिखित संदेश भेजकर स्पष्ट कर दिया कि उन पर और प्रजामंडल पर लगे प्रतिबंध को हटाने के बाद ही समझौता संभव है। बजाज ने यह भी लिखा कि प्रतिबंध हट जाने पर प्रजामंडल दो महीने तक सत्याग्रह रोककर प्रशासन में सुधार का इंतजार करेगा और संतोषजनक परिणाम नहीं मिलने पर उचित कार्रवाई करेगा।[60] गांधी ने प्रजामंडल नेताओं की रिहाई के विषय में वायसराय को लिखा:

> 'जयपुर का सामान्य सा मामला अब भी अधर में लटक रहा है। अभी-अभी मुझे मालूम हुआ है कि कुछ कैदी रिहा हुए हैं। चूंकि सविनय अवज्ञा बंद कर दी गई है, इसलिए लोगों को कैद में और वो भी सांपों से भरे किले में रखने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। इसी तरह जमनालालजी को तन्हाई में कैद रखने का भी कोई मतलब नहीं है क्योंकि उनकी नजरबंदी का कोई कारण अब नहीं रह गया है। अधिकारियों को भय था कि वे आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए जयपुर रियासत में प्रवेश कर रहे हैं। लोगों की मांग तो

> प्राथमिक दर्जे से भी कम है। अगर उन्हें नागरिक स्वतंत्रता का आश्वासन मिल जाए तो वे इसी से संतुष्ट हो जाएंगे। मैं तो यही मानूंगा कि जयपुर के मामले में कोई कठिनाई नहीं होगी।'[61]

14 मई को दीवान टॉड और गृह मंत्री ठाकुर हरि सिंह बजाज से मिलने आए। प्रजामंडल और जयपुर प्रशासन के बीच आपसी विश्वास और सहयोग किस तरह बढ़ाया जा सकता है, प्रजामंडल के नेताओं को बिना शर्त छोड़ देने पर क्या स्थिति पैदा हो सकती है, इन विषयों पर लंबी बात चली। उन्होंने फिर दोहराया कि बजाज को किसी एक संस्था में ही रहना चाहिए। बजाज ने कहा कि अगर विश्वास बढ़ाना हो तो दोनों ओर से पहल होनी चाहिए और प्रजामंडल के अस्तित्व को स्वीकार किया जाना चाहिए। बजाज ने कौंसिल की संरचना और पुलिस की नियमावली के प्रति विरोध दर्ज किया और कहा कि अगर महाराजा जनता की भलाई और न्याय करने की जिम्मेदारी लें, तो प्रजामंडल की अड़चनें कम हो जाएंगी। अंत में यह निष्कर्ष निकला कि बजाज को अपने साथियों से मिलकर उनकी पूरी स्थिति समझने का समय दिया जाए। साथ ही, महाराजा से मिलकर उनका दृष्टिकोण भी समझ लिया जाए।[62]

महाराजा मान सिंह से बजाज की मुलाकात 15 मई को टॉड के बंगले पर करवाई गई। दोनों के बीच एक घंटे से अधिक बात हुई। मान सिंह ने बजाज से पुरानी बातों को भुलाकर आगे का रास्ता तैयार करने के लिए कहा। उनके बीच प्रजामंडल, सीकर कैदी, भावी विधान आदि विषयों पर विचार-विमर्श हुआ। बजाज ने मान सिंह से कहा कि उनके मंत्रियों ने अपना कर्तव्य नहीं निभाया और उनमें सच्चाई तथा हिम्मत की कमी है। उन्होंने कहा कि प्रशासनिक व्यवस्था में काफी परिवर्तन करने की जरूरत है। मान सिंह इसके लिए तैयार हो गए और आश्वासन दिया कि वे ऐसा करेंगे।[63] उसी दिन वायसराय लिनलिथगो ने गांधी को लिखा, 'आपने सुना ही होगा कि जयपुर के अधिकारियों और सेठ जमनालाल बजाज के बीच बातचीत हुई है और इस मामले में निकट भविष्य में कठिनाइयों का उपयुक्त हल निकल आने की मुझे आशा है।'[64]

16 मई को पुलिस हीरालाल शास्त्री, हरिश्चंद्र शर्मा और चिरंजीलाल अग्रवाल को बजाज से मिलवाने के लिए मोरांसागर लेकर गई।[65] प्रजामंडल की कार्यसमिति के अन्य सदस्य भी जेल में थे, लेकिन उन्हें नहीं लाया गया। बजाज ने सारी परिस्थिति समझाकर उन लोगों से विचार-विमर्श किया। उन सभी का यही मत था कि इस समय प्रजामंडल से बजाज का हटना संभव नहीं है। जेल में बंद अन्य साथियों से बातचीत करके निर्णय लेने की बात पर बैठक समाप्त हुई। एक बार फिर बजाज की मुलाकात 17 मई को मान सिंह से हुई। जॉन टॉड और हरि सिंह भी महाराजा के साथ बैठे हुए थे। प्रजामंडल के नाम में परिवर्तन करने के बारे में देर तक वाद-विवाद होता रहा। बजाज ने नाम बदलने से इनकार कर दिया। अंत में लगभग 45 मिनट तक मान सिंह ने उनसे अकेले में बात की और अपनी अड़चनें बताईं।[66]

यह सिलसिला जल्दी ही कोई करवट ले सकता था लेकिन 18 मई को हरि सिंह ने बजाज को संदेश दिया कि महाराजा यूरोप जा रहे हैं, इसलिए अभी उनसे मिलना संभव नहीं हो

पाएगा।[67] टॉड ने 23 मई को बजाज को अपने बंगले पर मिलने के लिए बुलाया। दो घंटे की बातचीत में टॉड का रुख कड़ा और लापरवाही भरा था। दोनों के बीच देर तक चर्चा हुई लेकिन समझौते की कोई आशा दिखाई नहीं दी। आखिर में बजाज ने कहा कि उन्हें कार्यसमिति के अपने सभी साथियों से मिलकर बात करने की सुविधा मिलनी चाहिए क्योंकि उनके विचार जानने के बाद ही आगे की योजना तैयार हो सकेगी।[68] समय बीतता जा रहा था लेकिन प्रजामंडल की मुश्किलें कम होती हुई नहीं दिख रही थीं। कुछ दिनों बाद देसी रियासतों की स्थिति पर बात करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा, 'हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि जमनालाल बजाज अभी तक जयपुर में बंदी बने हुए हैं, भरतपुर का सत्याग्रह अब भी चल रहा है और अनेक रियासतों में एक क्रूर दमन आज भी जारी है।'[69]

बजाज की रिहाई में हो रही देरी पर गांधी ने 'हरिजन' में एक और लेख लिखा। इसे 'फिर जयपुर' शीर्षक से 10 जून, 1939 के अंक में प्रकाशित किया गया:

> 'जयपुर में बहुत ही सुस्ती से काम लिया जा रहा है। अखबारों में यह प्रकाशित हुआ था कि दरबार और प्रजा के बीच समझौता होने वाला है और जमनालालजी तथा उनके साथी कार्यकर्ताओं को रिहा कर दिया जाएगा। जिस बात पर झगड़ा है, वह तो बहुत ही मामूली मालूम पड़ती है। केवल नागरिक स्वाधीनता की रक्षा के लिए ही वहां सविनय-भंग करने का निश्चय किया गया था। और उसका सहारा तभी लिया गया, जब प्रजामंडल द्वारा लोगों को वैध तरीके से राज्य के अंदर स्थानीय उत्तरदायी शासन के लिए आंदोलन करने की शिक्षा देने के अधिकार तक पर आपत्ति की गई। कुछ समय पूर्व दरबार की एक विज्ञप्ति निकली थी, जिसमें प्रजामंडल की स्वीकृति के लिए शर्तें दी हुई थीं। दरबार ने चाहा होता तो निश्चय ही उनको ऐसे रूप में रखा जा सकता था, जिससे सविनय-भंग के नेता उन्हें मंजूर कर लेते। उदाहरण के लिए यह शर्त कि स्थानीय संघ का कोई पदाधिकारी ऐसा नहीं होगा जो राज्य से बाहर की किसी राजनीतिक संस्था का भी सदस्य हो, केवल परेशान करने के लिए ही रखी गई मालूम पड़ती है। जमनालालजी को इस बिना पर प्रजामंडल का अध्यक्ष बनने के अयोग्य क्यों करार दिया जाए कि वे राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की कार्यसमिति के सदस्य हैं? या खास उन्हीं की खातिर यह शर्त रखी गई है? इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। और भी ऐसी शर्तें हैं, जिनके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। आखिरी दो शर्तें ये हैं- (1) 'मंडल श्रीमान महाराजा साहब बहादुर द्वारा स्थापित विधान के मातहत समय-समय पर निश्चित किए जाने वाले उपयुक्त जरियों से जयपुर राज्य की प्रजा की आकांक्षाओं और शिकायतों को पेश करने का वचन देगा'; और (2) 'जयपुर राज्य में बसे हुए लोग ही इसके सदस्य हो सकेंगे।'
>
> ये दोनों ही शर्तें अस्पष्ट हैं। भला राज्य, जो सुधार देने के लिए तैयार है,

> उनका पहले से ही प्रतिपादन करने की आजादी प्रजा को क्यों नहीं दे दे? लेकिन आखिरी शर्त तो, मालूम पड़ता है, इस स्वाभाविक अधिकार पर बंदिश लगाने के लिए ही है। और 'बसे हुए' शब्द तो ऐसा खतरनाक कानूनी शब्द है, जिसका राजनीतिक रूप में कम ही व्यवहार किया जाता है। इसके बजाय अधिक प्रचलित 'निवासी' शब्द का प्रयोग क्यों न हो?'[70]

गांधी ने बजाज की रिहाई और प्रजामंडल के पंजीकरण के बारे में वायसराय लिनलिथगो को एक और पत्र लिखा। 22 जून, 1939 के इस पत्र में गांधी ने लिखा:

> 'जयपुर का मामला अभी लटका हुआ ही है। पता नहीं अब इस मामले के हल की आशा की जा सकती है या नहीं। जहां तक मैं जानता हूं, खुद महाराजा साहब जमनालालजी तथा अन्य कैदियों को रिहा करने, प्रजामंडल को मान्यता देने ओर पूर्ण नागरिक स्वतंत्रता प्रदान करने के लिए तैयार थे, बशर्ते अहिंसा की सीमा का उल्लंघन नहीं किया जाए।'[71]

वायसराय ने 1 जुलाई को गांधी के पत्र का जवाब दिया:

> 'जहां तक जयपुर का संबंध है, मुझे पूरा यकीन है कि दरबार (जयपुर महाराजा) का इरादा जरूरत से जरा भी ज्यादा देर तक जमनालाल बजाज को नजरबंद रखने का नहीं है। आपको याद भी होगा कि शुरू में दरबार को इस बात की बहुत फिक्र थी कि उन्हें नजरबंद नहीं करना पड़े तो अच्छा। जमनालाल को वे शर्तें बता दी गई हैं जिन पर उनके और अन्य कैदियों के संबंध में कार्रवाई करने के लिए अब दरबार तैयार हैं और जहां तक मैं जानता हूं महाराजा साहब के जाने के बाद से स्थिति में कोई अंतर नहीं आया है।'[72]

मोरांसागर में रहते हुए बजाज का स्वास्थ्य दिन-ब-दिन खराब होता जा रहा था। वे बढ़ते रक्तचाप और घुटनों के दर्द से पीड़ित थे। स्वास्थ्य अधिकारी कर्नल विलियमसन ने उन्हें इलाज के लिए यूरोप जाने की सलाह दी।[73] बजाज कैदी रहते हुए अपने इलाज के लिए बाहर नहीं जाना चाहते थे। हरि सिंह ने भी उन्हें समझाने की कोशिश की और कहा कि यदि वे विदेश नहीं जाना चाहते तो कम से कम बम्बई जाकर अपना इलाज जरूर करवाएं। बजाज ने जवाब दिया कि वे इलाज के लिए तभी जाएंगे, जब उनके ऊपर लगे प्रतिबंध को बिना शर्त हटा लिया जाएगा। अन्यथा यदि रिहा होने के बाद भी कोई संतोषजनक रास्ता नहीं निकला तो उन्हें जयपुर में ही रहना होगा।[74]

गांधी जयपुर की स्थिति को लेकर चिंतित थे, लेकिन उनके प्रयासों का कोई सकारात्मक परिणाम आता नहीं दिख रहा था। यह उनके लिए स्वाभिमान की लड़ाई बन चुकी थी। ब्रिटिश

अफसरों से भरे जयपुर स्टेट कौंसिल की मनमानी उन्हें बेचैन कर रही थी। जयपुर से जुड़े नेता भी गांधी से संपर्क करके सत्याग्रह पर लगी रोक हटाने का आग्रह कर रहे थे। जुलाई, 1939 के पहले सप्ताह में गांधी सीमांत प्रांत के दौरे पर निकले। इसके बाद वे पेशावर और एबटाबाद गए। लेकिन उनके मन में जयपुर का विचार लगातार चल रहा था। 8 जुलाई को एबटाबाद में गांधी ने जयपुर के बारे में एक और विस्तृत आलेख लिखा और उसे 'हरिजन' में प्रकाशित करने के लिए भेज दिया। 15 जुलाई को यह लेख प्रकाशित हुआ:

> 'जयपुर के मामलों में दिलचस्पी रखने वाले लोग संशय की स्थिति में हैं क्योंकि उन्हें पता चला है कि जयपुर के प्रधानमंत्री और जमनालालजी के बीच बातचीत हो रही है। मुझे यह बताते हुए दु:ख हो रहा है कि इन वार्ताओं का कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकल सका है। अत: संघर्ष अभी जारी रहेगा। एक तरह से सत्याग्रह भी चलता रहेगा, हालांकि गिरफ्तारी देने वाले जत्थों के निर्माण का कार्य अभी स्थगित रखा गया है। जो लोग गिरफ्तारी दे चुके हैं, वे अभी जेल में ही रहेंगे। उन्होंने अपनी रिहाई की मांग नहीं की है। अपनी निर्धारित सजा पूरी करने के बाद वे बाहर आएंगे। जमनालालजी कब तक नजरबंद रखे जाएंगे, यह अनिश्चित है। वे रिहाई के बाद राज्य से बाहर रहने की शर्त पर छूटने को तैयार नहीं होंगे और जयपुर के प्रशासक उन्हें एक स्वतंत्र व्यक्ति की तरह राज्य में रहने की अनुमति नहीं देंगे। हालांकि प्रशासन को पता है कि गिरफ्तारी देने का सिलसिला रोका जा चुका है। इस तरह वे जमनालालजी को जनता के बीच संरचनात्मक कार्य भी नहीं करने देंगे। वे जानते हैं कि उन्हें जमनालालजी की ओर से किसी तरह की गोपनीय गतिविधि का खतरा नहीं है और न ही वे ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी कथनी और करनी में अंतर हो। जिस ईमानदारी के लिए सेठजी जाने जाते हैं, उससे किसी संदेह की स्थिति ही नहीं बनती।
>
> इस बीच कुछ कठिनाइयां भी सामने आई हैं। जमनालालजी घुटनों में हो रहे दर्द से पीड़ित हैं। राज्य स्वास्थ्य अधिकारी ने उन्हें इलाज के लिए यूरोप या कम से कम समुद्र के किनारे वाले क्षेत्र में जाने की सलाह दी है। वे अपने स्तर पर यथासंभव इलाज कर रहे हैं, लेकिन उनका कहना है कि स्थान में परिवर्तन आवश्यक है। जमनालालजी प्रतिबंधित रहते हुए जयपुर से बाहर जाने को तैयार नहीं होंगे, भले ही उनके स्वास्थ्य का सवाल हो। वे मानते हैं कि आत्मसम्मान के लिए बिना किसी शर्त के रिहाई मिलना आवश्यक है। वे तब तक अपना स्थान नहीं बदलेंगे, जब तक उनके ऊपर लगा प्रतिबंध, जिसे वे अन्यायपूर्ण मानते हैं, हटा नहीं दिया जाता। अब चूंकि सत्याग्रह को स्थगित कर दिया गया है, ऐसे में जमनालालजी को बंधक बनाए रखने का कोई आधार नहीं है। ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि जमनालालजी को मुक्त कर दिया

> जाए और यदि वे राज्य के किसी कानून का उल्लंघन करें तो उनकी गिरफ्तारी हो? संक्षेप में कहा जाए तो जमनालालजी के साथ हो रहा व्यवहार विचित्र और संदेहास्पद है। जयपुर के प्रशासकों का यह कर्तव्य है कि वे या तो जमनालालजी की अनिश्चितकालीन हिरासत का कारण स्पष्ट करें या फिर उन्हें बिना किसी शर्त के रिहा करें।
>
> जयपुरवासी मुझसे लगातार पूछ रहे हैं कि सत्याग्रह पर कब तक रोक लगी रहेगी। मेरा उत्तर मात्र इतना है कि जब तक माहौल की मांग रहेगी तब तक। उस समय तक लोग संरचनात्मक कार्यों में जुटे रहें। मैं इस विचार पर दृढ़ हूं कि जिसने मेरी सत्याग्रह की शर्तों को पूरा नहीं किया है, वह इसके योग्य नहीं है। मेरे द्वारा रखे हुए हर प्रस्ताव के संबंध में एक बात ध्यान रखने योग्य है। किसी भी व्यक्ति को तब तक मेरी बात मानने की आवश्यकता नहीं है जब तक वह अपने पूरे मन से उस बात पर विश्वास नहीं करता। जिन लोगों की अंतरात्मा सत्याग्रह से जुड़ी हुई है, उन्हें मेरे निर्देश के कारण इससे विमुख होने की कोई आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि सत्याग्रह पर रोक केवल उनके लिए है, जो अपने मन की आवाज को नहीं पहचानते और मेरे अनुभव एवं निर्णय पर विश्वास रखते हैं।
>
> हालांकि बातचीत बंद हो चुकी है, लेकिन जयपुर के प्रशासक इस गतिरोध का हल खोजने की जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हुए हैं। सत्याग्रह रुकने का अर्थ यह नहीं है कि आंदोलन समाप्त हो गया है। वह किसी न किसी रूप में स्वतंत्रता के उस मूलतत्व को बचाने के लिए चल ही रहा है, जिसके लिए यह संघर्ष प्रारंभ हुआ था। जनता के विचारों की ताकत जयपुर के प्रशासकों को चैन नहीं लेने देगी। इसलिए जयपुर के निवासी यह जान लें कि जब तक उनके अंदर चाह है, तब तक उनके पास शक्ति भी है। इस शक्ति को नियंत्रण में रखने का जितना प्रयास होगा, यह उतनी ही बढ़ती जाएगी। हर शक्ति तुरंत इस्तेमाल कर लेने के लिए नहीं होती है। कई बार शक्ति का संचय करने से वह और अधिक प्रभावशाली होती जाती है।'[75]

शरीर में चर्बी की अधिकता के कारण बजाज ने घी छोड़ दिया था। मोटी रोटी और सब्जी बनवा लेते थे। रूखे-सूखे भोजन के कारण कमजोरी बढ़ गई। घुटने का दर्द बढ़ गया। इलाज करवाया गया लेकिन डॉक्टर की गलती से बिजली के सेक के कारण पैर जल गया। इस घाव को सहते रहे; डर के मारे डॉक्टर भाग गया था।[76]

सेवाग्राम लौटने के बाद गांधी ने बजाज को असाधारण कैदी बताते हुए एक और लेख लिखा। इस लेख के जरिए गांधी ने बजाज के स्वास्थ्य के प्रति चिंता व्यक्त की। उन्होंने इस विषय को पुरजोर तरीके से उठाया कि बजाज को बाघों से घिरे स्थान पर रखा गया और उन्हें कोई स्वास्थ्य सुविधा नहीं दी गई। गांधी ने लिखा:

'जमनालालजी एक असाधारण कैदी हैं। उनका विश्वास है कि कैदी होने के नाते उन्हें अपने शरीर की उससे अधिक सार-संभाल नहीं करनी है जितनी उनके लिए तैनात किए गए डॉक्टर करते हैं। इसलिए उनके स्वास्थ्य की सही हालत का पता मुझे अब जाकर चला है। श्री शंकरलाल बैंकर जमनालालजी से मिलने के लिए जयपुर गए थे और वहां उन्होंने उनके स्वास्थ्य की जो हालत देखी, उससे वे चिंतित हो उठे और उन्होंने मुझे बताया कि दशा कितनी बुरी है।

इस विषय में मुझे जो पत्र व्यवहार प्राप्त हुआ है, उसे मैं फिलहाल प्रकाशित नहीं कर रहा हूं। जयपुर के सिविल सर्जन के मतानुसार उनकी हालत ऐसी है कि उनका विशेष रूप से उपचार किया जाना चाहिए। अगर यह बात है तो रियासत का यह कर्तव्य है कि वह जमनालालजी को बिना शर्त रिहा कर दे और यह बात भी उन्हीं पर छोड़ दे कि वे अपना विशेष उपचार रियासत में ही करवाएंगे अथवा उससे बाहर जाकर। जमनालालजी से यह कहना बेकार है कि यदि वे रिहा कर दिए जाते हैं तो उन्हें जयपुर छोड़ देने का वचन देना चाहिए। जिस शर्त के भंग होने की खातिर उन्होंने जेल का आह्वान किया, उसी को स्वीकार करके रिहाई पाने से तो वे जेल में ही मर जाना ज्यादा पसंद करेंगे। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं। राज्य में जमनालालजी द्वारा सविनय अवज्ञा को प्रोत्साहन दिए जाने की कोई आशंका नहीं है क्योंकि वह तो अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दी गई है। अधिकारी लोग जानते हैं कि जमनालालजी स्वभावत: अहिंसावादी हैं और यह भी जानते हैं कि वे वचन के पक्के हैं। उन्हें इस तरह जेल में रखना मेरे लिए एक पहेली है और उनके स्वास्थ्य की वर्तमान दशा को देखते हुए यह अपराध है।

जनता को सामान्यतया यह मालूम नहीं है कि जमनालालजी जहां कैद हैं, वह स्थान वैसे तो अच्छा है और वहां आसानी से पहुंचा भी जा सकता है, किन्तु वहां हिंसक पशुओं का विचरण स्थल है। जयपुर राज्य के शिकार-नियमों के अधीन, जो मेरी दृष्टि में सरासर बर्बरतापूर्ण है, इन जानवरों को मारने वाले भारी जुर्माने के भागी हैं और इन्हीं नियमों के अधीन रियासत इनकी सुरक्षा करती है। कहते हैं, वहां शेर तथा अन्य हिंसक पशु बेखटके मनुष्यों और ढोर-डांगरों को मारकर खा जाते हैं। हालांकि शिकार संबंधी ये नियम मुझे बहुत अमानुषिक जान पड़ते हैं तथापि यहां मेरा उद्देश्य उन पर विचार करना नहीं है। मेरा उद्देश्य तो व्याघ्रग्रस्त स्थान में जमनालालजी को कैद रखने के विरुद्ध आवाज उठाना है। खबर मिली है कि उनके रक्षक भी अपने इस काम से कोई खास खुश नहीं हैं। जमनालालजी के भाग जाने का कोई भय नहीं है। यदि उन्हें जेल में ही रखना है तो उन्हें ऐसे स्थान में क्यों नहीं रखा जाता, जहां डॉक्टरी तथा अन्य प्रकार की सहायता सहज ही मिल सकती हो?

एक और मुद्दे पर ध्यान देने की जरूरत है। बार-बार अनुरोध करने के बावजूद उन्हें अभी तक एक साथी रखने की अनुमति नहीं मिली है। उन्हें कोई नर्स नहीं दी

गई है। ऐसे भी प्रसंग जानकारी में आए हैं, जब उन्हें रात को परिचारक की बहुत आवश्यकता थी। उनके इस संबंध में शिकायत न करने का मतलब यह नहीं है कि अधिकारी परिचर्या के लिए आवश्यक सुविधा प्रदान करने में लापरवाही करें। उनके निजी सचिव ने कई बार अधिकारियों का ध्यान इस ओर खींचा है।'[77]

गांधी ने यह लेख 6 अगस्त को लिखकर छपने के लिए भेज दिया। लेकिन 'हरिजन' के इस अंक के तैयार होने के पहले ही अच्छी खबर सामने आ गई। 5 अगस्त को हीरालाल शास्त्री और उनके साथ कैद अन्य नेताओं को रिहा कर दिया गया।[78] इसके बाद 9 अगस्त, 1939 को जमनालाल बजाज की भी रिहाई का आदेश जारी कर दिया गया।[79] जानकीदेवी बजाज के अनुसार, 'देसी राज्यों के सत्याग्रह के बारे में बापूजी की वायसराय से भी कुछ बातें हुई थीं। जब कहा गया कि आपस में समाधान हो जाएगा तो सत्याग्रह बंद कर दिया गया। सत्याग्रही और जमनालालजी भी छूट गए।'[80]

अगले दिन शास्त्री, हरिश्चंद्र शर्मा, कपूरचंद पाटनी सहित कई नेताओं और कार्यकर्ताओं ने बजाज से मुलाकात की और एक शानदार जुलूस का आयोजन किया। बजाज के अनुसार, 'चार मोटरों में जुलूस के लिए रवाना हुए। जैन मंदिर वालों ने स्वागत किया। बाद में थोड़ी देर सोहनमलजी गोलेछा की हवेली पर ठहरे। जुलूस दरवाजे से शुरू हुआ और आजाद मैदान में पूरा हुआ। प्रजामंडल कार्यालय में ठहरना पड़ा। वहां बहुत ज्यादा भीड़ थी। बुजुर्ग लोग कहते बताए कि जयपुर में इस प्रकार का यह पहला ही जुलूस है। फूल, खादी और गोटे के हारों की गिनती ही नहीं थी। जयपुर की जनता ने आशा से बहुत ज्यादा प्रेम और श्रद्धा प्रजामंडल तथा मेरे प्रति दिखाई। कई जगह रोशनी की गई थी। आजाद मैदान में बहुत अच्छी सभा हुई।'[81]

बजाज की रिहाई के साथ ही टॉड के दीवान पद से हट जाने की खबर सामने आई। 12 अगस्त को घनश्यामदास बिड़ला ने बजाज को लिखा, 'मैं चार-पांच रोज में जयपुर जाने वाला था। टॉड से तिथि भी निश्चित कर ली थी। अचानक टॉड के जाने और आपके छूटने की खबर आई। टॉड क्यों गया, यह समझ में नहीं आता। इसकी जगह कौन आएगा, पता नहीं। लेकिन शिमला की चिट्ठी से कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि फिलहाल वहीं का कोई आदमी काम करेगा। मैंने तो लिखा है कि किसी भारतीय को भेजना चाहिए। देखें क्या होता है।'[82]

विजय की महागाथा और संघर्ष का अद्‌भुत अनुभव लिए बजाज वर्धा पहुंचे। राजस्थान के किसी निवासी के लिए यह अविस्मरणीय घड़ी थी। कांग्रेस अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद, वल्लभभाई पटेल, जीवतराम भगवान दास कृपलानी जैसे दिग्गज नेताओं के साथ कस्तूरबा गांधी स्टेशन पर बजाज का स्वागत करने खड़ी थी। सभी चाहते थे कि बजाज को जुलूस के रूप में ले जाया जाए लेकिन बजाज ने इनकार कर दिया। बजाज के आराध्य तो सेगांव में थे। उसी दिन कस्तूरबा और पटेल के साथ बजाज सेगांव जाकर गांधी से मिले। वे प्रार्थना में शामिल हुए और गांधी को जयपुर की स्थिति और अपने स्वास्थ्य के बारे में बताया। गांधी व्यस्त थे क्योंकि कांग्रेस के लिए जटिल समय चल रहा था। उस रात देर तक पटेल से बजाज

की बातें होती रहीं। पटेल ने बताया कि जवाहरलाल नेहरू चाहते थे कि सुभाषचंद्र बोस एक साल और अध्यक्ष बने रहें। पटेल से उन्हें यह पता चला कि बजाज का कांग्रेस के पदों से इस्तीफा स्वीकार नहीं हुआ। 20 अगस्त को गांधी और बजाज के बीच जयपुर प्रजामंडल को लेकर डेढ़ घंटे बातचीत हुई। गांधी ने कहा कि आवश्यकता पड़ने पर प्रजामंडल के नाम में परिवर्तन किया जा सकता है, लेकिन यह शर्त स्वीकार्य नहीं है कि प्रजामंडल के सदस्य किसी अन्य राजनीतिक संस्था के सदस्य नहीं रह सकते। उन्होंने दृढ़ता से कहा कि यदि जयपुर के अधिकारी लड़ना चाहें तो वे लड़ाई के लिए तैयार हैं। उन्होंने बजाज को बताया कि वे त्रावणकोर के आंदोलन के लिए भी अपनी अनुमति देने वाले हैं। अंत में गांधी ने बजाज को सुझाव दिया कि कुछ चुने हुए व्यक्तियों को साथ लेकर प्रजामंडल के संचालन और अपने स्वास्थ्य की देखभाल के लिए उन्हें जयपुर से बाहर ही रहना चाहिए।[83]

1939 गांधी के रियासतों के प्रति दृष्टिकोण में कई बदलाव लेकर आया। पहले उन्होंने जयपुर के मामले में हस्तक्षेप किया, उसके बाद राजकोट सत्याग्रह की बागडोर खुद के हाथ में ली और फिर त्रावणकोर के आंदोलन को भी हरी झंडी देने का मन बना चुके थे। 31 अगस्त, 1939 की सुबह बजाज एक बार फिर जयपुर पहुंचे। 1 सितम्बर को उन्होंने महाराजा मान सिंह से मुलाकात की। लगभग 2 घंटे तक चली बातचीत में उन्होंने मान सिंह से जनसभाओं और अखबारों पर लगी रोक हटाने तथा प्रशासनिक ढांचे में परिवर्तन करने की मांग की। इसके अलावा उनकी दो मुख्य मांगें और थीं। पहली, सार्वजनिक संस्था अधिनियम (सोसायटीज एक्ट) में संतोषजनक सुधार किया जाए ताकि किसी संस्था पर प्रतिबंध की जरूरत नहीं रहे। और दूसरी, जयपुर के दीवान के रूप में किसी भारतीय व्यक्ति को नियुक्त किया जाए।[84] सितम्बर के महीने में कार्रवाई तेजी से चली और महाराजा मान सिंह तथा बजाज की मुलाकातों से प्रजामंडल की मांगें एक-एक करके पूरी होने लगीं। 6 सितम्बर को मान सिंह ने अखबारों पर लगा हुआ प्रतिबंध हटाने का आदेश जारी कर दिया।[85] 11 सितम्बर, 1939 को मान सिंह 28 वर्ष के हुए। अपने जन्मदिन के अवसर पर उन्होंने सीकर के कैदियों को रिहा करने का आदेश दे दिया।[86] रामबाग पैलेस में आयोजित इस समारोह में बजाज भी शामिल थे। 13 सितम्बर को हुई मुलाकात में मान सिंह ने बजाज को बताया कि वे म्यूनिसिपल कमेटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के लिए कानून बना रहे हैं। मान सिंह ने उन्हें कमेटी में शामिल होने के लिए कहा।[87] बजाज ने अपने असमर्थता जताते हुए कहा कि यदि आवश्यकता हुई तो वे प्रजामंडल की ओर से किसी योग्य व्यक्ति का नाम सुझा देंगे। उसी दिन मान सिंह ने 'सार्वजनिक संस्था अधिनियम' में संशोधन करवाना भी शुरू कर दिया। 15 सितम्बर को बजाज राजनीतिक परिस्थिति का पता लगाने के लिए सीकर पहुंचे। 17 सितम्बर को लक्ष्मणगढ़ की सभा में उन्होंने प्रजामंडल और जयपुर प्रशासन के बीच हो रहे समझौते के बारे में विस्तार से चर्चा की।[88] बजाज के इस वक्तव्य का हवाला देते हुए गांधी ने प्रजामंडल को बधाई संदेश दिया। 23 सितम्बर के 'हरिजन' में उन्होंने लिखा:

> 'जयपुर का सत्याग्रह सफलता के साथ समाप्त हो गया। महाराजा साहब

से जमनालालजी की कई मुलाकातें हुईं। उसका परिणाम यह हुआ कि सभाओं और जुलूसों से संबंधित विनियम वापस ले लिया गया। इसी प्रकार अखबारों पर लगा प्रतिबंध भी उठा लिया गया है और कई अन्य मामलों में सुधार करने का भी आश्वासन दिया गया है। इस सुखद परिणाम के लिए महाराजा साहब और सेठ जमनालालजी दोनों धन्यवाद के पात्र हैं, महाराजा साहब तो अपनी न्यायबुद्धि के लिए और सेठ जमनालालजी जयपुर प्रजामंडल की ओर से बातचीत करने में प्रदर्शित अपनी बुद्धिमता और नरमी के लिए। यह एक ऐसे आंदोलन का सुखद अंत है जो बड़े संयम और शांति के साथ चलाया गया था। यह अहिंसा की विजय है। यदि जयपुर की प्रजा को सच्चे अर्थ में नागरिक स्वाधीनता मिल गई हो तो यह एक ठोस लाभ होगा। इस लाभ का मिलना जितना जयपुर के अधिकारियों के संयम पर निर्भर है, उतना ही इस बात पर भी निर्भर है कि प्रजा कितनी बुद्धिमानी के साथ उसका उपयोग करती है।’[89]

जयपुर प्रशासन के साथ समझौता हो जाने के बाद बजाज ने सामाजिक कार्यों के लिए प्रजामंडल की योजना बनाना शुरू किया। उस समय उनके पैतृक गांव काशी का बास में अकाल पड़ा था। प्रजामंडल ने पीड़ित किसानों की सहायता के लिए अकाल राहत कार्य चलाने का निश्चय किया। इसके अलावा, सीकर प्रकरण की जांच की प्रक्रिया भी प्रजामंडल ने शुरू कर दी।[90] बजाज ने 1 अक्टूबर को एक बार फिर मान सिंह से मुलाकात की। उन्होंने जयपुर की बनी हुई खादी मान सिंह को भेंट की। लगभग एक घंटे तक विभिन्न मुद्दों पर उनके बीच बात हुई जिनमें नए दीवान की नियुक्ति का विषय भी था।[91] कुछ दिनों बाद, प्रजामंडल द्वारा रखी गई भारतीय दीवान की शर्त भी मान ली गई और राजा ज्ञाननाथ जयपुर रियासत के नए दीवान नियुक्त किए गए। ज्ञाननाथ की नियुक्ति ब्रिटिश हुकूमत के पॉलिटिकल डिपार्टमेंट ने की थी। इस तरह ब्रिटिश हुकूमत ने प्रजामंडल की भारतीय दीवान की मांग को पूरा भी कर दिया और प्रशासन पर अपना कब्जा भी बनाए रखा। ज्ञाननाथ ने दीवान का पद संभालते ही प्रजामंडल को निष्क्रिय करने की दिशा में काम शुरू कर दिया। उन्होंने पुलिस को हिदायत दी कि प्रजामंडल को वैध संगठन का दर्जा मिलने के बावजूद उसके प्रति प्रशासन की नीतियों में बदलाव नहीं आना चाहिए। उन्होंने अधिकारियों को प्रजामंडल की गतिविधियों पर नजर बनाए रखने का निर्देश दिया। यहां तक कि उन्होंने प्रजामंडल के खिलाफ प्रचार में अकाल राहत कार्यों से भी अधिक धन खर्च किया।[92] महाराजा मान सिंह दीवान के रूप में ज्ञाननाथ को पसंद नहीं करते थे। वे प्रजामंडल के साथ समझौता करना चाहते थे जबकि ब्रिटिश हुकूमत ज्ञाननाथ के माध्यम से उनके ऊपर प्रजामंडल से दूर रहने के लिए दबाव बना रही थी। ज्ञाननाथ ने प्रजामंडल की गतिविधियों में रुकावट डालकर महाराजा के साथ समझौता नहीं होने दिया। इसलिए ब्रिटिश हुकूमत मान सिंह पर ज्ञाननाथ को दीवान बनाए रखने के लिए दबाव बना रही थी।[93]

29 अक्टूबर, 1939 को जुहू में मान सिंह का हवाई जहाज दुर्घटनाग्रस्त हो गया जिसमें उनके पायलट की मृत्यु हो गई।[94] मान सिंह भी गंभीर घायल हुए। इस दौरान बजाज गांधी की सलाह के अनुसार बम्बई और वर्धा में रहते हुए अपने बिगड़ते स्वास्थ्य को सुधारने की कोशिश कर रहे थे। गांधी ने कहा था कि उन्हें जयपुर जाने की जरूरत नहीं है और पहले अपनी सेहत को ठीक करना चाहिए। बजाज प्रतिदिन मान सिंह की स्थिति को देखने के लिए अस्पताल जाते। इसी क्रम में 2 नवम्बर को उनकी मुलाकात ज्ञाननाथ से हुई। लगभग 1 घंटे की बातचीत के दौरान बजाज को ज्ञाननाथ के रवैये से निराशा ही हाथ लगी।[95] ज्ञाननाथ नहीं चाहते थे कि इस मुलाकात की खबर प्रेस को मिले। उन्होंने बजाज से कहा कि प्रजामंडल के बारे में कोई स्पष्ट फैसला आने तक उसके नेताओं को सभाएं नहीं करनी चाहिए। बजाज ने इस मुलाकात की सूचना शास्त्री को दी और लिखा, 'इनकी (ज्ञाननाथ) बातों से मालूम पड़ता है कि ये पॉलिटिकल डिपार्टमेंट का साथ देंगे। सोसायटीज अमेंडमेंट एक्ट में इनकी तरफ से कुछ न कुछ गड़बड़ हुई है, इसमें संदेह नहीं। हम लोगों को अपने ही पैरों पर मजबूती से खड़े रहना होगा।'[96] इसके बाद बजाज पूना में रहते हुए जयपुर की स्थिति को ठीक करने की योजना बनाने लगे। प्रजामंडल के नेतागण उनसे वहीं आकर मुलाकात करते और जयपुर में हो रही गतिविधियों की जानकारी देते। हीरालाल शास्त्री 26 दिसम्बर को बजाज से मिलने पहुंचे। 30 दिसम्बर को कपूरचंद पाटनी ने बजाज को फोन से सूचना दी कि जयपुर के अधिकारियों ने दमन की पूरी तैयारी कर ली है और शास्त्री तथा चिरंजीवलाल मिश्र के जयपुर पहुंचते ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाएगा।[97]

ज्ञाननाथ अपनी नीतियों से प्रजामंडल के सभी रास्ते बंद करने का प्रयास कर रहे थे। वे प्रजामंडल से जुड़े लोगों के मन में प्रशासनिक बल प्रयोग के जरिए डर स्थापित करना चाह रहे थे। 28 जनवरी, 1940 को जयपुर में चिरंजीवलाल मिश्र और कपूरचंद पाटनी के यहां तलाशी ली गई।[98] यह खबर मिलते ही बजाज ने गांधी को पत्र लिखा और जयपुर जाने की अनुमति मांगी। गांधी ने 1 फरवरी को उन्हें जवाब दिया और जयपुर जाने से मना किया। गांधी जल्दी ही वायसराय से मिलने दिल्ली जाने वाले थे। उन्होंने बजाज को आश्वासन दिया कि वे दिल्ली से लौटने के बाद वायसराय से उनकी सीधी मुलाकात करवाने के बारे में विचार करेंगे।[99] अगले दिन शास्त्री और कुछ अन्य लोगों ने बजाज से मुलाकात की और जयपुर की असंतोषजनक स्थिति के बारे में बताया।[100] बजाज इस स्थिति को सुधारने के लिए जयपुर जाना चाहते थे लेकिन गांधी की मनाही के कारण रुकने के लिए विवश थे।

28 फरवरी को घनश्यामदास बिड़ला ने बजाज से मुलाकात की। उन्होंने कहा कि यदि जयपुर में उचित परिणाम चाहिए तो वहां जाकर बैठना पड़ेगा। उन्होंने बजाज को सलाह दी कि वे कौंसिल के अधिकारियों से बात करें और स्थाई रूप से जयपुर में रहना शुरू करें। उनका सुझाव था कि बजाज को बड़ौदा के दीवान वी.टी. कृष्णमाचारी के जरिए वायसराय के सलाहकार बर्ट्रेंड ग्लैंसी और ए.जी.जी. आर्थर लोथियन से बात करनी चाहिए। अगले दिन गांधी ने भी आश्चर्यजनक रूप से बजाज को शीघ्र जयपुर पहुंचने की सलाह दे दी। यह भी कहा कि अगर जरूरी हो तो उन्हें जयपुर में ही रुक जाना चाहिए।[101] 4 मार्च की सुबह

बजाज जयपुर पहुंच गए। उन्होंने महाराजा मान सिंह और दीवान ज्ञाननाथ से संपर्क करने की कोशिश की। आखिरकार ज्ञाननाथ के सेक्रेटरी रोशनलाल से बात हुई लेकिन उसका रवैया सकारात्मक नहीं रहा। अगले दिन बजाज ज्ञाननाथ से मिलने पहुंचे लेकिन यह मुलाकात तकरार भरी साबित हुई। ज्ञाननाथ प्रजामंडल की मांगों की सुनवाई के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। 6 मार्च को एक बार फिर दोनों की मुलाकात हुई। कपूरचंद पाटनी भी वहां मौजूद थे। 7 मार्च को प्रजामंडल के नेताओं ने साथ बैठकर ज्ञाननाथ को भेजने के लिए पत्र, समाचार पत्रों के लिए वक्तव्य और प्रजामंडल का पंजीकरण आवेदन तैयार किया। उसी दिन ये दस्तावेज ज्ञाननाथ को सुपुर्द कर दिए गए।[102] इस बीच बजाज ने बिड़ला की सलाह के मुताबिक कृष्णमाचारी से संपर्क किया। कृष्णमाचारी ने उनकी सिफारिश में वायसराय से बात की और ज्ञाननाथ तथा मान सिंह से भी बात करने का आश्वासन दिया।[103] मार्च के अंतिम दो सप्ताह बजाज ने वर्धा–सेगांव में गांधी से विचार–विमर्श में गुजारे। 2 अप्रेल, 1940 को बजाज फिर जयपुर पहुंचे और ज्ञाननाथ से मुलाकात की। बजाज उनसे बार–बार मिल रहे थे लेकिन इन मुलाकातों का कोई महत्वपूर्ण नतीजा सामने नहीं आ रहा था। 10 अप्रेल को उन्हें एक शुभ समाचार मिला। ज्ञाननाथ के सचिव रोशनलाल ने कपूरचंद पाटनी को सूचना दी कि कौंसिल ने प्रजामंडल को पंजीकृत करने के लिए दिया गया आवेदन स्वीकार कर लिया है और 13 अप्रेल के पहले आधिकारिक रूप से इसकी घोषणा कर दी जाएगी।[104] सभी औपचारिकताएं पूरी करने के बाद जयपुर प्रजामंडल का विधान लागू होने की सूचना 16 अप्रेल, 1940 को सार्वजनिक कर दी गई।[105] 'पब्लिक सोसायटीज एक्ट' के तहत हुए इस पंजीकरण के द्वारा जयपुर प्रजामंडल को रियासत के बाहर के लोगों को सदस्य बनाने और उत्तरदायी शासन के लिए आंदोलन करने का अधिकार मिल गया।[106]

प्रजामंडल और प्रशासन के बीच हुआ यह समझौता जयपुर सत्याग्रह का एक निर्णायक मोड़ था। गांधी के मार्गदर्शन में बजाज के अथक प्रयासों और जयपुर के कार्यकर्ताओं के संघर्ष का यह सुखद परिणाम था। समझौते का समाचार मिलने के बाद गांधी ने जयपुर प्रजामंडल को शुभकामनाएं देते हुए 'हरिजन' के 20 अप्रेल, 1940 के अंक में लिखा:

> 'आखिर प्रजामंडल और रियासत के बीच एक समझौता हो गया है। इस सुखद अंत का श्रेय राज्याधिकारियों और जमनालालजी दोनों को है। आशा है कि इस समझौते के फलस्वरूप राज्याधिकारियों और प्रजामंडल के बीच सुंदर संबंध स्थापित हो सकेगा और इन दोनों के सहयोग के परिणामस्वरूप हर दिशा में रियासती प्रजा की उन्नति होगी। इसके लिए राज्य को सहिष्णुता का परिचय देना होगा और मंडल को अपने सभी कामों और वक्तव्यों में संयम से काम लेना होगा।'[107]

समझौता हो जाने के बावजूद ज्ञाननाथ का रवैया असहयोगी रहा। प्रजामंडल के नेताओं ने मान सिंह से मिलकर बताया कि उनका ज्ञाननाथ के साथ विवाद चल रहा है। मान सिंह ने

उन्हें कहा कि वे लोग इससे खुद निपट लें।[108] जयपुर की राजनीतिक स्थिति को देखते हुए बजाज ने किसी राष्ट्रीय स्तर के अनुभवी नेता की मदद लेने कर विचार किया। उन्होंने गांधी को पत्र लिखकर अनुरोध किया कि वे सरोजिनी से जयपुर जाने के लिए कहें। सरोजिनी नायडू की तबीयत उन दिनों ठीक नहीं थी। गांधी ने बजाज को जवाब दिया कि सरोजिनी की बीमारी को देखते हुए वे उन्हें ऐसी जिम्मेदारी देने का साहस नहीं कर सकते।[109] गांधी ने बजाज की मदद के लिए प्रख्यात वकील और कांग्रेस के मंत्री रह चुके कैलाशनाथ काटजू से जयपुर जाने के बारे में बात की। काटजू 24 मई को जयपुर पहुंचे। 25 मई को प्रजामंडल का वार्षिक अधिवेशन आयोजित किया गया।[110] काटजू के आने के बाद प्रजामंडल की गतिविधियां तेज होने लगीं और उसे एक निश्चित दिशा मिलने लगी। इस दौरान प्रजामंडल की एक नई वर्किंग कमेटी बनाने की भी तैयारी शुरू हुई। 28 मई को प्रजामंडल की नई वर्किंग कमेटी बनकर तैयार हो गई। जमनालाल बजाज, हरिश्चंद्र शर्मा, चिरंजीवलाल मिश्र, हीरालाल शास्त्री, कपूरचंद पाटनी, टीकाराम पालीवाल, हरलाल सिंह, हंस डी. राय, मुराद अली, सांवलराम देशपांडे, लादूराम जोशी, सीताराम सेकसरिया, श्रीनिवास बगड़का और पार्वती देवी डिडवानिया इसके सदस्य बनाए गए।[111]

जून-जुलाई के महीनों में एक बार फिर गतिरोध की स्थिति बनने लगी। 1 जून को गांधी ने बजाज को पत्र लिखकर जल्दबाजी नहीं करने के निर्देश दिए। उन्होंने लिखा कि यदि प्रजामंडल के कार्यकर्ताओं को भाषण देना हो तो खादी इत्यादि के बारे में ही बात करें। गांधी का मानना था कि आर्थिक और सामाजिक सुधार करने के लिए प्रजामंडल के पास बहुत समय बचा है।[112] इस दौरान बजाज वर्धा और बंबई में रहे। 5 जुलाई को शास्त्री बजाज से मिलने गए। बातचीत के दौरान घनश्यामदास बिड़ला भी वहां मौजूद थे। उन लोगों ने यह फैसला किया कि ज्ञाननाथ की नीतियों को जनता के सामने उजागर करना जरूरी हो गया है।[113]

गांधी सहित कई अन्य राष्ट्रीय नेताओं से परामर्श के बाद 27 अगस्त को बजाज डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को अपने साथ लेकर जयपुर पहुंचे।[114] इसके बाद प्रजामंडल ने जनता के सामने ज्ञाननाथ के द्वारा लगाई जा रही रुकावटों के बारे में प्रस्ताव पारित किया। लोगों ने शांतिपूर्वक उनकी बातों को सुना और उनके प्रस्ताव का स्वागत किया। उसी दिन इस प्रस्ताव को महाराजा मान सिंह के सचिव के पास भेज दिया गया। मान सिंह ने प्रजामंडल के नेताओं को मिलने के लिए आमंत्रित किया। प्रजामंडल के नेताओं ने मान सिंह से मिलकर ज्ञाननाथ को हटाने की मांग की। मान सिंह ने उन्हें बताया कि वायसराय के सलाहकार बर्ट्रेंड ग्लैंसी ने ज्ञाननाथ का कार्यकाल कम-से-कम 3 वर्ष रखने की सिफारिश की है। मान सिंह ने कहा कि यदि प्रजामंडल के नेतागण ज्ञाननाथ को हटाना चाहें तो वे आंदोलन कर सकते हैं।[115]

इधर गांधी ने सेगांव में लोगों के सवालों का जवाब देते हुए स्पष्ट कर दिया कि चरखा संघ, प्रजामंडल और कांग्रेस तीन स्वतंत्र इकाइयां हैं जो अलग होकर भी एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। उन्होंने बताया कि चरखा संघ कांग्रेस की ही बनाई हुई संस्था है जिसका उद्देश्य राजनीतिक नहीं, बल्कि आर्थिक है। इसी प्रकार, प्रजामंडल का काम रियासत के भीतर

राजनीतिक गतिविधि करना है और कांग्रेस का काम रियासतों के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से दूर रहना है। यदि ये तीनों संस्थाएं अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में रहकर काम करेंगी तो अपने साथ दूसरों का भी भला करेंगी। गांधी ने कहा कि यदि कांग्रेस रियासतों के विषय में कोई सफलता प्राप्त करती है तो उसका लाभ चरखा संघ और प्रजामंडल को होगा। इसी तरह, अगर प्रजामंडल अपने उद्देश्य में सफल हो जाए तो कांग्रेस को बल मिलेगा। लेकिन कोई भी इकाई अगर अपने क्षेत्र से बाहर जाएगी तो नुकसान होना संभव है।[116]

जयपुर राज के राजनीतिक हालात दिनोंदिन पेचीदा होते जा रहे थे। मान सिंह प्रजामंडल के विषय में प्रत्यक्ष रूप से कोई निर्णय लेने की स्थिति में नहीं थे क्योंकि उनके ऊपर ब्रिटिश हुकूमत का दबाव था। वे प्रजामंडल के नेताओं से मिलने और उनकी योजनाओं को समझने में दिलचस्पी रखते थे, लेकिन जब ज्ञाननाथ को हटाने की बात आती तो वे कोई संतोषजनक जवाब नहीं दे पाते थे। वे इतना कह देते थे कि अगर प्रजामंडल के लोगों को ज्ञाननाथ पसंद नहीं है तो उन्हें आंदोलन करना चाहिए। इसी के साथ प्रजामंडल की परिस्थिति भी जटिल होती जा रही थी। उसके सभी नेतागण लंबी कैद के बाद जेल से रिहा हो चुके थे। प्रशासन के साथ औपचारिक समझौता भी हो गया था। लेकिन आगे की उनकी योजनाओं को साकार करना कठिन हो रहा था क्योंकि यही ब्रिटिश हुकूमत का इरादा था और अपने इरादे को पूरा करने के लिए वह कई तरह के राजनीतिक हथकंडे अपना रही थी। इस परिस्थिति को सुलझाने के लिए क्या तरीका अपनाया जाए, इसको लेकर प्रजामंडल के सदस्यों में मतभेद शुरू होने लगे। द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत के समय से ही मान सिंह सेना के साथ मोर्चे पर जाना चाहते थे। उन्होंने वायसराय से इस विषय में बात की थी और बकिंघम पैलेस में भी तार भेजकर अपनी इच्छा प्रकट की थी। वायसराय ने उन्हें युद्ध में जाने से रोक दिया और अपनी रियासत की देखरेख करने के लिए कहा। बकिंघम पैलेस से भी जवाब नकारात्मक ही आया। युद्ध शुरू होने के लगभग 1 वर्ष बाद उन्होंने भारतीय सेना के साथ जुड़ने का रास्ता निकाल लिया। सितम्बर, 1940 में 13वीं लांसर्स टुकड़ी में शामिल होने के लिए उन्हें रिसालपुर में नियुक्त किया गया। वे महारानी गायत्री देवी को अपने साथ लेकर कप्तान के रूप में रिसालपुर पहुंच गए।[117]

जयपुर राज में मान सिंह के अलावा किसी को भी प्रजामंडल से कोई सहानुभूति नहीं थी। उनकी अनुपस्थिति में प्रजामंडल के लिए सक्रिय रहना मुश्किल था। प्रजामंडल के नेताओं ने इस दौरान रियासत का दौरा करने और जनसंपर्क बढ़ाने की योजना बनाई। बजाज ने अपने राजनीतिक मित्रों के साथ सीकर, रायगढ़, झुंझुनूं, चिड़ावा, सूरजगढ़, पिलानी आदि स्थानों के दौरे किए। उन्होंने गांवों में घूमकर लोगों से बातचीत की और उन्हें बताया कि ज्ञाननाथ ब्रिटिश हुकूमत के साथ मिलकर जयपुर रियासत की जनता को उसके अधिकारों से वंचित रखना चाहते हैं। इस दौरान राजेन्द्र प्रसाद का लंबा राजनीतिक अनुभव उनके लिए मददगार साबित होता, लेकिन वे बीमार थे और उन्हें आराम के लिए जयपुर में ही रुकना पड़ा। राधाकृष्ण बजाज भी उनके साथ ही रुके रहे।[118]

रियासत के विभिन्न क्षेत्रों का दौरा करने के बाद बजाज सीकर में ठहरे हुए थे। तब तक

राजेन्द्र प्रसाद भी अपनी सेहत सुधारने के लिए वहीं रहने लगे। अचानक जयपुर पुलिस के अधिकारी आकर बिना वारंट के तलाशी लेने लगे। उन्होंने बजाज की डायरी और कुछ अन्य नोट जब्त कर लिए। राजेन्द्र प्रसाद ने इस विषय पर बजाज के लिए एक वक्तव्य बनाया, जिसे अगले दिन प्रेस में भेजा गया।[119] जयपुर प्रशासन को शिकंजा कसता देखकर बजाज सीकर से निकल गए। दो दिन उदयपुर में रुकने के बाद वे नीमच होते हुए वर्धा पहुंचे। इसके बाद गांधी ने हरिजन में एक लेख लिखकर ज्ञाननाथ की नीतियों पर प्रहार किया। उन्होंने लिखा:

> 'जमनालालजी जयपुर में मुसीबतों के घने जंगल में से अपना रास्ता निकालने का यत्न कर रहे हैं। एक समझौता पिछले दिनों हो चुका है। उसमें उनका काफी हिस्सा था। उसमें रियासत को भी वाहवाही मिली थी और मुसीबतें भी कम हो गई थीं। इसीलिए उन्होंने सोचा था कि इस बार उनका काम सुगम और सरल हो जाएगा। मगर ऐसा नहीं हुआ। उनके अनुसार वहां के दीवान राजा ज्ञाननाथजी एक बिल्कुल गैर जिम्मेदार व तरक्की के दुश्मन व्यक्ति हैं। वे जयपुर के चिर काल से पीड़ित काश्तकारों को जरा भी तसल्ली नहीं दे सके हैं। वहां की प्रजा में उनको हटाने और एक ऐसे दीवान को नियुक्त करने के लिए आंदोलन चल रहा है, जो प्रजामत की कदर कर सके। सरकार का यह कर्तव्य है कि जब वह राजाओं के लिए किसी दीवान की नियुक्ति करे तो यह अवश्य देख ले कि वह रैयत की जरूरतों की तरफ सहानुभूति रखने वाला है या नहीं। जब कोई दीवान राजा से भी बढ़कर स्वेच्छाचारी बन जाए तो यह इस बात का सूचक है कि उसे हटा दिया जाए।'[120]

इसी दौरान गांधी ने ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाने का प्रस्ताव रखा। इसके तहत गांधी द्वारा चुने गए लोगों को व्यक्तिगत स्तर पर सत्याग्रह करते हुए स्वेच्छा से गिरफ्तारी देनी थी। गांधी ने विनोबा भावे को पहले सत्याग्रही के रूप में चुना, जो 20 अक्टूबर को गिरफ्तार कर लिए गए। 'डिफेंस ऑफ इंडिया' एक्ट के तहत उन्हें तीन महीने की सजा सुनाई गई।[121] अक्टूबर के अंतिम सप्ताह में बजाज एक बार फिर सीकर पहुंचे। उन्होंने वहीं राजेन्द्र प्रसाद के साथ दीपावली मनाई और 31 अक्टूबर को उन्हें लेकर जयपुर चले गए। बजाज को यह खबर ही नहीं थी कि उनके जयपुर से बाहर रहने के दौरान स्थिति कितनी बदल चुकी है। उनके जयपुर पहुंचते ही चिरंजीवलाल मिश्र और हरिश्चंद्र शर्मा ने अपने इस्तीफे सौंप दिए। बजाज उनके इस्तीफे पाकर नाराज हुए। उन्होंने कहा कि लोग जिम्मेदारी से काम करने के लिए तैयार नहीं हैं, ऐसी परिस्थिति में काम करना संभव नहीं होगा। उन्होंने खुद भी सभापति पद से इस्तीफा देने की पेशकश की लेकिन प्रजामंडल के अन्य सदस्यों ने उन्हें आग्रह करके रोक लिया।[122]

मान सिंह की गैरमौजूदगी में ज्ञाननाथ प्रजामंडल को निष्क्रिय करने के लिए लगातार कोशिश कर रहे थे। 10 नवम्बर, 1940 को बजाज ने मान सिंह को पत्र लिखकर बताया कि

ज्ञाननाथ प्रजामंडल को कुचल देने के लिए पूरी कोशिश कर रहे हैं और प्रजामंडल के सदस्यों पर झूठे मुकदमे चलाए जा रहे हैं।[123] जयपुर प्रजामंडल ब्रिटिश हुकूमत की दमनकारी नीतियों के बीच अपना अस्तित्व बचाए रखने की कोशिश कर रहा था। दूसरी ओर, गांधी के व्यक्तिगत सत्याग्रहियों की सूची लंबी होती जा रही थी। नवम्बर, 1940 तक इस सूची में लगभग 1500 नाम शामिल कर लिए गए। दिसम्बर आते-आते कांग्रेस के कई बड़े नेता गिरफ्तार हो गए। 21 दिसम्बर, 1940 को बजाज को सेगांव में गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें 500 रुपए के जुर्माने सहित छह महीने के कारावास की सजा सुनाई गई।[124]

बजाज की गिरफ्तारी के बाद प्रजामंडल के अन्य सदस्यों का मनोबल कमजोर हुआ, लेकिन इसके बाद भी उन्होंने जयपुर प्रशासन को चुनौती देना जारी रखा। सभी पाबंदियों के बावजूद वे रियासत के अलग-अलग स्थानों पर जाकर सभाएं करते और लोगों से प्रजामंडल को समर्थन देने की अपील करते। 1941 की होली के दौरान प्रजामंडल के कार्यकर्ताओं ने राष्ट्रवादी गीतों के साथ विशाल जुलूस निकाला और जयपुर निवासियों पर बाहरी अधिकारियों द्वारा हो किए जा रहे अत्याचार के खिलाफ प्रदर्शन किया। इसके बाद 5-6 अप्रेल, 1941 को झुंझुनूं में प्रजामंडल का तीसरा वार्षिक अधिवेशन आयोजित हुआ। शास्त्री ने इस अधिवेशन की अध्यक्षता की। इसमें भाग लेने वाले लोगों में लगभग 500 महिलाएं भी शामिल थीं।[125] इसी दौरान प्रजामंडल के अंदर वैचारिक मतभेद की शुरुआत हुई। जयपुर शहर प्रजामंडल समिति के सदस्य गफ्फार अली अल्वी ने एक बैठक में यह प्रस्ताव रखा कि प्रजामंडल के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के साथ-साथ उनके परिवार के सदस्य भी नियमित रूप से खादी पहनने वाले होने चाहिए। इसके बाद समिति के अध्यक्ष कपूरचंद पाटनी ने यह कहते हुए इस्तीफा दे दिया कि वे अपने परिवार की ओर से ऐसा वादा नहीं कर सकते। उसी दिन चिरंजीलाल अग्रवाल भी प्रजामंडल से अलग हो गए।[126] बजाज के जाने के बाद ऐसी स्थिति भी बनी कि उनकी धर्मपत्नी जानकी देवी को प्रजामंडल का अध्यक्ष बनना पड़ा। शास्त्री ने ही इसकी पहल की।[127]

जयपुर पुलिस प्रजामंडल की हर गतिविधि पर पैनी नजर रखे हुए थी। सदस्यों के आपसी मतभेद, संगठन की आगामी योजना आदि के बारे में पुलिस को पूरी खबर थी और वह सारी बातें अपनी गोपनीय फाइलों में दर्ज कर रही थी। सजा पूरी करने के बाद 3 जून, 1941 को बजाज जेल से रिहा हुए। इस समय तक जयपुर प्रजामंडल के आंतरिक मतभेद खुलकर सामने आने लगे थे। बजाज की गैरमौजूदगी में प्रजामंडल अपने उद्देश्य और अपनी विचारधारा से भटकने लगा। इन सभी घटनाओं के बीच बजाज मानसिक और शारीरिक रूप से थकने लगे थे। उन्होंने जेल से रिहा होने के बाद जयपुर जाने के बजाय अपने शरीर और मन को मजबूत करना बेहतर समझा। प्रजामंडल के नेतागण उनसे आकर वर्धा या बम्बई में मुलाकात करते और उन्हें सारी सूचना देते। बजाज प्रजामंडल के अस्तित्व पर छाए संकट से चिंतित थे लेकिन उन्हें कोई रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था। कुछ दिनों बाद ही प्रजामंडल के दो टुकड़े हो गए। चिरंजीलाल अग्रवाल ने बजाज को पत्र लिखकर बताया कि उन्होंने कुछ अन्य सदस्यों के साथ मिलकर 'प्रजामंडल प्रोग्रेसिव पार्टी' नामक अलग दल बना लिया है। उन्होंने बताया कि

प्रोग्रेसिव पार्टी प्रजामंडल का ही एक अंग रहेगी और इसकी सदस्यता भी उन्हीं को मिलेगी जो प्रजामंडल के सदस्य रह चुके हैं। चिरंजीलाल अग्रवाल का मानना था कि प्रजामंडल द्वारा ज्ञाननाथ के खिलाफ आंदोलन करने का निर्णय गलत था और प्रजामंडल के पास मौजूदा राजनीतिक परिस्थितयों में कामयाब होने के लिए कोई सशक्त कार्यक्रम नहीं बचा। उनके विचारों से सहमत लोगों ने ही मिलकर एक नई पार्टी की स्थापना की थी। अग्रवाल ने प्रोग्रेसिव पार्टी के अधिवेशन में बजाज को आमंत्रित किया और उनका आशीर्वाद मांगा।[128]

प्रजामंडल में फूट पड़ जाना बजाज के लिए एक निराशाजनक घटना थी। लगभग एक महीने बाद दुर्गालाल और राधावल्लभ नामक दो कार्यकर्ताओं ने बजाज को एक ही पत्र में अपने मन की बात बताई और प्रोग्रेसिव पार्टी के अधिवेशन में पधारने का आग्रह किया। उन्होंने लिखा, 'आपकी रिहाई के समय आपके स्वास्थ्य के समाचार चिंताजनक थे। हमें स्थानीय मामले बताकर आपकी तबीयत पर जोर डालना उचित नहीं लगा। प्रजामंडल में हम लोगों की जो सुविधाजनक स्थिति थी, आपके जाने के साथ असाध्य ही होती गई। आपकी सरपरस्ती में जो सौजन्य का वातावरण रहता था, बार-बार उसकी याद आती है। आपके यहां से जाने के बाद मतभेद जिस सीमा तक पहुंच गए, अग्रवाल जी (चिरंजीलाल) के विरुद्ध कार्यकारिणी की कार्यवाही भी उसमें एक दुखांत घटना है। हमने प्रजामंडल के अंतर्गत जो प्रोग्रेसिव पार्टी बनाई है.. अकर्मण्यता, विवशता और नैराश्य की स्थिति सहन करते-करते उकताकर अपनी निश्चित सेवाएं प्रजामंडल को देने के लिए यह रास्ता निकाला है। हमारी हरेक प्रवृत्ति प्रजामंडल को आगे बढ़ाने के लिए होगी। यह हमारा आत्मविश्वास है कि आपको इस बात का सबूत हमारे कामों से मिलता रहेगा। अगर आप एक बार जयपुर पधार सकते तो वातावरण में कटुता की संभावना जाती रहती। आपके स्वास्थ्य लाभ का समाचार सुनकर जयपुर के लोगों को बहुत खुशी होगी।'[129]

बजाज के कारावास के दौरान मान सिंह को ब्रिटिश सम्राट की हाउसहोल्ड कैवेलरी रेजीमेंट में नियुक्त किया गया था। इस रेजिमेंट में जगह बनाने वाले वे पहले भारतीय थे।[130] पोलो खेलने के दौरान लगी चोटों के कारण अगस्त, 1941 में उन्हें अयोग्य घोषित कर वापस भेज दिया गया। भारत लौटने के लगभग एक महीने बाद मान सिंह ने ज्ञाननाथ को दीवान पद से हटने के लिए नोटिस दे दिया।[131] यह वही समय था जब प्रजामंडल के बागी सदस्य प्रोग्रेसिव पार्टी बनाकर अधिवेशन की तैयारी कर रहे थे।

बजाज का स्वास्थ्य दिनोंदिन खराब होता जा रहा था। वे निराशाओं के बीच घिरने लगे थे और वर्धा में अपने परिवार के साथ समय बिता रहे थे। मानसिक शांति और नैतिक परामर्श की खोज में बजाज सेगांव जाकर घंटों तक गांधी के पास बैठे रहते। कर्तव्यहीनता का बोध उन पर हावी होता जा रहा था। उन्हें ऐसा लगने लगा था कि वे गांधी की उम्मीदों पर खरे नहीं उतर सके। बजाज की स्थिति को देखते हुए गांधी की चिंता भी उनके प्रति बढ़ती जा रहा थी। 30 सितम्बर, 1941 को गो-सेवा संघ की बैठक में गांधी ने कहा, 'जमनालालजी का स्वास्थ्य इतना अच्छा नहीं है कि मैं उन्हें फिर से जेल जाने की इजाजत दूं। अगर वहां जाकर वे बीमार हो गए तो मैं बर्दाश्त नहीं कर पाऊंगा। यह लड़ाई तो लंबी चलने वाली है। जब मौका आएगा

तो मैं खुद उनसे कहूंगा कि उठो और जेल में चले जाओ।'[132]

1941 के अंत तक विश्वयुद्ध ने भीषण रूप ले लिया। बदलती परिस्थितियों में भारत के राष्ट्रीय नेताओं के राजनीतिक उद्देश्य भी बदलने लगे। रियासतों में चल रहे आंदोलनों को प्राथमिकता देना कांग्रेस के लिए संभव नहीं रह गया। युद्ध के विषय पर विचार-विमर्श करने के लिए दिसम्बर-जनवरी में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक आयोजित की जानी थी। 21 दिसम्बर, 1941 को गांधी ने बजाज को पत्र लिखकर वर्धा में बैठक रखने का प्रबंध करने के लिए कहा। बजाज ने अपनी बीमारी के कारण असमर्थता जाहिर की और किसी अन्य स्थान पर बैठक करने का आग्रह किया। गांधी को तुरंत अपनी भूल का आभास हुआ। उन्होंने लिखा, 'मैं भी कैसा बेवकूफ और स्वार्थी हूं। मैंने तुम्हारे स्वास्थ्य के बारे में बिलकुल नहीं सोचा। मुझसे हिंसा हुई है। मैंने तुम्हारी मित्रता और उदारता का अनुचित लाभ उठाया।'[133] लेकिन गांधी के प्रति असीम श्रद्धा रखने वाले बजाज ने अपने घर के अहाते में बैठक का पूरा प्रबंध कर दिया। प्रतिनिधियों के ठहरने के लिए उन्होंने अपने अतिथिगृह और अपने घर के पास बने एक कॉलेज में व्यवस्था की।[134] 15 जनवरी, 1942 को हुई इसी बैठक में गांधी ने जवाहरलाल नेहरू को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी घोषित किया और कहा, 'पानी में चाहे कोई कितनी ही लकड़ी पीटे, वह पानी को अलग-अलग नहीं कर सकता। ऐसे ही मुझे और जवाहरलाल को अलग नहीं किया जा सकता। अगर मेरा कोई वारिस है तो वह राजाजी नहीं, सरदार वल्लभभाई नहीं, जवाहरलाल है।'[135]

वर्धा बैठक को एक महीना भी नहीं हुआ कि 11 फरवरी को बजाज की आकस्मिक मृत्यु हो गई। अपने 'पांचवे पुत्र' को याद करते हुए गांधी ने आश्रम की प्रार्थना सभा में कहा, 'हमें यह याद रखना चहिए कि हम जमनलालजी की भूमि पर बैठे हैं। हमें उनके नाम को सुशोभित करना है। ऐसा कोई काम हमारे हाथों से नहीं हो जिससे उनकी कीर्ति को धब्बा लगे।' हरिजन के एक लेख में गांधी ने बजाज को याद करते हुए लिखा, 'जब कभी मैंने धनवान लोगों को सर्वसाधारण के हित की दृष्टि से अपनी संपत्ति के न्यासी होने की जरूरत की बात की तो मेरे मन में मुख्य रूप से इसी वणिक शिरोमणि का ध्यान रहा है। उनमें जो सादगी थी, वह तो स्वाभाविक थी ही। वे अपने लिए जो घर बनाते थे, वह अंततः धर्मशाला बन जाता था।'[136]

बजाज के देहावसान का संदेश मिलने पर जयपुर प्रजामंडल के कार्यकर्ताओं ने शहर में हड़ताल की घोषणा कर दी। दुकानों को बंद करवा रहे 4-5 कार्यकर्ताओं को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। प्रजामंडल ने उन कार्यकर्ताओं की जल्द रिहाई की मांग की और ऐसा नहीं होने पर आंदोलन की चेतावनी दी। वहीं, पुलिस ने अपनी रिपोर्ट में यह लिखा कि सभी गिरफ्तार लोगों को निर्दोष पाकर कुछ ही घंटों में रिहा कर दिया गया था। रिपोर्ट में चिरंजीवलाल मिश्र और कपूरचंद पाटनी आदि नेताओं पर लोगों को भड़काने का भी आरोप लगाया गया।[137]

प्रजामंडल की गतिविधियों को रोकने के लिए जयपुर प्रशासन का दमनकारी रवैया जारी रहा। बजाज की मृत्यु के बाद शास्त्री ने प्रजामंडल की बागडोर अपने हाथ में ली और संगठन-शक्ति को बढ़ाने के लिए वनस्थली को राजनीतिक प्रशिक्षण का केंद्र बनाने की दिशा में जुट

गए। जून, 1942 में मान सिंह ने मैसूर के पूर्व दीवान और गांधी के घनिष्ट परिचित मिर्जा इस्माइल को जयपुर का दीवान नियुक्त किया। घनश्यामदास बिड़ला की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका रही। कुछ दिनों बाद गांधी ने मिर्जा इस्माइल को एक पत्र में लिखा:

> 'मैं दो विचारों के बीच में उलझा हुआ था और सोच रहा था कि जयपुर के दीवान का पद स्वीकार करने के लिए आपको बधाई दूं या आपके प्रति सहानुभूति प्रकट करूं। मैं आपको ऐसी जगह पर देखता था जहां आपको एक व्यापक अधिकार क्षेत्र मिले ताकि आप सांप्रदायिक एकता के लिए काम कर सकें। लेकिन राजकुमारी* ने आपका जो पत्र मुझे भेजा, उसे पढ़ने के बाद मैं एक निर्णय पर पहुंच पाया हूं। हालांकि आपके लिए यह मैदान छोटा है, लेकिन यदि आप राजपूताना के लोगों का उद्धार करने में सहयोग कर सके तो यह आपकी ओर से बहुत बड़ा योगदान होगा।'[138]

1942 का वर्ष भारत की राजनीति में निर्णायक मोड़ लेकर आया। कांग्रेस ने अंतत: गांधी का रास्ता स्वीकार लिया। विभिन्न असहमतियों के बावजूद कांग्रेस के पास विराट व्यक्तित्व के रूप में सिर्फ गांधी थे, जिन पर देश की जनता को भरोसा था। वे जिधर चल पड़ते थे, उधर दौड़ने के लिए लाखों कदम बेताब हो उठते; वे नजर घुमाते तो लोगों की आशाभरी नजरें उधर ही ठहर जातीं। इसी बीच 7-8 अगस्त को अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति का बम्बई में अधिवेशन शुरू हुआ। वहां पहुंचे कांग्रेस के सदस्यों और देश में उत्तेजना का माहौल था। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर प्रस्ताव पारित होने के बाद 8 अगस्त की रात गांधी के भाषण ने देश में बह रही आजादी की भावना को तूफान का रूप दे दिया। यह तूफान अहिंसा लिए था लेकिन इसका वेग इतना प्रबल था कि गांधी के एक-एक वाक्य से ब्रिटिश हुकूमत थर्रा उठी। उस दिन गांधी एक अवतार और पैगम्बर की प्रेरक शक्ति से प्रेरित होकर भाषण दे रहे थे। उनके अंदर आग धधक रही थी। गांधी उस दिन राजनीति के निम्न धरातल से ऊपर उठकर उत्कृष्ट मानवता, विश्वव्यापी भातृत्व, शांति और मानव मात्र के प्रति सद्भाव से भरे दिव्यलोक की चर्चा कर रहे थे। वास्तव में वे सभी राष्ट्रों के समान हितचिंतक, गरीब जनता के मित्र, उत्पीड़ित और पददलित मानवता और परतंत्रता के पाश में आबद्ध लोगों के उद्धारक की हैसियत से बोल रहे थे।[139]

गांधी का एक-एक वाक्य मंत्र बन गया। उन्होंने हर हिन्दुस्तानी से कहा, 'आप अपने को आजाद समझिए। मैं इस लड़ाई में आपका नेतृत्व करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता हूं।'[140] उन्होंने स्पष्ट कर दिया, 'पूर्व स्वतंत्रता के सिवाय किसी चीज से संतुष्ट होने वाला नहीं हूं। एक छोटा-सा मंत्र आपको देता हूं। वह मंत्र है 'करो या मरो'। या तो इस भारत को आजाद करेंगे या आजादी की कोशिश में प्राण दे देंगे। हम अपनी आंखों से अपने देश को

---

*राजकुमारी अमृत कौर; मिर्जा इस्माइल ने उन्हें लिखा था कि वे जयपुर के माध्यम से पूरे राजपूताना के लिए कुछ करने का इरादा लेकर वहां गए हैं।

सदा गुलाम या परतंत्र नहीं देखेंगे। स्वतंत्रता कायर या डरपोक को नहीं मिलती।'[141]

इस बीच मिर्जा इस्माइल ने जयपुर के प्रधानमंत्री का पद संभाल लिया था। यह आश्चर्यजनक था कि गांधी सहित कांग्रेस के सभी बड़े नेताओं की गिरफ्तारी के बाद सारा देश जाग उठा, लेकिन जयपुर का प्रजामंडल नेतृत्व चुप बैठ गया। दुर्भाग्य से जमनालाल बजाज की मृत्यु हो चुकी थी। इसके कारण भी गांधी के मार्गदर्शन में उत्तरदायी शासन के लिए लड़ते आ रहे जयपुर प्रजामंडल की भूमिका भारत छोड़ो आंदोलन में उदासीन हो गई। मिर्जा ने घनश्यामदास बिड़ला के माध्यम से प्रजामंडल के अध्यक्ष हीरालाल शास्त्री से घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लिए और 'जेंटलमेन्स एग्रीमेंट' के जरिए रियासत में आंदोलन की संभावना को खत्म कर दिया।

हालांकि बम्बई कांग्रेस कमेटी की बैठक में गांधी ने देसी रियासतों के प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया और उनसे कहा कि वे अपने राजाओं से ब्रिटिश हुकूमत के साथ संबंध खत्म करने की अपील करें। जयपुर रियासत का प्रतिनिधित्व करते हुए शास्त्री ने इस बैठक में भाग लिया। बम्बई से जयपुर लौटने के बाद शास्त्री ने प्रजामंडल वर्किंग कमेटी की बैठक बुलाई। इस बैठक में उत्तरदायी शासन की मांग करते हुए राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी के प्रति विरोध दर्ज किया गया। महाराजा मान सिंह ने शासन में उचित सुधार का आश्वासन देकर प्रजामंडल को संतुष्ट कर दिया। इसके बाद मिर्जा ने शास्त्री से संपर्क स्थापित करके उन्हें आंदोलन में निष्क्रिय रहने के लिए तैयार कर लिया। प्रजामंडल के अन्य सदस्य शास्त्री की नीति से सहमत नहीं थे। दौलतमल भंडारी ने शास्त्री से मुलाकात की और अपनी राय प्रकट की। अगले दिन एक जनसभा हुई, जहां शास्त्री ने आंदोलन के बारे में औपचारिक घोषणा करने की बजाय सूचना यह दी कि जयपुर प्रशासन और प्रजामंडल के बीच समझौते की बातचीत हो रही है।[142]

मिर्जा, शास्त्री और बिड़ला के पत्र व्यवहार से जयपुर की तत्कालीन परिस्थिति का पता चलता है। इन पत्रों से स्पष्ट होता है कि मिर्जा के शास्त्री विश्वासपात्र बन गए थे। आंदोलन को रोकने के लिए प्रशासन को क्या कदम उठाने चाहिए, इस विषय में मिर्जा पत्र लिखकर शास्त्री से परामर्श करते थे और उनके सुझावों को महत्व देते थे।[143]

यह ध्यान देने लायक है कि 3 जुलाई, 1942 को मिर्जा ने बिड़ला को लिखा, 'ऐसे बहुत से मामले हैं, जिनकी ओर तुरंत ध्यान देने की आवश्यकता है और जिनके संबंध में आपसे चर्चा करना चाहता हूं। इस कारण मैं आपके आगमन के लिए अगस्त तक प्रतीक्षा करने का अत्यंत अनिच्छुक हूं। ..मुझे श्री हीरालाल शास्त्री तथा प्रजामंडल के अन्य सदस्यों से मिलने का अवसर मिला और मैं निश्चयपूर्वक यह अनुभव करता हूं कि मुझे उनका तथा रियासत के अन्य सभी दलों का सहयोग मिलेगा।' बिड़ला ने इसके जवाब में 9 जुलाई को मिर्जा को लिखा, 'मुझे जयपुर के अनेक व्यक्तियों से समाचार मिले हैं, जिनमें आपके द्वारा प्रशासन में किए गए सुधारों की प्रशंसा की गई है। मुझे जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आप श्री हीरालाल जी से मिल लिए। मुझे विश्वास है कि वे आपको पूर्ण सहयोग देंगे।'[144]

मिर्जा आश्वस्त थे कि प्रजामंडल की ओर से कोई आंदोलन नहीं किया जाएगा। भारत

छोड़ो आंदोलन की घोषणा किए जाने के एक सप्ताह के भीतर ही उन्होंने पॉलिटिकल एजेंट को सूचना दी कि प्रजामंडल की ओर से कोई कार्रवाई नहीं होगी। 14 अगस्त के इस पत्र में उन्होंने लिखा, 'यह मानने के लिए विश्वसनीय आधार मौजूद हैं कि प्रजामंडल अखिल भारतीय राष्ट्रीय सभा (कांग्रेस) की सहानुभूति में कोई कार्यवाही नहीं करेगा। यहां यह अनुभव किया जा रहा है कि जिन व्यक्तियों का आपने पत्र में उल्लेख किया है, उनको गिरफ्तार करने का परिणाम होगा कि विरोध और कटुता बढ़ेगी तथा जो यहां का वातावरण साधारणतया शान्तिमय और स्वच्छ है, वह विक्षुब्ध हो उठेगा। इस संबंध में यह भी बता देना आवश्यक है कि जिन व्यक्तियों* के संबंध में आपने अपने पत्र में संकेत किया है वे जयपुर राज्य के स्थाई निवासी नहीं हैं और इस बात की पूर्ण संभावना है कि वे रियासत से शीघ्र चले जाने वाले हैं।'[145]

मिर्जा ने भारत छोड़ो आंदोलन के संबंध में राष्ट्रीय नेताओं को गिरफ्तार करने के बारे में शास्त्री से विचार विमर्श किया था, जो उनके 19 सितम्बर के गोपनीय पत्र से स्पष्ट होता है। उन्होंने एक सैन्य अधिकारी को लिखा, 'इस पत्र के साथ ही हीरालाल शास्त्री के उस पत्र को भेज रहा हूं, जो मुझे अभी प्राप्त हुआ है। मैं उनके परिस्थिति संबंधी विचार को आदर के साथ देखता हूं और मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि वे राज्य के शुभचिंतक हैं। प्रश्न यह है कि हम इन दस व्यक्तियों को गिरफ्तार करें अथवा नहीं। शास्त्री का सोचना है कि प्रतीक्षा करना श्रेयस्कर होगा। क्योंकि गिरफ्तारियों से और अधिक अशान्ति उत्पन्न होगी। क्या हम प्रतीक्षा करें और यह देखें कि आज सायंकाल को क्या घटना घटती है?'[146] 19 सितम्बर के पत्र में शास्त्री ने मिर्जा को संयम से काम लेने का सुझाव दिया। उन्होंने लिखा, 'आपसे फोन पर हुई बातचीत के संबंध में मैं यह सुझाव दूंगा कि आप संयम से काम लें तो अधिक उपयुक्त होगा। परिस्थिति से निबटने का यह अधिक सरल तरीका हो सकता है। इस समय केवल इतना ही कह सकता हूं। अंततः आप ही इस संबंध में अधिक अच्छी तरह तय कर सकते हैं कि परिस्थिति का सामना करने के लिए कौन सा तरीका सबसे उत्तम होगा। लेकिन मेरी मान्यता और धारणा यह है कि आप सरलता से कुछ समय तक परिस्थिति का अध्ययन करने के लिए प्रतीक्षा कर सकते हैं।'[147]

रियासत में 1942 के आंदोलन के प्रभाव को खत्म करने के लिए प्रजामंडल और जयपुर प्रशासन के बीच इन शर्तों पर समझौता हुआ: (1) जयपुर रियासत में ब्रिटिश विरोधी और युद्ध विरोधी प्रचार के लिए राष्ट्रीय झंडे के साथ प्रभातफेरी और जुलूस निकाले जाएंगे तो प्रशासन की ओर से कोई बाधा नहीं पहुंचाई जाएगी। (2) युद्ध के लिए अंग्रेजों को जयपुर रियासत की ओर से आगे जन-धन की नई सहायता नहीं दी जाएगी। (3) ब्रिटिश भारत में चल रहे आंदोलन में सक्रिय भाग लेने वाले कोई भी जयपुर रियासत में आएंगे तो उन्हें प्रजामंडल की ओर से सब तरह की सहायता दी जाएगी और उनमें से किसी को भी गिरफ्तार

*ब्रिटिश हुकूमत ने मिर्जा इस्माइल को सादिक अली, जयप्रकाश नारायण, अरुणा आसफ अली, रामानन्द मिश्रा, प्रेमकृष्ण खन्ना, शीलभद्र याजी, मुकुन्दलाल सरकार को गिरफ्तार करने के लिए लिखा था। उस समय जयप्रकाश नारायण भूमिगत होकर क्रांति का नेतृत्व कर रहे थे और वे इसी संबंध में अपने क्रांतिकारी साथियों के साथ जयपुर आए हुए थे।

नहीं किया जाएगा। (4) जयपुर महाराजा की ओर से जनता को उत्तरदायी शासन देने की दृष्टि से कार्यवाही जल्दी से जल्दी शुरू की जाएगी। (5) महाराजा की ओर से शर्तों का पालन होने पर जयपुर प्रजामंडल की ओर से महाराजा के खिलाफ सीधी कार्यवाही नहीं की जाएगी।[148]

इसी समझौते को 'जेंटलमेन्स एग्रीमेंट' का नाम दिया गया। प्रजामंडल के कई सदस्यों ने शास्त्री के इस कदम का बहिष्कार किया और अलग संगठन बनाने की पहल की। बाबा हरिश्चंद्र के नेतृत्व में बागी सदस्यों ने 'आजाद मोर्चा' की स्थापना की और भारत छोड़ो आंदोलन से जुड़ गए। इनमें लादूराम जोशी, रामकरण जोशी, हंस डी. राय, बलवंतराम देशपांडे और ओमदत्त शास्त्री शामिल थे। आजाद मोर्चा के नेतृत्व में जयपुर की इस नई टीम ने आंदोलन को आगे बढ़ाया। रत्नाकर भारतीय और राधेश्याम टिक्कीवाल नामक युवकों ने बम बनाना शुरू किया और 2-3 जगहों पर बम लगाने के असफल प्रयास भी किए। गोपालदत्त वैद्य ने एक गुप्त संगठन बनाकर सरकारी संपत्ति को नष्ट करने की योजना बनाई। उन्होंने नाहरगढ़ में विस्फोटक सामग्री जमा करके बम बनाने की योजना बनाई, लेकिन पुलिस को सूचना मिल गई और उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इसके बाद कुछ युवकों ने सरकारी कार्यालयों में आग लगा दी। महाराजा कॉलेज के दस्तावेज जलाकर राख कर दिए गए। परमेश्वरदयाल विद्यार्थी और बद्रीनारायण खूंटेटा ने भूमिगत रहते हुए ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देना जारी रखा। जयपुर की छात्राएं भी इस आंदोलन में पीछे नहीं रहीं। वनस्थली विद्यापीठ की कई छात्राओं ने रतन शास्त्री की सलाह पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। रतन शास्त्री ने भूमिगत रहने वाले आंदोलनकारियों के परिवारों की भी सहायता की। जयप्रकाश नारायण, सादिक अली, अरुणा आसफ अली जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने जयपुर आकर आंदोलनकारियों का हौसला बढ़ाया। लगभग डेढ़ वर्ष तक रियासत में जनप्रतिरोध जारी रहा।[149]

राजस्थान के स्वतंत्रता संग्राम से संबंधित विवरणों में लिखा है कि 1942 के महत्वपूर्ण आंदोलन में जयपुर प्रजामंडल की भूमिका से गांधी संतुष्ट नहीं थे। 20 जनवरी, 1945 को शास्त्री ने गांधी से मुलाकात की। उन्होंने गांधी से पूछा कि जो कुछ जयपुर में हुआ, क्या वह अनुचित था? गांधी ने निराश भाव से जवाब दिया कि अब उनका कुछ भी कहना व्यर्थ है। गांधी ने आंदोलन शुरू होने के पहले बम्बई में कहा था कि अगर किसी रियासत का प्रजामंडल आंदोलन में भाग नहीं लेना चाहे तो उस रियासत के लोगों को बाहर जाकर आंदोलन करना चाहिए और प्रजामंडल को परेशानी में नहीं डालना चाहिए। शास्त्री ने इसी वक्तव्य का हवाला देते हुए गांधी से पूछा कि क्या उनके साथियों ने प्रजामंडल से बगावत करके ठीक किया? इस पर गांधी ने कहा, 'इसमें क्या शक है? उन्होंने ठीक नहीं किया और बातचीत के द्वारा रियासत से जितना तुमने पा लिया, वह तो काफी था। ज्यादा तुम करने वाले भी क्या थे?'[150] लेकिन गांधी-शास्त्री की इस मुलाकात का उल्लेख गांधी से संबंधित दस्तावेजों में कहीं नहीं मिलता। उनके तारीखवार जीवन वृत्तांत से भी इसकी पुष्टि नहीं होती। वे आगा खां महल के 21 महीने के कारावास से लौटे तो जमनालाल बजाज की समाधि के दर्शन करना नहीं भूले।[151]

संदर्भ सूची

1. पांचवे पुत्र को बापू के आशीर्वाद, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1953, पृष्ठ 397-398
2. वही, पृष्ठ 399
3. वही, पृष्ठ 399
4. वही, पृष्ठ 400
5. वही, पृष्ठ 400-401
6. हरिजन, 21 जनवरी, 1939
7. वही, 28 जनवरी, 1939
8. संपूर्ण गांधी वांगमय-68, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 366
9. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 281
10. संपूर्ण गांधी वांगमय-68, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 372-373
11. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 281-282
12. वही, पृष्ठ 283
13. संपूर्ण गांधी वांगमय-68, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 406
14. वही, पृष्ठ 406-407
15. वही, पृष्ठ 418
16. वही, पृष्ठ 418
17. वही, पृष्ठ 418
18. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 283
19. हरिजन, 4 फरवरी, 1939
20. जवाहरलाल नेहरू वांगमय-9, जवाहरलाल नेहरू स्मारक निधि एवं सस्ता साहित्य मंडल, 2009, पृष्ठ 400-401
21. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 284
22. वही, पृष्ठ 284-285
23. वही, पृष्ठ 285
24. संपूर्ण गांधी वांगमय-68, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 438-439
25. द हिन्दुस्तान टाइम्स, 8 फरवरी, 1939
26. संपूर्ण गांधी वांगमय-68, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 453-454
27. वही, पृष्ठ 440
28. जयपुर स्टेट कौंसिल का प्रस्ताव/ पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 284-285
29. हरिजन, 11 फरवरी, 1939
30. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 287-288
31. हीरालाल शास्त्री: प्रत्यक्षजीवनशास्त्र-1, अनुपम प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 1970, पृष्ठ 235
32. हरिजन, 25 फरवरी, 1939
33. पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 289
34. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 302
35. पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 332-333
36. शोभालाल गुप्त: गांधीजी और राजस्थान, राजस्थान राज्य गांधी स्मारक निधि, भीलवाड़ा, 1969, पृष्ठ 179-180
37. हरिजन, 27 मई, 1939
38. वही
39. संपूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ 62

40. हरिजन, 27 मई, 1939
41. वही
42. वही
43. संपूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ 68
44. वही, पृष्ठ 76
45. हरिजन, 3 जून, 1939
46. वही, 1 अप्रेल, 1939
47. वही
48. वही
49. वही
50. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 307
51. कैथरीन बी. एशर: द केस ऑफ द जयपुर जामी मॉस्क्यू/ प्रेयर इन द सिटी-द मेकिंग ऑफ मुस्लिम सेक्रेड प्लेसेज एंड अर्बन लाइफ, ट्राजेंक्शन पब्लिशर्स, पिस्काटवे (यूएस), पृष्ठ 118-119
52. वही, पृष्ठ 119-120
53. पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 292
54. हरिजन, 6 मई, 1939
55. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 322
56. पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001, पृष्ठ 264
57. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 330-331
58. वही, पृष्ठ 334
59. संपूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ 282
60. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 335
61. संपूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ 270
62. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 336
63. वही पृष्ठ 337-338
64. संपूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ 511
65. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 338
66. वही, पृष्ठ 339
67. वही, पृष्ठ 340
68. वही, पृष्ठ 342
69. द स्टेट्समैन, 31 मई, 1939/ जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 346
70. हरिजन, 10 जून, 1939
71. संपूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ 396-397
72. वही, पृष्ठ 516
73. जमनालाल बजाज की डायरी,-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 365
74. वही, पृष्ठ 369
75. हरिजन, 15 जुलाई, 1939
76. जानकी देवी बजाज: मेरी जीवन यात्रा, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 111
77. हरिजन, 12 अगस्त, 1939
78. हीरालाल शास्त्री: प्रत्यक्षजीवनशास्त्र-1, अनुपम प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 1970, पृष्ठ 237
79. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 383
80. जानकी देवी बजाज: मेरी जीवन यात्रा, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 112
81. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 384
82. जमनालाल बजाज पत्र व्यवहार-8, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1969, पृष्ठ 104
83. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 388-389

84. वही, पृष्ठ 395-396
85. वही, पृष्ठ 398
86. वही, पृष्ठ 401
87. वही, पृष्ठ 402
88. वही, पृष्ठ 404-405
89. हरिजन, 23 सितम्बर, 1939
90. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 409-410
91. वही, पृष्ठ 410
92. क्वेंटिन क्रू : द लास्ट महाराजा, माइकल जोसफ लिमिटेड, लंदन, 1985, पृष्ठ 151
93. रॉबर्ट डब्ल्यू स्टर्न: द कैट एंड द लायन-जयपुर स्टेट इन ब्रिटिश राज, ई. जे. ब्रिल, लायडन, नीदरलैंड्स, 1988, पृष्ठ 304
94. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 424
95. वही, पृष्ठ 426
96. जमनालाल बजाज पत्र व्यवहार-2, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1958, पृष्ठ 176-177
97. जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 443
98. जमनालाल बजाज की डायरी-6, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1987, पृष्ठ 9
99. संपूर्ण गांधी वांगमय-71, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1979, पृष्ठ 198-199
100. जमनालाल बजाज की डायरी-6, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1987, पृष्ठ 11
101. वही, पृष्ठ 21
102. वही, पृष्ठ 25
103. वही, पृष्ठ 26
104. वही, पृष्ठ 39-40
105. वही, पृष्ठ 43
106. डॉ. विष्णुदयाल माथुर: प्रजामंडल मूवमेंट इन राजस्थान, शब्द महिमा, जयपुर, 1989, पृष्ठ 135
107. हरिजन, 20 अप्रेल, 1940
108. जमनालाल बजाज की डायरी-6, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1987, पृष्ठ 51
109. संपूर्ण गांधी वांगमय-72, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ 87
110. जमनालाल बजाज की डायरी-6, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1987, पृष्ठ 64
111. वही, पृष्ठ 64
112. संपूर्ण गांधी वांगमय-72, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ 139
113. जमनालाल बजाज की डायरी-6, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1987, पृष्ठ 76
114. वही, पृष्ठ 97
115. वही, पृष्ठ 100-101
116. संपूर्ण गांधी वांगमय-72, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ 503-504
117. क्वेंटिन क्रू: द लास्ट महाराजा, माइकल जोसफ लिमिटेड, लंदन, 1985, पृष्ठ 146-147
118. जमनालाल बजाज की डायरी-6, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1987, पृष्ठ 101-102
119. वही, पृष्ठ 112
120. हरिजन, 13 अक्टूबर, 1940
121. जमनालाल बजाज की डायरी-6, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1987, पृष्ठ 119
122. वही, पृष्ठ 123
123. क्वेंटिन क्रू: द लास्ट महाराजा, माइकल जोसफ लिमिटेड, लंदन, 1985, पृष्ठ 150
124. एम.वी. कामत: गांधी'ज कुली-लाइफ एंड टाइम्स ऑफ रामकृष्ण बजाज, अलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 57
125. जयपुर महकमा खास-गोपनीय पुलिस डायरी, 1941, बस्ता संख्या 6, क्रम संख्या 63, फाइल संख्या 25
126. वही

127. जानकी देवी बजाजः मेरी जीवन यात्रा, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 111
128. जमनालाल बजाज पत्र व्यवहार-2, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1948, पृष्ठ 140-142
129. वही, पृष्ठ 142-145
130. क्वेंटिन क्रूः द लास्ट महाराजा, माइकल जोसफ लिमिटेड, लंदन, 1985, पृष्ठ 147
131. वही, पृष्ठ 152
132. संपूर्ण गांधी वांगमय-74, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1981, पृष्ठ 405-406
133. संपूर्ण गांधी वांगमय-75, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1982, पृष्ठ 201
134. श्रीमन्नारायणः जमनालाल बजाज, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1976, पृष्ठ 176-177
135. संपूर्ण गांधी वांगमय-75, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1982, पृष्ठ 248
136. वही, पृष्ठ 336-337
137. जयपुर महकमा खास-फोर्टनाइटली इंटेलीजेंस रिपोर्ट, 15 फरवरी 1942, डी.ओ. संख्या-55/ एफ.एल.पी., बस्ता संख्या-4, फाइल संख्या-44, राजस्थान राज्य अभिलेखागार
138. मिर्जा इस्माइलः माय पब्लिक लाइफ, जॉर्ज एलेन एंड अनविन लिमिटेड, लंदन, 1954; पृष्ठ 85
139. डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्याः कांग्रेस का इतिहास-3, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958, पृष्ठ 405
140. वही, पृष्ठ 406
141. संपूर्ण गांधी वांगमय-76, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1983 पृष्ठ 434
142. विनीता परिहारः प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस-62, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, कोलकाता, 2002, पृष्ठ 503
143. शंकर सहाय सक्सेनाः जो देश के लिए जिए, पृष्ठ 144/ विजय भंडारीः राजस्थान की राजनीति-सामंतवाद से जातिवाद के भंवर में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ 22
144. विजय भंडारीः राजस्थान की राजनीति-सामंतवाद से जातिवाद के भंवर में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ 432-433
145. वही, पृष्ठ 434-435
146. वही, पृष्ठ 436
147. वही, पृष्ठ 438
148. सुमनेश जोशीः राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, ग्रंथागार, जयपुर, पृष्ठ 293
149. विनीता परिहारः प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस-62, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, कोलकाता, 2002, पृष्ठ 503-504
150. सुमनेश जोशीः राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, ग्रंथागार, जयपुर, पृष्ठ 294
151. तारीखवार जीवन वृत्तांत/ संपूर्ण गांधी वांगमय-78, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1984, पृष्ठ 464

परिशिष्ट

संदर्भ ग्रंथ सूची

अ हिस्ट्री ऑफ जयपुर, जदुनाथ सरकार, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009

अ हिस्ट्री ऑफ द सेपॉय वॉर इन इंडिया, के. जॉन विलियम, डब्ल्यू.एच. एलेन, लंदन, 1878-80

अ हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी, थॉमस राइस होम्स, डब्ल्यू.एच. एलेन, लंदन, 1888

अ हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी-1, जी.डब्ल्यू फॉरेस्ट, विलियम ब्लैकवुड एंड संस, लंदन, 1904

अकबर से औरंगजेब तक, डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2013

अकबरनामा-1, शेख अबुल फजल, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016

अकबरनामा-2, शेख अबुल फजल, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016

अग्निकुंड में खिला गुलाब, नारायण देसाई, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990

अठारह सौ सत्तावन, सुरेन्द्रनाथ सेन, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 2005

1857 का भारतीय स्वातंत्र्य समर, विनायक दामोदर सावरकर, सूर्य भारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

आउट ऑफ माय लेटर ईयर्स, अल्बर्ट आइन्स्टाइन, फिलॉसोफिकल लाइब्रेरी, न्यूयॉर्क, 1950

आचार्य नरेन्द्रदेव वांगमय-2, नेहरू स्मारक एवं पुस्तकालय, नई दिल्ली, 2003

आत्मकथा, राजेन्द्र प्रसाद, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2002

आधुनिक राजस्थान का उत्थान-राजस्थान का संस्मरणात्मक इतिहास, रामनारायण चौधरी, बुक सेंटर, अजमेर, 1967

आनंदमठ, बंकिमचंद्र, मनोज पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2005

इंकलाब 1857, तलमिज खालदुन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 2011

इंडिया एंड इट्स नेटिव प्रिंसेज, लुइस रॉसलेट, बिकर्स एंड सन, लंदन, 1882

इंडिया विन्स फ्रीडम, मौलाना अबुल कलाम आजाद, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2009

एंग्लो-मराठा रिलेशंस(1785-96)-2, शैलेन्द्रनाथ सेन, पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1994

औरंगजेब, जदुनाथ सरकार, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, 1970

औरंगजेबनामा, खेमराज श्री कृष्णदास वैंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, 1909

क्रांतिकारियों के ऐतिहासिक दस्तावेज, वचनेश त्रिपाठी, अखिल भारती, दिल्ली, 2007

काशी की पांडित्य परंपरा, पद्मभूषण पं. बलदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2016

कांग्रेस का इतिहास-1, डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्या, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958

कांग्रेस का इतिहास-2, डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्या, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958
कांग्रेस का इतिहास-3, डॉ. बी. पट्टाभि सीतारामय्या, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1958
गांधी'ज कुली-लाइफ एंड टाइम्स ऑफ रामकृष्ण बजाज, एम.वी. कामत, अलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड, नई दिल्ली, 1995
गांधी अ लाइफ, जे.बी. कृपलानी, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1968
गांधी अभिनंदन ग्रंथ, डॉ. एस. राधाकृष्णन, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019
गांधी अर्थ विचार, जे.सी. कुमारप्पा, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 2010
गांधी की कहानी, लुई फिशर, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1954
गांधी नेहरू पेपर्स, 1937, नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय, नई दिल्ली
गांधी मार्ग, जे.बी. कृपलानी, साधना-सदन, इलाहाबाद, 1948
गांधीजी और राजस्थान, शोभालाल गुप्त, राजस्थान राज्य गांधी स्मारक निधि, भीलवाड़ा, 1969
गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-5, महादेव देसाई, सर्वसेवा संघ, वाराणसी, 2011
गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-6, महादेव देसाई, सर्वसेवा संघ, वाराणसी, 1968
गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-7, महादेव देसाई, सर्व सेवा संघ, वाराणसी, 1969,
गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-8, महादेव देसाई, सर्वसेवा संघ, वाराणसी, 1970
गांधीजी के साथ पच्चीस वर्ष-10, महादेव देसाई, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1973
गांधीजी नी दिनवारी, चंदुलाल भगुभाई दलाल, साबरमती आश्रम सुरक्षा अने स्मारक ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1976
चांद-फांसी अंक-1 वर्ष-7, संख्या-1, नवम्बर, 1928
चौधरी कुम्भाराम आर्य स्मृति ग्रंथ, डॉ. रतनलाल मिश्र, चौधरी कुम्भाराम आर्य मेमोरियल ट्रस्ट, जयपुर, 1999
जमनालाल बजाज, श्रीमन्नारायण, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1976
जमनालाल बजाज पत्र व्यवहार-2, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1958
जमनालाल बजाज पत्र व्यवहार-8, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1969
जमनालाल बजाज की डायरी-5, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1978
जमनालाल बजाज की डायरी-6, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1987
जयपुर एंड इट्स एनवायरन्स, हरनाथ सिंह, राजस्थान एजुकेशनल प्रिंटर्स, 1970
जयपुर जेम ऑफ इंडिया, डी.के. टकनेत, आईआईएमई, जयपुर, 2013
जयपुर महकमा खास-गोपनीय पुलिस डायरी, 1941, बस्ता संख्या 6, क्रम संख्या 63, फाइल संख्या 25
जयपुर महकमा खास-फोर्टनाइटली इंटेलीजेंस रिपोर्ट, डी.ओ. 55/ एफ.एल.पी., बस्ता संख्या 4, फाइल संख्या 44
जयपुर महकमा खास दस्तावेज (1937), बस्ता संख्या 1, क्रम संख्या 10,

फाइल संख्या 313 (गोपनीय)
जयपुर नरेश की इंग्लैंड यात्रा, मुंशी शिवनारायण सक्सेना, जेल प्रेस, जयपुर, 1922
जयपुर सिटी (जयनगर), द इम्पीरियल गेजेटियर ऑफ इंडिया-13
जवाहरलाल नेहरू वांगमय-8, जवाहरलाल नेहरू स्मारक निधि एवं सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009
जवाहरलाल नेहरू वांगमय-9, जवाहरलाल नेहरू स्मारक निधि एवं सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2009
जहांगीरनामा, जहांगीर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1956
जिन्ना-मुहम्मद अली से कायद-ए-आजम तक, स्टेनली बोलपर्ट, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
झांसी की रानी, महाश्वेता देवी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
तिलक का मुकदमा, पी.एन. भगवती, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 2009
द इंडियन एंपायर-2, रॉबर्ट मोंटगोमेरी मार्टिन, द लंदन प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग कंपनी, लंदन
द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर-1, मार्शल पी.जे, निकोलस केन्नी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998
द कैट एंड द लॉयन-जयपुर स्टेट इन द ब्रिटिश राज, रॉबर्ट डब्ल्यू स्टर्न, ई.जे. ब्रिल, लाइडन, नीदरलैंड्स, 1988
द कॉइनेज ऑफ नॉर्दर्न इंडिया, प्रफुल्लचंद्र राय, अभिनव पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1980
द गवर्नमेंट ऑफ इंडिया अंडर अ ब्यूरोक्रेसी, जॉन डिकिन्सन, सौन्डर्स एंड स्टेनफोर्ड, लंदन, 1853
द पंजाब एंड देल्ही इन 1857-1, रेव.जे.केव ब्राउन, विलियम ब्लैकवुड एंड संस, लंदन, 1861
द पॉलिटिकल मूवमेंट्स एंड अवेकनिंग इन राजस्थान, के.एस. सक्सेना, एस.चांद एंड कंपनी, नई दिल्ली
द बॉम्बे क्रॉनिकल, 27 जुलाई, 1937
द बॉम्बे क्रॉनिकल, 26 जनवरी, 1938
द ब्रिटिश इन इंडिया, डेविड गिलमोर, पेंगुइन रैंडम हाउस, लंदन, 2018
द स्टेट्समैन, 31 मई, 1939
द हिन्दुस्तान टाइम्स, 8 फरवरी, 1939
द हिन्दू, 22 फरवरी, 1937
द हिन्दू, 19 नवम्बर, 1938
द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, हॉरेस हेमैन विल्सन, जेम्स मैडन एंड कंपनी, लंदन, 1845
द हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी, चार्ल्स बॉल, द लंदन प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग कंपनी, न्यूयॉर्क
दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, मोहनदास करमचंद गांधी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

दिल्ली-1857, कीथ यंग, हेनरी डब्ल्यू नॉर्मन, लो प्राइस पब्लिकेशन, दिल्ली, 2001
दैनिक नवज्योति, 5 जनवरी, 1942
न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून, 11 जुलाई, 1853
नवजीवन, 5 सितम्बर, 1926
नवजीवन, 20 मार्च, 1930
नाथावतों का इतिहास, हनुमान शर्मा, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2009
नेताजी संपूर्ण वांगमय-9, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1998
प्रत्यक्षजीवनशास्त्र-1, हीरालाल शास्त्री, अनुपम प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 1970
प्रजामंडल मूवमेंट इन राजस्थान, डॉ. विष्णुदयाल माथुर, शब्द महिमा, जयपुर, 1989
प्राचीन भारत, डॉ. रमेशचंद्र मजूमदार, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002
प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, डॉ. रतिभानु सिंह नाहर, किताब महल, इलाहाबाद, 1974
प्रेस लिस्ट ऑफ म्यूटिनी पेपर्स, इंपीरियल रिकॉर्ड ऑफिस, कलकत्ता, 1921
प्रेयर इन द सिटी-द मेकिंग ऑफ मुस्लिम सेक्रेड प्लेसेज एंड अर्बन लाइफ, पैट्रिक ए. डेस्प्लेट, डोरोथिया ई. शुल्ज, ट्रांजेक्शन पब्लिशर्स, पिस्काटवे (यू.एस.)
प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस-62, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, कोलकाता, 2002
प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस-63, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, कलकत्ता, 2003
पृथ्वीराज रासो-3, महाकवि चंद बरदाई, साहित्य संस्थान, उदयपुर, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2018
पार्टीज एंड पॉलिटिक्स एट द मुगल कोर्ट, सतीश चंद्र, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1972
पार्लियामेंटरी पेपर्स, जिल्द 30, 1857
पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1953
पीजेन्ट्स मूवमेंट्स इन राजस्थान, डॉ. बृजकिशोर शर्मा, पॉइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 1990
पीपल्स मूवमेंट इन राजस्थान, डॉ. राम पांडेय, शोधक, जयपुर, 1982
पुरोहित गोपीनाथजी की डायरी (ह.लि.), जयपुर
पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनंदन ग्रंथ, राजस्थान मंच, नई दिल्ली, 1977
पं. टीकाराम पालीवाल स्मृति ग्रंथ, पालीवाल जनहितकारी ट्रस्ट, जयपुर, 2001
पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया-1, जॉन मैल्कम, जॉन मरे, लंदन, 1826
पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया-2, जॉन मैल्कम, जॉन मरे, लंदन, 1826
फैमाइन इन राजस्थान, डॉ. ओ.पी. कछवाहा, हिन्दी साहित्य मंदिर, जोधपुर
फॉरेन सीक्रेट कंसलटेशंस, 30 अप्रेल, 1858
ब्रिटिश इंपीरिअलिज्म इन इंडिया, जोन ब्यूचैम्प, मार्टिन लॉरेंस, लंदन, 1934
बंदी जीवन, शचीन्द्रनाथ सान्याल, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2012
बहुरूपी गांधी, अनु बंद्योपाध्याय, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, 1971
बापू और भारत, कमलापति त्रिपाठी, सरस्वती मंदिर, बनारस, 1948

बापू की ऐतिहासिक यात्रा, वियोगी हरि, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 2005
बापू की कारावास कहानी, सुशीला नैयर, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2012
बापू कुटी-सेवाग्राम आश्रम, कनकमल गांधी, गांधी सेवा संघ, सेवाग्राम-वर्धा, 2016
बापू स्मरण, रामकृष्ण बजाज, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1963
बाबरनामा, बाबर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2018
बारहठ कृष्ण सिंह का जीवन चरित्र और राजपूताना का अपूर्व इतिहास-1, फतहसिंह मानव, साइन्टिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर, 2009
बारहठ कृष्ण सिंह का जीवन चरित्र और राजपूताना का अपूर्व इतिहास-2, फतहसिंह मानव, साइन्टिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर, 2009
बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास, शंकर सहाय सक्सेना, डॉ. पद्मजा शर्मा, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1972
बीबीसी कैपिटल, 12 अप्रेल, 2016, इतिहास की सबसे ताकतवर कंपनी की कहानी, अमांडा रूगेरी
भारत और उसके विरोधाभास, ज्यां द्रेज, अमर्त्य सेन, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2019
भारत का पुनर्जन्म, अरविंद, अरविंद आश्रम, पुडुचेरी, 2003
भारत का स्वाधीनता संग्राम, ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2010
भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास, मन्मथनाथ गुप्त, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2011
भारतेर कृषक विद्रोह ओ गणतांत्रिक संग्राम-1, सुकुमार राय, कोलकाता, 1966
भूरेटिया नी मानूं रे, विष्णुदत्त शर्मा, ज्ञान गंगा प्रकाशन, जयपुर, 2013
मध्यप्रदेश जिला गजट, इंदौर, जिला गजट विभाग, मध्य प्रदेश, 1971
महात्मा-1, डी.जी. तेंदुलकर, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1954
महात्मा गांधी-100 वर्ष, डॉ. एस. राधाकृष्णन, सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, वाराणसी, 1969
महात्मा गांधी-मेरे पितामह (व्यक्तित्व और परिवार)-1, सुमित्रा गांधी कुलकर्णी, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
माय पब्लिक लाइफ, मिर्जा इस्माइल, जॉर्ज एलेन एंड अनविन लिमिटेड, लंदन, 1954
मेरा जीवन बातों-बातों में, नेलसन मंडेला, ओरिएंट पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 2011
मेरी जीवन यात्रा, जानकी देवी बजाज, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2006
मेरी स्मृतियां, गायत्री देवी, क्लासिक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1994
मेरे समकालीन, महात्मा गांधी, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1951
यंग इंडिया, 22 अक्टूबर, 1925
रजिस्ट्री डिपार्टमेंट ओरिजनल कंसलटेशन नंबर 27, 29.3.1793
राजस्थान की राजनीति-सामंतवाद से जातिवाद के भंवर में, विजय भंडारी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

राजस्थान में राष्ट्रीयता के जन्मदाता अर्जुनलाल सेठी, रमेशचंद शास्त्री, अर्जुनलाल सेठी राष्ट्रीय ग्रंथमाला, अजमेर, 1948
राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमर पुरोधा पं. अर्जुनलाल सेठी, मिलापचंद डंडिया, राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर
राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, सुमनेश जोशी, ग्रंथागार, जयपुर
राजस्थानी स्वतंत्रता संग्राम के साक्षी, डॉ. महेन्द्र खड़गावत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
रीथिंकिंग अ मिलेनियम-पर्सपेक्टिव्स ऑन इंडियन हिस्ट्री फ्रॉम द एट्थ टू द एटींथ सेंचुरी, रजत दत्ता, आकार बुक्स, दिल्ली, 2008
रेमिनिसेन्स ऑफ फोर्टी थ्री ईयर्स इन इंडिया, जॉर्ज लॉरेंस, जॉन मरे, लंदन, 1875
लाइफ एंड टाइम्स ऑफ सवाई जय सिंह, वी.एस. भटनागर, इम्पेक्स इंडिया, दिल्ली, 1974
लाइफ ऑफ लॉर्ड लॉरेन्स-2, आर. बॉसवर्थ स्मिथ, स्मिथ एल्डर एंड कंपनी, लंदन, 1883
लेटर्स टू गांधी-1, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 2017
वंदेमातरम् का इतिहास, विश्वनाथ मुखर्जी, हिन्द पॉकेट बुक्स, गुड़गांव, 1979
विनोबा अंतिम पर्व, कुसुम देशपांडे, परमधाम प्रकाशन, वर्धा, 2010
विश्ववाणी मासिक, मार्च, 1942
वीर विनोद-1, श्यामलदास, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2007
वीर विनोद-2, श्यामलदास, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2007
वीर विनोद-3, श्यामलदास, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2017
शिवाजी-द ग्रेट मराठा, रणजीत देसाई, हार्पर पेरेनियल, न्यूयॉर्क, 2017
शिवाजीज विजिट टू औरंगजेब एट आगरा, हिन्दी प्रेस, पूना, 1963
स्टेट्स पीपल्स कांफ्रेंस-ओरिजिन एंड रोल इन राजस्थान, डॉ. विष्णुदयाल माथुर, पब्लिशिंग स्कीम, जयपुर, 1984
स्टेट इंटरप्राइजेज इन अ डवलपिंग कंट्री, रवींद्रचंद्र दत्त, अभिनव पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1990
स्टैण्डर्ड, 15 नवम्बर, 1901
स्वातंत्र्यवीर सावरकर, धनंजय कीर, श्री बड़ा बाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता, 2009
स्वाधीनता सेनानी अर्जुनलाल सेठी, विष्णु पंकज, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, 1989
सत्य के प्रयोग, मोहनदास करमचंद गांधी, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, 2018
सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, मोहनदास करमचंद गांधी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
सर्वोदय, सस्ता साहित्य मंडल, मोहनदास करमचंद गांधी, नई दिल्ली, 2011
सरगुजिश्ते-देहली, जीवनलाल, रामपुर रजा लाइब्रेरी, नई दिल्ली, 2005
संन्यासी एंड फकीर रेडर्स इन बंगाल, जैमिनी मोहन घोष, बंगाल सचिवालय, कलकत्ता, 1930
संपूर्ण गांधी वांगमय-1, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1970

संपूर्ण गांधी वांगमय-3, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1960
संपूर्ण गांधी वांगमय-12, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1965
संपूर्ण गांधी वांगमय-13, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1965
संपूर्ण गांधी वांगमय-21, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1967
संपूर्ण गांधी वांगमय-55, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1973
संपूर्ण गांधी वांगमय-66, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977
संपूर्ण गांधी वांगमय-67, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977
संपूर्ण गांधी वांगमय-68, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977
संपूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978
संपूर्ण गांधी वांगमय-70, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978
संपूर्ण गांधी वांगमय-71, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1979
संपूर्ण गांधी वांगमय-72, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1980
संपूर्ण गांधी वांगमय-73, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1980
संपूर्ण गांधी वांगमय-74, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1981
संपूर्ण गांधी वांगमय-75, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1982
संपूर्ण गांधी वांगमय-76, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1983
संपूर्ण गांधी वांगमय-78, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1984
संपूर्ण गांधी वांगमय-87, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1998
सेंट्रल इंडिया ड्यूरिंग द रिबेलियन ऑफ 1857 एंड 1858, थॉमस लोव, लौंगमैन एंड रॉबर्ट्स, लंदन, 1860
हरिजन, 11 मई, 1935
हरिजन, 21 मई, 1938
हरिजन, 4 जून, 1938
हरिजन, 14 जनवरी, 1939
हरिजन, 21 जनवरी, 1939
हरिजन, 28 जनवरी, 1939
हरिजन, 4 फरवरी, 1939
हरिजन, 11 फरवरी, 1939
हरिजन, 25 फरवरी, 1939
हरिजन, 1 अप्रेल, 1939
हरिजन, 6 मई, 1939
हरिजन, 3 जून, 1939
हरिजन, 15 जुलाई, 1939
हरिजन, 12 अगस्त, 1939
हरिजन, 23 सितम्बर, 1939
हरिजन, 20 अप्रेल, 1940
हरिजन, 13 अक्टूबर, 1940

हरिजन, 22 फरवरी, 1948
हिन्द स्वराज, मोहनदास करमचंद गांधी, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, 2018
हिन्दुस्तान की कहानी, जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी, जॉन के, जॉर्ज ब्रूस मैल्सन, लौंगमैन्स ग्रीन एंड कंपनी, लंदन, 1898
हिस्ट्री ऑफ द जाट्स-1, कलिका रंजन कानूनगो, एम.सी. सरकार एंड संस, कलकत्ता, 1925
हिस्ट्री ऑफ द फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया-2, ताराचंद, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली, 1965
हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, जेम्स मिल, क्रेडॉक एंड जॉय, बाल्डविन, लंदन, 1817
हुमायूंनामा, गुलबदन बेगम, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2000
हैंडबुक ऑफ जयपुर म्यूजियम, थॉमस हॉलबिन हैंडले, सेंट्रल प्रेस कंपनी, कलकत्ता, 1895

जयपुर-ब्रिटिश अहदनामे

पहला समझौता; 12 दिसम्बर, 1803

दोस्ती और एकता का अहदनामह ऑनरेबल अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी और महाराजाधिराज राज राजेंद्र सवाई जगतसिंह बहादुर के दर्मियान, हिज एक्सेलेन्सी जेनरल जिरार्ड लेक, हिंदुस्तान की अंग्रेजी फौजों के सिपहसालार की मारिफत, हिज एक्सेलेंसी मोस्ट नोबल रिचर्ड मार्क्विस ऑफ वेलेस्ली, नाइट ऑफ दी मोस्ट इलस्ट्रिअस ऑर्डर ऑफ सेंट पेटेरिक, वन ऑफ हिज ब्रिटेनिक मैजिस्टीज मोस्ट ऑनरेबल प्रीवी कॉन्सिल, गवर्नर जेनरल इन कॉन्सिल के दिए हुए इख्तियारात से, जो उनको हिन्दुस्तान के तमाम अंग्रेजी इलाकों और हिंदुस्तान की तमाम मौजूदा अंग्रेजी फौजों की बाबत हासिल हैं, ऑनरेबल अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी की तरफ से और महाराजाधिराज राज राजेंद्र सवाई जगतसिंह बहादुर के, उनकी जात खास उनके वारिसों और जानशीनों की तरफ से करार पाया।

पहली शर्त- हमेशा के लिए मजबूत दोस्ती और एकता ऑनरेबल अंग्रेजी कंपनी और महाराजाधिराज जगतसिंह बहादुर और उनके वारिसों व जानशीनों के दर्मियान काइम हुई।

दूसरी शर्त- चूंकि दोनों सरकारों के दर्मियान दोस्ती करार पाई, इसलिए दोस्त और दुश्मन एक सरकार के, दोस्त और दुश्मन दोनों के समझे जावेंगे और इस शर्त की पाबंदी का दोनों को हमेशा लिहाज रहेगा।

तीसरी शर्त- ऑनरेबल कंपनी किसी तरह का दखल मुल्की इन्तिजाम से, जो अब महाराजाधिराज के कब्जह में है, नहीं देगी और उससे खिराज तलब न करेगी।

चौथी शर्त- उस हालत में, कि ऑनरेबल कंपनी का कोई दुश्मन हमलह का इरादह उस मुल्क पर करे, जो हिंदुस्तान में कंपनी के कब्जह में है, या थोड़े अरसह से उनके कब्जह में आया है, महाराजाधिराज अपनी कुल फौज कंपनी की फौज की मदद को भेज देंगे, और आप भी पूरी कोशिश दुश्मन के निकाल देने में करके दोस्ती और मुहब्बत में कोई कमी न रखेंगे।

पांचवीं शर्त- जो कि इस अहदनामह की दूसरी शर्त के मुवाफिक ऑनरेबल कंपनी गैर दुश्मन के मुकाबिल मुल्की हिफाजत की जिम्मेदार होती है, इसलिए महाराजाधिराज इस तहरीर के जरीए से वादह करते हैं, कि अगर कोई तक्रार उनके और किसी दूसरी रियासत के दर्मियान पैदा होगी, तो महाराजाधिराज उसकी हकीकत अंग्रेजी सर्कार में बयान करेंगे, ताकि सर्कार उसका वाजिबी फैसलह करने की कोशिश करे; और अगर दूसरे फरीक की जिद और जबर्दस्ती से वाजिबी फैसलह तै न पावे, तो महाराजाधिराज सर्कार कंपनी की मदद से दर्ख्वास्त करेंगे। अगर मुआमलह ऊपर के बयान के मुवाफिक होगा, तो मदद दी जावेगी, और महाराजाधिराज वादह करते हैं, कि जो कुल खर्च इस मदद का होगा, उस दस्तूर के बमूजिब, जो और रियासतों के साथ करार पाए हैं, वह अदा करेंगे।

छठी शर्त- महाराजाधिराज इस तहरीर के जरिए से वादह करते हैं, कि चाहे वह अपनी फौज के पूरे हाकिम हैं, लेकिन लड़ाई के वक्त या लड़ाई का जब खयाल हो, वह अंग्रेजी फौज के कमानियर की सलाह से मुवाफिक, जिसके वह साथ होंगे, कार्रवाई करेंगे।

सातवीं शर्त- महाराजाधिराज किसी अंग्रेजी या फरांसीसी रिआया या यूरप के और किसी बाशिंदह

को अपनी नौकरी में या अपने पास सर्कार कंपनी की रजामंदी के बगैर नहीं रखेंगे।

ऊपर का अहदनामह, जिसमें सात शर्तें दर्ज हैं, दस्तूर के मुवाफिक मकाम सर्हिन्द सूबह अकबराबाद में तारीख 12 डिसेंबर सन् 1803 ई. मुताबिक 16 शअबान सन् 1218 हिज्री और 14 माह पौष संवत 1860 को हिज एक्सेलेन्सी जेनरल जिरार्ड लेक और महाराजाधिराज राज राजेंद्र सवाई जगतसिंह बहादुर के मुहर और दस्तखत होकर मंजूर हुआ।

जब एक अहदनामह, जिसमें ऊपर की सात शर्तें दर्ज होंगी, हिज एक्सेलेन्सी मोस्ट नोबल गवर्नर जेनरल इन कॉन्सिल के मुहर और दस्तखत के साथ महाराजाधिराज को दिया जाएगा, तो हिज एक्सेलेन्सी जेनरल लेक की मुहर और दस्तखत का यह अहदनामह वापस होगा।

कंपनी की मुहर (दस्तखत) वेलेजली

इस अहदनामह को गवर्नर जेनरल इनं कॉन्सिल ने ता. 15 जैन्युअरी, सन् 1804 ई. को तस्दीक किया।

(दस्तखत) जे. एच. बारलो
(दस्तखत) जी. अडनी

दूसरा समझौता; 2 अप्रेल, 1818

अहदनामह ऑनरेबल अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी और महाराज सवाई जगतसिंह बहादुर राजा जयपुर के दर्मियान, सर चार्ल्स थिऑफिलस मेटकाफ की मारिफत ऑनरेबल कंपनी की तरफ से जिसको हिज एक्सेलेन्सी मोस्ट नोबल मार्किस ऑफ हेस्टिंग्ज, के.जी. गवर्नर जेनरल वगैरह की तरफ से इख्तियार मिले थे, और ठाकुर रावल वैरीसाल नाथावत की मारिफत, जिसको राज राजेंद्र श्री महाराजाधिराज सवाई जगतसिंह की तरफ से इख्तियार मिले थे, तै पाया।

शर्त पहली– हमेशह दोस्ती, एकता और खैरख्वाही ऑनरेबल कंपनी और महाराजा जगतसिंह और उनके वारिस व जानशीनों के दर्मियान काइम रहेगी, और दोस्त व दुश्मन एक सर्कार के दोस्त और दुश्मन दूसरी सर्कार के समझे जाएंगे।

शर्त दूसरी– अंग्रेजी सर्कार वादह करती है, कि वह मुल्क जयपुर की हिफाजत करेगी, और उसके दुश्मनों को खारिज करेगी।

शर्त तीसरी– महाराजा सवाई जगतसिंह और उनके वारिस व जानशीन अंग्रेजी सर्कार की फर्माबर्दारी करके उसकी बुजुर्गी का इक्रार करेंगे, और किसी दूसरे राजा या सर्दार से सरोकार न रखेंगे।

शर्त चौथी– महाराजा और उनके वारिस व जानशीन किसी राजा या सर्दार के साथ अंग्रेजी सर्कार की इत्तिला और मंजूरी बगैर मेल न रखेंगे, लेकिन उनकी दोस्तानह लिखा-पढ़ी उनके दोस्तों और रिश्तहदारों के साथ जारी रहेगी।

शर्त पांचवीं– महाराजा उनके वारिस व जानशीन किसी पर जियादती नहीं करेंगे, अगर इत्तिफाक

से किसी के साथ कुछ तक्रार होगी, तो वह सर्पंची और फैसलह के लिए अंग्रेजी सर्कार के सुपुर्द होगी।

शर्त छठी- हमेशह के वास्ते रियासत जयपुर से अंग्रेजी सर्कार को दिहली के खजानह की मारिफत नीचे लिखे हुए मुवाफिक खिराज दिया जाएगा।

अव्वल साल में इस अहदनामह के लिखे जाने की तारीख से, मुल्की लूटमार और खराबी के सबब, जो मुद्दत से जयपुर में रही, खिराज मुआफ।

दूसरे साल चार लाख रुपया सिक्कह दिहली।

तीसरे साल पांच लाख।

चौथे साल छः लाख।

पांचवें साल सात लाख।

छठे साल आठ लाख।

इसके बाद आठ लाख रुपया सालानह सिक्कह दिहली रहेगा, जब तक कि हासिल याने रियासत की आमदनी चालीस लाख रुपए सालानह से जियादह हो जावे और जब राज की आमदनी चालीस लाख रुपए सालानाह से जियादाह हो जावेगी, तो पांच आना फी रुपया जियादती का, जो चालीस लाख होगी, सिवा आठ लाख रुपए मामूली के दिया जाएगा।

शर्त सातवीं- रियासत जयपुर अपनी हैसियत के मुवाफिक तलब किए जाने पर अंग्रेजी सर्कार को फौज से भी मदद देगी।

शर्त आठवीं- महाराजा और उनके वारिस व जानशीन कदीम दस्तूर के मुवाफिक अपने मुल्क और मातहतों के पूरे हाकिम रहेंगे, और ब्रिटिश दीवानी व फौजदारी वगैरह की हुकूमत इस राज में दाखिल न होगी।

शर्त नवीं- जिस सूरत में महाराजा अपनी दिली दोस्ती अंग्रेजी सर्कार की निस्बत जाहिर करेंगे, तो उनके आराम और फाइदह का लिहाज और खयाल रहेगा।

शर्त दसवीं- यह अहदनामह, जिसमें दस शर्तें हैं, मिस्टर चार्ल्स थिऑफिलस मेटकाफ और ठाकुर रावल वैरीसाल नाथावत के मुहर और दस्तखत से खत्म हुआ, और इसकी तस्दीक हिज एक्सेलेन्सी मोस्ट नोबल गर्वर जेनरल और राज राजेन्द्र श्री महाराजाधिराज सवाई जगतसिंह बहादुर की तरफ से होकर आज की तारीख से एक महीने के अंदर आपस में एक दूसरे को दिया जाएगा।

मकाम दिहली, ता. 2 एप्रिल, सन् 1818 ई.

गवर्नर जेनरल की छोटी मुहर	(दस्तखत) सी.टी. मेटकाफ
मुहर	(दस्तखत) ठाकुर रावल वैरीसाल नाथावत
मुहर	(दस्तखत) हेस्टिंग्ज

इस अहदनामह को हिज एक्सेलेन्सी गवर्नर जेनरल बहादुर ने कैंप तुलसीपुर में ता. 15 एप्रिल सन् 1818 को तस्दीक किया।

(दस्तखत) जे. ऐडम
सेक्रेटरी, गवर्नर जेनरल

तीसरा समझौता; 13 जुलाई, 1868

अहदनामह बाबत लेन देन मुज्रिमों के दर्मियान ब्रिटिश गवर्मेंट और श्री मान सवाई रामसिंह महाराजा जयपुर, जी. सी. एस. आइ. व उनके वारिसों और जानशीनों के, एक तरफ से मेजर विलिअम एच. बेनन, पोलिटिकल एजेंट, जयपुर ने ब इजाजत लेफ्टिनेंट कर्नेल विलियम फ्रेड्रिक एडन, एजेंट गवर्नर जेनरल राजपूतानह के उन कुल इख्तियारों के मुवाफिक, जो कि उनको राइट ऑनरेबल सर जॉन लेयर्ड मेअर लॉरेन्स, बैरोनेट, जी. सी. बी. और जी. सी. एस. आइ. वाइसराय और गवर्नर जेनरल हिन्द ने दिए थे, और दूसरी तरफ से नव्वाब मुहम्मद फैजअली खां बहादुर ने उक्त महाराजा रामसिंह के दिए हुए इख्तियारों से किया।

शर्त पहिली– कोई आदमी अंग्रेजी या दूसरे राज्य का बाशिन्दह अगर अंग्रेजी इलाकह में संगीन जुर्म करके जयपुर की राज्य सीमा में आश्रय लेना चाहे, तो जयपुर की सर्कार उसको गिरफ्तार करेगी, और दस्तूर के मुवाफिक उसके मांगे जाने पर सर्कार अंग्रेजी को सुपुर्द कर देगी।

शर्त दूसरी– कोई आदमी जयपुर के राज्य का वाशिन्दह वहां की राज्य सीमा में कई संगीन जुर्म करके अंग्रेजी राज्य में जाकर आश्रय लेवे, तो सर्कार अंग्रेजी वह मुज्रिम गिरफ्तार करके जयपुर के राज्य को काइदह के मुवाफिक तलब होने पर सुपुर्द कर देवेगी।

शर्त तीसरी– कोई आदमी, जो जयपुर के राज्य की रअय्यत न हो, और जयपुर की राज्य सीमा में कोई संगीन जुर्म करके फिर अंग्रेजी सीमा में आश्रय लेवे, तो सर्कार अंग्रेजी उसको गिरफ्तार करेगी, और उसके मुकद्दमह की तहकीकात सर्कार अंग्रेजी की बतलाई हुई अदालत में की जाएगी, अक्सर काइदह यह है कि ऐसे मुकद्मों का फैसलह उस पोलिटिकल अफसर के इजलास में होगा, कि जिसके तहत में वारिदात होने के वक्त पर जयपुर की पोलिटिकल निगरानी रहे।

शर्त चौथी– किसी हालत में कोई सर्कार किसी आदमी को, जो संगीन मुज्रिम ठहरा हो, दे देने के लिए पाबंद नहीं है, जब तक कि दस्तूर के मुवाफिक खुद वह सर्कार या उसके हुक्म से कोई अफसर उस आदमी को न मांगे, जिसके इलाकह में कि जुर्म हुआ हो; और जुर्म की ऐसी गवाही पर, जैसा कि उस इलाकह के कानून के मुवाफिक सहीह समझी जावे, जिसमें कि मुज्रिम उस वक्त हो, उसकी गिरफ्तारी दुरुस्त ठहरेगी, और वह मुज्रिम करार दिया जाएगा, गोया कि जुर्म वहीं पर हुआ है।

शर्त पांचवीं– नीचे लिखे हुए जुर्म संगीन जुर्म समझे जावेंगे–

1. खून, 2. खून करने की कोशिश, 3. वहशियानह कत्ल, 4. ठगी, 5. जहर देना, 6. जिनाबिल्जब्र (जबर्दस्ती व्यभिचार), 7. जियादह जख्मी करना, 8. लड़का बाला चुरा ले जाना, 9. औरतों का बेचना, 10. डकैती, 11. लूट, 12. सेंध (नकब) लगाना, 13. चौपाया चुराना, 14. मकान जला देना, 15. जालसाजी करना, 16. झूठा सिक्कह चलाना, 17. खयानते मुज्रिमानह, 18. माल अस्बाब चुरा लेना, 19. ऊपर लिखे हुए जुर्मों में मदद देना या बर्गलाना।

शर्त छठी– ऊपर लिखी गई शर्तों के मुताबिक मुज्रिमों को गिरफ्तार करने, रोक रखने, या सुपुर्द करने में, जो खर्च लगे, वह दर्ख्वास्त करने वाली सर्कार को देना पड़ेगा।

शर्त सातवीं– ऊपर लिखा हुआ अहदनामह उस वक्त तक बर्करार रहेगा, जब तक कि अहदनामह करने वाली दोनों सर्कारों में से कोई एक दूसरे को उसके रद्द करने की इच्छा की इत्तिला न दे।

शर्त आठवीं– इस अहदनामह की शर्तों का असर किसी दूसरे अहदनामह पर, जो दोनों सर्कारों के बीच पहिले से है, कुछ न होगा, सिवा ऐसे अहदनामह के, जो कि इस अहदनामह की शर्तों के

बर्खिलाफ हो।

(दस्तखत) डब्ल्यू. एच. बेनन, पोलिटिकल एजेंट

दस्तखत, मुहर व अदला बदली ता. 13 जुलाई सन् 1868 ई. को जयपुर के महल में की गई।

(दस्तखत) सवाई रामसिंह
(दस्तखत) जॉन लॉरेन्स
वाइसरॉय एंड गवर्नर जेनरल, हिन्द

इस अहदनामह की तस्दीक श्रीमान वाइसरॉय और गवर्नर जेनरल हिन्द ने मकाम शिमले पर ता. 7 ऑगस्ट सन् 1868 ई. को की।

(दस्तखत) डब्ल्यू. एस. सेटन्कार, सेक्रेटरी, सर्कार हिन्द

चौथा समझौता; 7 अगस्त, 1869

अहदनामह दर्मियान सर्कार अंग्रेजी और श्रीमान् सवाई रामसिंह, जी.सी.एस.आई. महाराजा जयपुर व उनके वारिसों और जानशीनों के, जो एक तरफ मेजर विलिअम एच. बेनन, पोलिटिकल एजेंट, राज्य जयपुर ने व हुक्म लेफ्टिनेंट कर्नेल रिचर्ड हॉर्ट कीटिंग, सी.एस.आई. और वी.सी., एजेंट गवर्नर जेनरल, राजपूतानह के, जिनको पूरा इख्तियार श्रीमान् राइट ऑनरेबल रिचर्ड-साउथ वेल बुर्क अर्ल ऑफ मेओ, वाइकाउन्ट मेओ, ऑफ मोनी क्रोवर, वेरननास ऑफ नास, के.पी., जी.एम.एस.आइ., पी.सी. वगैरह, वाइसरॉय और गवर्नर जेनरल हिन्द ने दिया था; और दूसरी तरफ नव्वाब मुहम्मद फैज अली खां बहादुर ने, जिसको उक्त महाराजा रामसिंह से पूरा इख्तियार मिला था, तै किया।

शर्त पहली- नीचे लिखे हुए अहदनामह की शर्तों के मुताबिक जयपुर की सर्कार सांभर झील के किनारे की जमीन की हदों के भीतर (जैसा कि चौथी शर्त में लिखा है,) नमक बनाने और बेचने और इस हद के पैदावार नमक पर महसूल लगाने के इख्तियार का पट्टा सर्कार अंग्रेजी को कर देगी।

शर्त दूसरी- यह पट्टा उस वक्त तक काइम रहेगा, जब तक कि सर्कार अंग्रेजी इसको छोड़ने की ख्वाहिश न करे, इस शर्त पर कि सर्कार अंग्रेजी जयपुर की सर्कार को उस तारीख से दो वर्ष पहिले इस बंदोबस्त के खत्म करने का इरादह जाहिर करे, जिस पर पट्टा खत्म होना चाहे।

शर्त तीसरी- इस वास्ते कि अंग्रेजी सर्कार सांभर झील पर नमक बनाने और बेचने का काम कर सके, सर्कार जयपुर, सर्कार अंग्रेजी और उसके इस काम के लिए मुकर्रर किए हुए तमाम अफसरों को इख्तियार देगी, कि वह शुब्हे की हालत में नीचे लिखी हुई हद के भीतर वाले मकान और दूसरी जगह, जो खुली या बंद हो, उसके भीतर जावें; और तलाशी लेवें; और अगर उस हद के भीतर जो कोई एक या कई शख्स खिलाफ उन काइदों के जो उस हद के भीतर नमक बनाने, बेचने, हटाने वगैरह लाइसेंस के बनाने व बे जाबितह लाने की मनाई के बाबत सर्कार अंग्रेजी मुकर्रर करे, पाए

जावें, उनको गिरफ्तार करें; और जुर्मानह, कैद, माल की जब्ती करें; या और किसी तरह की सजा देवें।

शर्त चौथी- झील के किनारे की जमीन, जिसमें सांभर का कस्बह और बारह दूसरे खेड़े हैं, और जिस कुल जमीन पर अब जयपुर और जोधपुर दोनों का शामिलाती कब्जह है, उसका निशान किया जाएगा; और निशान की लाइन के भीतर की बिल्कुल जमीन तथा झील का या उसके सूखे तले का हिस्सह, जो ऊपर कही हुई दोनों रियासतों के मातहत है, वही हर समझी जाएगी, जिसके भीतर सर्कार अंग्रेजी और उसके अफसरों को तीसरी शर्त के दर्ज किए हुए इख्तियार होंगे।

शर्त पांचवीं- कही हुई हदों के भीतर और इस अहदनामह की तीसरी शर्त के मुताबिक काइदों की कार्रवाई कराने के लिए, और नमक के बनाने, बेचने, हटाने बगैर इजाजत के लाने से रोकने के लिए, जहां तक जरूरत हो, सर्कार अंग्रेजी या उसकी तरफ से इख्तियार पाए हुए अफसरों को इख्तियार होगा, कि इमारतों या दूसरे मतलबों के लिए जमीन ले लेवें, और सड़क, आड़, झाड़ी व मकान बनावें, और इमारतें या दूसरा सामान हटा देवें। ऊपर लिखे हुए इसी मतलब के लिए जयपुर सर्कार की खिराज देने वाली जमीन पर सर्कार अंग्रेजी का दख्ल कर लिया जावे, तो वह सर्कार जयपुर को उस खिराज के बराबर सालानह किराया दिया करेगी। जब कभी किसी शख्स की जायदाद को सर्कार अंग्रेजी या उसके अफसर किसी तरह इस शर्त के मुताबिक नुकसान पहुंचावेंगे, तो जयपुर की सर्कार को एक महीना पेश्तर से इत्तिला दी जाएगी, और सर्कार अंग्रेजी उस नुकसान का बदला मुनासिब तौर से चुका देवेगी। जब किसी हालत में सर्कार अंग्रेजी या उसके अफसर, और मालिक जायदाद के दर्मियान नुकसान की तादाद के बारे में बहस होगी, तो तादाद पंचायत से ठहराई जाएगी। ऊपर लिखी हुई हदों के भीतर इमारतों के बनाने से सर्कार अंग्रेजी का कोई मालिकानह हक जमीन पर न होगा, जो कि पट्टे की मीआद खत्म होने पर सर्कार जयपुर के कब्जे में वापस चली जावेगी। मय उन इमारतों और सामान के, जो कि सर्कार अंग्रेजी वहां पर छोड़ देवे, किसी मंदिर या मजहबी पूजा के मकान में दखल नहीं दिया जाएगा।

शर्त छठी- जयपुर सर्कार की मंजूरी से सर्कार अंग्रेजी एक कचहरी काइम करेगी, जिसका इख्तियार एक लाइक अफसर को रहेगा, जो ऊपर बयान की हुई हदों के भीतर अक्सर इजलास करेगा, इस गरज से कि उन मुकद्दमों की रूबकारी की जावे, जो कि शर्त तीसरी में लिखे हुए काइदों के बर्खिलाफ कार्रवाई के सबब दाइर होवें, और तमाम मुज्रिमों को जेलखानह की सजा दी जावे, उनको चाहे उक्त हदों के भीतर या अपने ही इलाकह में, जहां मुनासिब हो, कैद करें।

शर्त सातवीं- पट्टे के शुरू होने की तारीख से ऊपर लिखी हुई हदों में बने हुए उस नमक की कीमत, जो इस शर्त के लिखे हुए दूसरे फिक्रे से सिवाय बेचा जाएगा, सर्कार अंग्रेजी वक्त वक्त पर मुकर्रर करती रहेगी। जयपुर की रियासत हकदार होगी, कि उसको सालानह रिसायत के खर्च के लिए अंग्रेजी सर्कार से नमक बनाने के मकाम पर ही नमक की कोई मिक्दार (प्रमाण), जो जयपुर की सर्कार मांगे, बशर्ते कि वह मिक्दार (172000) मन अंग्रेजी से जियादह न हो, फी मन आने अंग्रेजी हिसाब से मिलती रहे। जयपुर की सर्कार को इख्तियार होगा, कि इस नमक को चाहे जिस निर्ख से बेचे।

शर्त आठवीं- नमक के उस जखीरे में से, जो रियासत जयपुर और जोधपुर दोनों की मिल्कियत में पट्टे के शुरू के वक्त लिखी हुई हदों के अंदर मौजूद है, जयपुर की रियासत का हिस्सह, जो ऊपर लिखे जखीरे का आधा है, रियासत मजकूर नीचे लिखी शर्तों पर अंग्रेजी सर्कार को दे देगी।

दस्तूर के मुवाफिक पांच लाख दस हजार अंग्रेजी मन नमक में से जयपुर की रियासत अपना हिस्सह सर्कार अंग्रेजी को मुफ्त देगी। जखीरे में जो हिस्सह जयपुर का बाकी रहेगा, उसकी कीमत

अंग्रेजी मन पर साढ़े छह आने फी मन अंग्रेजी के हिसाब से गिनी जाएगी, और यह कीमत जयपुर की रियासत को दी जावेगी, मगर यह देना उस वक्त शुरू होगा, जब कि अंग्रेजी सर्कार किसी साल में आठ लाख पच्चीस हजार अंग्रेजी मन से जियादह नमक बेचे, या निकाले, और उस वक्त भी उस जियादती के उस हिस्से की बाबत, जो जयपुर की रियासत का होगा, और जब तक कि इस सालानह जियादती की मिक्दारों से पूरी मिक्दार नमक के जखीरे की, जो पांच लाख दस हजार अंग्रेजी मन के अलावह दिया गया है, पूरी होगी। उस वक्त तक अंग्रेजी सर्कार इस जियादती के बिकने की कीमत पर वह बीस रुपए सैकड़ा महसूल का, जो बारहवीं शर्त में लिखा गया है, नहीं देगी। ऊपर लिखे आठ लाख पच्चीस हजार मन नमक में वह मिक्दार शामिल होगी, जो सातवीं शर्त के दूसरे फिक्रे के मुवाफिक जयपुर की रियासत के खर्च के लिए रखी जाएगी।

शर्त नवीं– जयपुर की सर्कार को इख्तियार न होगा, कि किसी नमक पर, जो पहिले कही हुई हदों में अंग्रेजी सर्कार बनावे, या बेचे, या जब कि जयपुर की रियासत से बाहर किसी दूसरी जगह को अंग्रेजी पर्वाने के जरीए से जयपुर राज्य में होकर गुजरता हो, महसूल, लागत, राहदारी, या और किसी किस्म की लगान खुद वुसूल करे, या किसी दूसरे शख्सों को वुसूल करने की इजाजत दे, मगर उस नमक पर, जो सातवीं शर्त के मुताबिक दिया जावे, या खर्च के लिए जयपुर के राज्य में बेचा जावे, उस रियासत को इख्तियार होगा, कि जो महसूल चाहे, वुसूल करे।

शर्त दसवीं– इस अहदनामह में कोई बात उस मालिकानह हक की रोकने वाली न होगी, जो जयपुर सर्कार को ऊपर लिखी हदों में सिवाय उन मुकद्दमात के, जो नमक के बनाने, बेचने या हटाने और बे इजाजत बनाने या महसूल की चोरी रोकने के कुल बातों दीवानी और फौजदारी में हासिल है।

शर्त ग्यारहवीं– उन तमाम खर्चों का बोझ, जो ऊपर लिखी हदों में नमक बनाने, बेचने, हटाने और बे इजाजत बनाने या महसूल की चोरी रोकने से मुतअल्लक हैं, जयपुर की रियासत से उठा लिया जावेगा; और दिए हुए पट्टे के एवज में अंग्रेजी सर्कार इकरार करती है, कि ऊपर लिखी हदों में बिके हुए नमक में जयपुर की रियासत के हिस्से की बाबत सवा लाख रुपया अंग्रेजी चलन का और महसूल के एवज में, जो सर्कार जयपुर नमक पर लेती है, और जो इस अहदनामह के मुवाफिक अंग्रेजी सर्कार को दे दिया गया है, 150000 रुपया सिक्कह अंग्रेजी सालियाना दो छः माही की किस्त में जयपुर की सर्कार को देती रहेगी और कुल रुपया इस सालानह खिराज का यानी 275000 रुपया कल्दार अदा करने में ऊपर लिखी हुई हद्द में से नमक की बिकी हुई या निकास की हुई अस्ल मिक्दार पर कुछ लिहाज न होगा।

शर्त बारहवीं– अगर किसी साल में कही हुई हदों के भीतर आठ लाख पच्चीस हजार अंग्रेजी मन की बनिस्बत जियादह नमक सर्कार अंग्रेजी बेचे, या उस हद के बाहर चालान करे, तो सर्कार अंग्रेजी जयपुर की सर्कार को उस बढ़ती पर (आठवीं शर्त में जो मिक्दार लिखी है, उसके खर्च हो जाने के पीछे) बीस रुपए सैकड़े के हिसाब से एक महसूल फी मन के उस दाम पर देगी, जो कि सातवीं शर्त के पहिले जुमले के मुताबिक बिकने का निर्ख मुकर्रर किया जावे।

जब कभी इस बारे में संदेह हो, कि किस साल में कितने नमक पर महसूल लेना है, तो जो हिसाब सर्कार अंग्रेजी के बड़े अफसर की तरफ से पेश किया जावे, जो सांभर का मुख्तार है, इस बात की कतई गवाही समझी जावेगी, कि दरअस्ल कितना नमक सर्कार अंग्रेजी ने उस वक्त में बेचा, या बाहर चालान किया है, जिसकी बाबत हिसाब में हो, मगर जयपुर सर्कार को अपनी तसल्ली के वास्ते भी इस बात की रोक न होगी, कि वह अपने अफसर बिकरी का हिसाब रखने को मुकर्रर करे।

शर्त तेरहवीं– सर्कार अंग्रेजी वादह करती है, कि हर साल सात हजार मन अंग्रेजी तोल का नमक वगैर किसी किस्म की लागत के जयपुर दर्बार के खर्च के वास्ते दिया करेगी, वह नमक उस जगह पर दिया जाएगा, जहां कि बनता है, और उस अफसर को दिया जावेगा, जिसको जयपुर सर्कार की तरफ से लेने का इख्तियार मिला हो।

शर्त चौदहवीं– सर्कार अंग्रेजी का कोई दावा किसी जमीन के या दूसरे खिराज पर नहीं होगा, जो नमक से तअल्लुक नहीं रखता, और सांभर के कस्बे या दूसरे गांवों या जमीनों से दिया जाता है, जो कही हुई हदों के भीतर शामिल है।

शर्त पंद्रहवीं– अंग्रजी सर्कार जयपुर के इलाकह में ऊपर लिखी हुई हदों के बाहर नमक नहीं बेचेगी।

शर्त सोलहवीं– अगर कोई शख्स, जिसको सर्कार अंग्रेजी ने कही हुई हदों के भीतर मुकर्रर किया हो, कोई जुर्म करके भाग गया हो, या कोई शख्स इस अहदनामह की तीसरी शर्त के काइदों के बर्खिलाफ कोई काम करके भाग गया हो, तो जयपुर की सर्कार जुर्म की पुख्तह गवाही होने पर हर एक तरह उसको गिरिफ्तार करने और कही हुई हदों के भीतर अंग्रेजी हाकिमों को सुपुर्द करने की कोशिश करेगी, जिस हालत में कि वह शख्स जयपुर के इलाकह के किसी हिस्सह में होकर गुजरा हो, यहा कहीं आश्रय लिया हो।

शर्त सत्रहवीं– इस अहदनामह की कोई शर्त अमल में न आएगी, जब तक कि सर्कार अंग्रेजी दर हकीकत कही हुई हदों के भीतर नमक बनाने का काम अपने हाथ में न लेवे, ऐसे काम हाथ में लेने की तारीख सर्कार अंग्रेजी मुकर्रर करेगी, इस शर्त से कि वह तारीख नीचे लिखी हुई तारीखों में से कोई एक होगी– ता. 1 नोवेम्बर सन् 1869 ता. 1 मई, या 1 नोवेम्बर सन् 1870 या ता. 1 मई सन् 1871. अगर पहिली मई सन् 1871 को या उसके पेश्तर चार्ज न लिया जावे, तो यह अहदनामह मन्सूख हो जावेगा।

शर्त अठारहवीं– इस अहदनामह की कोई शर्त बगैर दोनों सर्कारों की पेश्तर रजामंदी होने के न बदली जावेगी, न मन्सूख की जावेगी, और अगर कोई फरीक इन शर्तों के मुताबिक न चले, या बेपर्वाई करे, तो दूसरा फरीक इस अहदनामह की पाबंदी से छूट जावेगा।

(दस्तखत) डब्ल्यू. एच. बेनन, पोलिटिकल एजेंट
(दस्तखत) नव्वाब मुहम्मद फैजअली खां बहादुर

दस्तखत, मुहर और अदला बदली ब मकाम शिमला ता. 7 ऑगस्ट सन् 1869 ई. को हुई।

(दस्तखत) सवाई रामसिंह
(दस्तखत) मेओ

इस अहदनामह की तस्दीक श्रीमान वाइसरॉय और गवर्नर जेनरल हिन्द ने ब मकाम शिमला ता. 7 ऑगस्ट सन् 1869 को की।

(दस्तखत) डब्ल्यू. एस. सेटनकार, सेक्रेटरी गवर्मेंट हिन्द

ता. 18 मार्च सन् 1870 ई. को ऊपर लिखे अहदनामह की बुन्याद पर गवर्मेंट सांभर झील कोर्ट के मुकर्रर होने का इश्तिहार दिया, इसी इश्तिहार के मुवाफिक असिस्टेंट कमिश्नर ब्रिटिश इनलैंड कस्टम डिपार्टमेंट का जो सांभर झील पर रहे, वह इस अदालत का जज मुकर्रर हुआ। इस जज को दफा 22 जाबितह फौजदारी के मुवाफिक सबॉर्डिनेट मैजिस्ट्रेट फर्स्ट क्लास के इख्तियारात नीचे लिखे

हुए दोनों किस्म के मुकद्दमात में हैं–

(ए) मुकर्ररह हुदूद के अंदर जाबिते फौजदारी की दफा 21 में लिखे हुए जुर्म का इर्तिकाब सर्कार अंग्रेजी की रिआयासे होना।

(बी) अहदनामों की तीसरी शर्त में लिखे हुए काइदों के खिलाफ का इर्तिकाब उसी हुदूद में, चाहे किसी से भी हो

पहिली किस्म के मुकद्दमात की बाबत यह अदालत डिप्युटी कमिश्नर अजमेर के मातहत रहेगी, जो वहां का अपील सुनेगा।

दूसरी किस्म के मुकद्दमात की बाबत शिकायत होने पर एजेंट गवर्नर जेनरल राजपूतानह, बशर्ते मुनासिब मिस्ल मंगाकर सांभर झील कोर्ट के फैसलह की मंजूरी, मन्सूखी या तर्मीम वगैरह कर सकेंगे।

पांचवां समझौता; 31 अगस्त, 1871

जो अहदनामह सन् 1818 ई. में ब्रिटिश गवर्मेंट और जयपुर राज्य के दर्मियान तै हुआ, उसका ततिम्मह.

चूंकि वह कौल व करार जो उस अहदनामह की छठी शर्त में मुन्दरज हैं, जो ब्रिटिश गवर्मेंट और जयपुर राज्य के दर्मियान ता. 2 एप्रिल सन् 1818 ई. को करार पाया, और ता. 15 एप्रिल सन् 1818 ई. को तस्दीक किया गया, मुजिर है, इस लिहाज से जैल की शर्तों पर इत्तिफाक किया जाता है–

शर्त पहली– उक्त अहदनामह की छठी शर्त इस अहदनामह के रूसे मन्सूख की गई है।

शर्त दूसरी– महाराजा जयपुर खुद आप व अपने वारिसों और जानशीनों के वास्ते ब्रिटिश गवर्मेंट को हमेशह सालियानह खिराज चार लाख सर्कारी रुपया देना कुबूल करते हैं।

शर्त तीसरी– यह अहदनामह उस पहिले जिक्र किए हुए अहदनामह, जो सन् 1818 ई. में हुआ, ततिम्मह समझा जावेगा।

यह अहदनामह कप्तान एडवर्ड रिडले कोलबर्न ब्रेडफर्ड, काइम मकाम पोलिटिकल एजेंट जयपुर ने अज तरफ ब्रिटिश गवर्मेंट, और मुमताजुद्दौलह नव्वाब मुहम्मद फैजअलीखां बहादुर, सी. एस. आइ. ने, अज तरफ राज्य जयपुर, उन कामिल इख्तियारात के रूसे, जो इस काम के लिए उनको दिए गए थे, ऑगस्ट महीने की ता. 31, सन् 1871 ई. को मकाम शिमले पर तै किया।

मुहर (दस्तखत)	मुहर (दस्तखत)
ई. आर. सी. ब्रेडफर्ड कप्तान	नव्वाब मुहम्मद फैजअलीखां बहादुर
काइम मकाम पोलिटिकल एजेंट, जयपुर	(फार्सी हुरूफ में)
मुहर (दस्तखत) सवाई रामसिंह	मुहर (दस्तखत) मेओ

श्रीमान वाइसरॉय और गवर्नर जेनरल, हिन्द ने ता. 4 सेप्टेम्बर सन् 1871 ई. को शिमले मकाम पर तस्दीक किया।

(दस्तखत) सी. यू. एचिसन,
सेक्रेटरी गवर्मेंट हिन्द

दस्तावेज़ी साक्ष्य (सरकारी पक्ष)

D. O. No. 555

Office of the Inspector General of Police

Jaipur (Rajputana).

Teleg.-JAIPOL.
Teleph:- 29 Jaipur

Dated Camp Bairath the 30th Sept, 1938.

SECRET.

Subject:
Brief History of the Jaipur Rajya Praja Mandal

In continuation of my secret D.O. ~~No.~~ 550 of yesterday's date enclosing my note on the question of the recognition of the Jaipur Rajya Praja Mandal, I enclose a further secret note (two copies) on its history which will give you all the informations necessary to form a correct estimate of its present aims and activities.

Encl: 2 copies of History.

Lt. Col. Sir H. Beauchamp St. John,
K.C.I.E., C.B.E.,
Prime Minister, Jaipur State.
Jaipur.

पुलिस महानिरीक्षक एफ.एस. यंग की प्रधानमंत्री डब्ल्यू. ब्यूचैम्प सेंट जॉन को
जयपुर प्रजामंडल पर गोपनीय रिपोर्ट, 30 सितम्बर, 1938

COUNCIL OF STATE

JAIPUR.

Copy of Resolution No. 7 passed at a meeting of the Council of State held at ~~Mubarak Mahal~~ Rambagh Palace on Thursday the 9th January 1939. ~~1932~~

7. Discussed - the question of the action to be taken against Seth Jamnalal Bajaj, should he decide to disobey the Jaipur Government's order, dated the 16th of December 1938, banning his entry into Jaipur territory.

Resolution No. 7.

Resolved that, should Seth Jamnalal Bajaj defy the order, he be arrested.

जयपुर स्टेट कौंसिल का जमनालाल बजाज के रियासत में प्रवेश
करने पर गिरफ्तारी का फैसला, 9 जनवरी, 1939

M. K. E. 7A

COUNCIL OF STATE

JAIPUR.

Copy of Resolution No. 3 passed at a meeting of the Council of State held at Rambagh Palace ~~Mubarak Mahal~~ on Friday the 10th February 1939. ~~193~~

3. Discussed — the action to be taken should Seth Jamnalal Bajaj attempt to enter the Jaipur State territroy a third time in defiance of the State orders prohibiting his entry.

Resolution No. 3

Resolved that if Seth Jamnalal Bajaj enters the Jaipur State territory again in defiance of the Jaipur Government's orders, he be arrested and taken to the Detention Camp at Mohanpura in the first instance, whereafter he should be transferred to some other place to be specified later.

As regards the question whether he should be tried under the Section of the Jaipur Penal Code corresponding to Section 188 of the Indian Penal Code, or should be detained as a State prisoner at the pleasure of His Highness the Maharaja Sahib Bahadur, orders on this point will be passed later.

P. T. O.

- 2 -

Seth Jamnalal Bajaj should be medically examined and weighed on arrival at the Detention Camp and thereafter regularly examined by the medical authorities.

As regards facilities to be given to him, orders will be passed hereafter when and if he applies for such facilities; but he should not be allowed to correspond with any one without Council's permission.

स्टेट कौंसिल की बैठक में जमनालाल बजाज को गिरफ्तार करके
मोहनपुरा के बंदीगृह में रखने का फैसला, 10 फरवरी, 1939

COUNCIL OF STATE

JAIPUR.

Copy of Resolution No. 1 passed at a meeting of the Council of State held at ~~Mubarak Mahal~~ Natani-ka-Bagh on Tuesday the 21st February 1939. ~~1932~~

1. Discussed — the grievances of the prisoners confined in the Supplementary Jail at Mohanpura, as reported by the Superintendent, Central Jail.

Resolution No. 1.

Resolved that —

(1) The persons at present confined in the Mohunpura Supplementary Jail (with the exception of the under-trial prisoners) be treated as ordinary Simple-Imprisonment prisoners; but that such of them as have a superior status, financially and socially, may be given a special diet. In all other matters they should be treated in accordance with the rules and practice of the Central Jail applicable to prisoners undergoing simple imprisonment;

(2) Out of the thirty-six persons at present confined in the Supplementary Jail, the following eight prisoners be forthwith transferred to the Supplementary Jail at Lamba, and after their arrival at Lamba, be given a special diet at a scale to be fixed by the Inspector-General of Jails, provided that the cost of diet per prisoner shall not exceed Annas 7 per diem:-

P. T. O.

- 2 -

Hiralal Shastri
Kapoor Chand Jain
Chiranjilal Misra
Chiranjilal Agrawal
Harish Chandra Sharma
Hans D. Rae
Sardar Mal Golcha
Rupchand Soghani

The rest of the prisoners should remain at Mohunpura and be given the ordinary diet allowed to Simple Imprisonment prisoners.

(3) As regards future convicts, the trying Court should, at the time of passing the sentence, clearly mention in the judgment if in its opinion the social and financial status of the prisoner would warrant the grant of a special diet to him.

(4) The Education Minister and the Inspector-General of Jails be asked to look out for another place nearer Jaipur which could serve as a Supplementary Jail; and in the meantime, the under-trial prisoners at present in the Mohunpura Supplementary Jail be trans ferred to the Jaipur Police Lines, where all under-trials should be confined until further orders and where trials should be held;

& (5) Necessary medical arrangements for these prisoners be made. P. T. O.

स्टेट कौंसिल की बैठक में मोहनपुरा जेल में बंद हीरालाल शास्त्री, कपूरचंद पाटनी, चिरंजीवलाल मिश्र, चिरंजीलाल अग्रवाल, हरिश्चंद्र शर्मा, हंस डी. राय, सरदारमल गोलेछा और रूपचंद सोगानी को सात आने प्रति व्यक्ति आहार देने का फैसला, 21 फरवरी, 1939

The Jaipur Gazette.

EXTRAORDINARY

PUBLISHED BY AUTHORITY.

Volume LVI.	9th MARCH, 1939.	No. 4850.

COUNCIL OF STATE, JAIPUR.

NOTIFICATION.

Dated Jaipur, the 9th March, 1939.

No. 316/P.M.O. –It has been represented to the Jaipur Government that their refusal to register the Jaipur Praja Mandal amounts to a refusal to allow any political association to function in the State. This is not the case. The reasons which led the Jaipur Government to refuse registration to the Praja Mandal have been publicly stated. These do not preclude recognition of political associations as such. But it is necessary, for the same reasons as have been referred to above, that such associations should observe certain conditions. In order to remove any misunderstanding, the Jaipur Government wish to make it known that, though each application will be considered on merits, such associations will normally be registered if their title is unobjectionable and their constitution provides that there shall be no affiliation with any other political association outside the State; that no office-holder of the local association shall be also an office-holder of any political association outside the State; that every member shall affirm his personal loyalty to the Ruler of the Jaipur State; that the association shall undertake to represent aspirations and grievances of the people of the Jaipur State through the proper channels, as they develop from time to time under the constitution established or to be established by His Highness the Maharaja Sahib Bahadur; and that membership shall be restricted to persons domiciled in the Jaipur State.

H. BEAUCHAMP ST. JOHN,

Prime Minister, Jaipur State, Jaipur.

डब्ल्यू. ब्यूचैम्प सेंट जॉन की अधिसूचना में राजनीतिक संगठनों के लिए आवश्यक शर्तों का उल्लेख; संगठन के नाम, महाराजा के प्रति वफादारी, संविधान के दायरे में प्रतिनिधित्व और जयपुर के स्थानीय निवासियों को ही संगठनों की सदस्यता का अधिकार, 9 मार्च, 1939

Confidential.

D. O. No. 238. Office of the Inspector General of Police, 69
Jaipur (Rajputana).

Teleg:-JAIPOL.
Teleph:- 29 Jaipur.

10. 4. 39.

Conditions at Moran Sagar.

My dear Sir Beauchamp,

I have received a report from Inspector Khushal Singh, who is in charge of Seth Jamna Lal Bajaj, that, owing to the complete drying up of the lake, the water in the wells has become unwholesome and everybody there has lost their appetitie. The Seth himself is eating only one meal a day, and the Inspector's health has suffered considerably, so that he has been compelled to ask for leave. The same applies to all of the guard posted there. Under the circumstances, it might be necessary to consider whether he should not be transferred to some other location, and it will probably be of advantage if Williamson paid a visit to Moran Sagar.

Yours sincerely,

Lt. Col. Sir H. Beauchamp St. John,
K.C.I.E., C.B.E.,
Prime Minister, Jaipur State,
Jaipur.

एफ.एस. यंग की डब्ल्यू. ब्यूचैम्प सेंट जॉन को मोरांसागर के बारे में रिपोर्ट,
जमनालाल बजाज का स्वास्थ्य बिगड़ने का विवरण, 10 अप्रेल, 1939

प्रजा मण्डल का प्रचार सहित्य

जयपुर राज्य प्रजा मण्डल

हर तरह से प्रजा की भलाई चाहता है

प्रजा मण्डल की आठ बातें

आज कल जिधर देखो उधर ही लोगों की जबान पर प्रजा मन्डल की चर्चा है। इसकी वजह यही है कि यह संस्था प्रजा की भलाई चाहने वाली संस्था है। प्रजा मण्डल प्रजा की भलाई किस तरह चाहता है इस बारे में खास खास आठ बातें मैं राज और प्रजा दोनों की जानकारी के लिये नीचे दर्ज करता हूँ:—

(१) **पहली बात** यह है कि प्रजा को सभा करने की आजादी होनी चाहिये, व्याख्यान देने की आजादी होनी चाहिये और अखबार निकालने की तथा अखबारों में लेख लिखने की आजादी होनी चाहिये। राज की तरफ से जो कोई अच्छे या बुरे काम हों उन्हें अच्छा या बुरा बताने का हक़ प्रजा को है। प्रजा के लोग जब राज के कामों को अच्छा या बुरा बतलायेंगे तो राज को अपने रंग ढंग में सुधार करने का मौक़ा मिलेगा। राज को प्रजा की तरफ से होने वाली नुक़ताचीनी से घबड़ाना नहीं चाहिये, बल्कि राज को काम ऐसे करने चाहियें कि प्रजा को नुक़ताचीनी करने की जरूरत ही न पड़े।

(२) **दूसरी बात** यह है कि श्री महाराज की छत्र छाया में प्रजा के द्वारा चुने हुये लोगों की एक सभा होनी चाहिये। इसी सभा को क़ानून बनाने का और राज्य के आमद खर्च का बजट मन्जूर करने का अधिकार होना चाहिये, और इसी सभा में से चुने हुये लोगों को मन्त्री या मुसाहिब बनाना चाहिये। जो मन्त्री प्रजा के द्वारा चुने हुये होंगे वे प्रजा की मर्जी के खिलाफ कुछ नहीं कर सकेंगे और प्रजा के सुख चैन के लिये ज्यादा से ज्यादा कोशिश करेंगे। इसी तरह संघशासन की योजना के अनुसार बनने वाली दिल्ली की बड़ी कौंसलों में भी प्रजा के द्वारा चुने हुये लोग ही भेजे जाने चाहियें। जयपुर शहर में तथा दूसरे बड़े क़स्बों में चुनी हुई म्युनिस्पैल्टियां होनी चाहियें जो सफाई वगैरह का इन्तजाम खुद की जिम्मेदारी से कर सकें।

(३) **तीसरी बात** यह है कि प्रजा के रोजगार धन्धों में तरक्की होनी चाहिये। बेरोजगारों को रोजगार देने और दिलाने का फर्ज राज का है। राज इस फर्ज को तभी अदा कर सकेगा जब वह खेती, कलाकौशल, हुनर कारीगरी, और व्यापार व्यवसाय की तरक्की के लिये पूरी कोशिश करेगा। बड़े ओहदों में तनख्वाह का दर्जा बेहद बढ़ गया है, उसे फिर से कम करना चाहिये और जिन छोटी तनख्वाह वालों को गुजारे लायक तनख्वाह नहीं मिलती है उनको ज्यादा मिलना चाहिये। जो रियासत के बासिन्दे हैं उनको रियासत की नौकरी आदि हरेक बात में पहला हक़ होना चाहिये।

(२)

(४) **चौथी बात** यह है कि किसानों की गरीबी को मिटाने के लिये कोई खास उपाय होने चाहियें। किसानों की हालत बहुत खराब है, उनके यहां पैदावार कम होती है, और जो होती है उसमें से उनके पास खाने पहनने तक के लिये भी काफी नहीं बचता है और उनकी कर्जदारी बढ़ती जारही है। इन मामलों की जांच होकर किसानों की हालत को सुधारना बड़ा जरूरी है।

(५) **पांचवीं बात** यह है कि प्रजा की तालीम के लिये ज्यादा स्कूल होने चाहिये और उनमें पढ़ाई ऐसी होनी चाहिये कि जिससे पढ़े लिखे लोग बेरोजगार डोलने के बजाय आराम से कमाकर खा सकें, प्रजा के इलाज के लिये ज्यादा दवाखाने होने चाहिये। और जो दवाखाने हैं उनमें गरीबों की तरफ ज्यादा ध्यान देना चाहिये।

(६) **छठी बात** यह है कि पुलिस में तथा अदालतों—कचहरियों में प्रजा की सुनाई तुरन्त होनी चाहिये और सब जगह ऐसा इन्तजाम होना चाहिये कि फरियाद करने वालों को नाहक परेशान न होना पड़े। राज के काम काज में अंग्रेजी भाषा का जोर बढ़ता जा रहा है सो ठीक नहीं है। राजभाषा वह होनी चाहिये जो साधारण बोलचाल में काम आती हो और जिसका लिखना पढ़ना सरल हो।

(७) **सातवीं बात** यह है कि राज्यभर में से और खास कर ठिकानों में से बेठ-बेगार तथा लाग बाग और कौड़ी चुङ्गी आदि को उठा देना चाहिये और रिश्वतखोरी को बन्द करा देना चाहिये, क्यों कि इन बातों से प्रजा बड़ी परेशान है और राज को या ठिकानों को विशेष लाभ भी नहीं पहुँचता है। ठिकानों में बसी हुई प्रजा के दुख दर्द को दूर करवाने की तरफ बड़े राज का खास ध्यान होना चाहिये।

(८) **आठवीं बात** यह है कि राज को प्रजा की जरूरतों को पूरा करने की तरफ ज्यादा ध्यान देना चाहिये और प्रजा की भलाई को ध्यान में रखते हुये अच्छे २ नये कानून बना कर उन्हें बिना भेद भाव के अमल में लाना चाहियें और उन कानूनों को रद्द कर देना चाहिये जो प्रजा के हक में ठीक नहीं हैं। राज को ऐसी कोशिश करनी चाहिये जिससे प्रजा सच्चे दिल से यह कह सके कि जयपुर का राज सचमुच प्रजा की भलाई करता है।

मैं खयाल करता हूं कि ऊपर की सभी बातें न केवल प्रजा की बल्कि राज की निगाह में भी अच्छी और जरूरी हैं। ये बातें पूरी होंगी तो प्रजा में अमन चैन होगा और राज को भी आराम मिलेगा।

जयपुर
७-४-३८

हीरालाल शास्त्री,
प्रधान मंत्री, जयपुर राज्य प्रजा मन्डल।

जयपुर राज्य प्रजा मण्डल

यह संस्था तमाम रिआया की है

प्रजा मण्डल की एक झांकी

प्रजा मण्डल की आठ बातें मशहूर हो चुकी हैं। उन आठ बातों को सबने पसन्द किया है। प्रजा मण्डल की एक और खासियत यह है कि मण्डल तमाम रिआया का है और तमाम रिआया की भलाई चाहता है। रिआया में अलग २ मजहबों के और अलग २ जातियों के लोग हैं। लेकिन प्रजा मण्डल का ताल्लुक किसी ख़ास मज़हब या किसी ख़ास जाति से नहीं है। सभी लोग अपने २ मज़हब को अच्छा समझते हैं और सभी अपने २ मज़हब का पालन करने के लिये आज़ाद हैं। प्रजा मण्डल तमाम रिआया का है, इसलिये सभी मज़हबों के लोगों को इस में शामिल होना चाहिये। मज़हब के नाम पर आपस में लड़ाई झगड़ा करना प्रजा मंडल की निगाह में ठीक नहीं है। मज़हबी मामलों को अलग रख करके आम रिआया को फायदा पहुँचाने वाले कामों में सभी लोगों को शामिल होना चाहिये। रिआया को आपस में प्रेम और भाई चारे का बर्ताव रखना चाहिये।

प्रजा मंडल किसी का बुरा नहीं चाहता है। कोई एक ताकतवर किसी कमजोर या ग़रीब को सताता हो तो प्रजा मंडल उस सताने वाले से यह कहेगा कि भाई साहब! आप इस तरह ग़रीबों और कमजोरों को सताते रहोगे तो आपके खुद के हक में ठीक नहीं रहेगा। सतानेवाले को ऐसी सच्ची बात सुनकर यह खयाल नहीं कर लेना चाहिये कि यह लो प्रजा मंडल तो हमसे दुश्मनी करने लग गया। किसी के हाथ में बुरा भला हथियार आजाता है तो वह दूसरों पर धौंस जमाना शुरू कर देता है लेकिन न तो धौंस जमाना अच्छा काम है और न धौंस चलाने का अब जमाना ही रहा।

जागीरदार या राजकर्मचारी या किसी को भी यह खयाल नहीं करना चाहिये कि प्रजा मण्डल उनके खिलाफ है। प्रजा मण्डल तो सिर्फ यह चाहता है कि जिनके पास कुछ कर सकने की ताकत है उनको जरा हमदर्दी से काम लेना चाहिये और जरा दूरन्देशी से काम लेना चाहिये। जो बातें अब तक चलती रहीं उनका अब नये जमाने में चलना मुश्किल है और उन्हीं बातों को चलाते रहने की जिद रखी गई तो उसका नतीजा अपने आप से ही ख़राब होगा। प्रजा मंडल कमज़ोर की सहायता ज़रूर करना चाहता है—लेकिन किसी की बुराई करके नहीं—किसी का नुकसान करके नहीं।

बस प्रजा मण्डल की यह ख़ास झांकी है—आम रिआया यह समझ लें कि प्रजा मण्डल जो कुछ करेगा वह बिना किसी भेद भाव के ग़रीब और कमज़ोर को मदद पहुंचाने के लिये करेगा। ऐसी हालत में तमाम रिआया का प्रजा मण्डल में शामिल होने का और प्रजा मण्डल का साथ देने का फर्ज है।

नथमल जी का कटला, जयपुर, १६–४–३८

हीरालाल शास्त्री,
प्रधान मन्त्री, जयपुर राज्य प्रजा मण्डल

जयपुर राज्य प्रजा मंडल

उत्तरदायी शासन क्या होता है ?

और वह हमारे लिए क्यों जरूरी है ?

जहां तक मैंने सुना है प्रजा मण्डल की आठ बातें लोगों के मन भाई हैं आम तौरसे आठ बातों को खूब पसन्द किया गया है। मुझको कई लोगों ने कहा कि आठ बातें न लिख कर सिर्फ नम्बर २ की बात लिख दी जाती तो भी काम चल जाता। वह नम्बर २ की बात कौनसी है? नं० २ की बात यह है जिसमें हमने "उत्तरदायी शासन की मांग की है"।

उत्तरदायी शासन क्या होता है? जयपुर राज्य की २६ लाख रिआया में जितने बालिग औरत मर्द हैं उन सबको अथवा अभी शुरू में सबको नहीं तो उनमें से किसी खास पहचान के माफिक छांटे हुए लोगों को यह अधिकार हो कि वे अपने २ हलके की तरफ से अन्दाजन तीन साल के लिये किन्हीं लोगों को मेम्बर चुनें। जिनको चुनाव करने का हक दिया जावेगा उन्हें वोटर अर्थात् वोट यानी राय देनेवाला कहा जावेगा और वे अपने २ हलके की रिआया की तरफ से राय देंगे। जो लोग चुने जायँगे अपने २ हलके की रिआया के प्रतिनिधि होंगे यानी रिआया की तरफ से काम करनेवाले होंगे। अगर उन प्रतिनिधियों में से कोई ठीक काम न करेगा तो वह लोगों की निगाह में गिर जावेगा और दुबारा काम पड़ने पर उसे नहीं चुना जावेगा। इस तरह चुने हुए प्रतिनिधियों की जो सभा होती है उसे धारा सभा या क़ानून बनाने वाली सभा कहते हैं। श्री महाराजा इस सभा में से उन मेम्बरों को अपने मिनिस्टर या मन्त्री बनाये जिनको ज्यादह से ज्यादह मेम्बर पसन्द करें और इस तरह बनाए हुये मन्त्री अगर कोई ऐसा काम कर बैठे जो ज्यादह तर मेम्बरों को पसन्द नहीं हो तो उन्हें इस्तीफा देना पड़े जिसे श्री महाराज मंजूर करलें। इसका मतलब यह हुआ कि जो कोई मिनिस्टर या मन्त्री हो वह रिआया की मर्जी से हो और रिआया उसे न चाहे तो वह न रहे। श्रीमहाराज अपनी रिआया की मर्जी के माफिक चलने वाले राजा हों जो खुद निर्लिप्त हों और सब को एक निगाह से देखें और जिनके इस बड़प्पन की वजह से सब लोग उनकी खास इज़्ज़त करें। हमारे यहां कहा है कि "राजा प्रकृति रञ्जनात्" अर्थात् राजा का नाम "राजा" इसलिए पड़ा कि वह प्रजा के मन का रञ्जन करता है यानी अपनी रिआया का हर तरह से मन रखता है। रिआया की चुनी हुई धारा सभा रिआया की भलाई के लिए कानून बनायेगी और यह तै करेगी कि किससे किस तरह से किस बात का कितना कर वसूल किया जावे और रिआया से वसूल किए हुए रुपये किन २ कामों में कैसे ख़र्च किया जावे। बस इसी का नाम उत्तरदायी शासन है जिसका मतलब यह है कि अपने चुने हुए मन्त्रियों से रिआया जवाब तलब कर सकती है उन्हें उलाहना और शाबासी दे सकती है, उन्हें बना सकती है और बिगाड़ सकती है।

(२)

इस पर से कोई यह ख़याल न करे कि यह कोई बड़े अचम्भे की बात है जैसे किसी ने कह दिया कि यह लो साहब प्रजा मण्डल ने तो सारा राज ही मांग लिया। दर असल इसमें नई बात कुछ नहीं है। दुनियां के ज्यादह तर मुल्कों में इसी तरह से राज होता है। खास विलायत में भी यानी अंग्रेजों के देश में भी यही कायदा है। हिन्दुस्तान वालों ने भी इसी बात पर जोर दिया और सरकार को उनकी बात बहुत कुछ मान लेनी पड़ी। हिन्दुस्तान के ११ सूबों में राज काज का लगभग इसी तरह का इन्तिजाम हो गया है और अब सारे हिन्दुस्तान के राज काज का इन्तिजाम भी बदल कर संघ-शासन के तरीके से होने की तजवीज है। हमारे रजवाड़ों में रहने वाले लोगों की यह मांग है कि दिल्ली की बड़ी कौंसिलों में भी हमारे चुने हुए लोग ही भेजे जावे।

जानकार लोगों को मालूम है कि यह मामला इतना साफ हो चुका है कि इसमें अब दलीलों की जरूरत नहीं है। राज काज का जैसा हाल हमारी सरहद्दों पर रहेगा उससे मिलता जुलता ही हमारे यहां रह सकता है। देशी राज्यों की जनता की इस मांग का समर्थन सबने किया है। कांग्रेस ने तो यहां तक ऐलान कर दिया है कि जब तक देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन क़ायम नहीं हो जावेगा तब तक उसे संघ शासन किसी भी हालत में मंजूर नहीं होगा। बड़े २ अंग्रेजों ने भी देशी राज्य निवासियों की इस मांग को ठीक बतलाया है। ऐसी हालत में हम समझते हैं कि हमारी इस जरूरत के पूरे होने का समय अब आ ही पहुंचा है। कोई यह कहे कि रजवाड़े पिछड़े हुए हैं उनमें उत्तरदायी शासन इतनी जल्दी कैसे सफल हो सकता है। इसका जवाब यह है कि काम करने का मौका मिलने से ही होशियारी और जिम्मेदारी आ सकती है। दर असल रजवाड़ों के लोग किसी से भी किसी बात में कम नहीं हैं। उनको मौका नहीं मिला इसलिये वे पिछड़े हुए मालूम पड़ते हैं। काम का मौक़ा मिलने लगा कि वे आपने आप संभाल लेंगे।

रिआया के चुने हुये होने के कारण धारा-सभा के मेम्बर और राज का कारोबार चलाने वाले मन्त्री सारा काम रिआया की भलाई का ध्यान रखते हुये ही करेंगे और जहां तक हो सकेगा जनता को कोई शिकायत का मौक़ा नहीं देंगे। न कोई गैर वाजिब कानून बन सकेगा और न कोई बेजा खर्च होगा। प्रजा पर अनुचित कर भी नहीं लगने पावेगा। राज्य में सर्वत्र सुख और शान्ति फैलेगी। राज प्रजा के हित साधन के लिये होगा और राजा प्रजा का सम्बन्ध अच्छे से अच्छा होगा।

नथमलजी का कटला,
जयपुर सिटी।
२ मई १९३८

हीरालाल शास्त्री, प्रधान मन्त्री,
जयपुर राज्य प्रजा मण्डल।

जयपुर में नये युग का श्रीगणेश

प्रजा की मांगों की स्वीकृति

प्रजामण्डल का कार्य पहले के समान प्रारम्भ

देशभक्त सेठ जमनालाल जी बजाज का वक्तव्य

जयपुर राज्य प्रजा मण्डल के प्रधान और कांग्रेस कार्य समिति के सदस्य देशभक्त सेठ जमनालाल जी बजाज ने निम्न लिखित वक्तव्य प्रकाशित किया है:—

"रिहाई के समय मैंने एक वक्तव्य प्रकाशित किया था, जिसमें यह आशा प्रगट की थी कि रियासत अपनी नीति बदल कर और दमनकारी कानूनों को वापिस लेकर ऐसा शान्त वातावरण पैदा करेगी, जिससे सारा संघर्ष मिट जायगा। मुझे आज यह कहते बड़ी प्रसन्नता अनुभव हो रही है कि मेरी वह आशा गलत साबित नहीं हुई। रिहाई के बाद हुई सभा में मैंने राज्य को यह निश्चय दिलाया था कि प्रजामण्डल रियासत के अधिकारियों की विरोधी या उनसे दुश्मनी रखने वाली संस्था नहीं है। मैंने तब राज्य से प्रजामण्डल की मांगें स्वीकार करने की अपील की थी। मैंने सहयोग का हाथ आगे बढ़ाया था और राज्य को भी उसके लिये दावत दी थी।

मुझे उसके बाद तुरन्त ही महात्मा जी के जरूरी बुलावे पर जयपुर से चले जाना पड़ा। देर से खराब हो रहे अपने स्वास्थ्य के बारे में डाक्टरों से सलाह लेने के लिये भी मैंने इस अवसर से लाभ उठाया। इसमें कुछ समय और लग गया और जयपुर में वातावरण के साफ होने में भी उतनी ही देरी हो गई।

मेरे पीछे सभाबंदी और जलूसबंदी का कानून रद्द हो गया। वापिस लौटने पर यह देख कर मुझे बहुत खुशी हुई कि हमारी नागरिक स्वाधीनता की मांग के बारे में बातचीत जारी करने की सम्भावना से महाराज के साथ मेरी मुलाकात का इन्तजाम कर दिया गया था। सभा और जलूस की बन्दी के कानून के रद्द होने से हमारी मांग का एक हिस्सा पहिले ही पूरा हो गया था। उसके बाद महाराज साहब और राज्य के अन्य अधिकारियों से मैं कई बार मिला हूँ। मैं यह बहुत खुशी और सन्तोष के साथ कह सकता हूँ कि हमारी ये मुलाकातें खुले दिल से और सचाई को लिये हुए हुई हैं। इसका सारा श्रेय महाराज साहब की सहृदयता और सद्भावना को है।

समाचार पत्रों पर से प्रतिबन्ध उठा दिया गया है। इससे राज्य ने यह प्रकट कर दिया है कि वह साधारण स्थिति पैदा करके समाचार-पत्र प्राप्त करने की जनता की आजादी पर आगे के लिये कोई रुकावट नहीं रखना चाहता।

मैं पूरे भरोसे के साथ यह आशा कर सकता हूँ कि सीकर के राजबंदी और किसान बंदी भी, जिनमें हमारे सुयोग्य कार्यकर्ता कुँवर नेतराम जी, सरदार हरलालसिंह जी और पण्डित लादूराम जी जोशी भी शामिल हैं, [illegible] रिहा किये जाने वाले हैं।

इस सब के बावजूद प्रजामण्डल के सामने सबसे अधिक महत्वपूर्ण [illegible] एक मोन्टफोर्ड-एक्ट की [illegible] बातचीत में इस [illegible] सामने आ चुके हैं और अन्तिम रूप में शब्द-योजना का होना अभी बाकी है; [illegible] यह विश्वास दिलाया गया है कि उसे जल्दी ही [illegible] और [illegible] जायगा कि किसी भी संस्था के बनाने के लिये उसे रजिस्टर कराना जरूरी नहीं [illegible] प्रकार सब संस्थाओं के लिये बिना किसी दिक्कत [illegible] के फलना व फूलना और कार्य करना संभव हो जायगा।

सत्याग्रह को मजबूरन प्रजामण्डल ने नागरिक स्वाधीनता के लिये शुरू किया था। इसमें सभाओं का करना, जलूस निकालना संस्थाएँ कायम करना और समाचार पत्र प्रकाशित करना शामिल था। सभा और जलूस की मांग पूरी हो चुकी है। हमें यह विश्वास करा दिया गया है कि प्रजामण्डल के कार्यों में कोई रुकावट नहीं होगी। मेरे ख्याल से प्रेस सम्बन्धी वर्तमान कानून के अनुसार समाचार पत्र प्रकाशित करना सर्वथा सम्भव है।

इस प्रकार हमारी वे सब मांगें, जिनके लिये सत्याग्रह शुरू करने के लिये हमें मजबूर होना पड़ा था, प्रायः स्वीकार कर ली गई हैं और नये युग का श्रीगणेश किया जा रहा है। महाराज साहब को उस नीति के बदलने के लिये बधाई है, जो एक अँग्रेज प्रधान मन्त्री की प्रेरणा का परिणाम थी और यह प्रसन्नता की बात है कि इस समय वह बात नहीं रही है।

अन्य जिन बातों पर चर्चा हुई, उनमें शिकारखाने के बारे की इस समय की नीति भी शामिल है। शिकार सम्बन्धी कानूनों में कुछ परिवर्तन राज्य की ओर से किये गये हैं। मुझे पूरा विश्वास और भरोसा है कि इनमें और भी ऐसे सुधार किये जायँगे, जिनसे जनता की वर्तमान सारी दिक्कतें व शिकायतें रफा-दफा हो जायँगी। महाराज साहब ने यह हुक्म जारी कर दिया है कि जँगली जानवरों से मनुष्यों के जीवन व पशुओं की जो हानि, पहिले हुई या आगे होगी, उसके लिये उचित मुआवजा दिया जायगा।

रचनात्मक कार्य के बारे में सहयोग की भावना दोनों ही ओर विद्यमान है। इन दिनों में दुर्भिक्ष से पीड़ित ग्रामीण जनता को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने के लिये उपाय एवं मार्ग ढूंढ निकालने के बारे में बातचीत चल रही है। शिक्षा-विभाग की वर्तमान नीति में भी सुधार एवं परिवर्तन करने का यत्न [illegible] आशा दिलाई गई है।

महाराज की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन प्राप्त करने का ध्येय सदा ही हमारे सामने बना हुआ है और उसे पूरा करने के लिये हमें अभी बहुत कोशिश करनी है। नागरिक अधिकारों की प्राप्ति से हमारा रास्ता बहुत साफ हो गया है, क्योंकि अब हमें जनता को उसकी जिम्मेवारी संभालने के योग्य बनाने का अवसर एवं साधन मिल गये हैं।

हिन्दुस्तानी प्रधान-मन्त्री की नियुक्ति की आवश्यकता अंग्रेज प्रधान मन्त्रियों के आज तक के शासन के असफल होने से अब स्वयं सिद्ध होगई है। मेरी महाराज साहब से यह अनुरोधपूर्ण अपील है कि वे प्रधान मन्त्री के खाली पद पर किसी ऐसे अनुभवी और सहृदय हिन्दुस्तानी को नियुक्त करें, जो जनता की भाषा और भावों से भली प्रकार परिचित हो, जिससे जनता के सम्पर्क में आने और उनकी भावनाओं के आदर होने की सच्ची बुनियाद डाली जा सके।

ग्रामीण और घरेलू उद्योग-धंधों को अपनाने का राज्य ने हाल ही में जो निर्णय किया है, वह सच्चे अर्थों में सहृदयता एवं उदारता की निशानी है। मेरे लिये यह बहुत सन्तोष एवं समाधान की बात है कि महाराज राज्य के मामलों में अधिकाधिक दिलचस्पी ले रहे हैं। मैं हमेशा से उनसे ऐसी ही आशा कर रहा था और मैंने अनेक बार उसे प्रगट भी कर दिया था। मुझे पूरी आशा है कि वे भविष्य में भी जनता के मामलों में गहरी दिलचस्पी लेते रहेंगे, जिससे वे उनकी मुसीबत और खुशहाली दोनों में हिस्सा बटाने में समर्थ हो सकें। जनता के साथ महाराज के सम्बन्ध का फिर से स्थापित होना महाराज के इस वर्ष के शुभ जन्म दिन के अवसर पर महान् सौभाग्य का चिन्ह है, जिसके लिए मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूँ और यह शुभ कामना प्रकट करता हूँ कि वे दीर्घजीवी हों और उनका शासन इतना बुद्धिमत्तापूर्ण एवं समृद्धिशाली हो कि जयपुर एक आदर्श राज्य बन जाय।

अन्त में मुझे यह घोषणा करनी है कि सत्याग्रह के कारण मुझे प्रजा मण्डल का विधान स्थगित करके सत्याग्रह की लड़ाई का संचालन करने के लिए सत्याग्रह समिति नियुक्त करनी पड़ी थी। वही मेरी गिरफ्तारी के बाद सब कार्य कर रही थी प्रजा मंडल के विधान को स्थगित रखने का अब कोई कारण नहीं रहा। इसलिए मैं आज सत्याग्रह समिति को भंग करता हूँ और प्रजा मण्डल के विधान को पूर्ववत् जारी करता हूँ। आज से उसकी सब संस्थायें और शाखायें यथापूर्व कार्य करना शुरू कर देंगी।"

(जयपुर-राज्य-प्रजामण्डल द्वारा प्रकाशित)

जयपुर राज्य प्रजामण्डल

प्रजामण्डल क्या कर रहा है?

और

आपका कर्त्तव्य क्या है!

कल की सी बात है। जयपुर राज्य की जनता की आवाज को बुलन्द करने के लिये कोई खास संस्था काम नहीं कर रही थी। कोई कहने वाला नहीं था; कोई सुनने वाला नहीं था। सन् १९३६ के आखिरी महीनों में प्रजामण्डल के संगठन की चर्चा छिडी। सन् १९३७ के शुरू में संगठन का काम चालू होगया। सन् १९३८ के शुरू होते होते यानी एक वर्ष के भीतर प्रजामण्डल का मजबूत संगठन बन गया। राज के खिलाफ खडे हुए और सन् १९३९ में प्रजामण्डल को मजबूर होकर नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के लिये सत्याग्रह करना पड़ा। फलस्वरूप जनता ने महसूस किया कि अब तो वह जबान खोलकर बात कर सकती है। यह प्रजामण्डल का पहला अध्याय था। अचानक अक्टूबर, १९३९ में राजा ज्ञाननाथ साहब का जमाना आगया। उन्होंने २॥ साल तक प्रजामण्डल को कुचल डालने की कोशिश की। अपने ख्याल से तो उन्होंने प्रजामण्डल को खत्म भी कर दिया था। परन्तु प्रजामण्डल जनता की सेवा करने के साथ साथ राजा ज्ञाननाथ साहब की बिदाई के लिये जोर लगाता रहा। आखिर राजा ज्ञाननाथ साहब विदा होगये और वे प्रजामण्डल को खत्म करने के बजाय पहले से ज्यादा मजबूत हालत में छोड कर गये।

सन् १९४२ का एक महीना आया और जयपुर में कई तरह के सुधारों की बात होने लगी। जनता की कई समस्यायें उलझी हुई पडी थीं जिनके सुलझाने के आसार दिखाई देने लगे। जयपुर राज्य में जब ऐसा वातावरण बनने लगा था तभी महात्मा गांधी ने हिन्दुस्तान की आजादी का शंख फूंक दिया। प्रजामण्डल ने हिन्दुस्तान की आजादी की राष्ट्रीय मांग का समर्थन किया और उसके सम्बन्ध में अपने कर्तव्य का निश्चय भी कर लिया। परन्तु आजादी की लडाई के नाम पर श्री महाराजा साहिब के विरुद्ध लडने का ऐलान नहीं किया। क्योंकि ऐसा करना न आवश्यक था और न उचित था।

जयपुर में नये युग के आते ही उस समय के राजबंदियों की रिहाई हुई। जकात यानी राहदारी का सवाल तै हो गया जिसका नतीजा ऐसी स्कीमों से ... सामने आ रहा है। शेखावाटी में जमीन के बन्दोबस्त का सवाल बहुत टेढ़ा हो रहा था लेकिन वह सवाल भी हल हो गया। शिक्षा विभाग की गज़ा-घोटू नीति बदली जा रही है। म्युनिसिपल सुधार कमेटी अपना काम कर रही है। वैधानिक सुधार कमेटी का काम भी चालू है। इसमें शक नहीं है कि जयपुर राज्य का काम काफी बिगड़ी हुई हालत में है और अभीतक सच्चे-सुधार की मंजिल बहुत दूर है। परन्तु यह भी कहना होगा कि सुधार के रास्ते पर चलना अवश्य शुरू होगया है। सुधार के सभी कामों में प्रजामण्डल यथोचित योग दे रहा है और एक एक सवाल को तै कराने के पीछे लगा हुआ है। इसके विपरीत कोई बुरी तजवीज सामने आती है तो उसका विरोध करने के लिये भी प्रजामण्डल बराबर तैयार रहता है।

आज हिन्दुस्तान भर में सब से बड़ा सवाल खाने पीने की चीजों का हो रहा है। जयपुर राज्य में भी वह सवाल है। प्रजामण्डल का पूरा ध्यान इस तरफ लगा हुआ है। जयपुर के व्यापार-व्यवसाय का सर्वनाश कर सकने वाली सिंडीकेट की योजना सामने आई थी। प्रजामण्डल ने उसका घोर विरोध किया और वह योजना खत्म हुई। अब प्रजामण्डल ने राज के सामने अपनी योजना पेश कर रखी है। राज की गाडी जरा धीरे चलती है। और असल में कई मुश्किलें भी हैं। लेकिन जनता के लिये वाजिब भावों पर खाने पीने की चीजें सुलभ करने के लिये प्रजामण्डल अपनी पूरी ताकत लगा रहा है। रेजगारी का सवाल भी प्रजामण्डल ने ले रखा है और आशा है कि जल्दी ही जयपुर राज्य की नई रेजगारी जनता के सामने आजायगी।

प्रजामण्डल के द्वारा काम तो बहुत हो रहा है। परन्तु आजकल के समय में प्रजामण्डल वाद विवाद में नहीं पड़ता है। खास कर इसलिये कि पिछले दिनों में जिसतरह जयपुर शहर का पब्लिक प्लेट फार्म बिगड़ा है उसे देखते हुए चुप रहना ज्यादा ठीक है। और सचतो यह है कि प्रजामण्डल की लम्बी चौड़ी बात बनाने की कभी भी नीति नहीं रही। शायद इसी लिये कुछ जोशीले भाई कभी कभी कह उठते हैं... अजी आजकल प्रजामण्डल तो सुस्त हो गया मालूम होता है। ऐसा कहने वाले यह नहीं सोचते हैं कि प्रजामण्डल सुस्त हो गया होता तो यह इतने, बड़े २ काम कैसे होते ? और प्रजामण्डल सुस्त हो गया है तो फिर चुस्त कौन हो रहा है? और जो कोई भी चुस्त हो रहा हो वह कर क्या रहा है ?

जब से सुधार की बातें होने लगी हैं तभी से चारों तरफ थोड़ी बहुत चहल पहल नजर आने लगी है। हमारे राजपूत भाई पूछने लगे हैं क्या प्रजामण्डल किसानों का ही है, राजपूतों का नहीं ? धनीवर्ग के कुछ लोग सोचते मालूम होते हैं कि कहीं प्रजामण्डल उनके खिलाफ कुछ न कर बैठे ? कुछ लोगों को शंका मालूम होती है कि प्रजामण्डल उनके लिये कुछ का कुछ न कर डाले। इनके अलावा कुछ और हल चल भी दिखाई दे रही है जिनके पीछे यातो किन्हीं लोगों के स्वार्थ हैं या संकुचित विचार हैं या सिद्धान्त का अभाव है। बहरहाल अराष्ट्रीय और राष्ट्र-विरोधी विचार धाराओं की कोई कमी नहीं है।

लेकिन प्रजामण्डल तो सभी का है और वह सभी का भला चाहता है। प्रजामण्डल कभी किसी के लिये बुरा नहीं सोच सकता। वहतो अपने ऊपर अनावश्यक और अनुचित टीका टिप्पणी करने वालों से भी कुछ नहीं कहता। राजनैतिक जीवन में संस्थाओं और व्यक्तियों पर भी हमले होते ही रहते हैं इसलिये प्रजामण्डल ऐसी बातों से चिंतित और विचलित नहीं होता। वह तो जनता की अनासक्त सेवा में विश्वास रखता हुआ हिमालय की भांति अडिग है। इधर उधर के वितंडावाद में न पड़कर प्रजामण्डल अपने ढंग से काम कर रहा है। जहां वर्ग विशेषों के हितों में भेद दिखाई देता है वहां प्रजामण्डल आपसी समझौते और प्रेम भाव का संचार करना चाहता है।

प्रजामण्डल के व्यापक संगठन के साथ साथ स्वयं सेवक दल का संगठन शुरू किया जा रहा है। व्यवस्थित प्रचार की दृष्टि से प्रजामण्डल के शुभचिंतकों की ओर से एक राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्र निकलने का आयोजन हो रहा है। ग्रामीण जनता के हितार्थ और शिक्षा और औषधि वितरण के रूप में रचनात्मक सेवा का काम जारी है। इन संगठनात्मक, प्रचारात्मक, और रचनात्मक कामों के अलावा जो काम राज के करने के हैं उनके लिये राज को कहा जा रहा है। अच्छे और स्वीकार करने लायक वैधानिक सुधारों की योजना बनवाने की कोशिश भी हो रही हैं। समयानुसार और भी छोटे बड़े कई सेवा कार्य होते ही रहते हैं।

अब आपतो कृपाकर के यह सोचिये कि आपका क्या कर्तव्य है ? सबसे पहिले तो आप ऊपर ऊपर से देखना छोड़ें और हरएक बात पर गहराई के साथ विचार करें। दूसरे आप सिर्फ बोत ही बातें न करें, अपने हिस्से का कुछ काम भी पूरा करें। काम करने वालों के सामने तो काम का पहाड़ रखा है। लेकिन काम करने में जोर पड़ता है। कभी सफलता मिलती है और कभी विफलता। बहुत प्रयत्न करने पर भी कभी २ निराश होना पड़ता है। आज के काम का फल आजही दिखाई नहीं दे सकता। इसलिये आपको अधीर नहीं होना पड़ेगा। आप करना चाहें और कर सकें तो आपके लिये काम बहुत है। आशा है आप प्रजामण्डल के कामों में यथाशक्ति योग देंगे कदाचित आप और कुछ न कर सकें तो प्रजामण्डल के मेम्बर बनकर तो अपने संगठन को शक्तिशाली बना ही सकते हैं। इसलिये आप कम से कम प्रजामण्डल के मेम्बर तो बन ही जाइये। इस साल मेम्बर बनने की आखिरी तारीख १० फरवरी है जो बनना चाहें उन्हें निश्चित अवधि के भीतर प्रजामण्डल के मेम्बर बनजाना चाहिये जिससे वे चुनाव आदि में भाग ले सकें।

मोतीसिंह भोमियां(?) का रास्ता जयपुर.
ता० २१-१-४३ई

हीरालाल शास्त्री,
सभापति,
जयपुर राज्य प्रजामण्डल

Telegrams—"JAIPRAJA" | साप्ताहिक प

जय-प्रजा

सम्पादक—
हरलाल वर्मा

न्याय, अहिंसा, सत्य जहाँ,
अवशि प्रजा की विजय वहाँ।

एक प्रति का मूल्य
१ पैसा, मासिक ।) (डाक से)

वर्ष १ | आगरा शनिवार १८ मार्च १९३९. | अंक ११

जयपुर सत्याग्रह ज़ोरों पर: १ दिन में २९ गिरफ़्तार

लाठी चार्ज के विरोध में स्तीफ़े और हड़ताल

राज्य के दमन के विरोध में स्तीफे

अध्यापक रामकरण जी का साहस

हिंडोन और दौसा में लाठी चार्ज

हिंडोन से समाचार प्राप्त हुये हैं कि वहां १२ मार्च को जयपुर दिवस के दिन जनता पर बूढ़े और बच्चे का भेदभाव रखे बिना लाठी चार्ज किया गया। जिसके फलस्वरूप १०-१२ बरस के बच्चे से लेकर ६०-७० साल के बूढ़ों तक के गहरी चोटें आई। एक आदमी का हाथ की हड्डी टूट गई, एक का हाथ उतर गया है एक के कंधे की हड्डी टूट जाने का सन्देह किया जाता है। लगभग ६०-७० आदमियों की राज्य के अस्पताल में मरहम पट्टी की गई।

उस दिन हिंडोन में लगभग २॥ बजे श्री चन्द्रशेखरजी तथा श्री टीकाराम जी पालीवाल जी ने एक सभा की। आप भाषण देने को ही थे कि आप गिरफ्तार कर लिये गये। आप की गिरफ्तारी के बाद जनता ने ५०-६० की टोलियां बनाकर फेरी लगानी और हड़ताल करानी शुरू की। जैसे ही टोलियां थाने के पास पहुंची तो पुलिस इन्हें आगे बढ़ने से रोका और इनके न मानने पर लाठी चार्ज कर दिया जिसमें लगभग २०० आदमी घायल हुए।

दौसा में

इसी प्रकार जलूस निकालने का प्रयत्न करते समय स्थानीय मिडिल स्कूल के छात्रों को साथियों से पिटवाया गया। पुलिस के इस रवैय्ये के विरोध में यहां के अध्यापक मास्टर रामकरणजी शर्मा ने अपनी नौकरी से १४ ता० को स्तीफा दे दिया। १४ ता० को यहां मुकम्मल हड़ताल रही। और जब जिला मजिस्ट्रेट और थानेदार ने जनता को आश्वासन दिलाया कि पुलिस की ओर से ऐसी बेजा हरकतें भविष्य में न होंगी तब कहीं उन्होंने हड़ताल खोली। उसी दिन शाम को श्रीराम करण जी व वीरेन्द्रजी को गिरफ्तार करके जयपुर भेज दिया गया।

झुन्झुनूं में स्वामी पुरुषुखदास जी ने भी अपने पद से स्तीफा दे दिया है।

कारावास के सीखचों में
१४ वीर महिलायें ; १३२ वीर लाल

जयपुर में—
(१) श्रीमती रमादेवी देश पांडे (दलपति)
(२) ,, इन्दिरा देवी
(३) ,, सुमित्रा देवी
(४) ,, दिव्या देवी
(५) ,, सुशीला देवी
(६) ,, शारदा देवी
(७) ,, दीपचन्द जी बख्शी (वृ०)
(८) ,, गोपीरामजी जोशी
(९) ,, मथुराप्रसाद जी
(१०) ,, माधोप्रसाद जी
(११) ,, लक्ष्मीप्रसाद जी
(१२) ,, किशोरीलाल जी
(१३) ,, भगवानदास जी
(१४) ,, जमनादेवी (वृ०)
(१५) ,, सरस्वती देवी
(१६) ,, भारती देवी
(१७) ,, कमला देवी
(१८) ,, भागो देवी
(१९) ,, दुर्गादेवी
(२०) ,, गुलाबदेवी
(२१) ,, रामादेवी

चौमूं में—
(१) श्री राधाकृष्णजी यादव (दलपति)
(२) ,, घीसालाल जी
(३) ,, मदनमल जी माली
(४) ,, सीतारामजी व्यास (दलपति)
(५) ,, चौथमल जी जैन
(६) ,, ख्यालीदत्तजी जैन
(७) ,, भैरूराम जी शर्मा
(८) श्रीमती सीताराम जी शर्मा (दलपति)
(९) श्री अमरनाथ जी जाट
(१०) श्री रामदेव जी विजय वर्गीय

हिन्डौन में—
(१) श्री टीकारामजी पालीवाल
(२) श्री चन्द्रशेखर जी शर्मा
(३) श्री रामजीलाल जी लोहिया
(४) श्री ताराचंद जी बजाज

सीकर—
(१) श्री टेडराज खेतान (दलपति)
(२) श्री गौरीशंकर वियानी
(३) श्री गुलाबचंद छबड़ा
(४) श्री मूलचंद जलधारी

सवाई माधोपुर—
(१) श्री भालचन्द्र जी शर्मा (दलपति)
(२) ,, धरेन्द्रसिंह जी
(३) ,, कैलाशचन्द्र जी
(४) ,, कस्तूरचन्द्र जी

नीम का थाना—
(१) श्री ज्ञानचन्द्र जी
(२) ,, रामगोपाल जी

जय-प्रजा | ९

जनता के अनुशासन की प्रशंसा

हिन्दुस्तान टाइम्स की सम्मति

जयपुर के अधिकारी जो अपने को न्याय और शान्ति की रक्षा करने का जिम्मेदार कहते हैं, यह कहने से कभी नहीं चूकते कि जनता में अनुशासन नहीं है और वह उत्तेजना पैदा करने वाले काम करती है। वे यह कह कर कि भीड़ ने पुलिस के ऊपर जूते आदि फेंके पुलिस के व्यवहार को उचित और न्याय्य ठहराने का प्रयत्न करते हैं; और यह कहते हैं कि पुलिस वाले तो बड़े सहृदय होते हैं। अगर सत्याग्रही दूसरों पर पत्थर आदि फेंकें तब तो हम उन्हें बिना हिचकिचाहट के दुराग्रही करेंगे। लेकिन मंगलवार की रात को जब कि महात्माजी जयपुर होकर गुजरे, हजारों आदमियों की भीड़ स्टेशन पर लगभग २ घंटे तक शान्ति पूर्वक बैठी रही और पत्थर फेंकने में लगी रहने की बजाय राम—नाम की महिमा उच्च स्वर से गाती रही; उसके इस व्यवहार से तो यही मालूम पड़ता है कि जनता में अपूर्व अनुशासन है। प्रजा-मंडल जो कि इस समय सरकार

आगरा से प्रकाशित 'जय प्रजा' के जयपुर में प्रसारित करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया

पत्र व्यवहार

गांधी का लिनलिथगो को पत्र

बनारस जाते हुए,
9 मई, 1939

प्रिय लॉर्ड लिनलिथगो,

मैंने जान-बूझकर आपको तकलीफ देने से खुद को रोका, जिस समय आप भ्रमण कर रहे थे और आंशिक छुट्टियां ले रहे थे। तालचेर के संबंध में आपके शीघ्र उत्तर के लिए धन्यवाद। वहां की परिस्थिति ऐसी नहीं है जिसका विश्लेषण किया जा सके। एक पल को उम्मीदें ऊंची उड़ान भरती हैं और अगले ही पल टुकड़े-टुकड़े होकर धूल में मिल जाती हैं। अब यह महाराजा की प्रतिज्ञा नहीं, बल्कि सर्वोपरि सत्ता के प्रतिनिधियों के शब्द हैं। जनता नहीं समझ सकेगी कि कोई पदाधिकारी जो बात बोल रहा है, वह अधिकार से बोल रहा है या बिना अधिकार के। मैं जानता हूं कि आप अपनी नजर जमाए हुए हैं और मैं आश्वस्त हूं कि आप बरसात शुरू होने के पहले तालचेर के लोगों को इस उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने के रास्ते तलाशेंगे।

जयपुर का बेहद सीधा मामला अभी सुलझने में कुछ और समय लेगा। मुझे पता चला है कि कुछ कैदियों को रिहा किया गया है। सत्याग्रह रोके जाने के बाद भी लोगों को बंदी बनाए रखने का कोई कारण दिखाई नहीं देता, वह भी सांपों से भरे हुए एक पुराने किले में। न ही सेठ जमनालालजी को एकांतवास में रखने का कोई अर्थ मालूम पड़ता है, यदि उनको नजरबंद किए जाने का कारण ही अब नहीं रहा। प्रशासकों को यह डर था कि सत्याग्रह के प्रचार के लिए वे जयपुर में प्रवेश कर रहे हैं। लोगों की यह मांग बुनियादी मांग से भी कम है। यदि उन्हें नागरिक स्वतंत्रता का आश्वासन मिल जाए तो वे निश्चिंत हो जाएंगे। मैं तो यही सोचता हूं कि जयपुर कोई कठिनाई पैदा नहीं करेगा।

और अंत में राजकोट की बात। जो आदेश आया, वह फंदे की तरह मेरी गर्दन से लिपटा हुआ है। यह परिस्थिति मेरे सभी संसाधनों को नष्ट किए जा रही है। मैं अभी जिस तरीके को अपना रहा हूं, वह मुझे नया और मुश्किल लग रहा है। हालांकि मैं सर्वोपरि सत्ता का त्याग नहीं करने जा रहा, लेकिन मैं इसे स्वीकार भी उतना ही कर रहा हूं जितना नेपथ्य में रहते हुए कर सकता हूं और साथ ही मैं दरबार श्री वीरावाला को विश्वास में लेने का प्रयास कर रहा हूं। दिल्ली से राजकोट लौटने के बाद मैंने देखा कि इस निर्णय के बदले में मेरे सामने मुश्किलों का एक पहाड़ आ गया है जिसका मुझे सामना करना है। कठिनाइयां अब भी मौजूद हैं और वे जमा होती जा रही हैं। लेकिन मैं समझता हूं कि शिष्टता के नाते मुझे बात-बात पर आपके या आपके प्रतिनिधियों के पास नहीं चले आना चाहिए। मुझे तभी आना चाहिए जब आवश्यक हो। तब तक मैं दरबार श्री वीरावाला को राजी करने की कोशिश करता हूं और देखता हूं यदि ठाकुर साहब की अधिसूचना के अनुरूप कोई नतीजा निकल पाता है। यदि आपको समय मिले तो आप आकर राजकोट की गतिविधियों को देखें। मुझे कहना होगा कि राजनीतिक विभागों के काम को देखकर मुझे अब तक के अनुभव में प्रसन्नता नहीं हुई है। मैं देखता हूं कि वायसराय चाहे कितने ही मजबूत हों, लेकिन उनमें अपने विचारों के अनुरूप कार्रवाई करने की शक्ति नहीं होती। आप इस तुलना से बुरा नहीं मानेंगे। यदि हम एक-दूसरे की कठिनाइयों को समझ लें, तो मैं आपके प्रति सहानुभूति रख पाऊंगा, बजाए इसके कि मैं आपको अनगिनत

छोटी-छोटी खामियों के लिए दोष देता रहूं।

पहले कलकत्ता और फिर चम्पारण के एक सुदूर गांव वृन्दावन में भ्रमण करने के बाद मैं राजकोट लौट रहा हूं। उम्मीद है कि 12 तारीख को मैं वहां पहुंच जाऊंगा।

हृदय से आपका,
मो.क. गांधी

(द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, खंड 69, पृष्ठ 248-249)

लिनलिथगो का गांधी को पत्र

वाइस रीगल लॉज, शिमला
15 मई, 1939

प्रिय श्री गांधी,

आपके 9 मई के मैत्रीपूर्ण पत्र के लिए धन्यवाद। इस पत्र की कद्र मेरे लिए इस कारण से और भी बढ़ जाती है कि मैं यह महसूस करता हूं कि आप कितने दबाव के बीच काम कर रहे हैं; और फिर आपने यह पत्र रेलगाड़ी से लिखा है। मैं आपको इसलिए भी धन्यवाद देना चाहता हूं कि मेरे छुट्टी पर रहते आपने अपनी हद तक तो मुझे काम-काज से मुक्त रखा।

2. आपने जिन तीन समस्याओं का जिक्र किया है उनके संबंध में लिखी आपकी बातें मैं ध्यान से पढ़ गया हूं, और मेरा खयाल है, शिष्टता का तकाजा है कि अपनी समझ के अनुसार वर्तमान परिस्थिति के बारे में आपसे दो शब्द कहूं, हालांकि मैं आपको सिर्फ अपना दृष्टिकोण बताने के लिए ऐसा कर रहा हूं, और मेरा यह आशय बिलकुल नहीं है कि आप मेरी बातों पर मुझे अपनी राय लिखें, और न मैं यही समझता हूं कि इन मामलों के बारे में लंबे पत्र-व्यवहार से कोई प्रयोजन सिद्ध होगा।

3. तालचर में जो कुछ हो रहा है, उसे मैं ध्यानपूर्वक देखता रहा हूं। मुझे पूरा विश्वास है कि अंगुल के शरणार्थियों से भेंट के समय सहायक राजनीतिक एजेंट ने स्पष्ट कर दिया था कि वह किसी तरह का वादा करने या कोई समझौता करने की स्थिति में नहीं है। लेकिन यह तो बीती बात हो चुकी है, और जैसा कि आपने सुना होगा, राजा साहब ने अभी हाल में एक घोषणा की थी। उसे देखकर मुझे लगा था कि इससे शरणार्थियों की शेष सभी महत्वपूर्ण शिकायतें दूर हो जाएंगी। इसका वांछित परिणाम नहीं हुआ, इससे जितने निराश आप हैं उतना ही मैं भी हूं। लेकिन आगे और भी छानबीन शुरू कर दी गई है, और मुझे उम्मीद है कि समस्या शीघ्र ही हल हो जाएगी।

4. जहां तक जयपुर का संबंध है, आपने सुना ही होगा कि हाल में ही जयपुर के अधिकारियों और सेठ जमनालाल बजाज के बीच बातचीत हुई है, और इस मामले में भी निकट भविष्य में कठिनाइयों का उपयुक्त हल निकल आने की मुझे आशा है।

5. राजकोट में आपको जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है उनके बारे में जानकर मुझे बहुत दु:ख हुआ है। विभिन्न वर्गों के परस्पर-विरोधी हितों के कारण यह मामला गंभीर रूप से उलझ गया प्रतीत होता है। लेकिन मैं उम्मीद करता हूं कि किसी और समाधान के अभाव में समिति की नियुक्ति में खास देर नहीं की जाएगी। मुझे मालूम हुआ है कि न्यायिक आयुक्त ने इस बात का फैसला अब कर दिया है कि सरदार द्वारा नामजद अमुक सदस्य राज्य की प्रजा हैं या नहीं, और केवल एक

ही प्रारंभिक मुद्दा तय करने को रह गया है कि आपने मुसलमानों और भायातों को जो आश्वासन दिए वे सशर्त थे या बिना शर्त। मुझे मालूम हुआ है कि इस बात पर सहमति हो चुकी है कि इस मामले को स्वतंत्र न्यायिक अधिकरण को सौंप दिया जाए और अब केवल तय यह होना है कि वह न्यायिक अधिकरण कौन हो या उसके विचारार्थ सौंपे जाने वाले मामले की ठीक-ठीक शब्दावली क्या हो। कहने की जरूरत नहीं कि मैं राजकोट की घटनाओं पर पूरा ध्यान रखूंगा।

6. आपने जो सहानुभूतिपूर्ण बातें कही हैं, उनका मैंने तनिक भी बुरा नहीं माना है, और हम दोनों की अपनी-अपनी कठिनाइयां तो हैं ही। लेकिन यह कहना सर्वथा उचित होगा कि राजनीतिक विभाग मेरी हिदायतों का वफादारी के साथ पालन करेगा, इसमें मुझे कोई शंका नहीं है।

शुभेच्छापूर्वक,
हृदय से आपका,
लिनलिथगो

(सम्पूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ 510-511)

गांधी का लिनलिथगो को पत्र

बिड़ला भवन,
मालाबार हिल, बम्बई
22 जून, 1939

प्रिय लॉर्ड लिनलिथगो,

16 तारीख के पत्र के लिए आपको धन्यवाद।

हालांकि यह एक दु:खद बात है कि पृथ्वीसिंह नामक कैदी को रिहा नहीं किया जा सकता, किन्तु आपके निर्णय को मैं आसानी से समझ सकता हूं। मुझे अगले मौके की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

जयपुर का मामला अभी लटका ही हुआ है। पता नहीं, अब इस मामले के हल की आशा की जा सकती है या नहीं। जहां तक मैं जानता हूं, खुद महाराजा साहब तो सेठ जमनालालजी तथा अन्य कैदियों को रिहा करने, प्रजामंडल को मान्यता प्रदान करने और पूर्ण नागरिक स्वतंत्रता, बशर्ते कि यह अहिंसा की सीमा का उल्लंघन न करे, प्रदान करने को तैयार थे।

एक दूसरा विषय भी है, जिसका इस पत्र में उल्लेख कर देना बेहतर होगा। मैं समझता हूं कि कुछ ऐसे राजा हैं जो मुझसे मिलना चाहते हैं, किन्तु इस भय से कि कहीं राजनीतिक विभाग उसे नापसंद करे, वे मुझसे बात करने में हिचकिचाते हैं। जैसा कि मैंने नई दिल्ली में आपके साथ हुई बातचीत में कहा था, मेरे विचार से उन्हें किसी भी व्यक्ति से मिलने को स्वतंत्र होना चाहिए, बशर्ते कि वे यह सब खुले रूप में करते हैं। यदि इस विषय में आपकी नीति की गुप्त या खुली, जो भी ठीक लगे, घोषणा कर दी जाए तो यह एक अच्छी बात होगी। मैं महसूस करता हूं कि मेरे-जैसे कुछ मामलों में ऐसी अनुमति दे देना काफी न होगा। यह देखते हुए कि देशी राज्यों की जनता का भारत भर में कांग्रेस व अन्य लोगों के साथ घनिष्ठ राजनीतिक और सामाजिक संबंध हैं, क्या यह बुद्धिमत्तापूर्ण और उचित नहीं होगा कि राजाओं को अपने राज्य की जनता पर प्रभाव रखने वाले

लोगों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध कायम करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए? कांग्रेसियों व अन्य लोगों के साथ बाहरी लोगों-जैसा व्यवहार करना इतना अस्वाभाविक लगता है कि यह दीवार ज्यादा देर तक टिक नहीं सकती। यदि यह दीवार संघर्ष और दुर्भावना के उत्पन्न होने के बाद गिरी तो दु:ख की बात होगी। पता नहीं, आपको मालूम है अथवा नहीं कि कुछ राज्यों ने कांग्रेस का विरोध करने वाले लोगों को आमंत्रित किया है या उनके आगमन का स्वागत किया है। मैं इसकी कोई शिकायत नहीं करता। किन्तु अक्सर राजनीतिक विभाग के उकसाने पर राज्यों में कांग्रेस-जनों के जाने पर जैसा विरोध प्रकट किया जाता है, उसको देखते हुए यह एक स्पष्ट विरोधाभास है।

हृदय से आपका
मो.क. गांधी

(सम्पूर्ण गांधी वांगमय-69, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1978, पृष्ठ 396-397)

लिनलिथगो का गांधी को पत्र

वायसराय लॉज शिमला,
1 जुलाई, 1939

प्रिय श्री गांधी,

22 जून के आपके पत्र के लिए अनेक धन्यवाद। इस पत्र ने एक-दो बिंदुओं को उठाया है जिनका उल्लेख मैं अपने इस जवाबी पत्र में करना चाहूंगा।

2. जहां तक जयपुर का प्रश्न है, मुझे पूर्ण विश्वास है कि जयपुर दरबार सेठ जमनालालजी को इससे अधिक बंदी बनाकर नहीं रखना चाहता, जितनी आवश्यकता है। आपको अवश्य याद होगा कि उन्होंने शुरुआत में जमनालालजी की गिरफ्तारी टालने का बहुत प्रयास किया था। सेठ जमनालालजी को उन सभी परिस्थितियों के बारे में पूरी जानकारी दी जा चुकी है जिनमें दरबार उनके प्रति और अन्य कैदियों के प्रति अपनी कार्रवाई करेगा। और मेरी जानकारी के अनुसार महाराजा साहिब के प्रस्थान के बाद से यह स्थिति बदली नहीं है।

3. मैंने बहुत ध्यानपूर्वक उस बात को पढ़ा जो आपने अपने पत्र के अंतिम पैरा में लिखी है। मैं आभारी हूं कि आपने अपना दृष्टिकोण मुझे बताया। यह कहना सही होगा कि राजनीतिक विभाग ने 'कांग्रेस विरोधी' व्यक्तियों को (यदि आपके शब्दों में कहने की अनुमति हो), कांग्रेस समर्थक व्यक्तियों से अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया है कि वे शासकों से और उनके विषयों से संपर्क स्थापित करें।

आपके अच्छे स्वास्थ्य की आशा करता हूं।

हृदय से आपका
लिनलिथगो

(द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, खंड 69, पृष्ठ 468-469)

पोपटलाल चूडगर का जमनालाल बजाज को पत्र

मेरा कर्तव्य है कि मैं आपको जयपुर के प्रधानमंत्री सर ब्यूचैम्प सेंट जॉन के उस साक्षात्कार की जानकारी दूं, जो मैंने गत 9 जनवरी को सुबह 11 बजे उनके बंगले पर किया था। मैंने उनसे जयपुर की परिस्थितियों पर चर्चा की जिसका सार कुछ इस प्रकार है:

मैंने सर ब्यूचैम्प को बताया कि आप पर जयपुर में प्रवेश करने पर लगा प्रतिबंध देश के लाखों लोगों के लिए अत्यंत दु:खद और अप्रत्याशित है क्योंकि आप एक प्रतिष्ठित और शांतिप्रिय व्यक्ति हैं और आपका लक्ष्य जयपुर रियासत के अकालग्रस्त क्षेत्रों में राहत के उपाय करना था। इस पर सर ब्यूचैम्प ने कहा कि वे इस बात से सहमत हैं कि आप एक शांतिप्रिय व्यक्ति हैं लेकिन जयपुर में प्रवेश करने से आपका और आपके साथियों का संपर्क उन अकालग्रस्त क्षेत्रों के लोगों से होता जो राजनीतिक कारणों से उन्हें पसंद नहीं था। मैंने उनसे कहा कि आपसे अनिश्चित समय तक इस आदेश के पालन की उम्मीद नहीं की जा सकती। मैंने आपके द्वारा जारी बयान का उल्लेख करते हुए कहा कि यदि यह प्रतिबंध हटा दिया जाए तो अनावश्यक संकटों को टाला जा सकता है और यही राज्य एवं जनता के हित में होगा। वे अपने निर्णय पर अटल थे और उन्होंने कहा कि आपके द्वारा नियमों का उल्लंघन किए जाने से उत्पन्न होने वाली किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए वे पूरी तरह तैयार हैं। उन्होंने कहा कि कांग्रेस के लोग अहिंसक संघर्ष के जरिए बड़ा आंदोलन चलाना चाहते हैं। उनके अनुसार अहिंसा एक ऐसा हथियार है, जो हिंसा से भी अधिक शक्तिशाली हो सकता है। उन्होंने कहा कि भारत के लोग अंग्रेजों की नस्ल में उपस्थित मानवीय प्रवृत्ति का फायदा उठा रहे हैं। यदि उनकी जगह यहां जापान या हिटलर जैसी शक्ति होती तो भारतीयों का यह अहिंसक संघर्ष सफल नहीं हो पाता।

फिर उन्होंने कहा कि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि अहिंसा चाहे जितनी मर्यादित हो, उसका जवाब हिंसा से दिया जाना चाहिए और जयपुर के अहिंसक आंदोलन के लिए उनका उत्तर होगा मशीनगन। मैंने तब उनसे कहा कि न तो सभी अंग्रेज उनकी इस बात से सहमत होंगे और न ही उनकी अंग्रेजी नस्ल। इसके जवाब में उन्होंने कहा कि ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी। परंतु व्यक्तिगत रूप से उनका विचार था कि अहिंसा और हिंसा के बीच कोई अंतर नहीं है और अहिंसा के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करने में कोई बुराई नहीं है।

यदि आप या महात्माजी इस वक्तव्य का प्रयोग करना चाहें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

(जमनालाल बजाज को पत्र, 15 जनवरी, 1939/हरिजन, 11 फरवरी, 1939)

गांधी का ब्यूचैम्प को पत्र

बारडोली,
18 जनवरी, 1939

प्रिय मित्र,

मेरा पहला विचार तो यह था कि मैं श्री चूडगर द्वारा जमनालालजी को लिखे गए पत्र को प्रकाशित करूं और जमनालालजी पर लगे प्रतिबंध के बारे में आपके दृष्टिकोण का वर्णन करूं। लेकिन मुझे लगा

कि मेरा उद्देश्य अधिक सफल तब होगा जब मैं इस पत्र की एक प्रति भेजकर आपको अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए आमंत्रित करूं। मेरा उद्देश्य राजाओं, ब्रिटिश अधिकारियों और जनता के बीच समन्वय स्थापित करना और मैत्रीपूर्ण तरीके से न्याय सुनिश्चित करना है। अब क्योंकि मुझे आपको पत्र लिखना आवश्यक लगा है, इसलिए श्री चूडगर के पत्र पर आपकी राय चाहे कुछ भी हो, मैं यह प्रस्ताव रखना चाहूंगा कि श्री जमनालालजी पर लगा प्रतिबंध राज्य की शांति को संकट में डाले बिना हटाया जा सकता है। निश्चित रूप से मैं मानता हूं कि प्रतिबंधों के लगने से शांति अवश्य संकट में आ जाती है।

हृदय से आपका
मो.क. गांधी

(पांचवे पुत्र को बापू के आशीर्वाद, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1953, पृष्ठ 397-398)

ब्यूचैम्प का गांधी को पत्र

जयपुर, राजपूताना
20 जनवरी, 1939

प्रिय मिस्टर गांधी,

गत 18 तारीख को प्राप्त हुए आपके उस पत्र का जवाब लिख रहा हूं जिसके साथ श्री चूडगर की ओर से सेठ जमनालालजी को लिखे गए पत्र की एक प्रति संलग्न थी। इस पत्र को प्रकाशित करने से पहले इसमें लिखी हुई बातों की सच्चाई पता करने का आपका निर्णय विवेकपूर्ण था जिसकी मैं व्यक्तिगत रूप से प्रशंसा करता हूं। अब मैं आपको यह बता सकता हूं कि इस पत्र में मेरे दृष्टिकोण का जो उल्लेख है, वह पूरी तरह गलत है। मुझे समझ नहीं आ रहा कि श्री चूडगर को मेरे बारे में इतनी बड़ी गलतफहमी कैसे हुई। मैं यह अवश्य कह सकता हूं कि इस घटना के बाद मुझे भविष्य में ऐसा कोई साक्षात्कार करने में हिचकिचाहट होगी। क्योंकि अब आप तथ्यों को जान चुके हैं, इसलिए मुझे विश्वास है कि आप इस तरह के पत्र को प्रकाशित नहीं करना चाहेंगे। फिर भी यदि आप इसे प्रकाशित करने का निर्णय लेते हैं तो जितनी जल्दी संभव हो, मुझे इसकी सूचना दे दीजिएगा ताकि मैं इस संबंध में उचित कार्रवाई कर सकूं।

इस विमर्श के लिए एक बार फिर आपका धन्यवाद करता हूं।

हृदय से आपका
डब्ल्यू. ब्यूचैम्प सेंट जॉन

(पांचवे पुत्र को बापू के आशीर्वाद, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1953, पृष्ठ 399)

गांधी का ब्यूचैम्प को पत्र

बारडोली,
22 जनवरी, 1939

प्रिय मित्र,

पिछली 18 तारीख को मेरे द्वारा भेजे गए पत्र का शीघ्र उत्तर देने के लिए आपका धन्यवाद करता हूं। मुझे आशा थी कि यदि आप श्री चूडगर के वक्तव्य से असहमत होंगे तो अपना पक्ष मुझे भेजेंगे। यह विषय मेरे लिए महत्वपूर्ण है जिसे मैं इस तरह नहीं छोड़ सकता। यदि आप चाहें तो मुझे श्री चूडगर के पत्र के साथ-साथ आपका पक्ष भी प्रकाशित करने में प्रसन्नता होगी।

हृदय से आपका
मो.क. गांधी

(पांचवे पुत्र को बापू के आशीर्वाद, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1953, पृष्ठ 399)

ब्यूचैम्प का गांधी को पत्र

डी.ओ. संख्या 96/ प्रधानमंत्री कार्यालय जयपुर, राजपूताना
25 जनवरी, 1939

प्रिय मिस्टर गांधी,

पिछली 22 तारीख के आपके पत्र के लिए हार्दिक धन्यवाद।

एक ऐसे साक्षात्कार को दर्ज करना मेरे लिए सहज नहीं है, जो निजी और गोपनीय रखा जाना था और जिसे गलत रूप में प्रकाशित करने की धमकी मुझे पहले ही दी जा चुकी है। मुझे विश्वास है कि आप मेरे इस स्वाभाविक संकोच के प्रति सहानुभूति रखेंगे। मुझे विश्वास है, और आप भी इससे सहमत होंगे कि इस प्रक्रिया से केवल कटुता पैदा हो सकती है। मुझे इससे अब तक कोई भी उपयोगी लक्ष्य पूरा होता हुआ नहीं दिखता।

जैसा मैं पहले भी कह चुका हूं, यदि श्री चूडगर इस पत्र को प्रकाशित करने का निर्णय लें, तो मुझे विश्वास है कि आप मुझे पहले सूचना अवश्य देंगे ताकि मैं उचित कार्रवाई कर सकूं।

हृदय से आपका
डब्ल्यू. ब्यूचैम्प सेंट जॉन

(पांचवे पुत्र को बापू के आशीर्वाद, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1953, पृष्ठ 400)

गांधी का ब्यूचैम्प को पत्र

बारडोली,
27 जनवरी, 1939

प्रिय मित्र,

पिछली 25 तारीख के पत्र के लिए धन्यवाद! मुझे लगता है कि मैं आपके संकोच के प्रति सहानुभूति नहीं रख पाऊंगा। श्री चूडगर के द्वारा दी गई सूचना महत्वपूर्ण है और इसका प्रकाशित होना आवश्यक है। मेरी चिंता बस यह थी कि मैं कोई ऐसी खबर न प्रकाशित कर दूं जिसकी सत्यता पर बाद में सवाल उठाए जा सकें।

मैं श्री चूडगर के साथ संपर्क में हूं। यदि वे सेठ जमनालालजी से कही हुई अपनी बात पर अडिग रहते हैं, तो मुझे जयपुर की जनता के हित में यह पत्र प्रकाशित करना ही होगा। लेकिन मैं इस पत्र के प्रकाशित होने की स्थिति में आपके द्वारा की जाने वाली 'उचित कार्रवाई' का अर्थ नहीं समझ सका हूं।

हृदय से आपका
मो.क. गांधी

(पांचवे पुत्र को बापू के आशीर्वाद, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1953, पृष्ठ 400–401)

पोपटलाल चूडगर का जमनालाल बजाज को पत्र

'मैंने महात्माजी और सर ब्यूचैम्प के बीच हुए पत्र-व्यवहार को पढ़ा जिसकी समाप्ति 27 तारीख को महात्माजी की ओर से भेजे गए पत्र के साथ हुई है। उसके बाद मैंने ध्यानपूर्वक वह पत्र दुबारा पढ़ा जो मैंने आपको 15 तारीख को भेजा था। मैं कह सकता हूं कि उस पत्र में मैंने आपको जो भी बताया था, वह मेरे और सर ब्यूचैम्प के बीच हुई बातचीत का बिल्कुल सही विवरण है।'

(हरिजन, 11 फरवरी, 1939)

जयपुर सत्याग्रह पर गांधी

संदेश: जयपुर राज्य प्रजामंडल को

(एम.के. गांधी)

आज हमारे देश में जो कुछ हो रहा है, उसका अध्ययन जो कोई भी व्यक्ति करना चाहेगा, वह देखेगा कि हमारा जो ध्येय है उसे हम तभी प्राप्त कर सकते हैं जब हम शांतिमंत्र को–अहिंसा के सिद्धांत को–सिद्ध कर लें। अशांति से शांति पैदा नहीं की जा सकती। ऐसा प्रयास तो कांटों से अंगूर चुनने या बबूल से अंजीर चुनने जैसा होगा। जितना ही मैं इस प्रश्न की गहराई में जाता हूं, उतनी ही मेरे मन में यह धारणा पक्की होती जाती है कि हमारा प्रथम कर्तव्य इस मूल तथ्य को समझने का है। एक समय था, जब मैं इस भ्रम में पड़ा हुआ था कि मैंने उस पाठ को सीखने का गुर हासिल कर लिया है। किंतु आज मुझे शंका ने घेर लिया है। मैं नहीं जानता कि सच्ची शांति या अहिंसा प्राप्त करने के लिए मुझमें पर्याप्त शुद्धता है। ऐसी मनोस्थिति में मैं और कुछ नहीं सोच सकता हूं और न ही कोई और बात कर सकता हूं। लेकिन मेरी दशा चाहे जैसी भी हो, मुझे इस बारे में तनिक भी संदेह नहीं कि अहिंसा के बिना स्वराज्य नहीं हो सकता और न ही कोई रचनात्मक कार्य हो सकता है। रचनात्मक कार्य अहिंसा का ही सौम्य रूप है, लेकिन अहिंसा की सच्ची कसौटी इस बात में है कि हम अपने स्वीकृत ध्येय की सेवा करते हुए निस्संकोच भाव से मृत्यु का वरण करने की क्षमता अर्जित करें; ऐसी मृत्यु जो सर्वथा निर्दोष हो। अब प्रश्न यह है कि इस शक्ति को कैसे प्राप्त किया जाए। मैं चाहूंगा कि आप इस पर विचार करें।

(हरिजन, 4 जून, 1938)

जमनालालजी पर प्रतिबंध

(एम.के. गांधी)

जमनालालजी पर जो प्रतिबंध लगाया गया है, वह बड़ा अजीब है। दरअसल जमनालालजी एक ऐसे आदमी हैं, जिनकी उपस्थिति से कहीं खतरा होने की कम से कम संभावना है। लोग तो हमेशा शांति कराने वाले के रूप में ही उन्हें जानते रहे हैं। सरकारी अधिकारियों के साथ उनके संबंध बहुत ही सुखद रहे हैं। उनके इन गुणों की कद्र भी इतनी हुई है कि 1916 में या उसके आसपास उन्हें रायबहादुर का खिताब दिया गया था, जिसे असहयोग के दिनों में उन्होंने छोड़ा है। व्यापारी दुनिया में वे एक बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति हैं और बहुत बड़े व्यापारी होने के अलावा बैंकर भी हैं। यों तो वे बड़े उत्साही कांग्रेसवादी हैं, मगर आंदोलन के रूप में वह कभी मशहूर नहीं हुए। हां, रचनात्मक कार्य और समाज–सुधार में वे सबसे आगे हैं। यह जरूर सच है कि अपनी अंतरात्मा के अनुसार चलने का उनमें साहस है और उसके लिए वे कई बार अपने सर्वस्व की भी बाजी लगा चुके हैं। जेल से वे कभी नहीं डरते। जमनालालजी पर तामील किए गए हुक्म में जो कुछ कहा गया है, स्पष्ट: वह गलत है और उन पर बिलकुल लागू नहीं होता। शायद यह कहा जाए कि हुक्म की शब्दावली तो खाली जाब्ते के लिए है, क्योंकि बिना उसके कानूनन उन पर ऐसा हुक्म तामील नहीं किया जा सकता। अगर

ऐसा हो, तो उससे निश्चित रूप से यही साबित होता है कि जमनालालजी जैसे लोगों पर लागू करने की मंशा से यह कानून हर्गिज नहीं बना था। जमनालालजी जैसे व्यक्तियों को जयपुर या देश के किसी अन्य भाग में न आने देने के लिए उसका प्रयोग करना तो कानून का शुद्ध और स्पष्ट दुरुपयोग मात्र है। इसमें भी मजेदार अंश वह है जिसमें जमनालालजी को 'वर्धा' का कहा गया है, क्योंकि दरअसल तो वे जयपुर राज्य के ही हैं। वहीं उनकी जायदाद है और वहीं उनके माता-पिता व अनेक सगे-संबंधी रहते हैं।

ऐसे हुक्म के आगे मेरी ही सलाह पर जमनालालजी ने पूरी तरह सिर झुकाया है। इस बात की बड़ी अफवाह थी कि अगर उन्होंने जयपुर में दाखिल होने की कोशिश की तो शायद उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाएगा। इसलिए इस बारे में उन्होंने मुझसे सलाह ली कि अगर इस तरह का हुक्म उन पर तामील हो तो वे क्या करें। जयपुर के उनके कार्यकर्ताओं का तो यह मत था कि ऐसा कोई हुक्म हो तो वहीं फौरन वह उसको भंग करें। लेकिन मेरा मत इससे भिन्न था। अपनी राय पर पछताने की कोई वजह मुझे मालूम नहीं पड़ती। मैंने अपने मन में सोचा कि ऐसा हुक्म देना तो बड़े पागलपन का काम होगा और जो पागल हैं, उनकी बातों पर ज्यादा ध्यान नहीं देना चाहिए, बल्कि उन्हें शांत होने का मौका दिया जाए। मुझे मालूम हुआ है कि गिरफ्तारी के खयाल से उसके लिए बड़ी-बड़ी तैयारियां भी की गई थीं। अतः जो लोग गिरफ्तार करने के लिए आए थे, उन्हें जरूर एक तरह की निराशा हुई होगी।

जल्दबाजी नहीं करने और अधिकारियों को यह समझाने की कोशिश करने में कि उन्होंने जल्दबाजी में और गलत काम किया है, जमनालालजी का कोई नुकसान नहीं हुआ। जयपुर की प्रजा और एक जिम्मेदार आदमी होने के नाते, शायद यह उनका फर्ज ही था कि वे अधिकारियों को अपने निश्चय पर फिर से विचार करने का मौका दें। फिर भी वे ध्यान न दें और जमनालालजी इस हुक्म को भंग करने का निश्चय करें, जैसा कि उन्हें करना ही होगा, तो वे ऐसा और भी ज्यादा नैतिक शक्ति और प्रतिष्ठान के साथ करेंगे और अहिंसात्मक कार्य में तो नैतिक शक्ति की ही जरूरत भी है।

यह स्मरण रहे कि महाराजा तो अपने उन मंत्रियों के हाथों की कठपुतली मात्र हैं, जो सब बाहरी हैं, बल्कि उनमें से कुछ तो अंग्रेज हैं। वहां की प्रजा या वहां के प्रदेश के बारे में कुछ नहीं जानते। वे तो एक तरह से उन पर जबर्दस्ती लदे हुए हैं। जयपुर के पढ़े-लिखे घाटे में हैं, हालांकि बाहरी अधिकारियों के आने से पहले किसी-न-किसी रूप में जयपुर राज्य का काम चल ही रहा था। पिछले सप्ताह मुझे उन दुःखद बातों की चर्चा करनी पड़ी थी, जो राजकोट में अंग्रेज दीवान ने अपने बहुत थोड़े कार्यकाल में ही कर डालीं। इसमें कोई शक नहीं कि जयपुर के महकमा खास का, जिसमें सब बाहरी आदमी ही भरे हुए हैं, कम-से-कम यह कृत्य उनकी गैर जिम्मेदारी और अयोग्यता का एक दुःखद प्रदर्शन है। एक आदमी का, फिर वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, निर्वासन नगण्य-सी बात मालूम पड़ेगी। लेकिन घटनाएं शायद यही सिद्ध करेंगी कि यह मामला कम-से-कम मूर्खतापूर्ण और महंगा तो नहीं ही है, क्योंकि पाठकों को शायद ही यह पता हो कि जयपुर में प्रजामंडल भी है, जो पिछले छह साल से जमनालालजी की प्रेरणा से काम कर रहा है। इस समय जमनालालजी ही उसके अध्यक्ष हैं। मंडल एक शक्तिशाली संस्था है, जिसके सदस्य जिम्मेदार आदमी हैं, और उसने काफी रचनात्मक कार्य किया है। अगर यह प्रतिबंध नहीं उठा तो मंडल को भी अपना फर्ज अदा करना पड़ेगा। क्योंकि यह प्रतिबंध तो, ऐसा कहते हैं, मंडल के रचनात्मक और वैध कार्यों को भी रोकने की पेशबंदी है। अधिकारी लोग ऐसी संस्था के बढ़ते हुए प्रभाव को बर्दाश्त नहीं कर सकते, जिसका

उद्देश्य महाराजा की छत्रछाया के अंदर जयपुर में उत्तरदायी शासन प्राप्त करना है, फिर उसके साधन कितने ही अच्छे क्यों न हों।

जमनालालजी पर लगाया गया यह एक अपशकुन है। ऐसा मालूम पड़ता है कि जिन संस्थाओं की किसी भी रूप में कोई राजनीतिक आकांक्षा हो उनकी हलचलों को रोकने के लिए अख्तियार की जाने वाली सम्मिलित नीति की यह पेशबंदी है। और, अफवाह तो यह भी है कि राजपूताने की रियासतों द्वारा ग्रहण की जाने वाली यह एक संयुक्त नीति है। यह सिर्फ जयपुर के लिए ही सच हो या अन्य सभी रियासतों के लिए, यह सब पर्याप्त अपशकुन है और जमनालालजी तथा जयपुर की जनता के लिए अपनी पूरी शक्ति के साथ इसका मुकाबला करना आवश्यक है। यह जरूर है कि वह प्रतिरोध कांग्रेस के सत्य और अहिंसा के सिद्धांत के अनुरूप होना चाहिए।

(हरिजन, 14 जनवरी, 1939)

जयपुर राज्य प्रशासन की अधिसूचना

(एम.के. गांधी)

महाराजा साहिब बहादुर इस बात से राजी नहीं हैं कि जनता के प्रति जिम्मेदार प्रशासन वह है, जो जयपुर की प्रगति के वर्तमान स्तर पर उनकी प्रजा के लिए हितकारी हो। इसलिए वर्तमान प्रशासन व्यवस्था को आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करने का दृढ़ निश्चय रखते हुए भी महाराजा ऐसी किसी गतिविधि को अनुमति देने के लिए तैयार नहीं हैं जो मौजूदा व्यवस्था को चुनौती देती हो। जयपुर प्रजा मंडल के उद्देश्य इस नीति से भिन्न हैं और मंडल ने अपने लिए ऐसे कार्य निर्धारित किए हैं जिन्हें पूरा करना सरकार का बुनियादी दायित्व होना चाहिए, और अगर मंडल को उसकी गतिविधियों के लिए छूट मिले तो वह अपने सदस्यों को प्रशासन के सामने सीधे मुकाबले के लिए खड़ा कर देगा। इसलिए जयपुर प्रशासन ने प्रजा मंडल की अर्जी को ठुकरा दिया है जिसमें उसे मान्यता देने और एक संगठन की तरह काम करने की अनुमति देने की मांग की गई थी।

(हरिजन, 21 जनवरी, 1939)

जयपुर

(एम.के. गांधी)

जयपुर के प्रशासक तब तक प्रसन्न नहीं होंगे, जब तक वे यहां के देशभक्तों को होश में नहीं ले आते। अब उन्होंने जयपुर राज्य प्रजामंडल को प्रतिबंधित कर दिया है, जिसके अध्यक्ष जमनालालजी हैं। जमनालालजी ने जयपुर राज्य परिषद के अध्यक्ष को लिखा अपना पत्र प्रकाशित होने के लिए जारी किया है। पाठक इस पत्र को अन्य स्तंभ में पढ़ सकते हैं। इस पत्र के कारण उन पर लगा प्रतिबंध हटाया जा सकता है। मैंने पिछले सप्ताह के लेख में भूलवश जयपुर परिषद को बाहरी लोगों से भरा हुआ बता दिया था, लेकिन मैं समझता हूं कि इसमें राज्य से भी चार सदस्य शामिल हैं। निस्संदेह यह परिषद सामाजिक और मानवतावादी कार्यों के अलावा जमनालालजी एवं उनके साथियों से संबंधित

गतिविधियों को पूरी तरह समाप्त करने का मन बना चुकी है।

यह उन व्यक्तियों से निपटने का सबसे नया तरीका है, जिन्हें राज्य के प्रशासक पसंद नहीं करते। जयपुर प्रशासन एक राष्ट्रीय संकट को गति देकर स्वयं संकुचित होकर नहीं रह जाएगा, मैं केवल ऐसी आशा कर सकता हूं। तीन कारण हैं, जो जयपुर को अपनी कार्यशैली पर सवाल उठाने के लिए मजबूर करेंगे। जमनालालजी अपने आप में एक संस्था हैं। इससे बढ़कर, वे कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के सदस्य और कोषाध्यक्ष हैं। जयपुर में अपनाया गया तरीका विसंगतियों से भरा हुआ है और यह कई संघर्षों को जन्म देगा। अगर इसे चुनौती नहीं दी गई तो इसका सीधा अर्थ होगा उन सभी गतिविधियों का नाश, जो जनता की वैध राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए चल रही हैं।

जयपुर के बारे में सबसे अजीब बात यह है कि यहां के असली शासक ऊंचे ओहदे वाले अंग्रेज हैं, न कि महाराजा। क्या यह हो सकता है कि वे केंद्रीय नेतृत्व के विचारों के प्रतिनिधि हों? अगर ऐसा है तो हाल में की गई घोषणाओं का क्या होगा? और अगर ऐसा नहीं है तो क्या कोई अंग्रेज दीवान ऐसी नीतियों के साथ पहल कर सकता है, जो अंततः राज्य के लिए स्वयं ही संकट बन जाएं? मैं समझता हूं कि जयपुर का राजकोष पूरी तरह से भरा हुआ है। सबसे बुरी स्थिति में यह खजाना एक दीर्घकालीन जनविद्रोह को नियंत्रित करने के लिए पर्याप्त हो सकता है, यह देखते हुए कि आधुनिक हथियारों के बल पर जनभावना को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। समय आ गया है कि राजा और केंद्र सरकार मिलकर एक साझा कार्यनीति का निर्माण करें। या फिर जयपुर की नीति ही वह साझा नीति होने वाली है, जैसा कई लोग कह रहे हैं? मैं केवल आशा कर सकता हूं कि ऐसा नहीं होगा।

(हरिजन, 21 जनवरी, 1939)

कांग्रेस और देशी राज्य

टाइम्स ऑफ इंडिया के एक विशेष प्रतिनिधि ने पिछली 24 तारीख को बारडोली में गांधीजी का साक्षात्कार किया। प्रतिनिधि द्वारा यह पूछने पर कि पिछले सप्ताह के 'हरिजन' में आपके इस कथन का क्या अभिप्राय है कि 'यदि जयपुर के अधिकारी इस जिद पर अड़े रहे कि सेठ जमनालाल बजाज को रियासत में प्रवेश नहीं करने दिया जाएगा तो अखिल भारतीय संकट खड़ा हो जाएगा', गांधीजी ने कहा:

'सेठ जमनालाल जयपुर की प्रजा होते हुए भी अखिल भारतीय स्तर के आदमी हैं। वे कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य भी हैं और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि वे मूलतः एक शांतिप्रिय व्यक्ति हैं। वे उस संगठन के प्रधान हैं, जो पिछले कुछ सालों से जयपुर में कार्य करता आ रहा है और जिसे काम करने की अनुमति भी दी गई है। इसकी गतिविधियों में कभी कुछ भी गुप्त नहीं रहा है। इस संगठन में गंभीर प्रकृति के प्रसिद्ध कार्यकर्ता हैं, जिन्होंने पुरुषों और महिलाओं दोनों के बीच काफी ज्यादा रचनात्मक कार्य किया है। जयपुर में शासन तंत्र की बागडोर एक प्रसिद्ध राजनीतिक, सैनिक अधिकारी के हाथ में है; जमनालाल और उनके संघ अर्थात जयपुर राज्य प्रजामंडल के विरुद्ध घोषित प्रतिबंध के बारे में रियासत की नीति का निर्धारण और संचालन वही कर रहे हैं। मैं यह मानता हूं कि जयपुर के प्रधानमंत्री सर बीकम सेंट जॉन इस संबंध में जो भी कर रहे हैं, केंद्रीय सत्ता की कम-से-कम मौन स्वीकृति के बिना नहीं कर रहे होंगे, क्योंकि उसकी अनुमति के बिना वे जयपुर-जैसी

महत्वपूर्ण रियासत के प्रधानमंत्री भी नहीं बन सकते हैं।

यदि जयपुर के अधिकारियों की कार्रवाई से एकाएक प्रथम श्रेणी का संकट पैदा हो जाए तो ऐसा नहीं हो सकता कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और सारा भारत उदासीन भाव से चुपचाप देखता रहे और वहां जमनालाल बिना किसी अपराध के जेल में बंद कर दिए जाएं और प्रजामंडल के सदस्यों से भी ऐसा ही व्यवहार किया जाए। ताकत होते हुए भी कांग्रेस यदि इसका उपयोग नहीं करती है और जयपुर की जनता को इस प्रकार अपने समर्थन के लाभ से वंचित करके उनकी भावना का दमन होने देती है तो वह अपने कर्तव्य की अवहेलना करेगी। मेरे इस कथन का कि जयपुर या राजकोट में जो कुछ हो रहा है, उससे अखिल भारतीय संकट पैदा हो सकता है, यही अर्थ है।

मेरी राय यह है कि कांग्रेस द्वारा हस्तक्षेप नहीं करने की नीति तब तक राजनीतिमत्ता का श्रेष्ठ उदाहरण मानी जा सकती थी, जब तक कि रियासतों के लोगों में जागृति नहीं आई थी। लेकिन जब रियासतों के लोगों में चहुंमुखी जागृति है और अपने न्यायसंगत अधिकारों को स्थापित करने के लिए वे लंबी अवधि तक कष्ट सहने को तैयार हैं तो अब वह नीति कायरता की द्योतक होगी। यदि एक बार यह चीज समझ ली जाए तो सारे भारत में जहां भी कहीं स्वतंत्रता के लिए संघर्ष होता है, यह सारे भारत का संघर्ष माना जाएगा। जहां कहीं कांग्रेस ऐसा समझती है कि उसका हस्तक्षेप करना उपयोगी होगा, वहां इसे हस्तक्षेप अवश्य करना चाहिए।'

गांधीजी से एक और प्रश्न पूछा गया, 'एक संस्था के रूप में कांग्रेस का और विभिन्न प्रांतों के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का एक ऐसे मसले पर संकट खड़ा करना कहां तक उचित माना जा सकता है जिसका संबंध महज एक रियासत से ही है?' इसके उत्तर में गांधीजी ने कहा:

'मान लीजिए कि ब्रिटिश भारत के किसी खास जिले में जिलाधीश उस जिले के लोगों की हत्या कर दे तो क्या कांग्रेस के लिए हस्तक्षेप करना और अखिल भारतीय स्तर पर संकट खड़ा कर देना उचित नहीं होगा? यदि उसका उत्तर 'हां' हो तो हस्तक्षेप के विषय में कांग्रेस के आचरण की जांच करने के लिए जयपुर के मामले में भी यही बात लागू होती है। यदि कांग्रेस ने ऐसा प्रस्ताव न किया होता कि वह (रियासत में) हस्तक्षेप नहीं करेगी तो वास्तव में यह सवाल ही नहीं उठता। इसलिए बिना सोचे-समझे बात करने वाले लोग मुझ पर बहुत बार यह आरोप लगाते हैं कि मैंने यह क्यों कहा था कि भारतीय रियासतें संवैधानिक दृष्टि से हमारे लिए विदेशी राज्यों जैसी हैं। मैं यह आरोप स्वीकार नहीं करता। मैं रियासतों में घूमता रहा था और मुझे ठीक पता था कि रियासतों के लोग अभी तैयार नहीं हैं।

जिस क्षण वे लोग तैयार हो गए, कानूनी, संवैधानिक और कृत्रिम सीमाएं नष्ट हो गईं। यह बहुत बड़ा नैतिक प्रश्न है। कानूनी या संवैधानिक औचित्य और इसी तरह की दूसरी चीजें अपने-अपने क्षेत्र में तो सही हैं परंतु मानव मन के इन कृत्रिम बंधनों को तोड़कर ऊपर उठते ही ये चीजें मानव प्रगति में बाधक बन जाती हैं। मैं अपनी आंखों के सामने आज यही चीज होते देख रहा हूं। किसी बाहरी प्रेरणा के बिना ही मुझे यह सूझा कि समय आ गया है जब कांग्रेस को इस तरह का हस्तक्षेप करना चाहिए जैसाकि आप देख रहे हैं। यदि कांग्रेस ने नैतिक शक्ति का जो दर्जा हासिल किया है उसे वह कायम रखती है; दूसरे शब्दों में, यदि कांग्रेस अपनी अहिंसा की नीति का पालन कर पाती है तो यह हस्तक्षेप मंजिल-दर-मंजिल बढ़ता ही जाएगा।

लोग कहते हैं कि मैंने अपना दृष्टिकोण बदल दिया है और जो कुछ मैंने सालों पहले कहा था, अब मैं उससे उल्टा कहता हूं। सच्चाई यह है कि मैं वही हूं परंतु परिस्थितियां बदल गई हैं। मेरी बातें

और कार्य सामयिक परिस्थितियों द्वारा प्रेरित होते हैं। मेरे वातावरण में क्रमश: विकास होता रहा है और एक सत्याग्रही के रूप में मैं उससे प्रभावित हुआ हूं।'

प्रतिनिधि ने गांधीजी का ध्यान राजकोट और बड़ौदा की हाल की घटनाओं की ओर दिलाया जहां अल्पमत वाले लोग कांग्रेस के हुक्म चलाने के रवैए के खिलाफ विरोध प्रकट कर रहे हैं। गांधीजी ने उत्तर में कहा कि इन घटनाओं से वे विचलित नहीं हुए हैं। उन्होंने कहा:

'चूंकि इस वक्त साम्प्रदायिक मनमुटाव है, इसलिए स्वतंत्रता आंदोलन वापस ले लिया जाए या उसे फिलहाल रोक लिया जाए, ऐसा नहीं हो सकता। मुझे दिखाई दे रहा है कि इतिहास अपने-आपको दोहरा रहा है और सत्ताधारी, जिन्हें कि पीछे हटना पड़ रहा है, अपना होश खो बैठे हैं और (जनता में) अंदर-ही-अंदर झगड़े खड़े कर रहे हैं और मतभेद उभार रहे हैं। उन्हें आशा है कि वे इन मतभेदों के द्वारा अपने को जैसे-तैसे सत्ता में बनाए रख सकेंगे। यदि लोगों को यह पता हो कि अहिंसा की पद्धति किस तरह काम में लाई जाती है तो इस तरह काम करने वाली शक्तियां हतबुद्धि हो जाएंगी और जनता की विजय होगी।

उदाहरण के लिए, यदि राजकोट के लोगों को स्वतंत्रता मिल जाए तो वहां के मुसलमानों को सब प्रकार से लाभ ही होगा। आज वे वहां के शासकों की नहीं, अपितु उनके सलाहकारों की मर्जी पर निर्भर हैं। कल वे जनता के साथ उसके अधिकारों में हिस्सेदार होंगे क्योंकि वे भी तो प्रजा ही हैं। लेकिन मैं सचमुच ऐसा नहीं मानता कि राजकोट में मुसलमान वास्तव में विरोध कर रहे हैं। यह बात मैं निजी अनुभव के आधार पर जानता हूं कि हिन्दुओं के साथ उनके बहुत अच्छे संबंध हैं। तीन महीने के संक्षिप्त किंतु शानदार संघर्ष के दौरान राजकोट के हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई मतभेद नहीं रहा। चाहे मुसलमान ज्यादा संख्या में जेल नहीं गए हों, लेकिन सामूहिक रूप से उन्होंने संघर्ष का समर्थन किया।

बड़ौदा का यह दुर्भाग्यपूर्ण झगड़ा सचमुच मेरी समझ में नहीं आता। मैं अभी हतप्रभ हूं कि वस्तुस्थिति को पूरी तरह समझ नहीं पा रहा हूं। लेकिन मैं यही कहूंगा कि यदि बड़ौदा में स्वायत्त शासन हो जाता है तो महाराष्ट्रियों को क्या हानि हो सकती है? उनमें इतनी ताकत है कि वे अपने अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं। यह बात नहीं है कि तथाकथित बहुसंख्यक गुजराती उन्हें कुचल डालेंगे और यदि बहुसंख्यक लोगों को रियासत की नौकरियों में अपने हिस्से के चंद टुकड़े मिल भी जाएं तो यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसके कारण महाराष्ट्र के लोग स्वतंत्रता के संघर्ष में भाग नहीं लें। इसलिए यद्यपि मैं इस झगड़े की तह तक नहीं जा सका हूं तो भी जब तक सुधारक अहिंसक बने रहते हैं और महाराष्ट्रियों की कार्रवाई की वजह से उनके प्रति अपने मन में कोई दुर्भाव नहीं लाते हैं तब तक मुझे इसमें कोई खतरा नहीं लगता। जहां तक बड़ौदा का संबंध है, जब यह बात ध्यान में आती है कि 2,500,000 की आबादी में से कुछ-एक हजार ही महाराष्ट्रीय हैं और वे भी ज्यादातर बड़ौदा शहर में ही हैं, तब इस प्रश्न का कोई महत्व नहीं रह जाता।'

(हरिजन, 28 जनवरी, 1939)

राजकोट और जयपुर

(एम.के. गांधी)

मुझसे अपीलें की जा रही हैं कि देशी रियासतों के मामले में मैं जल्दबाजी न करूं। इन अपीलों की कोई जरूरत नहीं है। राजकोट के लोगों द्वारा तीन-महीने तक अहिंसात्मक संघर्ष करने के बाद सपरिषद ठाकुर साहब और प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाले सरदार पटेल के बीच एक सम्मानजनक समझौता हुआ था और सर्वत्र हर्षोल्लास के साथ वह संघर्ष समाप्त हुआ था। मगर ब्रिटिश रेजिडेंट ने ठाकुर साहब और प्रजा द्वारा किए गए इस सुंदर कार्य पर पानी फेर दिया है।

इज्जत का तकाजा था कि लोग उस समझौते को बहाल कराने के लिए मरते दम तक लड़ें जो ठाकुर साहब और उनकी प्रजा में हुआ था। अब यह संघर्ष राजा और उनकी प्रजा के बीच नहीं, बल्कि असल में कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच है, जिसके प्रतिनिधि रेजिडेंट हैं। खबर है कि वे संगठित गुंडागर्दी काम ले रहे हैं। वे उन बेकसूर स्त्री-पुरुषों का हौसला पस्त करने की कोशिश कर रहे हैं, जो विश्वास-भंग के कारण नाराज हैं और सही नाराज हैं। यह कहना भ्रामात्मक है कि राजकोट बाजमाइशी मामला बनाया गया है। काठियावाड़ की रियासतों के बारे में कोई योजनाबद्ध कार्य नहीं किया जा रहा है। यही हो रहा है कि जो लोग अपने को कष्ट सहने के लिए तैयार समझते हैं, वे सरदार से सलाह लेने आते हैं और सरदार उनको राह बताते हैं। राजकोट तैयार जान पड़ा, इसीलिए वहां लड़ाई शुरू हुई।

जयपुर का मामला बहुत ही सीधा और राजकोट से भिन्न है। अगर मुझे मिली खबर सही है, तो वहां के अंग्रेज प्रधानमंत्री इस बात पर तुले हुए हैं कि उत्तरदायी शासन की भावना को लोगों में फैलाने तक का कोई आंदोलन वहां न चलने दिया जाए। इसलिए जयपुर में सविनय अवज्ञा उत्तरदायी शासन के लिए नहीं, बल्कि प्रजामंडल और उसके अध्यक्ष सेठ जमनालाल बजाज पर लगाए गए प्रतिबंध को हटाने के लिए की जा रही है।

मेरी राय में वायसराय का कर्तव्य है कि वे राजकोट के रेजिडेंट से कहें कि वह उस समझौते को बहाल करें और जयपुर के अंग्रेज प्रधानमंत्री से कहें कि वह प्रतिबंध हटा ले। वायसराय के ऐसा करने से किसी भी हालत में यह नहीं समझा जा सकता कि उन्होंने देसी रियासतों के मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप किया है।

(हरिजन, 4 फरवरी, 1939)

बर्बरतापूर्ण व्यवहार

गांधीजी ने टेलीफोन के माध्यम से जमनालालजी की दूसरी गिरफ्तारी के संबंध में निम्नलिखित सूचना जारी की है। जमनालालजी उस समय अपने पुत्र, सचिव और सेवक के साथ थे।

जमनालालजी को जयपुर से 50 मील दूर अजमेर रोड स्टेशन पर हिरासत में लेने के बाद वहां के डाक बंगले में रखा गया था। श्री यंग स्वयं जमनालालजी के पास गए और उन्हें अपनी गाड़ी में बैठने को कहा। जमनालालजी ने यह कहकर मना कर दिया, 'आप मुझे जयपुर राज्य की सीमा के बाहर रखना चाहते हैं। मैं आपके साथ नहीं आऊंगा।'

तब श्री यंग ने कहा, 'हम आपको जयपुर ही लेकर जा रहे हैं, हमारे साथ आइए।'

जमनालालजी ने जवाब दिया, 'मैं आपकी बातों पर विश्वास नहीं कर सकता।'

श्री यंग ने कहा, 'मेरे पास आदेश हैं, आपको मेरे साथ आना ही होगा।'

जमनालालजी ने उन्हें आदेश-पत्र दिखाने को कहा, जो संभवत: उनके पास था ही नहीं। थोड़ी देर बाद श्री यंग ने उनसे फिर कहा, 'आप हमारे साथ आइए, हम आपको जयपुर लेकर जाना चाहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता है तो आप अखबारों में प्रकाशित करवा सकते हैं कि हम जयपुर ले जाने का वादा करने के बाद आपको किसी दूसरे स्थान पर ले गए।'

जमनालालजी उनकी किसी भी बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने कहा, 'मैं अपनी इच्छा से तो आपके साथ नहीं आने वाला हूं। यदि आप चाहें तो मुझे बलपूर्वक लेकर जा सकते हैं।'

लगभग एक घंटे तक यह बातचीत चलती रही। अंतत: पांच व्यक्तियों ने जमनालालजी को बलपूर्वक गाड़ी में बिठाया और उन्हें लेकर वहां से रवाना हो गए। इस क्रम में जमनालालजी की बायीं आंख के नीचे चोट लगी। उन्हें अलवर राज्य में ले जाया गया। जमनालालजी ने वहां कहा, 'आप इस तरह नहीं कर सकते। आपको कोई अधिकार नहीं कि आप मुझे किसी दूसरे राज्य में लाकर बंदी बनाएं। यदि आप ऐसा करते हैं तो मैं आपके खिलाफ मुकदमा करूंगा।'

इसके बाद श्री यंग जमनालालजी को वापस जयपुर राज्य में लेकर आ गए लेकिन इस समय हमें पता नहीं है कि वे कहां हैं।

गांधीजी ने कहा कि यह एक बर्बरतापूर्ण व्यवहार है। व्यक्ति की पवित्रता, कानूनी प्रक्रिया और स्वतंत्रता की कोई परवाह नहीं की गई। एक ब्रिटिश पुलिस महानिरीक्षक द्वारा छल का प्रयोग किया जाना और गिरफ्तार व्यक्ति को शारीरिक चोट पहुंचाना संगठित गुंडागर्दी है। परंतु मैं जानता हूं कि कोई भी घटना जमनालालजी की इच्छाशक्ति को नहीं तोड़ सकती। चाहे एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में या किसी बंधक की तरह, वे जयपुर में प्रवेश जरूर करेंगे।

(हरिजन, 11 फरवरी, 1939)

जयपुर

(एम.के. गांधी)

पाठकों को जयपुर और राजकोट में हुए संघर्षों के बीच अंतर पता होना चाहिए। राजकोट का संघर्ष राज्य में एक जिम्मेवार सरकार के गठन के लिए था और अब शासक द्वारा किए गए वादों की पूर्ति के लिए है। राजकोट का हर व्यक्ति, चाहे वह महिला हो या पुरुष, अपनी अंतिम सांस तक ब्रिटिश हुकूमत के असम्मानजनक रवैए का विरोध करता रहेगा।

जयपुर में हो रहा संघर्ष अपेक्षाकृत बहुत छोटे विषय पर आधारित है। जयपुर के एक राजनीतिक संगठन को एक जिम्मेवार सरकार का संकल्प लेने के अपराध में अवैध घोषित कर दिया गया। संगठन के अध्यक्ष पर प्रतिबंध लगा दिया गया है, जो स्वयं भी जयपुर के निवासी हैं। जैसे ही सभी प्रतिबंध हटा लिए जाते हैं और संगठन बनाने एवं सभा आयोजित करने की आजादी मिल जाती है, सविनय अवज्ञा आंदोलन समाप्त कर दिया जाएगा। जयपुर के ब्रिटिश प्रधानमंत्री सर ब्यूचैम्प सेंट जॉन ने सीकर के राव राणा के कानूनी सलाहकार बैरिस्टर चूडगर से वार्ता की।

बैरिस्टर चूडगर ने प्रधानमंत्री से हुई बातचीत का निम्नलिखित विवरण सेठ जमनालालजी को दिया:

'मेरा कर्तव्य है कि मैं आपको जयपुर के प्रधानमंत्री सर ब्यूचैम्प सेंट जॉन के उस साक्षात्कार की जानकारी दूं जो मैंने गत 9 जनवरी को सुबह 11 बजे उनके बंगले पर किया था। मैंने उनसे जयपुर की परिस्थितियों पर चर्चा की जिसका सार कुछ इस प्रकार है–

मैंने सर ब्यूचैम्प को बताया कि आपके ऊपर जयपुर में प्रवेश करने पर लगा प्रतिबंध देश के लाखों लोगों के लिए अत्यंत दु:खद और अप्रत्याशित है क्योंकि आप एक प्रतिष्ठित और शांतिप्रिय व्यक्ति हैं और आपका लक्ष्य जयपुर राज्य के अकालग्रस्त क्षेत्रों में राहत के उपाय करना था। इस पर सर ब्यूचैम्प ने कहा कि वे इस बात से सहमत हैं कि आप एक शांतिप्रिय व्यक्ति हैं लेकिन जयपुर में प्रवेश करने से आपका और आपके साथियों का संपर्क उन अकालग्रस्त क्षेत्रों के लोगों से होता जो राजनीतिक कारणों से उन्हें पसंद नहीं था। मैंने उनसे कहा कि आपसे अनिश्चित समय तक इस आदेश के पालन की उम्मीद नहीं की जा सकती। मैंने आपके द्वारा जारी बयान का उल्लेख करते हुए कहा कि यदि यह प्रतिबंध हटा दिया जाए तो अनावश्यक संकटों को टाला जा सकता है और यही राज्य एवं जनता के हित में होगा। वे अपने निर्णय पर अटल थे और उन्होंने कहा कि आपके द्वारा नियमों का उल्लंघन किए जाने से उत्पन्न होने वाली किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए वे पूरी तरह तैयार हैं। उन्होंने कहा कि कांग्रेस के लोग अहिंसक संघर्ष के जरिए बड़ा आंदोलन चलाना चाहते हैं। उनके अनुसार अहिंसा एक ऐसा हथियार है जो हिंसा से भी अधिक शक्तिशाली हो सकता है। उन्होंने कहा कि भारत के लोग अंग्रेजों की नस्ल में उपस्थित मानवीय प्रवृत्ति का फायदा उठा रहे हैं। यदि उनकी जगह यहां जापान या हिटलर जैसी शक्ति होती तो भारतीयों का यह अहिंसक संघर्ष सफल नहीं हो पाता।

फिर उन्होंने कहा कि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि अहिंसा चाहे जितनी मर्यादित हो, उसका जवाब हिंसा से दिया जाना चाहिए और जयपुर के अहिंसक आंदोलन के लिए उनका उत्तर होगा, मशीनगन। मैंने तब उनसे कहा कि न तो सभी अंग्रेज उनकी इस बात से सहमत होंगे और न ही उनकी अंग्रेजी नस्ल। इसके जवाब में उन्होंने कहा कि ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी। परंतु व्यक्तिगत रूप से उनका विचार था कि अहिंसा और हिंसा के बीच कोई अंतर नहीं है और अहिंसा के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करने में कोई बुराई नहीं है।

यदि आप या महात्मा जी इस वक्तव्य का प्रयोग करना चाहें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'

इस बात से मुझे इतना आश्चर्य हुआ कि मैंने प्रधानमंत्री को एक पत्र लिखकर इसका उल्लेख किया (18 जनवरी, 1939):

'मेरा पहला विचार तो यह था कि मैं श्री चूडगर द्वारा जमनालालजी को लिखे गए पत्र को प्रकाशित करूं और जमनालालजी पर लगे प्रतिबंध के बारे में आपके दृष्टिकोण का वर्णन करूं। लेकिन मुझे लगा कि मेरा उद्देश्य अधिक सफल तब होगा जब मैं इस पत्र की एक प्रति भेजकर आपको अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए आमंत्रित करूं। मेरा उद्देश्य राजाओं, ब्रिटिश अधिकारियों और जनता के बीच समन्वय स्थापित करना और मैत्रीपूर्ण तरीके से न्याय सुनिश्चित करना है। अब क्योंकि मुझे आपको पत्र लिखना आवश्यक लगा है, इसलिए श्री चूडगर के पत्र पर आपकी राय चाहे कुछ भी हो, मैं यह प्रस्ताव रखना चाहूंगा कि श्री जमनालालजी पर लगा प्रतिबंध राज्य की शांति को संकट में डाले बिना हटाया जा सकता है। निश्चित रूप से मैं मानता हूं कि प्रतिबंधों के लगने से शांति

अवश्य संकट में आ जाती है।'

जिसका जवाब प्रधानमंत्री ने यह दिया (20 जनवरी, 1939): 'गत 18 तारीख को प्राप्त हुए आपके उस पत्र का जवाब लिख रहा हूं, जिसके साथ श्री चूडगर की ओर से सेठ जमनालालजी को लिखे गए पत्र की एक प्रति संलग्न थी। इस पत्र को प्रकाशित करने से पहले इसमें लिखी हुई बातों की सच्चाई पता करने का आपका निर्णय विवेकपूर्ण था जिसकी मैं व्यक्तिगत रूप से प्रशंसा करता हूं। अब मैं आपको यह बता सकता हूं कि इस पत्र में मेरे दृष्टिकोण का जो उल्लेख है, वह पूरी तरह गलत है। मुझे समझ नहीं आ रहा कि श्री चूडगर को मेरे बारे में इतनी बड़ी गलतफहमी कैसे हुई। मैं यह अवश्य कह सकता हूं कि इस घटना के बाद मुझे भविष्य में ऐसा कोई साक्षात्कार करने में हिचकिचाहट होगी। क्योंकि अब आप तथ्यों को जान चुके हैं, इसलिए मुझे विश्वास है कि आप इस तरह के पत्र को प्रकाशित नहीं करना चाहेंगे। फिर भी यदि आप इसे प्रकाशित करने का निर्णय लेते हैं तो जितनी जल्दी संभव हो, मुझे इसकी सूचना दे दीजिएगा ताकि मैं इस संबंध में उचित कार्रवाई कर सकूं। इस विमर्श के लिए एक बार फिर आपका धन्यवाद करता हूं।'

इसके बाद मैंने यह जवाब दिया (22 जनवरी, 1939): 'पिछली 18 तारीख को मेरे द्वारा भेजे गए पत्र का शीघ्र उत्तर देने के लिए आपका धन्यवाद करता हूं। मुझे आशा थी कि यदि आप श्री चूडगर के वक्तव्य से असहमत होंगे तो अपना पक्ष मुझे भेजेंगे। यह विषय मेरे लिए महत्वपूर्ण है, जिसे मैं इस तरह नहीं छोड़ सकता। यदि आप चाहें तो मुझे श्री चूडगर के पत्र के साथ-साथ आपका पक्ष भी प्रकाशित करने में प्रसन्नता होगी।'

जिसका जवाब यह आया (25 जनवरी, 1939): 'पिछली 22 तारीख के आपके पत्र के लिए हार्दिक धन्यवाद। एक ऐसे साक्षात्कार को दर्ज करना मेरे लिए सहज नहीं है, जो निजी और गोपनीय रखा जाना था और जिसे गलत रूप में प्रकाशित करने धमकी मुझे पहले ही दी जा चुकी है। मुझे विश्वास है कि आप मेरे इस स्वाभाविक संकोच के प्रति सहानुभूति रखेंगे। मुझे विश्वास है, और आप भी इससे सहमत होंगे कि इस प्रक्रिया से केवल कटुता पैदा हो सकती है। मुझे इससे अब तक कोई भी उपयोगी लक्ष्य पूरा होता हुआ नहीं दिखता।

जैसा मैं पहले भी कह चुका हूं, यदि श्री चूडगर इस पत्र को प्रकाशित करने का निर्णय लें, तो मुझे विश्वास है कि आप मुझे पहले सूचना अवश्य देंगे ताकि मैं उचित कार्रवाई कर सकूं।'

जिसका मैंने पुन: जवाब दिया (27 जनवरी, 1939): 'पिछली 25 तारीख के पत्र के लिए धन्यवाद! मुझे लगता है कि मैं आपके संकोच के प्रति सहानुभूति नहीं रख पाऊंगा। श्री चूडगर के द्वारा दी गई सूचना महत्वपूर्ण है और इसका प्रकाशित होना आवश्यक है। मेरी चिंता बस यह थी कि मैं कोई ऐसी खबर न प्रकाशित कर दूं, जिसकी सत्यता पर बाद में सवाल उठाए जा सकें।

मैं श्री चूडगर के साथ संपर्क में हूं। यदि वे सेठ जमनालालजी से कही हुई अपनी बात पर अडिग रहते हैं तो मुझे जयपुर की जनता के हित में यह पत्र प्रकाशित करना ही होगा। लेकिन मैं इस पत्र के प्रकाशित होने की स्थिति में आपके द्वारा की जाने वाली 'उचित कार्रवाई' का अर्थ नहीं समझ सका हूं।'

मैंने इस पत्र-व्यवहार की सूचना श्री चूडगर को दी और उन्होंने मुझे यह पत्र भेजा, जो उन्होंने श्री जमनालालजी को लिखा था (28 जनवरी, 1939): 'मैंने महात्माजी और सर ब्यूचैम्प के बीच हुए पत्र-व्यवहार को पढ़ा, जिसकी समाप्ति 27 तारीख को महात्माजी की ओर से भेजे गए पत्र के साथ हुई है। उसके बाद मैंने ध्यानपूर्वक वह पत्र दुबारा पढ़ा जो मैंने आपको 15 तारीख को भेजा था।

मैं कह सकता हूं कि उस पत्र में मैंने आपको जो भी बताया था, वह मेरे और सर ब्यूचैम्प के बीच हुई बातचीत का बिल्कुल सही विवरण है।'

प्रधानमंत्री के पत्रों में लिखी बातें अजीब हैं। मेरे सवाल कुछ और थे, उनके जवाब कुछ और। प्रधानमंत्री मुझे क्षमा करें, लेकिन यदि वे अपना पक्ष स्पष्ट नहीं करते तो मैं श्री चूडगर के पक्ष को सत्य मानूंगा। केवल आरोप को नकारने और धमकी देने से कुछ सिद्ध नहीं होता।

कांग्रेस पार्टी के पास शक्ति है, वह हाथ बांधे हुए यह सब नहीं देख सकती। जयपुर की जनता को मानसिक और नैतिक भूख से मरने के लिए छोड़ा नहीं जा सकता। विशेष रूप से उस समय, जब उसे एक मूलभूत अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और ब्रिटिश साम्राज्य इस नीति का समर्थन कर रहा है। यदि प्रधानमंत्री अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जाकर निर्णय ले रहे हैं तो उनको वापस भेजने का समय आ गया है।

(हरिजन, 11 फरवरी, 1939)

जयपुर

(एम.के. गांधी)

आखिरकार जयपुर दरबार को सेठ जमनालाल जी को गिरफ्तार करना ही पड़ा। कहते हैं कि उनके रहने का इंतजाम अच्छा है पर उन्हें अलग-अलग जगह पर रखा गया है और उन पर कड़ा पहरा है। हर बात को रहस्य बनाकर रखा जा रहा है। मेरा निवेदन यह है कि अधिकारियों को उनका पता-ठिकाना, उन्हें दी जाने वाली सुविधाएं तथा उनके साथ पत्र व्यवहार और मुलाकात करने संबंधी पाबंदियां प्रकाशित कर देनी चाहिए। क्या उन्हें डॉक्टरी सहायता सुलभ है?

मगर शेखावाटी के बारे में जो खबरें सुनाई पड़ती हैं, वे अगर सत्य है तो उनके आगे जमनालाल जी की नजरबंदी और उनके साथ किया जाने वाला बर्ताव मामूली चीज है। राज्य की ओर से तफसीलवार खबरें प्रकाशित नहीं होने से जनता अखबारों में आने वाली तरह-तरह की खबरों को ही सत्य मानेगी।

(हरिजन, 25 फरवरी, 1939)

जयपुर सत्याग्रह

(एम.के. गांधी)

जयपुर से सूचना आ रही है कि कुछ सत्याग्रही आंदोलन रोके जाने की खबर सुनकर निराश हो गए हैं और उनके मन में चरखा एवं खादी जैसे संरचनात्मक कार्यक्रम को लेकर वैसा उत्साह नहीं रहा, जैसा लड़ाई के लिए था। अगर यही आम धारणा है तो इससे सिद्ध होता है कि सत्याग्रह को स्थगित करना उचित निर्णय था। लोगों की अनिच्छा से प्रकट होता है कि उनके मन में अहिंसा के प्रति आदर भाव नहीं है। इस भावना के बिना हमारा विरोध भी हिंसा की श्रेणी में पहुंच जाएगा। जो लोग बहुत सरलता से राज्यों की स्वतंत्रता की बात करते हैं और जनविरोध के द्वारा आजादी पाने की

उम्मीद रखते हैं, निश्चित रूप से उन्हें पता नहीं है कि वे क्या बोल रहे हैं। क्या वे रियासतों से कोई सबक नहीं लेंगे? प्रांतीय स्वायत्तता, चाहे जैसी भी स्थिति में है, जनप्रतिरोध के द्वारा ही प्राप्त की गई है। पर क्या इन लोगों को यह नहीं दिखता कि यदि कांग्रेस ने पुलिस और सेना का, या कहें कि अंग्रेजी बंदूकों का प्रयोग नहीं किया, तो यह स्वायत्तता समाप्त हो जाएगी? यदि यह आंशिक स्वायत्तता अहिंसा के द्वारा अर्जित की गई है तो आवश्यक है कि इसका चरित्र आगे भी ऐसा ही बना रहे। बीते दिनों में जो घटनाएं हुई हैं, उनसे स्पष्ट हो गया है कि देश अभी अहिंसा के माध्यम से सत्ता चलाने के लिए तैयार नहीं है। पिछले 20 वर्षों में जनजागरण का एक दौर चला है जिसमें लोगों ने हथियार उठाना छोड़कर अहिंसा के रास्ते पर अडिग रहना सीखा है। लेकिन हम जानते हैं कि जन-आंदोलन को दबाने के उद्देश्य से कांग्रेस हिंसा करने के लिए बाध्य है, चाहे आंदोलन वास्तविक हो या काल्पनिक। यह भी स्पष्ट है कि प्रशिक्षण दिए बिना देश को हिंसा के प्रयोग के लिए तैयार नहीं किया जा सकता। क्या हमारी अहिंसा इतनी कमजोर थी? हिन्दू-मुस्लिम तनाव हमारे लिए एक परीक्षण की तरह है। कांग्रेस का भ्रष्टाचार निश्चित रूप से हिंसा का ही प्रतीक है। हमें राज्यों में कोई अहिंसा का छल करके स्वराज प्राप्त नहीं करना है। स्वराज आएगा मजबूत इरादों वाले लोगों की अहिंसा से, कठिन परिश्रम से, सहनशील और मौन संघर्ष से, गरीबों और समाज के हाशिए पर जी रहे लोगों की सेवा से, और स्वेच्छा के साथ राज्य एवं समाज के नियमों का पालन करने से, क्योंकि ये नियम सार्वजनिक और व्यक्तिगत नैतिकता के प्रतिकूल नहीं हैं। जब तक एक सशक्त अहिंसा की भावना विकसित नहीं हो जाती, तब तक हमें स्वराज के लिए सत्याग्रह का विचार छोड़ देना चाहिए, राज्यों में भी और ब्रिटिश भारत में भी। अहिंसा के एक प्रयोग के तौर पर, मैं भविष्य में आने वाले हर सत्याग्रही के लिए नियमित रूप से चरखा चलाने और खादी के उपयोग के नियम पर दृढ़ हूं। यदि जयपुर के सत्याग्रही भविष्य में होने वाले किसी आंदोलन से जुड़ना चाहें, तो वे अहिंसा के मार्ग पर चलने की कठिनाइयों को भलीभांति समझ लें और मेरे द्वारा रखी गई आसान शर्तों को पूरा करने का दृढ़ संकल्प लेकर उत्साह के साथ आगे आएं। उन्हें यह भी स्मरण रहे कि जो नियम उनके लिए हैं, वे भविष्य में मुझसे जुड़ने वाले हर सत्याग्रही के लिए बने रहेंगे।

इन सब बातों का यह अर्थ नहीं है कि स्वराज के लिए चल रहा संघर्ष थम गया है। इसका अर्थ केवल यह है कि सत्याग्रह इतना निम्नस्तरीय नहीं होना चाहिए, जितना मैंने जाने-अनजाने में इसे बना दिया है। मैं इतना बूढ़ा नहीं कि जीवन के नए पाठ सीख नहीं पाऊं। ईश्वर की उपस्थिति का अहसास हो तो मन हमेशा युवा रहता है; सत्य भी ईश्वर का ही रूप है। यदि आने वाले समय में सत्याग्रह एक सर्वप्रिय भावना बन सका, तो मैं आशा करता हूं कि ईश्वर की कृपा से यह अधिक प्रभावी रूप में सामने आएगा और हमारी इस यात्रा को असीम गति प्रदान करेगा।

(हरिजन, 1 अप्रेल, 1939)

सत्याग्रह स्थगित करें

(एम.के. गांधी)

त्रावणकोर की परिस्थितियों के संबंध में श्री फिलिपोज के साथ मेरी लंबी वार्ताएं हुई हैं। मैंने राज्य कांग्रेस की अंतिम कार्यकारिणी समिति के संकल्प और सुनियोजित कार्य योजना का भी

ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है, जिसे अहिंसा सुनिश्चित करते हुए बहुत सावधानी के साथ पूरे त्रावणकोर में विस्तार दिया जाना है। मैंने श्री फिलिपोज को मिला वह टेलीग्राम भी पढ़ा, जिसमें उन्हें बताया गया है कि सत्याग्रह को स्थगित करने से रोष और निराशा में वृद्धि होगी। लेकिन लाभ-हानि की तुलना करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यदि सत्याग्रह 25 मार्च से शुरू न करके मेरे अगले सुझाव तक स्थगित कर दिया जाए तो यह हमारे उद्देश्य के हित में होगा।

सत्याग्रह में निराशा या रोष जैसी कोई भावना नहीं होती। लक्ष्य प्राप्ति तक किसी न किसी रूप में संघर्ष निरंतर चलता रहता है। एक सत्याग्रही का चित्त हमेशा एक समान होता है, चाहे वह सत्याग्रह में शामिल रहे अथवा उसे किसी अन्य संघर्ष के लिए पुकारा जाए। यदि सत्याग्रह यात्रा के बीच में उसे रोककर कोई अन्य काम सौंप दिया जाए तो भी उसे बुरा नहीं लगना चाहिए। उसे विश्वास रहना चाहिए कि यह सब कुछ अच्छे के लिए ही हो रहा है। मेरा अभी तक का अनुभव कहता है कि जब भी कोई संघर्ष स्थगित किया जाता है, तो उसके बाद लोग बेहतर तैयारी के साथ मैदान में उतरते हैं और हिंसक शक्तियों के ऊपर उनका नियंत्रण बढ़ जाता है। इसलिए सत्याग्रह स्थगित करने की बात करते समय मेरे मन में यह भय नहीं है कि इससे लोगों को निराशा होगी या वे कर्तव्य से विमुख हो जाएंगे। यदि ऐसा होता भी है तो मुझे इस बात का दु:ख नहीं होगा। यदि कोई व्यक्ति मैदान छोड़कर भागता है तो मैं समझता हूं कि उसे सत्याग्रह का अर्थ पता ही नहीं। आंदोलन को ऐसे व्यक्तियों से कोई लाभ नहीं होगा जिन्हें पता ही नहीं है कि वे क्या कर रहे हैं।

(हरिजन, 1 अप्रेल, 1939)

जयपुर के कैदी

(एम.के. गांधी)

सेठ जमनालाल बजाज और अन्य कैदियों के साथ होने वाले व्यवहार के संबंध में जयपुर दरबार की विज्ञप्ति पढ़कर लगता है कि यह दरबार की ओर से अपनी स्थिति के बचाव का एक संघर्षपूर्ण प्रयास है। यह स्वीकार कर लिया गया है कि उन्हें किसी गुप्त स्थान पर नजरबंद किया गया है जहां का पानी खारा बताया जाता है। यह भी स्वीकार किया गया कि उस स्थान पर पहुंच पाना मुश्किल है। सेठजी के साथ किसी अन्य व्यक्ति को नहीं रखा गया है। यह एकांतवास का दंड क्यों? क्या वे कोई खतरनाक व्यक्ति हैं? क्या वे कोई षडयंत्रकारी हैं? सेठजी को गिरफ्तार किया गया क्योंकि उन्होंने उस आदेश का विरोध किया था, जो उनकी ही जन्मभूमि में उनके प्रवेश पर प्रतिबंध लगाता था।

प्रशासन को पता है कि सेठजी एक आदर्शवादी कैदी हैं। उनका मानना है कि जेल के अनुशासन की बहुत बारीकी से निगरानी की जानी चाहिए। उन्हें बाहरी दुनिया से अलग कर देना निर्दयतापूर्ण है। कैदियों को सबसे अधिक आवश्यकता ऐसे साथियों की होती है जो विचार, व्यवहार और संस्कार में उनकी तरह हों। मेरा सुझाव है कि उन्हें किसी ऐसे स्थान पर लाया जाए जहां से उनकी जानकारी मिल सके, जहां वे स्वस्थ रहें और उन्हें लोगों से मिलने की अनुमति हो।

लांबा में बंदी बनाकर रखे गए सत्याग्रही बंधकों से जुड़ी विशेष सुनवाई की हालत और बुरी है। उन्होंने स्वीकार किया कि लांबा में कैदियों को रखने के लिए चुना गया स्थान सांपों से भरा हुआ एक

पुराना किला है। लेकिन उनकी दलील है कि वहां अब तक किसी व्यक्ति को सांप ने नहीं काटा। क्या जयपुर दरबार कोई कदम उठाने के लिए उस दिन की प्रतीक्षा करेगा जब किसी को सांप काटे? यह भूलना नहीं चाहिए कि उन कैदियों को लांबा तब भेजा गया था जब उन्होंने बेहतर सुविधाओं के लिए भूख हड़ताल करने की गुस्ताखी की थी। यह हड़ताल मेरे हस्तक्षेप करने तक जारी ही रहती।

इससे भी बड़ा एक सवाल जो अब तक सुलझ नहीं सका, वह है सत्याग्रह का उद्देश्य। और फिर भी यह बहुत व्यापक नहीं है। इसका उद्देश्य प्रजा संघ को मान्यता दिलाने पर केंद्रित है। दरबार ने इसे मान्यता देने के लिए एक असंभव शर्त रख दी है। दरबार का कहना है कि प्रजा संघ से जुड़ा कोई भी व्यक्ति राज्य से बाहर किसी राजनीतिक संगठन का सदस्य नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति में संघ के अध्यक्ष सेठ जमनालालजी स्वयं इस पद पर नहीं रह सकते क्योंकि वे राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्य हैं। मेरे कहने पर जयपुर में सत्याग्रह रोक दिया गया है। यह रोक हमेशा के लिए नहीं रहेगी। मुझे आशा है कि संबंधित राज्य अपने जागरूक नागरिकों को आश्वस्त रखेंगे। मैं जयपुर दरबार को सुझाव देना चाहता हूं कि वह सत्याग्रह बंद होने के बावजूद इससे जुड़े लोगों को कैद रखकर अन्याय के रास्ते पर चल रहा है। सेठ जमनालालजी समेत अन्य सभी कैदियों के साथ हो रहा अमानवीय व्यवहार तुरंत बंद किया जाना चाहिए।

(हरिजन, 6 मई, 1939)

बातचीत: जयपुर के सत्याग्रहियों से

श्री हरिभाऊ उपाध्याय और कुछ अन्य कार्यकर्ता ट्रेन में गांधीजी से मिले और उनसे जयपुर की स्थिति पर चर्चा की। वहां एक गतिरोध की स्थिति पैदा हो चुकी थी। वे लोग चाहते थे कि यदि संभव हो तो सत्याग्रह को 'प्रचंड' रूप दे देना चाहिए। उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनने के बाद गांधीजी ने 'प्रचंडीकरण' के बारे में अपने विचार रखे। उन लोगों ने जयपुर में सत्याग्रह की शुरुआत के साथ बिल्कुल ताजा मिट्टी में बीज डाले थे। सत्याग्रह को जो लोकप्रियता हासिल हुई, वह उनकी आशा से बढ़कर थी। यहां तक तो सब कुछ ठीक है। लेकिन घोड़े को दौड़ाते हुए उसकी जान ले लेना कोई अच्छे घुड़सवार की पहचान नहीं है। आंदोलन को बड़े क्षेत्र में विस्तार देने के प्रयास की बजाए उन्हें इसकी बुनियाद को मजबूत करने और आंतरिक ताकत को बढ़ाने की दिशा में काम करना चाहिए। गांधीजी ने प्रस्ताव रखा कि अब से सत्याग्रह में भाग लेने वालों के लिए कड़ी परीक्षा और प्रारंभिक प्रशिक्षण को अनिवार्य कर देना चाहिए। जब तक ये शर्तें पूरी नहीं होतीं, तब तक सत्याग्रह के एक भाग नागरिक अवज्ञा को स्थगित कर दिया जाए। इसका अर्थ यह नहीं होगा कि सत्याग्रह ही रोक दिया गया है। गांधीजी ने उन सभी को, यदि आवश्यक हो, तो आगे की बातचीत के लिए दिल्ली आमंत्रित किया।

सुबह दिल्ली पहुंचे। गांधीजी ने सुबह 11 बजे वायसराय से भेंटवार्ता की जो 2 घंटे तक चली। दोपहर में उन्होंने श्री फिलिपोज से मिलकर त्रावणकोर की स्थिति पर चर्चा की। वे इस बात को लेकर और दृढ़ होते जा रहे थे कि उनके सुझाव पर स्थगित किया गया आंदोलन हल्के मन से दुबारा शुरू नहीं किया जाना चाहिए।

'सत्याग्रह नागरिक अवज्ञा से शुरू नहीं होता और न ही उस पर समाप्त होता है। हमें थोड़ा और

तपश्चर्य करने की आवश्यकता है, यही सत्याग्रह का मूल है। इस तरह किया गया स्थगन कभी हमारे आंदोलन को हानि नहीं पहुंचाएगा। हमारे विरोधियों को उनकी ऊर्जा खत्म होती हुई मालूम पड़ेगी जब हम उनकी आशा के अनुसार प्रतिक्रिया नहीं करेंगे। हम किसी आतिशबाजी का प्रदर्शन नहीं करेंगे। हम अपने आप को उनके गुंडों के क्रूर हमलों के हवाले नहीं करेंगे। हम उनकी सभी उकसाने वाली और दमनकारी नीतियों का सामना बिलकुल शांत दिमाग से करेंगे और पूरे संयम से काम लेंगे, भले ही हमारे ऊपर कायरता का आरोप लगाया जाए। यदि हमारे अंदर कायरता नहीं है तो हम सुरक्षित हैं। अंतत: हमारी इसी कायरता को एक दुर्लभ साहसिक काम के रूप में याद किया जाएगा।

इस बीच हमें यह देखना चाहिए कि चीजें किस तरह अपने आप को कोई रूप देती हैं। कुछ राज्यों द्वारा अपना लिए गए आतंकी तरीकों को देखते हुए मैं आंदोलन को आगे बढ़ाने की कुछ नई योजनाओं के बारे सोच रहा हूं। हमें ऐसे तरीके विकसित करने होंगे जिससे शांतिप्रिय नागरिकों के दुश्मन बने इन किराए के आतंककारियों का रोजगार खत्म किया जा सके। एक योग्य सेनापति हमेशा युद्ध को अपने अनुसार चलाता है, अपने अनुकूल समय पर और अपनी पसंद के मैदान में। वह कभी भी यह अवसर अपने शत्रु के हाथ में नहीं जाने देता।

सत्याग्रह आंदोलन में युद्ध का रूप और युक्तियों का चुनाव परिस्थियों के अनुसार निर्धारित किया जाता है। कब आगे कदम बढ़ाना है, कब पीछे हटना है, सब कुछ परिस्थिति पर निर्भर होता है। एक सत्याग्रही को किसी भी बताई गई योजना के साथ चलने को प्रतिबद्ध रहना चाहिए, न तो उत्तेजित होकर और न ही निराश होकर। सत्याग्रही का केवल एक लक्ष्य हो सकता है, किसी भी परिस्थिति में अपने कर्तव्य को पूरा करते हुए जीवन बिता देना। यही उसके लिए सर्वोच्च उपलब्धि है। जिस प्रयोजन के साथ ऐसे बहुमूल्य सत्याग्रही जुड़े हों, उसे कभी भी निष्फल नहीं किया जा सकता।'

उन्होंने हैदराबाद आर्य समाज सत्याग्रह के नेताओं से भी बात की। फिर उन्होंने वायसराय से हुए साक्षात्कार और राजकोट की स्थिति के बारे में सामान्य बातें कीं।

(हरिजन, 27 मई, 1939)

फिर जयपुर

(एम.के. गांधी)

जयपुर में बहुत ही सुस्ती से काम लिया जा रहा है। अखबारों में यह प्रकाशित हुआ था कि दरबार और प्रजा के बीच समझौता होने वाला है और सेठ जमनालालजी तथा उनके साथी कार्यकर्ताओं को रिहा कर दिया जाएगा। जिस बात पर झगड़ा है, वह तो बहुत ही मामूली मालूम पड़ती है। केवल नागरिक स्वाधीनता की रक्षा के लिए ही वहां सविनय भंग करने का निश्चय किया गया था। और तभी उसका सहारा लिया गया जबकि प्रजामंडल द्वारा लोगों को वैध तरीके से राज्य के अंदर स्थानीय उत्तरदायी शासन के लिए आंदोलन करने की शिक्षा देने के अधिकार तक पर आपत्ति की गई। कुछ समय पूर्व दरबार की एक विज्ञप्ति निकली थी, जिसमें प्रजामंडल की स्वीकृति के लिए शर्तें दी हुई थीं। दरबार ने चाहा होता तो निश्चय ही उन्हें ऐसे रूप में रखा जा सकता था, जिससे सविनय भंग के नेता उन्हें मंजूर कर लेते। उदाहरण के लिए यह शर्त कि स्थानीय संघ का कोई पदाधिकारी ऐसा नहीं होगा, जो राज्य से बाहर की किसी राजनीतिक संस्था का भी सदस्य हो, केवल

परेशान करने के लिए ही रखी गई मालूम पड़ती है। भला, सेठ जमनालालजी को इस आधार पर प्रजामंडल का अध्यक्ष बनने के अयोग्य क्यों करार दिया जाए कि वे राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की कार्यसमिति के सदस्य हैं? या खास उन्हीं की खातिर यह शर्त रखी गई है? इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। और भी ऐसी शर्तें हैं, जिनके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। आखिरी दो शर्तें ये हैं– (1) 'मंडल श्रीमान महाराजा साहब बहादुर द्वारा स्थापित विधान के मातहत समय-समय पर निश्चित किए जाने वाले उपयुक्त जरियों से जयपुर राज्य की प्रजा की आकांक्षाओं और शिकायतों को पेश करने का वचन देगा'; और (2) 'जयपुर राज्य में बसे हुए लोग ही इसके सदस्य हो सकेंगे।'

ये दोनों ही शर्तें अस्पष्ट हैं। भला राज्य, जो सुधार देने के लिए तैयार है, उनका पहले से ही प्रतिपादन करने की आजादी प्रजा को क्यों न दे दे? लेकिन आखिरी शर्त तो, मालूम पड़ता है, इस स्वाभाविक अधिकार पर बंदिश लगाने के लिए ही है। और 'बसे हुए' शब्द तो ऐसा खतरनाक कानूनी शब्द है कि जिसका राजनीतिक रूप में कम ही व्यवहार किया जाता है। इसके बजाय अधिक प्रचलित 'निवासी' शब्द का प्रयोग क्यों न हो?

(हरिजन, 10 जून, 1939)

जयपुर

(एम.के. गांधी)

जयपुर के मामलों में दिलचस्पी रखने वाले लोग संशय की स्थिति में हैं क्योंकि उन्हें पता चला है कि जयपुर के प्रधानमंत्री और सेठ जमनालालजी के बीच बातचीत हो रही है। मुझे यह बताते हुए दु:ख हो रहा है कि इन वार्ताओं का कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकल सका है। अत: संघर्ष अभी जारी रहेगा। एक तरह से सत्याग्रह भी चलता रहेगा, हालांकि गिरफ्तारी देने वाले जत्थों के निर्माण का कार्य अभी स्थगित रखा गया है। जो लोग गिरफ्तारी दे चुके हैं वे अभी जेल में ही रहेंगे। उन्होंने अपनी रिहाई की मांग नहीं की है। अपनी निर्धारित सजा पूरी करने के बाद बाहर आएंगे। सेठजी कब तक नजरबंद रखे जाएंगे, यह अनिश्चित है। वे रिहाई के बाद राज्य से बाहर रहने की शर्त पर छूटने को तैयार नहीं होंगे और जयपुर के प्रशासक उन्हें एक स्वतंत्र व्यक्ति की तरह राज्य में रहने की अनुमति नहीं देंगे। हालांकि प्रशासन को पता है कि गिरफ्तारी देने का सिलसिला रोका जा चुका है। इस तरह वे सेठजी को जनता के बीच संरचनात्मक कार्य भी नहीं करने देंगे। वे जानते हैं कि उन्हें सेठजी की ओर से किसी तरह की गोपनीय गतिविधि का खतरा नहीं है और न ही वे ऐसे व्यक्ति हैं जिसकी कथनी और करनी में अंतर हो। जिस ईमानदारी के लिए सेठजी जाने जाते हैं, उससे किसी संदेह की स्थिति ही नहीं बनती।

इस बीच कुछ कठिनाइयां भी सामने आई हैं। सेठजी घुटनों में हो रहे दर्द से पीड़ित हैं। राज्य स्वास्थ्य अधिकारी ने उन्हें इलाज के लिए यूरोप या कम से कम समुद्र के किनारे वाले क्षेत्र में जाने की सलाह दी है। वे अपने स्तर पर यथासंभव इलाज कर रहे हैं पर उनका कहना है कि स्थान में परिवर्तन आवश्यक है। सेठजी प्रतिबंधित रहते हुए जयपुर से बाहर जाने को तैयार नहीं होंगे, भले ही उनके स्वास्थ्य का सवाल हो। वे मानते हैं कि आत्म-सम्मान के लिए बिना किसी शर्त के रिहाई मिलना आवश्यक है। वे तब तक अपना स्थान नहीं बदलेंगे जब तक उनके ऊपर लगा प्रतिबंध, जिसे

वे अन्यायपूर्ण मानते हैं, हटा नहीं दिया जाता। अब चूंकि सत्याग्रह को स्थगित कर दिया गया है, ऐसे में सेठजी को बंधक बनाए रखने का कोई आधार नहीं है। ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि सेठजी को मुक्त कर दिया जाए और यदि वे राज्य के किसी कानून का उल्लंघन करें तो उनकी गिरफ्तारी हो। संक्षेप में कहा जाए तो सेठजी के साथ हो रहा व्यवहार विचित्र और संदेहास्पद है। जयपुर के प्रशासकों का यह कर्तव्य है कि वे या तो सेठजी की अनिश्चितकालीन हिरासत का कारण स्पष्ट करें या फिर उन्हें बिना किसी शर्त के रिहा करें।

जयपुरवासी मुझसे लगातार पूछ रहे हैं कि सत्याग्रह पर कब तक रोक लगी रहेगी। मेरा उत्तर मात्र इतना है कि जब तक माहौल की मांग रहेगी तब तक। उस समय तक लोग संरचनात्मक कार्यों में जुटे रहें। मैं इस विचार पर दृढ़ हूं कि जिसने मेरी सत्याग्रह की शर्तों को पूरा नहीं किया है, वह इसके योग्य नहीं है। मेरे द्वारा रखे हुए हर प्रस्ताव के संबंध में एक बात ध्यान रखने योग्य है। किसी भी व्यक्ति को तब तक मेरी बात मानने की आवश्यकता नहीं है जब तक वह अपने पूरे मन से उस बात पर विश्वास नहीं करता। जिन लोगों की अंतरात्मा सत्याग्रह से जुड़ी हुई है, उन्हें मेरे निर्देश के कारण इससे विमुख होने की कोई आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि सत्याग्रह पर रोक केवल उनके लिए है जो अपने मन की आवाज को नहीं पहचानते और मेरे अनुभव एवं निर्णय पर विश्वास रखते हैं।

हालांकि बातचीत बंद हो चुकी है लेकिन जयपुर के प्रशासक इस गतिरोध का हल खोजने की जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हुए हैं। सत्याग्रह रुकने का अर्थ यह नहीं है कि आंदोलन समाप्त हो गया है। वह किसी न किसी रूप में स्वतंत्रता के उस मूल तत्व को बचाने के लिए चल ही रहा है जिसके लिए यह संघर्ष प्रारंभ हुआ था। जनता के विचारों की ताकत जयपुर के प्रशासकों को चैन नहीं लेने देगी। इसलिए जयपुर के निवासी यह जान लें कि जब तक उनके अंदर चाह है तब तक उनके पास शक्ति भी है। इस शक्ति को नियंत्रण में रखने का जितना प्रयास होगा, यह उतनी ही बढ़ती जाएगी। हर शक्ति तुरंत इस्तेमाल कर लेने के लिए नहीं होती है। कई बार शक्ति का संचय करने से वह और अधिक प्रभावशाली होती जाती है।

(हरिजन, 15 जुलाई, 1939)

सेठ जमनालालजी
(एम.के. गांधी)

सेठ जमनालालजी एक असाधारण कैदी हैं। उनका विश्वास है कि कैदी होने के नाते उन्हें अपने शरीर की उससे अधिक सार-संभाल नहीं करनी है, जितनी उनके लिए तैनात किए गए डॉक्टर करते हैं। इसलिए उनके स्वास्थ्य की सही हालत का पता मुझे अब जाकर चला है। श्री शंकरलाल बैंकर जमनालालजी से मिलने के लिए जयपुर गए थे और वहां उन्होंने उनके स्वास्थ्य की जो हालत देखी उससे वे चिंतित हो उठे और उन्होंने मुझे बताया कि दशा कितनी बुरी है।

इस विषय में मुझे जो पत्र व्यवहार प्राप्त हुआ है, उसे मैं फिलहाल प्रकाशित नहीं कर रहा हूं। जयपुर के सिविल सर्जन के मतानुसार उनकी हालत ऐसी है कि उनका विशेष रूप से उपचार किया जाना चाहिए। अगर यह बात है तो रियासत का यह कर्तव्य है कि वह जमनालालजी को बिना शर्त

रिहा कर दे और यह बात भी उन्हीं पर छोड़ दे कि वे अपना विशेष उपचार रियासत में ही करवाएंगे अथवा उससे बाहर जाकर। जमनालालजी से यह कहना बेकार है कि यदि वे रिहा कर दिए जाते हैं तो उन्हें जयपुर छोड़ देने का वचन देना चाहिए। जिस शर्त के भंग की खातिर उन्होंने जेल का आह्वान किया, उसी को स्वीकार करके रिहाई पाने से तो वे जेल में ही मर जाना ज्यादा पसंद करेंगे। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, राज्य में जमनालालजी द्वारा सविनय अवज्ञा को प्रोत्साहन दिए जाने की कोई आशंका नहीं है क्योंकि वह तो अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दी गई है। अधिकारी लोग जानते हैं कि जमनालालजी स्वभावत: अहिंसावादी हैं और यह भी जानते हैं कि वे वचन के पक्के हैं। उन्हें इस तरह जेल में रखना मेरे लिए एक पहेली है और उनके स्वास्थ्य की वर्तमान दशा को देखते हुए यह अपराध है।

जनता को सामान्यतया यह मालूम नहीं है कि जमनालालजी जहां कैद हैं, वह स्थान वैसे तो अच्छा है और वहां आसानी से पहुंचा भी जा सकता है, किन्तु वहां हिंसक पशुओं का विचरण स्थल है। जयपुर राज्य के शिकार नियमों के अधीन, जो मेरी दृष्टि में सरासर बर्बरतापूर्ण है, इन जानवरों को मारने वाले भारी जुर्माने के भागी हैं और इन्हीं नियमों के अधीन रियासत इनकी सुरक्षा करती है। कहते हैं, वहां शेर तथा अन्य हिंसक पशु बेखटके मनुष्यों और ढोर-डंगरों को मारकर खा जाते हैं। हालांकि शिकार संबंधी ये नियम मुझे बहुत अमानुषिक जान पड़ते हैं, तथापि यहां मेरा उद्देश्य उन पर विचार करना नहीं है। मेरा उद्देश्य तो व्याघ्रग्रस्त स्थान में जमनालालजी को कैद रखने के विरुद्ध आवाज उठाना है। खबर मिली है कि उनके रक्षक भी अपने इस काम से कोई खास खुश नहीं हैं। जमनालालजी के भाग जाने का कोई भय नहीं है। यदि उन्हें जेल में ही रखना है तो उन्हें ऐसे स्थान में क्यों नहीं रखा जाता जहां डॉक्टरी तथा अन्य प्रकार की सहायता सहज ही मिल सकती हो?

एक और मुद्दे पर ध्यान देने की जरूरत है। बार-बार अनुरोध करने के बावजूद उन्हें अभी तक एक साथी रखने की अनुमति नहीं मिली है। उन्हें कोई नर्स नहीं दी गई है। ऐसे भी प्रसंग जानकारी में आए हैं जब उन्हें रात को परिचारक की बहुत आवश्यकता थी। उनके इस संबंध में शिकायत न करने का मतलब यह नहीं है कि अधिकारी परिचर्या के लिए आवश्यक सुविधा प्रदान करने में लापरवाही करें। उनके निजी सचिव ने कई बार अधिकारियों का ध्यान इस ओर खींचा है।

(हरिजन, 12 अगस्त, 1939)

जयपुर सत्याग्रह

(एम.के. गांधी)

जैसा कि सेठ जमनालालजी ने अपने सार्वजनिक वक्तव्य में घोषित किया है, जयपुर का सत्याग्रह सफलता के साथ समाप्त हो गया। महाराजा साहब से उनकी कई मुलाकातें हुईं। उसका परिणाम यह हुआ कि सभाओं और जुलूसों से संबंधित विनियम वापस ले लिया गया। इसी प्रकार अखबारों पर लगा प्रतिबंध भी उठा लिया गया है और कई अन्य मामलों में सुधार करने का भी आश्वासन दिया गया है। इस सुखद परिणाम के लिए महाराजा साहब और सेठ जमनालालजी दोनों धन्यवाद के पात्र हैं- महाराजा साहब तो अपनी न्यायबुद्धि के लिए और सेठ जमनालालजी जयपुर प्रजामंडल की ओर से बातचीत करने में प्रदर्शित अपनी बुद्धिमत्ता और नरमी के लिए। यह एक ऐसे आंदोलन का सुखद

अंत है, जो बड़े संयम और शांति के साथ चलाया गया था। यह अहिंसा की विजय है। इसमें बिल्कुल शुरू से ही अपनी मांगें इतनी कम रखी गई थीं, जितनी राजनीतिक शिक्षा और अपने विचारों को प्रकट करने के लिए आवश्यक हैं। उत्तरदायी शासन का ध्येय तो हमेशा रहा है, लेकिन उसे ऐसे उग्र या आक्रमणात्मक रूप में कभी नहीं पेश किया गया, मानो फौरन ही पूर्ण उत्तरदायित्व दिए जाने पर आग्रह हो। प्रजामंडल ने अपनी मर्यादा और जनता की पिछड़ी हुई हालत का बुद्धिमानी के साथ ध्यान रखा है। राजपूताने की अनेक रियासतों में अभी तक लगभग कोई राजनीतिक शिक्षा नहीं देने दी गई है। अत: यदि जयपुर की प्रजा को सच्चे अर्थ में नागरिक स्वाधीनता मिल गई हो तो यह एक ठोस लाभ होगा। उक्त लाभ सचमुच प्राप्त हो, यह जितना जयपुर के अधिकारियों के संयम पर निर्भर है उतना ही इस बात पर भी निर्भर है कि प्रजा कितनी बुद्धिमानी के साथ उसका उपयोग करती है।

इस संबंध में सेठ जमनालालजी ने एक बहुत महत्वपूर्ण सवाल उठाया है। उनका आग्रह है कि किसी अंग्रेज को दीवान न बनाया जाए। मुझे इस राज्य के एक अंग्रेज दीवान* के शासन-प्रबंध की आलोचना का दु:खदायी फर्ज अदा करना पड़ा है। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी देशी रियासत में अंग्रेज दीवान कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता। उसे भारतीय राजा के मातहत काम करना पड़ता है। लेकिन अवकाश प्राप्त अंग्रेज अधिकारी जिनमें से दीवान चुने जाते हैं, भारतीय नरेशों से हुक्म लेने के आदी नहीं होते। वे भारतीय नरेशों के मिजाज को नहीं समझ सकते और उनके अनुसार अपने को नहीं ढाल सकते। स्वयं राजा लोग भी अंग्रेज दीवानों के साथ कभी हिलमिल नहीं पाते। इसके अलावा वे कितने ही ईमानदार क्यों न हों, अंग्रेज लोग रियासतों की प्रजा को कभी नहीं समझ सकते, न उनके साथ धीरज से पेश आ सकते हैं। उसी तरह प्रजा भी उनके साथ वैसे खुले दिल से पेश नहीं आ सकती, जैसे कि अपने में से ही किसी को दीवान बनाए जाने पर उसके साथ पेश आ सकती है। इस प्रकार किसी देशी रियासत में अंग्रेज दीवान दुहरी अड़चन पैदा करते हैं और आंतरिक उन्नति की जो थोड़ी-बहुत गुंजाइश होती है वह भी नहीं रह जाती। साथ ही, शासन की योग्यता रखने वाले भारतीयों के लिए अपनी काबिलियत दिखलाने का जो बहुत संकीर्ण क्षेत्र बचा है, रियासतों में अंग्रेज दीवानों की नियुक्ति उस पर भी निर्मम कुठाराघात करती है। फर्ज कीजिए यदि दीवान के पद अवकाश प्राप्त अंग्रेज अधिकारियों के लिए ही सुरक्षित रहें, तब तो सर टी. माधवराव या सर सालारजंग जैसे व्यक्तियों की सेवा से हम सदा वंचित ही रहेंगे और ये दो तो बहुत से ऐसे ही प्रसिद्ध भारतीय दीवानों के उदाहरण मात्र हैं।

इसलिए आशा की जाती है कि अगर महाराजा साहब को अपना दीवान चुनने की सचमुच छूट हो तो वे किसी ऐसे भारतीय को ही चुनेंगे जो अपनी ईमानदारी, योग्यता और प्रजा की आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति के लिए प्रसिद्ध हो। साथ ही, यह भी आशा की जाती है कि अगर ब्रिटिश सरकार ही चुनाव करे तो वह किसी यूरोपीय दीवान को महाराजा साहब के ऊपर नहीं थोपेगी।

(हरिजन, 23 सितम्बर, 1939)

जयपुर राज और प्रजामंडल

(एम.के. गांधी)

आखिर प्रजामंडल और रियासत के बीच एक समझौता हो गया है। इस सुखद अंत का श्रेय

राज्याधिकारियों और सेठ जमनालालजी दोनों को है। आशा है कि इस समझौते के फलस्वरूप राज्याधिकारियों और प्रजामंडल के बीच सुंदर संबंध स्थापित हो सकेगा और इन दोनों के सहयोग के परिणामस्वरूप हर दिशा में रियासती प्रजा की दिन-दिन उन्नति होगी। इसके लिए राज्य को सहिष्णुता का परिचय देना होगा और मंडल को अपने सभी कामों और वक्तव्यों में संयम से काम लेना होगा।

(हरिजन, 20 अप्रेल, 1940)

जयपुर

(एम.के. गांधी)

सेठ जमनालालजी जयपुर में मुसीबतों के घने जंगल में से अपना रास्ता निकालने का यत्न कर रहे हैं। एक समझौता पिछले दिनों हो चुका है। उसमें उनका काफी हिस्सा था। उसमें रियासत को भी वाहवाही मिली थी और मुसीबतें भी कम हो गई थीं। इसीलिए उन्होंने सोचा था कि इस बार उनका काम सुगम व सरल हो जाएगा। मगर ऐसा नहीं हुआ। सेठजी के कहने के अनुसार वहां के दीवान राजा ज्ञाननाथजी एक बिल्कुल गैर जिम्मेदार व तरक्की के दुश्मन व्यक्ति हैं। जयपुर के चिरकाल से पीड़ित काश्तकारों को जरा भी तसल्ली नहीं दे सके हैं। वहां की प्रजा में उनको हटाने और एक ऐसे दीवान को नियुक्त करने के लिए आंदोलन चल रहा है जो प्रजामत की कदर कर सके। सार्वभौम सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि जब वह राजाओं के लिए किसी दीवान की नियुक्ति करे तो यह अवश्य देख ले कि वह रैयत की जरूरतों की तरफ सहानुभूति रखने वाला है या नहीं। जब कोई दीवान जिस राजा की नौकरी करता है उससे भी बढ़कर स्वेच्छाचारी बन जाए तो यह इस बात का सूचक है कि वह हटा दिया जाए।

(हरिजन, 13 अक्टूबर, 1940)